(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के नियमसार
शास्त्र पर सन् १९७१ के प्रवचन)

नियम का सार

भाग २

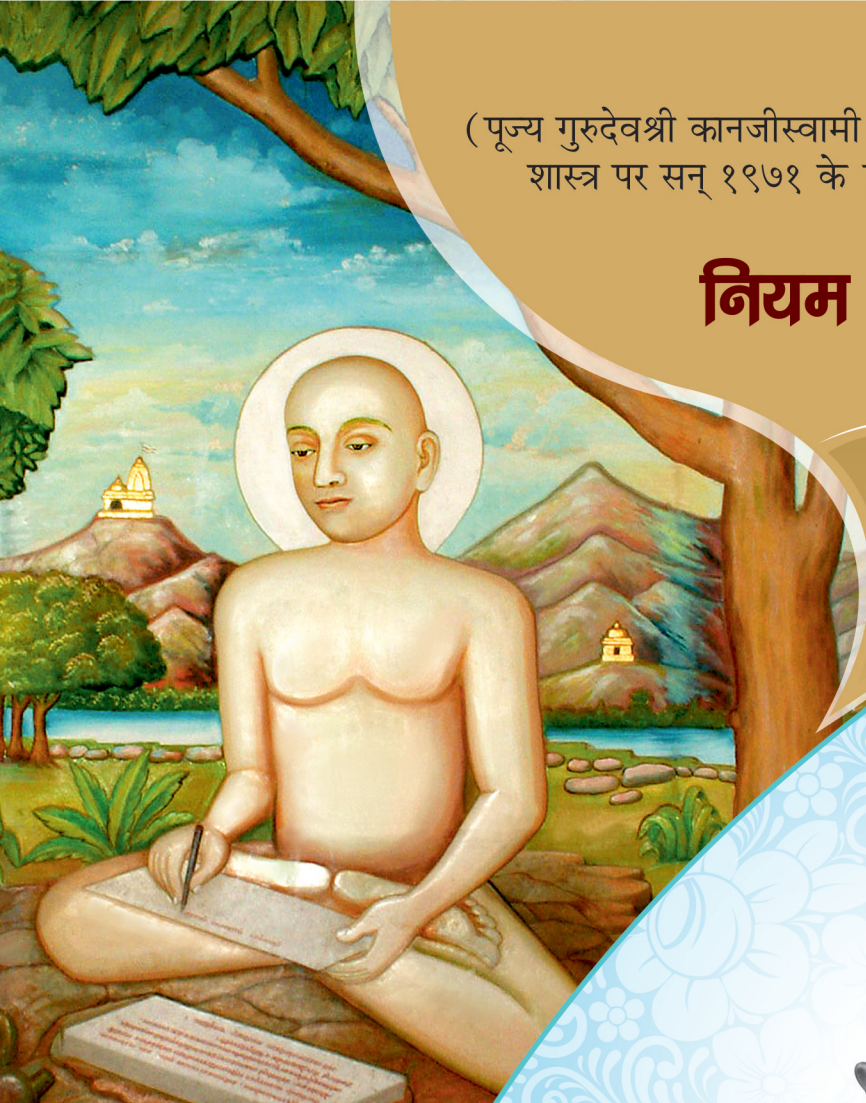

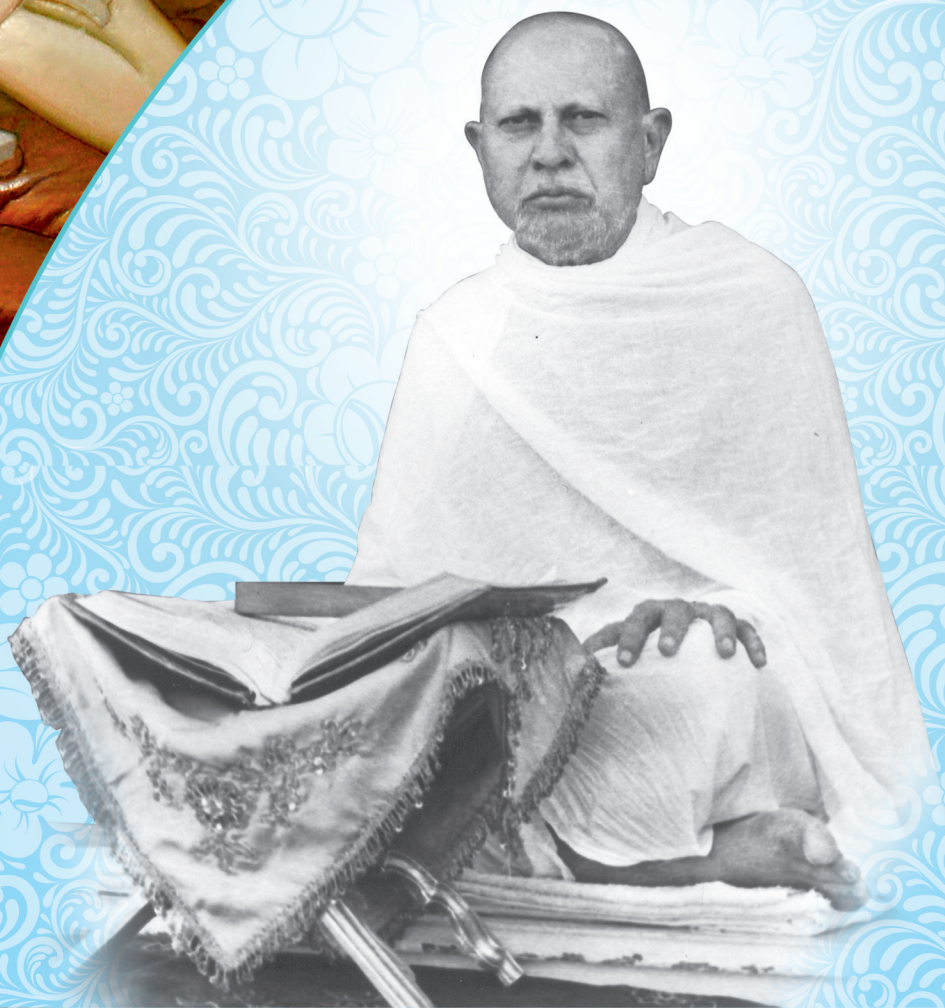

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

नियम का सार

(भाग 2)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री नियमसार परमागम के शुद्धभाव अधिकार, तथा व्यवहारचारित्र अधिकार पर अध्यात्म युगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के ईसवी सन् 1971 के वर्ष के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250

फोन : 02846-244334

: सह-प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत	वीर संवत	ई. सन
2079	2549	2023

—: प्रकाशन :—

शाश्वत् पर्व फाल्गुन अष्टाह्निका

दिनांक 27 फरवरी से 07 मार्च 2023

के अवसर पर

—: प्राप्ति स्थान :—

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250 फोन : 02846-244334

2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ला (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820, 26104912, 62369046

www.vitragvani.com, email - info@vitragvani.com

टाईप सेटिंग :

विवेक कम्प्यूटर

अलीगढ़।

ॐ

Hear Chidanand.

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोस्तु मंगलं।।

भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद जिनके नाम का उल्लेख किया जाता है, ऐसे भरत के समर्थ आचार्य, साक्षात्, सदेह विदेहक्षेत्र जाकर सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि का प्रत्यक्ष रसपान करनेवाले श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव महान योगीश्वर हैं। अनेक महान आचार्य उनके द्वारा रचित शास्त्रों के आधार देते हैं, इससे ऐसा प्रसिद्ध होता है कि अन्य आचार्य भी उनके वचनों को आधारभूत मानते हैं।

वे निर्मल पवित्र परिणति के धारक तो थे ही, परन्तु पुण्य में भी समर्थ थे कि जिससे सीमन्धरभगवान का साक्षात् योग हुआ। महाविदेह से वापस आने के पश्चात् पोन्नूर तीर्थधाम में साधना करते-करते उन्होंने अनेक शास्त्रों की रचना की। जिसमें श्री समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, अष्टपाहुड़—यह पाँच परमागम तो प्रसिद्ध हैं ही, परन्तु इनके उपरान्त भी अनेक शास्त्रों की रचना उन्होंने की है।

'श्री समयसार' इस भरतक्षेत्र का सर्वोत्कृष्ट परमागम है। उसमें नवतत्त्वों का शुद्धनय की दृष्टि से निरूपण करके जीव का शुद्धस्वरूप प्रकाशित किया है। 'श्री प्रवचनसार' में नाम के अनुसार जिन प्रवचन का सार झेला है और उसे ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन और चरणानुयोगसूचक चूलिका नामक तीन अधिकारों में विभाजित किया है। 'श्री नियमसार' में मुख्यरूप से शुद्धनय से जीव, अजीव, शुद्धभाव, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित, समाधि, भक्ति, आवश्यक, शुद्धोपयोग इत्यादि का वर्णन है। 'श्री पंचास्तिकायसंग्रह' में कालसहित पाँच अस्तिकायों का (अर्थात् छह द्रव्यों का) और नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्ग का निरूपण है। तथा 'श्री अष्टपाहुड़' एक दार्शनिक ग्रन्थ है, जिसमें सम्यक् रत्नत्रय एक ही मोक्षमार्ग है, इसकी दृढ़तापूर्वक स्थापना की गयी है।

श्री नियमसार परमागम मुख्यरूप से मोक्षमार्ग के निरूपचार निरूपण का अनुपम ग्रन्थ है। 'नियम' अर्थात् जो अवश्य करनेयोग्य हो, वह अर्थात् रत्नत्रय। 'नियमसार' अर्थात् नियम को सार अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय। इस शुद्ध रत्नत्रय की प्राप्ति परमात्मतत्त्व का आश्रय करने से ही होती है। निगोद से लेकर सिद्ध तक की सर्व अवस्थाओं में—शुभ, अशुभ और शुद्ध विशेषों में—रहा हुआ जो नित्य-निरंजन टंकोत्कीर्ण शाश्वत् एकरूप शुद्धद्रव्य सामान्य, वह परमात्मतत्त्व है। वही शुद्ध अन्त:तत्त्व, कारणपरमात्मा, परमपारिणामिकभाव इत्यादि नामों से कहा जाता है। इस परमात्मतत्त्व की उपलब्धि अनादि काल से अनन्त-अनन्त दु:ख को अनुभव करते हुए जीव ने एक क्षणमात्र भी नहीं की और इससे सुख के लिये उसके सर्व प्रयत्न (द्रव्यलिंगी मुनि के व्यवहाररत्नत्रय तक) सर्वथा व्यर्थ गये हैं। इसलिए इस परमागम का एकमात्र उद्देश्य जीवों को परमात्मतत्त्व की उपलब्धि अथवा आश्रय कराने का है।

इस शास्त्र में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव की प्राकृत गाथाओं पर तात्पर्यवृत्ति नाम की संस्कृत टीका लिखनेवाले मुनिवरश्री पद्मप्रभमलधारिदेव हैं। वे श्री वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य हैं और विक्रम की १३वीं शताब्दी में हो गये हैं। श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के हृदय में रहे हुए परम गम्भीर आध्यात्मिक भावों को अपने अन्तर्वेदन के साथ मिलानकर इस टीका में स्पष्ट रीति से अभिव्यक्त किया है। इस टीका में आनेवाले कलशरूप काव्य अतिशय मधुर हैं और अध्यात्म मस्ती से तथा भक्तिरस से भरपूर हैं। टीकाकार मुनिराज ने गद्य तथा पद्यरूप से परमपारिणामिकभाव को तो बहुत-बहुत गाया है। पूरी टीका मानो कि परमपारिणामिकभाव का और तदाश्रित मुनिदशा का एक महाकाव्य हो, ऐसा मुमुक्षु हृदय को मुदित करता है। संसार दावानल समान है और सिद्धदशा तथा मुनिदशा परम सहजानन्दमय है—ऐसे भाव का एकधारा वातावरण पूरी टीका में ब्रह्मनिष्ठ मुनिवर ने अलौकिक रीति से सृजित किया है और स्पष्टरूप से दर्शाया है कि मुनियों की व्रत, नियम, तप, ब्रह्मचर्य, त्याग, परीषहजय इत्यादिरूप से कोई भी परिणति हठपूर्वक, खेदयुक्त, कष्टजनक और नरकादि के भयमूलक नहीं होती परन्तु अन्तरंग आत्मिक वेदन से होनेवाली परम परितृप्ति के कारण सहजानन्दमय होती है।

श्री नियमसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 187 गाथायें प्राकृत में रची हैं। उन पर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका लिखी है। ब्रह्मचारी श्री शीतलप्रसादजी ने मूल गाथाओं का तथा टीका का हिन्दी अनुवाद किया है। श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा इस नियमसार की मूल गाथायें, उनका गुजराती पद्यानुवाद, संस्कृत टीका और उस गाथा-टीका का अक्षरश: गुजराती-हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया गया है। इस शास्त्रजी में प्रतिपादित विषयवस्तु को निम्नानुसार बारह अधिकारों में प्रस्तुत किया गया है।

(1) जीव अधिकार, (2) अजीव अधिकार, (3) शुद्धभाव अधिकार, (4) व्यवहार चारित्र अधिकार, (5) परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार, (6) निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार, (7) परम आलोचना अधिकार, (8) शुद्धनिश्चय प्रायश्चित्त अधिकार, (9) परम समाधि अधिकार, (10) परम भक्ति अधिकार, (11) निश्चय परमआवश्यक अधिकार, (12) शुद्धोपयोग अधिकार।

यह नियमसार ग्रन्थ पूज्य गुरुदेवश्री को अत्यन्त प्रिय था। आचार्यदेव ने निज भावना के निमित्त रचना की होने से कारणपरमात्मा को बहुत ही घोंटा है, जो गुरुदेवश्री को अपने आचार्य गुरुवर की उत्कृष्ट साधना स्मरण कराता था। उन्होंने इस पर बहुत ही गहराई से स्वाध्याय किया था और प्रसिद्ध में बहुत बार इस ग्रन्थ पर प्रवचन भी किये थे। इन प्रवचनों में से अपने पास छह बार के प्रवचन पूरे उपलब्ध हैं। यहाँ प्रस्तुत प्रवचन उनमें से एक बार के प्रवचन हैं, जो वीर संवत् 2497 (ई.स. 1971) वर्ष के दौरान नियमसार शास्त्र पर 202 प्रवचन हैं। पूज्य गुरुदेवश्री को निरन्तर ऐसी भावना रहती थी कि मुमुक्षु नितरते सत्धर्म का श्रवण करके निज कल्याण के मार्ग में आगे बढ़ें। इसी उत्कृष्ट भावना से ऐसे गहन शास्त्र कि जो कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने निज भावना के लिये रचा है, उसे पूज्यश्री ने छह-छह बार प्रसिद्ध सभा में लिया था। ये गहन प्रवचन यहाँ अक्षरश: शास्त्ररूप से प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इस प्रकार यह शास्त्र वास्तव में पूज्य गुरुदेवश्री के प्रभावना का ही फल है। अध्यात्म का गहरा रहस्य समझाकर पूज्य गुरुदेवश्री ने जो अपार उपकार किया है, उसका वर्णन वाणी से करने में हम असमर्थ हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना की उपलब्धि सी.डी., डी.वी.डी., वेबसाईट vitragvani.com तथा ऐप (app) जैसे साधनों द्वारा श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विलेपार्ला, मुम्बई द्वारा की गयी है। इस कार्य के पीछे ट्रस्ट की ऐसी भावना है कि वर्तमान के आधुनिक साधनों द्वारा पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा समझाये गये तत्त्वज्ञान का अधिकतम लाभ सामान्यजन प्राप्त करें कि जिससे यह वाणी शाश्वत् बनी रहे। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रत्येक प्रवचन अक्षरश: ग्रन्थारूढ़ हो, ऐसी भावना के फलस्वरूप नियमसार शास्त्र पर 1971 में हुए 202 प्रवचन यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं। उसमें से नियम का सार, भाग-2 में यहाँ (3) शुद्धभाव अधिकार और (4) व्यवहार चारित्र अधिकार पर हुए धारावाही 38 प्रवचन प्रस्तुत करते हुए हर्ष का अनुभव कर रहे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना को ओडियो टेप में उतारने का महान कार्य शुरु करनेवाले श्री नवनीतभाई झबेरी का इस प्रसंग पर आभार व्यक्त करते हैं तथा श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ ने इस पवित्र कार्य को अविरतधारा से चालू रखा और सम्हालकर रखा, तदर्थ उनके आभारी हैं।

सर्व प्रवचनों को सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने में सावधानी रखी गयी है। वाक्य रचना को पूर्ण करने के लिये कहीं-कहीं कोष्ठक किया गया है। यह प्रवचन सुनकर गुजराती में ग्रन्थारूढ़ करने का कार्य श्री निजेश जैन, सोनगढ़ द्वारा किया गया है। प्रवचनों को जाँचने का कार्य श्रीमती पारुलबेन सेठ, विलेपार्ला; श्री दिनेशभाई शाह, विलेपार्ला; श्री अतुलभाई जैन, मलाड और श्रीमती आरतीबेन जैन, मलाड द्वारा किया गया है। प्रस्तुत प्रवचनों का हिन्दी रूपान्तरण पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां, जिला-भीलवाड़ा (राज) द्वारा किया गया है। इस प्रसंग पर ट्रस्ट सभी के प्रति आभार व्यक्त करता है।

जिनवाणी प्रकाशन का कार्य गम्भीर तथा उत्तरदायित्व पूर्ण होने से अत्यन्त जागृतिपूर्वक तथा उपयोग की एकाग्रतापूर्वक किया गया है। तथापि प्रकाशनकार्य में प्रमादवश अथवा अजागृतिवश कोई भूल रह गयी हो तो त्रिकालवर्ती वीतराग देव-शास्त्र-गुरु के प्रति क्षमायाचना करते हैं। सभी मुमुक्षुओं से निवेदन है कि अशुद्धियों की नोंध ट्रस्ट को प्रेषित करें जिससे आगामी आवृत्ति में सुधार किया जा सके। यह प्रवचन vitragvani.com तथा vitragvani app पर उपलब्ध हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी तथा तद्भक्त प्रशममूर्ति भगवती माता पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के करकमल में सादर समर्पित करते हैं। पाठकवर्ग इन प्रवचनों का अवश्य लाभ लेकर आत्मकल्याण को साधे, ऐसी भावना से विराम लेते हैं। इति शिवम्।

ट्रस्टीगण

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

विलेपार्ला, मुम्बई

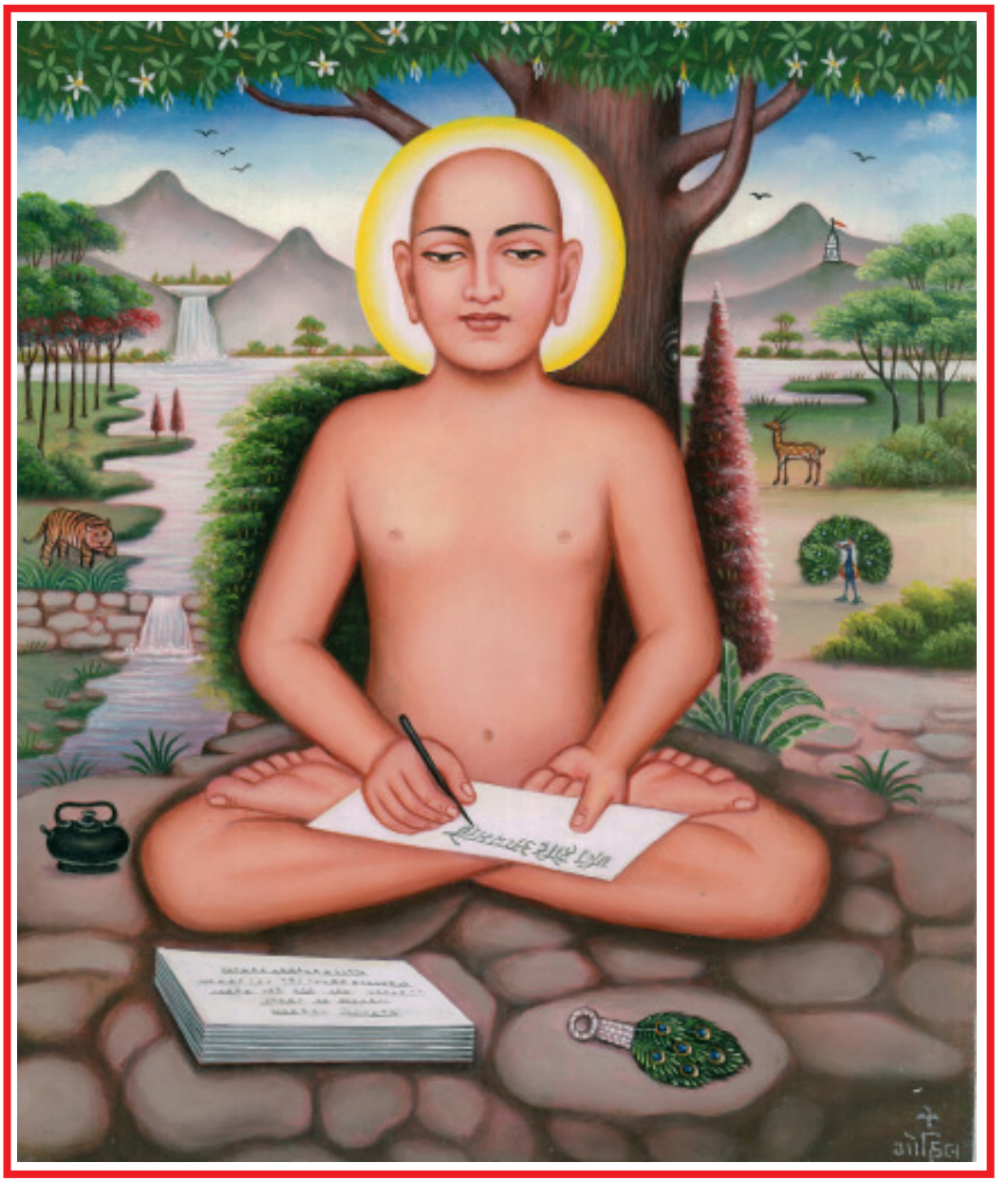

कलिकाल सर्वज्ञ श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव

अध्यात्मयुगसर्जक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रातःकाल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्रायः प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म**

का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त

पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	दिनांक	गाथा / श्लोक नं.	पृष्ठ नं.
शुद्धभाव अधिकार			
३३	०५-०४-१९७१	३८	१
३४-२	१०-०९-१९६९	३८, ५४	१२
३४-३	११-०९-१९६९	३९, ५५	३०
३५	०७-०४-१९७१	४०, ५५	४७
३६-४	१२-०९-१९६९	४०, ५५	६३
३६-५	१३-०९-१९६९	४१, ५६-५७	७९
३६-६	१४-०९-१९६९	४१	९६
३७	०९-०४-१९७१	४१	११५
३८	११-०६-१९७१	४१, ५८-५९	१३०
३९	१२-०६-१९७१	४२	१४४
४०	१३-०६-१९७१	६०	१५८
४१	१४-०६-१९७१	४३, ६१	१७१
४२	१५-०६-१९७१	४३, ६२	१८४
४३	१७-०६-१९७१	६३ से ६८	२००
४४	१८-०६-१९७१	४४	२१३
४५	१९-०६-१९७१	४५-४६, ६९	२२५
४६	२०-०६-१९७१	४७, ७०-७१	२३९
४७	२१-०६-१९७१	४८-४९, ७२	२५३
४८	२३-०६-१९७१	४९-५०, ७३	२६७

४९	२४-०६-१९७१	५०	२८०
५०	२५-०६-१९७१	५० से ५५, ७४	२९४
५१	२६-०६-१९७१	५१ से ५५	३०९
५२	२७-०६-१९७१	५१ से ५५, ७५	३२५
व्यवहारचारित्र अधिकार			
५३	२८-०६-१९७१	५६, ७६	३३९
५४	२९-०६-१९७१	५७ से ६०, ७७ से ७९	३५५
५५	३०-०६-१९७१	६०	३७०
५६	०२-०७-१९७१	६१, ८० से ८२	३८६
५७	०३-०७-१९७१	६२, ८३-८४	४०१
५८	०४-०७-१९७१	६३, ८५	४१७
५९	०५-०७-१९७१	६४, ८६	४३३
६०	०६-०७-१९७१	६४-६५, ८७ से ९०	४४८
६१	०७-०७-१९७१	६६-६७, ९१	४६२
६२	०९-०७-१९७१	६८-६९, ९२ से ९४	४७६
६३	१०-०७-१९७१	७०-७१, ९५-९६	४९२
६४	११-०७-१९७१	९७ से ९९	५१०
६५	१२-०७-१९७१	७२, १०० से १०२	५२५
६६	१३-०७-१९७१	७३-७४, १०३-१०४	५४०
६७	१४-०७-१९७१	७५-७६, १०५-१०६	५५४

ॐ

॥ श्री परमात्मने नमः ॥

नियम का सार

(भाग - २)

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यवर प्रणीत श्री निमयसार के शुद्धभाव अधिकार तथा व्यवहारचारित्र अधिकार पर अध्यात्मयुगप्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के ई.स. १९७१ के प्रवचन

चैत्र शुक्ल १०, सोमवार, दिनांक - ५-४-१९७१
गाथा - ३८, प्रवचन-३३

फिर से लेते हैं थोड़ी गाथा। ...निमयसार, शुद्धभाव अधिकार की गाथा पहली। (नियमसार की) ३८ है न पहली।

जीवादिबहिस्तत्त्वं हेयमुपादेयमात्मनः आत्मा।
कर्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैर्व्यतिरिक्तः ॥३८॥

हैं हेय सब बहितत्त्व ये जीवादि, आत्मा ग्राह्य है।
अरु कर्म से उत्पन्न गुणपर्याय से वह बाह्य है॥३८॥

टीका :— यह हेय और उपादेय तत्त्व के स्वरूप का कथन है। थोड़ा सूक्ष्म विषय है। कल तो चला था एक घण्टे में दस मिनिट कम-पचास मिनिट।

जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के कारण वास्तव में उपादेय नहीं है। क्या कहते हैं ? शुद्धभाव जो त्रिकाली ध्रुव, उसके अतिरिक्त सात तत्त्व (जो) जीव

की वर्तमान पर्याय है... पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष—ये सातों पर्यायें हैं, पर्याय। ये बहिर्ततत्त्व है। अन्तर्तत्त्व जो ध्रुवस्वरूप, उससे वे बाह्य तत्त्व है। उस कारण से वह बाह्यतत्त्व हेय है। हेय है, ऐसा न कहकर 'उपादेय नहीं है' ऐसा कहा। पाठ में तो 'हेय' ऐसा शब्द है। भगवान आत्मा किसको कहते हैं यहाँ? पूर्ण शुद्ध ध्रुव, एक समय में ध्रुवस्वरूप जिसमें संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि पर्याय की नास्ति है। ऐसे अन्तर-आत्मा... शुद्धभाव है न? शुद्ध। शुद्धभाव का अर्थ, पर्याय की बात यहाँ है नहीं। त्रिकाली शुद्धभाव, ध्रुवभाव, सदृशभाव, आदि-अन्त बिना का परिणामी स्वभावभाव ज्ञायक, वह शुद्धभाव। इसके अतिरिक्त पर्याय में पुण्य-पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, वह शुद्धभाव नहीं। पण्डितजी! आहाहा! सूक्ष्म तत्त्व ऐसा है।

जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने... से अर्थात् कि शुद्धभाव न होने से, त्रिकाली शुद्धभाव न होने से **वास्तव में** - वास्तव में **उपादेय नहीं है...** ये आदरणीय है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? पुण्य-पाप का विकल्प, वह तो राग है, वह तो आदरणीय नहीं, परन्तु संवर, निर्जरा, मोक्ष की पर्याय, वह भी आदरणीय नहीं। क्योंकि वह पर्याय में लक्ष्य जाता है तो विकल्प उत्पन्न होता है और पर्याय में से पर्याय नयी आती नहीं; इस कारण से सात तत्त्व को—पर्याय को... 'जीवादि' ऐसा है न? '**जीवादिबहितच्चं...**' एक समय की पर्याय, राग-द्वेष, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदि सब बहिर्तत्त्व गिनने में आये हैं, वे परद्रव्य हैं। कहो, ठीक। आहाहा! वह अपना निज शुद्धभाव त्रिकाली स्वद्रव्य नहीं। त्रिकाली शुद्धभाव, वह स्वद्रव्य है। समझ में आया? वह **जीवादि सात तत्त्वों का समूह परद्रव्य होने के...** देखो! ओहोहो! देव-गुरु-शास्त्र पर, पंच परमेष्ठी पर, पुण्य-पाप का विकल्प पर, संवर-निर्जरा-मोक्ष पर—ये परद्रव्य हैं। उस कारण से—परद्रव्य होने के कारण से—वास्तव में ये आदरणीय नहीं। उस ओर एकाग्रता करनेयोग्य नहीं।

सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का जो शिखामणि है... स्वयं मुनि हैं न? दिगम्बर सन्त जंगलवासी हैं टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव। मुनि तो नग्न रहते थे, जंगल में रहते थे और अन्तर ध्यान आनन्द में रहते थे। अन्तर ध्यान अतीन्द्रिय आनन्द का शुद्धभाव, उसमें नजर लगाकर उसमें लीन रहते थे। पाँच महाव्रत का विकल्प भी

आदरणीयरूप नहीं मानते थे। समझ में आया? तो ऐसे **सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर का जो शिखामणि...** कैसा है? 'मैं' ऐसे पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि कहते हैं। आत्मा का शुद्ध अस्तित्व स्वभाव, उसके आश्रय से जो दृष्टि, ज्ञान आदि हुए और पर से अभाव, राग के अभाव से जो वैराग्य हुआ—ऐसा स्वाभाविक वैराग्यरूपी महल का शिखर, उसका शिखामणि।

परद्रव्य से जो परान्मुख है... इस सात तत्त्वों की पर्याय से परान्मुख है। समझ में आया? **परद्रव्य से जो परान्मुख है...** सन्मुख नहीं, विमुख है। आहाहा! सात पर्यायरूपी बहिर्तत्त्व उससे विमुख है। अपना मुख उस ओर नहीं, अपना मुख शुद्धभाव की ओर है। आहाहा! समझ में आया? **पाँच इन्द्रियों के...** विस्तार—**(फैलाव) रहित देहमात्र जिसे परिग्रह है...** मुनि को तो एक देहमात्र है, वस्त्र का धागा भी होता नहीं। जंगलवासी—(जंगल में) रहते थे। आत्मध्यान, आत्मा में मस्त, देहमात्र... **जो परम जिनयोगीश्वर है...** कैसा है? परम जिनयोगीश्वर। उत्तम प्रकार का अन्तर स्वरूप में लीनता का योग, उसमें भी वह ईश्वर है। आहाहा! **परम जिनयोगीश्वर है...** कल बहुत बात हो गयी, यह तो थोड़ी-थोड़ी... कल तो पचास मिनिट लिया न? यह तो यह लोग नये आये हैं तो थोड़ा सन्धि करने के लिये लिया है। .... **परम जिनयोगीश्वर है...** क्या कहते हैं? कि जिसकी, अन्तर स्वभाव में रागादि को जीतकर—हटाकर, वैराग्य कर स्वभाव में उत्कृष्ट लीनता प्रगट हुई है।

और **स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है...** अपना स्वद्रव्य जो शुद्धभाव... ये शुद्धभाव अधिकार है न? शुद्धभाव पर्याय नहीं, ये (द्रव्य की) बात है। शुभ उपयोग, अशुद्ध उपयोग, शुद्ध उपयोग—यह वह बात नहीं है। शुद्धभाव, त्रिकाली स्वद्रव्य, ध्रुव परमस्वभाव, पारिणामिकभाव, ध्रुवभाव, सदृशभाव, अभेदभाव, नित्यभाव, अचलभाव, अविनाशीभाव—ऐसे **स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है...** जिसकी ज्ञान की वर्तमान धारा स्वद्रव्य पकड़ने में जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है। आहाहा! अपनी ज्ञानपर्याय इतनी तीक्ष्ण है कि जिससे द्रव्य को पकड़ लिया है। समझ में आया? ध्रुव... ध्रुव... ध्येयबुद्धि ऐसी है कि आसानी से द्रव्य पकड़ लिया, उसको तीक्ष्णबुद्धि कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है—ऐसे आत्मा को... ऐसे आत्मा को... **ऐसे आत्मा को 'आत्मा' वास्तव में उपादेय है।** ऐसे आत्मा को वास्तव में शुद्धभाव ध्रुवस्वरूप आत्मा उपादेय है। वाणी से, धारणा से नहीं, ऐसा कहते हैं। जिसकी—आत्मा की पर्याय पर से विमुख हो गयी है, स्वसन्मुख हुई है और उग्रपने स्वद्रव्य के पकड़ने में जिसकी ज्ञानबुद्धि—श्रुतज्ञान-मतिज्ञानबुद्धि बहुत तीक्ष्ण-सूक्ष्म हो गयी है। जो बुद्धि अपने शुद्ध ध्रुवस्वरूपभाव उसमें लीन होने में ताकतवाली है—ऐसे आत्मा को 'यह आत्मा' उपादेय है। यह तो मुनि स्वयं बात करते हैं। बात तो... सबको समकिती को भी ऐसा है। मुनि हैं न? मुनि को उग्रपने वैराग्य है और उग्रपने अन्तर में प्रचुर स्वसंवेदन में लीन है। सबकी बात है यहाँ। सम्यग्दृष्टि सात प्रकार की जीव-अजीव की पर्याय को परद्रव्य जानकर, उससे विमुख होकर, अपने शुद्ध ध्रुव त्रिकालीभाव उसमें एकाग्र होते हैं, उसको ये शुद्ध आत्मा उपादेय कहने में आता है। गजब बात भाई महँगी। समझ में आया?

परम जिनयोगीश्वर है, स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्णबुद्धि है... जिसकी-जिनकी। **ऐसे आत्मा को...** ऐसे आत्मा, यूं। ऐसे आत्मा को... **ऐसे आत्मा को 'आत्मा' वास्तव में उपादेय है।** ऐसे आत्मा को... कैसे? कि परद्रव्य से विमुख है, स्वद्रव्य में तीक्ष्ण बुद्धि लगायी है और परम जिनयोगीश्वर है, परमयोगस्वरूप में लीन—बहुत जुड़ान हो गया है। ऐसे आत्मा को—ऐसी दशावन्त आत्मा को शुद्धभावरूपी आत्मा उपादेय है। आहाहा! ...भाई! समझ में आया? बहुत सूक्ष्म। देखो! यह वीतरागमार्ग। परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव ने इन्द्रों और गणधरों की सभा में ये उपदेश कहा था, वह कुन्दकुन्दाचार्य शास्त्र द्वारा कहते हैं। समझ में आया?

ऐसे आत्मा को... जिसकी ज्ञानबुद्धि ध्रुव में पसर गयी है, सन्मुख हो गयी है, सात पर्याय से—बहिर्तत्त्व से विमुख हो गयी है और जिसकी बुद्धि वहाँ पसर गयी है।—ऐसी पर्यायवन्त आत्मा को शुद्धात्मा ध्रुव उपादेय कहने में आया है। आहा! कहो, भीखाभाई! बहुत कठिन बात, हों! यह सब व्यवहार करते-करते निश्चय होगा—यह सब इसमें आता नहीं कुछ। यहाँ तो सात तत्त्व की पर्याय को बहिर्तत्त्व कह दिया। आहाहा! गजब बात है। दिगम्बर सन्तों की अलौकिक बात है! परमतत्त्व को प्राप्त परमतत्त्व की प्रसिद्धि करवानेयोग्य है। समझ में आया? ओहो! शरीर की पर्याय, वह तो पर जड़...

जड़... जड़ में गयी। यहाँ तो दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम—विकल्प परद्रव्य में गये और रागादि को जानने (वाली) वर्तमान जीव की पर्याय, 'ये व्यवहार है, राग है' उसको जानने (वाली) पर्याय वह भी परद्रव्य में गयी। समझ में आया? बहुत सूक्ष्म बात है। पश्चात् यह उपादेय किसको?—यह गजब बात की है! ऐसी जिसकी दशा हुई है, उसे शुद्ध आत्मा उपादेयरूप से हुआ है—उपादेय हुआ है। समझ में आया? आहाहा! गजब बात है। समझ में आया?

ऐसे धारणा में लिया कि ये उपादेय है... कि नहीं, ऐसा नहीं। समझ में आा? ये उपादेयपने हुआ ही नहीं। उसमें लीन हुआ नहीं तो उपादेयपना हुआ नहीं। समझ में आया? पर से विमुख हुआ नहीं तो स्वसन्मुख हुआ नहीं, तो उसको उपादेय कहने में आता ही नहीं। आहाहा! कहो, झबेरभाई! ओहोहो! एक-एक गाथा देखो! सर्वज्ञ के मुख से निकली है, सब बात। परन्तु अभी तो बहुत ऐसी गड़बड़ी चली है न? एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है, ऐसा करके निकाल डाला। अरर! ठीक है, भाई! जैन में ऐसा एक शब्द सरल हो गया है। एकान्त है। सम्यक् एकान्त ही है। ऐसे सम्यक् एकान्त की दृष्टि बिना अनेकान्त का ज्ञान उसको सच्चा होता नहीं। समझ में आया? आहाहा!

ऐसे आत्मा को 'आत्मा'.... अर्थात् शुद्धात्मा ध्रुव। ऐसे आत्मा को अर्थात् ऐसे परिणमन करनेवाले आत्मा को ऐसा शुद्ध ध्रुव आत्मा उपादेय है। **औदयिक आदि चार भावान्तरों को अगोचर होने से....** क्या कहते हैं? उदयभाव गति आदि, उपशमभाव समकित आदि, क्षयोपशमभाव समकित, ज्ञानादिक और क्षायिकभाव केवलज्ञानादिक—ऐसे जो चार भाव-भावान्तरों... परमशुद्धभाव जो परमशुद्धभाव अपना ध्रुव परमशुद्धभाव, उससे वे भाव अन्य हैं। भावान्तर—भाव से अन्य—अलग। अपना निजस्वभाव ध्रुवभाव, ये अपना भाव-निजभाव शुद्धभाव, उस अपेक्षा से ये चार भावान्तर—अन्य भाव हैं। आहाहा! इस प्रकार अन्य हो गया या नहीं अब? पर्याय अन्य है, पर्याय द्रव्य में है नहीं—ऐसा कहा यहाँ। देखो! आहाहा!

औदयिक आदि चार.... उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक—भाव है न? पर्याय है, ये चार पर्यायें हैं... चार पर्यायें हैं। तो ये पर्यायरूपी जो भाव, वह द्रव्यरूप जो भाव, उनसे अन्य भाव है। अन्य भाव हैं। थोड़ा-थोड़ा गुजराती आ जाता है। यहाँ तो

भाई आया है न! हिन्दी किया है। समझ में आया? भगवान आत्मा एक समय में शुद्ध ध्रुव जिसमें मोक्ष और संसार की पर्याय का अभाव है, जिसमें चार भाव की नास्ति है। तो वह चार भाव की नास्तिरूप जो भाव है, उससे चार भाव अन्यभाव हैं, अन्य भाव हैं, भिन्न भाव हैं, अलग भाव हैं। आहाहा! ओहोहो! यहाँ उन व्यवहार, दया, दान, व्रत के परिणाम को हेय मानना (उसमें) पसीना उतरता है। यहाँ तो कहते हैं कि क्षायिकभाव हेय है। सुन तो सही अब! ....बहिर्तत्त्व है। क्षायिकभाव केवलज्ञान बहिर्तत्त्व है। यहाँ तो भगवान परमात्मा एक समय में ध्रुव प्रभु पड़ा है, जिसमें शरीर, कर्म तो नहीं; पुण्य-पाप का, व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प तो नहीं, परन्तु जिसमें क्षायिकभाव की पर्याय भी नहीं। यह है, वस्तु ऐसी है। परन्तु क्या करे? जगत कहाँ का कहाँ घूंटे, माने और कहे कि मैं बराबर धर्म (करता हूँ)। ...भगवान! शान्त था, बापू! जन्म-मरण में से निकलने का रास्ता दूसरा है। कहते हैं, ओहो! ये चार भाव अन्य से अगम्य हैं। अगम्य है अर्थात् कि चार भाव उसमें है नहीं अथवा चार भाव के आश्रय से पारिणामिकभाव का आश्रय होता नहीं। समझ में आया?

कारणपरमात्मा... ....शुद्धभाव अधिकार है। शुद्धभाव है न ऊपर? शुद्धभाव कहो या कारणपरमात्मा कहो। आहा! ध्रुवस्वरूप त्रिकाली एक समय की चार भाव की पर्याय से शून्य है और अपने परमस्वभावभाव से सहित है—ऐसी चीज़, उसको यहाँ शुद्धभाव कहते हैं, उसको यहाँ कारणपरमात्मा कहते हैं, उसको यहाँ स्वद्रव्य कहते हैं, उसको यहाँ अन्तःतत्त्व कहते हैं। क्यों नहीं ली है पुस्तक? है या नहीं? चश्मा नहीं है। यह वाणी गजब... रेल में बैठा सही, परन्तु टिकिट नहीं है। सेठी! कहो, समझ में आया? आहाहा!

गजब मुनि भी बात करते हैं न! पद्मप्रभमलधारिदेव सन्त थे, नौ सौ वर्ष पहले (हुए) दिगम्बर सन्त। आत्मध्यान में मस्त। विकल्प आ गया तो शास्त्र रचा गया, जड़ के कारण से हों! कहते हैं, ये चार अन्य भाव से उस (पारिणामिक) भाव की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् चार भाव में वह भाव नहीं अर्थात् चार भाव के आश्रय से परमस्वभावभाव की प्राप्ति होती नहीं। उस अपेक्षा से चार भाव को अगोचर... चार भाव से अगोचर कहा है। नहीं तो चार भाव में से उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकभाव से तो गम्य है। समझ में

आया? परन्तु चार भाव के आश्रय से वह गम्य नहीं होता। समझ में आया?

अथवा वह चार क्षायिकभाव कहो सिद्धभाव—केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द अनन्तवीर्य, कहते हैं कि वह पर्यायभाव से ये शुद्धभाव अगम्य है। उसका अर्थ कि वह पर्याय उसमें है नहीं। और क्षायिकभाव के आश्रय करने से पारिणामिकभाव का आश्रय (नहीं होता)। क्योंकि वे बहिर्तत्त्व हैं, यह अन्तर्तत्त्व है। बहिर्तत्त्व के लक्ष्य से अन्तर्तत्त्व का लक्ष्य होता नहीं। समझ में आया कुछ? ऐसा मार्ग! क्या कहा? आत्मा कारण कहा न? ले! यह क्या कहा? यह कहा न कि ये चार भाव अन्य हैं, उससे अन्य दूसरा भाव। ये तो कहा। चार भाव-पर्याय से अन्य भाव वह अन्तःतत्त्व है। चार भाव अन्य हैं, इससे अन्य पारिणामिकभाव मेरा है। परन्तु चार भाव से वह अन्य है, ऐसे ले तो। समझ में आता है? अगम्यपने से... कारणपरमात्मा, वह कारणप्रभु है ध्रुव। केवलज्ञानादि तो कार्यपरमात्मा है। कार्यपरमात्मा को यहाँ बहिर्तत्त्व कहने में आया है। पर्याय है न? बहिर् ऐसा आया न? वह (ध्रुव) तो पड़ा है। प्रगट हुई पर्याय को बहिर्तत्त्व कहते हैं। सारा दल पड़ा है, उसको अन्तर्तत्त्व कहते हैं। समझ में आया? आहा! देखो! यहाँ तक कल आया था। कल आया था न?

(कारणपरमात्मा) द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधि से जनित... यह तीसरे पद का अर्थ है। '**जीवादिबहित्तच्चं हेयम् उवादेयम् अप्पणो अप्पा...**' अब, '**कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो...**' वहाँ किसी ने प्रश्न किया था। पर्याय... पर्याय अर्थात्? कारणपर्याय की व्यतिरेकता यहाँ नहीं बताना है। कर्म के निमित्त से या अभाव से हुई जो पर्याय, उससे वह रहित है। कल प्रश्न था न भाई का बसन्तलालजी। ऐई! कारणपर्याय रहित है, ऐसा नहीं यहाँ। पाठ क्या है? देखो! '**कम्मोपाधि...**' कर्मरूपी उपाधि का निमित्त या उसके अभावरूप उपाधि का निमित्त, उससे उत्पन्न हुआ गुणपर्याय क्षायिक केवलज्ञान, क्षयोपशमभाव इत्यादि, उनसे वह ध्रुव शुद्धभाव व्यतिरेक है अर्थात् भिन्न है। समझ में आया?

विभावभाव कहा है। वह तो अपेक्षा से है न? स्वभावभाव यह, उसकी अपेक्षा से विभाव-विशेषपना। विशेष भाव है, सामान्यभाव नहीं। सामान्य जो ध्रुव परमात्मा स्वयं जिसमें अनन्त-अनन्त ज्ञान और आनन्द की पर्यायें एक-एक गुण में ठसाठस भरी

हैं, ऐसा अनन्त गुणों का एकरूप दल वही कारणपरमात्मा है, वह स्वद्रव्य है, वह अन्त:तत्त्व है, वह कारणपरमात्मा है। उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है। पहले में पहली धर्म की सीढ़ी सम्यग्दर्शन। ऐसे कारणपरमात्मा, उसमें दृष्टि पसारने से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन पाने की दूसरी कोई रीति है नहीं। उसे एकान्त कहो, सम्यक् एकान्त कहो, वास्तविक कहो, यथार्थ कहो—जो कहो, वह यह है। कहो, जेठाभाई! भारी कठिन मार्ग। वह तो देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा करो, नव तत्त्व की श्रद्धा करो (तो) जाओ समकित। ऐसा नहीं, भगवान के मार्ग में यह नहीं।

परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा उनको तीन काल का ज्ञान हुआ और वाणी में आया कि तेरा शुद्धभाव, ध्रुवभाव, अचिन्त्यभाव, अकलभाव, अविनाशीभाव... अकल अर्थात् पर्याय के आश्रय से कलने (जानने) में आता नहीं। ऐसा भगवान आत्मा ध्रुव शुद्धभाव... शुद्धभाव अधिकार है न? शुद्धभाव पर्याय की बात नहीं, यहाँ तो शुद्धभाव ध्रुव की बात है। ये आठ द्रव्यकर्म जड़ उससे तो भगवान आत्मा ध्रुव रहित है। नोकर्म—शरीर, वाणी, मन ये उपाधि थी। उससे जनित विभावगुणपर्यायें... देखो! ये केवलज्ञानादि सब विभावगुणपर्याय है। मतिज्ञान के विभावगुण कहा है वहाँ। समझ में आया? परन्तु यहाँ विशेषरूप से यह पर्याय जो हुई, उससे भी वह रहित है। शुद्ध कारणपर्याय से रहित है, ये उसमें न आया। क्योंकि शुद्ध कारणपर्याय तो ध्रुव के साथ में ही है।

मुमुक्षु : यह पर्याय उत्पाद-व्ययवाली....

पूज्य गुरुदेवश्री : उत्पाद-व्ययवाली यह। कारणपर्याय उत्पाद-व्ययवाली नहीं है। उत्पाद-व्ययवाली पर्याय है, वह उसमें नहीं है, ऐसा कहते हैं यहाँ तो। उत्पाद-व्यय-पर्याय से वह ध्रुव रहित है। आहाहा! 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम् सत्' है न? तत्त्वार्थसूत्र। तो उसमें उत्पाद-व्यय है, वह केवलज्ञान, रागादि उत्पाद-व्ययवाली पर्याय है, उससे रहित ध्रुव है। अथवा सारी उत्पाद-व्यय की पर्याय से रहित ध्रुव है। समझ में आया? आहाहा! सभी पर्याय ऐसे उत्पाद-व्यय... जितनी उत्पाद-व्यय... उत्पाद-व्यय पय्राय हो—क्षयोपशम हो, क्षायिक हो, उदय हो, वह सब उत्पाद-व्यय व्यवहार है। अनन्त चतुष्टय भगवान को प्रगट हुआ, वह भी व्यवहार है, सिद्धपर्याय भी व्यवहार है।

सारा उत्पाद-व्यय अनादि-अनन्त का समय-समय का वह ध्रुव में नहीं है। यह पण्डितजी! उसमें है?

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप उपाधि से जनित विभावपर्यायों से रहित है। आहाहा! ऐसा आत्मा विश्वास में पहले लाओ। ध्रुवस्वरूप की तरफ दृष्टि पड़ने से समकित होता है, दूसरी कोई चीज़ है नहीं। भगवान आत्मा परिपूर्ण प्रभु है। एक समय की पर्याय रहित है। अनन्त द्रव्य से तो रहित है, अनन्त परक्षेत्र-काल-भाव से रहित है, परन्तु अपना स्वकाल उत्पाद-व्यय का, आहाहा! अपना स्वकाल उत्पाद-व्यय का उससे भी रहित है। समझ में आया? ऐसा आत्मा, उससे रहित... वह तो नास्ति से बात की। अब अस्ति। अब अस्ति से कहते हैं। ओ चेतनजी! यह क्या आया इसमें? नास्ति डाला। यह तो पहले में आया, नहीं? स्वद्रव्य आत्मा... स्वद्रव्य में जिसकी तीक्ष्ण बुद्धि है, ऐसा आत्मा... यह आत्मा स्वरूप से...

तथा अनादि-अनन्त... कैसा है ध्रुव आत्मा? अनादि-अनन्त है। आदि नहीं, अन्त नहीं—ऐसी एक चीज़। **अमूर्त है...** भगवान ध्रुवस्वरूप अमूर्त है। **अतीन्द्रिय स्वभाववाला है।** कैसा है भगवान आत्मा ध्रुव? उत्पाद-व्यय की पर्याय रहित, आहा! केवलज्ञानादि की पर्याय उत्पाद-व्यय है, सिद्ध की उत्पत्ति हुई, संसार से व्यय हुआ, वह भी उत्पाद-व्ययवाली पर्याय है, ध्रुव नहीं। आहाहा! चार ज्ञान का नाश हुआ, केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई। उत्पाद-व्यय तो पर्याय का भाव अवस्था में है, वस्तु में है नहीं। अतीन्द्रिय स्वभाववाला यह तो है। इन्द्रियगम्य नहीं। यहाँ तो चार भाव गम्य नहीं, ऐसा कह दिया, तो इन्द्रिय तो कहीं रह गई। अतीन्द्रियस्वभाव... स्वभावभाव... स्वभावभाव...

शुद्ध... देखो! यह शुद्धभाव है न? **शुद्ध-सहज...** स्वाभाविक... शुद्धस्वरूप स्वाभाविक है। शुद्धोपयोग है, वह तो प्रगट करने की अपेक्षा से (उपादेय) है। शुद्ध उपयोग जो धर्मरूप पर्याय है, वह शुद्ध उपयोग, वह तो पर्याय है। पर्याय त्रिकाली नहीं होती। उत्पन्न होती है, शुद्धोपयोग भी उत्पाद-व्ययवाला है, उससे भी ध्रुव आत्मा तो रहित है। हीरालालजी! ऐसी सूक्ष्म बात है। बहुत चिन्तन मनुष्य... यह करते हुए पूजा करो, भक्ति करो, व्रत करो, करते-करते हो जायेगा। क्या हो जायेगा? जिन्दगी चली जायेगी तेरी। वस्तु नहीं प्राप्त होगी। आहाहा! हो, परन्तु वह कोई आश्रय करनेयोग्य है

और उससे कोई धर्मप्राप्ति होती है—ऐसी चीज़ है नहीं। आहाहा! समझ में आया? लालचन्द सेठी! क्या है? ऐसी बात बहुत सूक्ष्म है। आहा! कहो!

अतीन्द्रिय स्वभाववाला शुद्ध... त्रिकाली **सहज...** यह तो सहज-स्वाभाविक वस्तु है। **परम-पारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है...** लो, ठीक! ये है क्या? परमपारिणामिकभाव... स्वभावभाव (सही), परन्तु परम स्वभावभाव त्रिकाल। **परम-पारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है—**जिसका स्वभाव है। **ऐसा कारणपरमात्मा...** लो। ऐसा कारणपरमात्मा त्रिकाली, **वह वास्तव में 'आत्मा' है।** क्या कहते हैं? वह पर्याय वास्तव में आत्मा नहीं। आहाहा! गजब बात करते हैं! केवलज्ञान की पर्याय वास्तव में आत्मा नहीं। आहाहा! वास्तव में वह आत्मा हो तो, उसको आतमा कहते हैं कि जो शुद्ध और ध्रुव है। त्रिकाल ध्रुव को वास्तव में आत्मा कहते हैं। पर्याय को आत्मा कहना, वह पर्याय-व्यवहारनय का विषय है। व्यवहार से आत्मा है, अभूतार्थ से आत्मा है। आहाहा! गजब बात है।

देखो! पाठ में लिखा है। गुजराती में 'खरेखर'... गुजराती में 'खरेखर' यह आत्मा है, ऐसा (लिखा है)। 'ही' है न? ही। बस, 'ही' आत्मा। यह आत्मा है न? कारणपरमात्मा ही आत्मा है। अर्थात्? संस्कृत है। जो ध्रुवस्वरूप, पर्याय बिना की चीज़ है, वही वास्तव में आत्मा है। यथार्थ—वास्तविक में आत्मा हो तो वही आत्मा है। ले! आहाहा! राग अनात्मा, शरीर अनात्मा, एक समय की पर्याय वास्तव में आत्मा नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ऊँची बात....

पूज्य गुरुदेवश्री : ये ही है। ऊँची नहीं, ये ही सत्य है। संस्कृत बहुत पढ़ा है, पर ये आया नहीं उसमें, तो ऊँची बात लगती है.... संस्कृत में है न? संस्कृत में है देखो! **ही आत्मा....** कारणपरमात्मा ही आत्मा है। ध्रुव भगवान एक समय की पर्याय से रहित वही निश्चय-वास्तव-वास्तविक आत्मा है। आहाहा! सत्य आत्मा यह है... सत्य आत्मा यह है। एक (समय की) पर्याय का आत्मा वह तो व्यवहार हुआ व्यवहार। आहाहा! ऐसा लगे... वेदान्त जैसा लगे। वेदान्त में पर्याय और सात तत्त्व पर्याय, षट् द्रव्य कहाँ है? आहाहा! ये बात तो श्वेताम्बर में भी नहीं है, तो वेदान्त में कहाँ से आयी? ये तो

सनातन दिगम्बर धर्म में ही यह बात है, दूसरे में है नहीं। परन्तु उसके पक्ष में पड़े हैं तो उसकी भी खबर नहीं, उसको कि क्या है मार्ग? आहाहा!

अतीन्द्रियस्वभाव अनादि-अनन्त अमूर्त और परमपारिणामिक स्वाभाविकभाव... जो अधिकार पाठ में है वह। अधिकार है न शुद्धभाव अधिकार? इस ओर है ऊपर, शुद्धभाव अधिकार। ऊपर में लिखा है। .... इस पृष्ठ पर, इस ओर। बस, ये। शुद्धभाव अधिकार है। यह शुद्धभाव का अर्थ त्रिकाली अनादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रियस्वभाववाला परमस्वभावभाव कारणपरमात्मा, वह शुद्धभाव है, वही वास्तव में आत्मा है और उस आत्मा की दृष्टि करना, ऐसे आत्मा को मानना और अनुभव करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। जैसा आत्मा यथार्थ है, ऐसा अनुभव करके प्रतीति हो तो सम्यग्दर्शन अर्थात् यथार्थ 'है' ऐसी प्रतीति हुई। समझ में आया? आहाहा!

सम्यक् अर्थात् सत्य प्रतीति को? सत्य प्रतीति का अर्थ जैसी सत्य वस्तु है—जैसा ध्रुव परमस्वरूप है, ऐसा ज्ञान में उसको ज्ञेय बनाकर प्रतीति करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। अभी तो सम्यग्दर्शन किसको कहते हैं और किसके आश्रय से होता है—वह खबर नहीं। गंगवालजी! जय भगवान... बस... आहाहा! **ऐसा कारणपरमात्मा वह...** ऐसा। 'वह' है न? वास्तविक—खरेखर—सत्य आत्मा वही आत्मा है। आहाहा! अरे! पर्याय आत्मा... ? यहाँ पर्याय को गौण करके ध्रुव को ही यथार्थ आत्मा कहने में आया है।

अति-आसन्न भव्यजीवों को ऐसे निज परमात्मा के अतिरिक्त (अन्य) कुछ उपादेय नहीं है। अति-आसन्न भव्यजीव (अर्थात्) अल्प काल में जिसकी मुक्ति की तैयारी हो गयी है, आहाहा! संसार का किनारा आ गया है। ऐसे अति-आसन्न भव्यजीव को। **ऐसे निज परमात्मा के अतिरिक्त....** निज परमात्मा हों, परमात्मा तीर्थंकर भी नहीं। निज परमात्मा कहो, कारणपरमात्मा कहो, अन्तर्तत्त्व कहो, शुद्धभाव कहो। उनसे अन्य कुछ उपादेय (नहीं)—कुछ उपादेय नहीं। कुछ उपादेय नहीं। राग, निमित्त और पर्याय उपादेय नहीं, ऐसा कहते हैं। गजब। समझ में आया? परमात्मा से अन्य—ध्रुव भगवान आत्मा से अन्य—कुछ भी उपादेय है नहीं। आहाहा! केवलज्ञान की पर्याय भी उपादेय नहीं, तीन लोक के नाथ सिद्ध भगवान भी आत्मा को उपादेय नहीं। **(अन्य) कुछ उपादेय नहीं है।** इसके अतिरिक्त कुछ उपादेय है नहीं, लो। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्रावण कृष्ण १४, बुधवार, दिनांक - १०-०९-१९६९
गाथा-३८, श्लोक-५४, प्रवचन-३४-२

मोक्षमार्ग का अधिकार है, उसमें शुद्धभाव अधिकार है। शुद्धभाव अर्थात् त्रिकाली परमस्वभाव ध्रुव, उसे यहाँ शुद्धभाव कहने में आया है। त्रिकाली ध्रुव परमस्वभाव, उसे ध्रुव कहकर वही अंगीकार करने (योग्य) और आदरणीय है। इसके अतिरिक्त कोई चीज़... सम्यग्दृष्टि को—धर्मी को ध्रुव चिदानन्द आत्मा उपादेय (है, इसके) अतिरिक्त सबकी उपेक्षा है, सबका त्याग है। समझ में आया? सात तत्त्व कहे न? सात तत्त्व, वे बहिर्तत्त्व हैं, वे आत्मा नहीं। सूक्ष्म बात है। जीव की एक समय की पर्याय, वह भी स्वद्रव्य नहीं, वह परद्रव्य है। उसमें होते पुण्य, पाप, दया, दान विकल्प आदि आस्रव, वह भी परवस्तु है, वे आत्मा की नहीं, वह आत्मा नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह छह द्रव्य में यह त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से एक समय की पर्याय को परद्रव्य कहा गया है। छह द्रव्य में ही यह है। समझ में आया? आत्मा की एक समय की दशा भले क्षायिक समकित हो, तो भी उसे एक समय की अवस्था के कारण से उसे त्रिकाली स्वद्रव्य की अपेक्षा से कहकर उसे परद्रव्य कहा है। स्वरूपचन्दभाई!

मुमुक्षु : सूक्ष्म बहुत।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी यह बात ही चलती नहीं। अभी तो यह करो, यह पालन करो, व्रत करो, उपवास करो, दया करो और दान करो। सब अज्ञान और मिथ्यात्व का पोषण है।

मुमुक्षु : .... मिथ्यात्व का पोषण हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व का बाप अर्थात् गृहीतमिथ्यात्व, ऐसा। कठिन काम, भाई! धर्म की दृष्टि में... देखो तो सही, यह वस्तु! एक समय का ध्रुव नित्यानन्द प्रभु, वही आदरणीय है, इसके अतिरिक्त सबका त्याग दृष्टि में से हो गया। आहाहा! इस त्याग की तो खबर नहीं होती। दृष्टि में से परद्रव्य का तो अभाव-त्याग है, अन्दर दया, दान के

विकल्प उठें, उनका भी त्याग और एक समय की अवस्था का त्याग अर्थात् उसकी उपेक्षा। एक त्रिकाली भगवान ध्रुवस्वरूप की अपेक्षा, उसका अंगीकार करना। ऐसा आत्मा, उसे दृष्टि में अंगीकार करे, तब उसे सम्यग्दर्शन का पहला धर्म होता है। शोभालालजी! आहाहा! कठिन काम।

आत्मा वास्तव में उपादेय है, ऐसा आया है न? और चार भावों से तो अगोचर आत्मा है। आहाहा! भगवान ध्रुवबिम्ब, चिद्घन, ध्रुव नित्य वस्तु की वर्तमान पर्याय जो क्षायिक हो या राग, विकल्प, दया, दान हो, उससे वह जाना नहीं जा सकता, अर्थात् कि उसके आश्रय से जाना नहीं जा सकता। समझ में आया?

तो कहते हैं कि ऐसा आत्मा उपादेय है कि जो 'औदयिक आदि चार भावान्तरों को अगोचर...' है। ऐसा कारणपरमात्मा जिसमें अनन्त मुक्तदशा, सिद्धदशा रही हुई है, ऐसा कारणतत्त्व अथवा कारणजीव। लो, कारणजीव। त्रिकाली ध्रुव चैतन्य पूर्ण सहजानन्दमूर्ति, उसे भगवान कारणजीव कहते हैं, उसे कारणआत्मा कहते हैं, उसे कारणपरमात्मा कहते हैं और उसे वास्तव में आत्मा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! ऐसे आत्मा की अन्तर्दृष्टि रखकर उसमें एकाकार होनेयोग्य है। अंगीकार करनेयोग्य का अर्थ यह है। आहाहा! कठिन काम, भाई! अब व्यवहार के दया, दान और व्रत, तप, यह विकल्प तो कहीं रह गये। वे तो बन्ध के कारण अधर्मरूप है। पोपटभाई! कठिन बात, भाई! यह तो उसमें अन्तर द्रव्यस्वभाव वस्तु, जिसमें महा अनन्त-अनन्त शान्ति और आनन्द की खान एकरूप वस्तु, उसे अंगीकार करने से सब चीज़ें दृष्टि में से उपेक्षित वर्तती है। ऐसी दृष्टि सम्यक्, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा!

यह आत्मा कैसा है? वहाँ समुच्चय बात की थी कि वास्तव में आत्मा को आत्मा उपादेय है। परन्तु अब कैसा वह? कि जिसमें द्रव्यकर्म नहीं। आठ कर्म का जिसमें अभाव है। भगवान आत्मा वस्तु जो ध्रुव चैतन्यकन्द, आनन्दकन्द, सहजानन्द का सागर ऐसा जो प्रभु है, उसमें आठ जड़कर्म नहीं, वह जड़कर्म से रहित है।

मुमुक्षु : कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी। कब क्या? अभी। अत्यारे, समझते हो? अभी। आहाहा!

भगवान चैतन्य सहजानन्दमूर्ति, प्रत्येक का आत्मा ऐसा जो ध्रुव, नित्यानन्द सहज सुख से बना हुआ भगवान ऐसा जो आत्मा, वह जड़कर्म से रहित है। एक बात। **भावकर्म...** उसमें दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, ऐसा जो विकारभाव है, वह तो विकार है। शुभभाव—भावकर्म विकार है, उससे भी वह वस्तु भिन्न—पृथक् है। आहाहा! समझ में आया? **भावकर्म और नोकर्म...** इन तीनों को उपाधि कहा है। भाषा देखो। द्रव्यकर्म जड़, वह उपाधि; पुण्य-पाप के भाव शुभ-अशुभराग, दया, दान, व्रत, काम, क्रोध परिणाम, वे भी उपाधि, उससे भगवान आत्मा अन्दर भिन्न—पृथक् है। आहाहा! प्राणभाई!

और **नोकर्म...** यह शरीर आदि, इसकी उपाधि से... **उपाधि से जनित विभावगुणपर्यायों से रहित है...** आहाहा! क्या कहते हैं? उसमें पुण्य-पाप के विकल्प, वह तो विभाव, द्रव्यकर्म विभाव सब, परन्तु उससे उत्पन्न हुआ कर्म के अभावरूप क्षायिक आदि, पुण्य आदि भाव, क्षायिक आदि भाव, इन सब विभावगुणपर्यायों से रहित आत्मा है।

मुमुक्षु : क्षायिकभाव को विभाव कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : विभावभाव है। बस बात ली है।

मुमुक्षु : इससे विरुद्ध का भाव है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। आहाहा! समझ में आया?

परमस्वभावभाव भगवान ध्रुव चैतन्य महा अनन्त-अनन्त ज्ञान-आनन्द की खान ऐसा निधान, वह चीज़ ऐसी है कि जिसमें उदय, उपशम आदि सब विभावभाव कहे जाते हैं। विभावभाव—विशेषभाव—विकृतभाव अथवा एक समय का विभावभाव, उससे रहित आत्मा है। आहाहा! समझ में आया?

उपाधि से जनित... यह कर्म के निमित्त से और निमित्त के अभावभाव, वह सब उपाधि है, ऐसा कहा। समझ में आया? यह परमात्मा चैतन्य भगवान कारणप्रभु अन्दर विराजता है, जिसमें से कार्यपरमात्मा की दशा प्रगटे, ऐसा कारणप्रभु, कारणपरमात्मा... स्वयं, हों! वापस उसका—आत्मा का कारण दूसरा कोई वीतराग परमेश्वर या कोई ईश्वर है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया? उसे पर से तो कुछ लेना नहीं है, परन्तु

उसकी पर्याय में से उसे लेना नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा चिदानन्द प्रभु ध्रुव चैतन्यद्रव्य को पर से तो कुछ लेना नहीं, पर में से कुछ मिले, ऐसा नहीं, क्योंकि पर का उसमें अभाव है। परन्तु एक समय की पर्याय में से कुछ लेना नहीं, क्योंकि वस्तु में उसका अभाव है। आहाहा! जहाँ नजर लगानी है वस्तु के ऊपर, उस वस्तु में तो, कहते हैं कि उस वर्तमान की पर्याय का भी अभाव है। ऐसा आत्मा... है न? **विभावगुणपर्यायरहित है...** गुण अर्थात् पर्याय और सब विभावगुणपर्याय लेना। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि यह सब विभावगुणपर्यायें हैं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! बात कठिन पड़े। भगवानजीभाई!

मुमुक्षु : बहुत सूक्ष्म आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म आता है। अब यहाँ तो ऐसा यह तत्त्व न समझे तो अवतार व्यर्थ जायेगा। इसकी पद्धति भी ख्याल में न आवे और वह क्या चीज़ है कि जहाँ दृष्टि रखने जैसी है और जिसमें से दृष्टि उठाने जैसी है? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, इसके बिना का है, अर्थात् क्या? कि पुण्य, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम पर दृष्टि रखी है, परन्तु वह तू नहीं, वह तुझमें नहीं, उसके बिना की चीज़ है वह। आहाहा! यहाँ तो अभी करते-करते धर्म होगा। दया पालते हैं और व्रत करते हैं और तप करते हैं विकल्प।

मुमुक्षु : वह व्यवहार साधन तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी साधन नहीं। समझ में आया? कठिन बात है, बापू! वीतरागमार्ग की। दुनिया को साधारण बुद्धिवाले को बेचारे को कुछ मिला नहीं और साधारण बातें करे, तो ठीक लगे।

मुमुक्षु : उसे चाहिए हो वैसा मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसे रुचि हो, ऐसी बात मिले। दया पालो, व्रत करो, अपवास करो, यह करो, यह करो। अब यह तो बेचारा मूढ़ तो है, भान तो कुछ नहीं। उसे यह करो... करो... कहे तो वह कराने में मिथ्यात्व का पोषण होता है, इसकी उसे खबर नहीं। आहाहा! यह तो भारी कठिन काम, भाई! ऐई! भीखाभाई! पर्यूषण में तो

धमाल चलती हो। ऐई... कितने अपवास किये? किसने इतने किये? किसने प्रौषध किये? किसने यह किया?

मुमुक्षु : किसने कितने किये?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कितने किये। अंक फिरे आठ, पचास, सौ। आठ हुए और पन्द्रह के दस हुए, महीने के पाँच हुए, फलाना इतने। अरे! धूल भी नहीं, सुन न! उसमें तो महा... क्योंकि स्वयं महा चैतन्य है, जिसमें दृष्टि देनी है, उसमें तू विकल्प उठावे, वह उसमें नहीं। आहाहा! उसमें है, वह इसमें नहीं और इसमें है, वह उसमें नहीं। आहाहा! ऐई! नेमिदासभाई! क्या अब यह प्रौषध करे और प्रतिक्रमण करे, क्या करना? बापू! यह मार्ग की प्रणालिका की पद्धति पूरी अलग है। दुनिया को सुनने को मिलता नहीं, वह समझे कब और रुचि करे और मिले कब अन्तर में? समझ में आया?

कहते हैं, कितना त्याग दृष्टि में आता है और कितना ग्रहण महाप्रभु का आता है, उसकी इसे खबर नहीं। आहाहा! महाप्रभु अतीन्द्रिय चैतन्यकन्द, वह दृष्टि में अंगीकार आता है और राग तथा निमित्त की, एक समय की पर्याय का दृष्टि में त्याग वर्तता है, इस त्याग की दृष्टि की कीमत नहीं और यह (बाहर का) त्याग किया और यह छोड़कर बैठे और यह किया। वहाँ तो धर्म का त्याग है। समझ में आया? आहाहा!

यह अधिकार नियमसार मोक्षमार्ग है न? तो कहते हैं कि मोक्षमार्ग की पर्याय, वह पर्याय है। वह द्रव्य के लक्ष्य से प्रगट होती है। वह पर्याय कहीं राग, निमित्त और पर्याय के लक्ष्य से प्रगट नहीं होती। देवीलालजी! आहाहा! दुनिया के साथ तो कहीं मिलान खाये, ऐसा नहीं है। प्राणभाई! प्राणभाई ने आठ अपवास किये थे। कहो, समझ में आया? आहाहा! कठिन बातें, भगवान! तेरी महिमा की बात है। राग से लाभ हो, (इसमें) तुझे कलंक लगता है। आहाहा! समझ में आया? यह जन्मकलंक, परन्तु यह तो बाह्य का त्याग किया और यह छोड़ा, यह छोड़ा, ऐसा भाव है, वह मिथ्यात्वभाव, वह तुझे कलंक है। समझ में आया? जो इसमें नहीं, उसे कहता है कि मैंने इसका त्याग किया, मैंने इसका त्याग किया। परन्तु कहाँ था इसमें (आत्मा में)? समझ में आया? बात तो ऐसी है।

भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ परमात्मा ने जो यह आत्मा अन्दर है, उसे देखा और प्रगट किया प्रभु ने। उसे प्रगट करने की रीति—प्रभु ने इस प्रकार से किया, वह रीति कहते हैं। यह विभाव, मोह, पर्याय बिना का है। तब क्या है अब? यह तो नकार से आया।

यह **अनादि-अनन्त....** भगवान आत्मा तो अनादि-अनन्त है। जिसकी शुरुआत नहीं, जिसकी आदि नहीं, जिसका अन्त नहीं। ऐसा **अनादि-अनन्त अमूर्त...** अमूर्तिक है। **अतीन्द्रिय स्वभाववाला...** आहाहा! यह अतीन्द्रिय स्वभावस्वरूप ही वह है। (प्रवचनसार गाथा) ९२ में आया था अपने, अतीन्द्रिय महापदार्थ। आहाहा! बाहर की बात की लोगों को ऐसी मिठास आती है। चरणानुयोग की बात चलती हो कि यह करना... यह करना... यह करना। यह करने की बात जहाँ आवे कर्तृत्वबुद्धि की, वहाँ इसे ठीक लगता है। परन्तु इस कर्तृत्वबुद्धि में तो पूरी बात करूँ... करूँ (की होती है)। परन्तु स्थिर होऊँ... स्थिर होऊँ.... आत्मा में। नवनीतभाई!

भगवान चैतन्यतत्त्व महा, वह अनादि-अनन्त है, अमूर्त है। अतीन्द्रिय स्वभाववाला स्वरूप है। अतीन्द्रियस्वभावस्वरूप है। अतीन्द्रिय स्वभाववाला अर्थात् अतीन्द्रियस्वरूप ही वह है। वह इन्द्रियों से ज्ञात हो, ऐसा नहीं और इन्द्रियाँ उसमें है नहीं। जड़ इन्द्रियाँ उसमें नहीं, तथा खण्ड इन्द्रिय वह वस्तु में है नहीं; इसलिए वह अतीन्द्रिय स्वभाववाला है। अतीन्द्रिय स्वभाववाला उसका अस्तित्व—सत्ता का अस्तित्व। अतीन्द्रिय स्वभाववाला है।

शुद्ध-सहज-परम-पारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है... आहाहा! कितने विशेषण दिये। देखो! कैसा है भगवान आत्मा? शुद्ध... एक तो महा शुद्ध पवित्र है। वह सहज स्वाभाविक वस्तु है। समझ में आया? पर्याय तो नयी होती है और पुरानी पर्याय जाती है। वह ऐसा नहीं है। वह तो सहज परमपारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है। परमस्वभावभाव पारिणामिकभाव। पारिणामिकभाव अर्थात्? जिसे किसी पर की अपेक्षा पर्याय में आवे, ऐसी अपेक्षा उसमें नहीं। ऐसा परमस्वभावभाव भगवान आत्मा... आहाहा! समझ में आया? यह भाषा भी समझना कठिन पड़े। ऐई! जेठाभाई! अरे! ऐसा होगा? परन्तु ऐसा क्या, यह कहते हैं? अरे! तुझे खबर नहीं। सुना नहीं। भाई! परमपारिणामिक। पारिणामिक अर्थात्? सहजस्वभाव। जिसे किसी निमित्त के सद्भाव या निमित्त का

अभाव, ऐसी कोई अपेक्षा ही नहीं। आहाहा! कोई अपेक्षा ही नहीं। ऐसा परमपारिणामिकभाव। पर्याय को भी पारिणामिकभाव कहा जाता है। उदयभाव को पारिणामिकभाव की पर्याय कहा जाता है। तथा चार भाव को पारिणामिकभाव की पर्याय कहा जाता है, परन्तु वह तो पारिणामिकभाव की पर्याय, उस परमपारिणामिकभाव में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? इससे परमपारिणामिक शब्द प्रयोग किया है। लो! परमपारिणामिकभाव सहजात्मस्वरूप ध्रुव अनादि-अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाला सहज शुद्ध पारिणामिकभाव जिसका अर्थात् आत्मा का स्वभाव है।

ऐसा कारणपरमात्मा... ऐसा उसका जो नित्यस्वरूप, ध्रुवस्वरूप, कारणप्रभु, कारणजीव एकरूप सत्व जीव का जो है, **ऐसा कारणपरमात्मा वह वास्तव में 'आत्मा' है।** देखो, भाषा देखो! पर्याय, वह आत्मा (नहीं), ऐसा आत्मा, वह वास्तव में आत्मा है। पर्याय, वह व्यवहार आत्मा है। वह वास्तव में आत्मा नहीं। गजब! शोभालालजी! ऐसा तो किसी समय यहाँ आवे, हों! यह तो आज फिर।

मुमुक्षु : यह पहली बार आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहली बार। यह सब इस बार सुने तो सही। प्रवचनसार पूरा हो गया। नय का अधिकार बाकी है परन्तु वह कुछ समझे नहीं अभी। वह अमुक प्रकार का... यह तो समझ में आये ऐसी शैली और सादी (भाषा) है यह। वस्तु भले ऊँची, परन्तु उसमें भाव समझने को सादापन है। समझ में आया?

कहते हैं कि यह आत्मा कैसा है? कि भगवान अनादि-अनन्त अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाला अपना निज आत्मा, निज, हों! जो श्रद्धा करने के योग्य जो आत्मा, श्रद्धा करने के योग्य आत्मा ऐसा है। कैसा? कि सहज शुद्ध पारिणामिक सहजभावरूप ऐसा कारणपरमात्मा, उसे वास्तव में यथार्थरूप से—वास्तविकरूप से उसे निश्चय आत्मा कहा जाता है। आहाहा! आत्मा के दो भाग—एक निश्चय आत्मा और एक व्यवहार आत्मा। गजब बात, भाई! समझ में आया? आहाहा!

भगवान इसे वास्तव में आत्मा (कहते) हैं। यह परमात्मा स्वयं कारणप्रभु, वही सच्चा आत्मा—वास्तविक आत्मा—निश्चय आत्मा है। एक समय की उसकी निर्मल

पर्याय, वह भी व्यवहार आत्मा है। '**व्यवहारोऽभूदत्थो**' इसकी यह सब व्याख्या है। समझ में आया? पण्डितजी! आहाहा! इसका प्रसन्नपना तो, वस्तु त्रिकाल है, उसमें दृष्टि जाने से आनन्द आवे, वहाँ प्रसन्नपना है। आहाहा! समझ में आया? अब इसमें पैसेवाले से धर्म होता है, यह कितना इसमें कहाँ आता होगा?

मुमुक्षु : परन्तु जीव पैसावाला.... यहाँ तो पर्याय भी नहीं, फिर पैसावाला कहाँ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाई! कितने ही ऐसा कहते हैं कि पैसेवाला हो तो धर्म की शोभा हो, धर्म की प्रभावना हो। लो, यह पैसेवाले बिना होगी?

मुमुक्षु : धर्म की प्रभावना आत्मा के आश्रय से होगी या पैसे के आश्रय से होगी?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐई! यह सब पैसे कितने खर्च करे? यह पैसेवाले खर्च करे। गरीब व्यक्ति खर्च कर सके? चार लाख का तुम्हारे परमागम (मन्दिर) बनाना है। कहाँ गये? यह रहे। यह तीन लाख का था, अब चार लाख आया है। अब होते-होते क्या आता है? यदि पैसेवाले हों तो पैसे से यह हो न, तो धर्म की शोभा होती है—ऐसा नहीं? यहाँ तो कहते हैं कि पैसावाला आत्मा है नहीं न! पैसे इसके हैं ही नहीं न! उससे धर्म की प्रभावना हो, ऐसा वस्तु में नहीं है। मैं पैसेवाला नहीं और पैसे में राग मन्द करके जो कुछ पुण्य हो, वह भी मैं नहीं। अरे! इस पुण्य के परिणाम को जानने की उस क्षण में ज्ञान की पर्याय हो, वह मुझमें नहीं। आहाहा! भगवान! आहाहा! काम ऐसा है। पोपटभाई! यह पोपटभाई को कराना है न कानातलाब? देखो! तीज को जायेंगे। ऐई! मणिभाई! कहो, समझ में आया या नहीं इसमें? रमणीकभाई वहाँ से आयेंगे, उड़कर आयेंगे। नाम नहीं आता। क्या कहलाता है वह? प्लेन। उड़कर आयेंगे इतना बोले। नाम नहीं आता। आहाहा! भगवान! तेरा घर कितना बड़ा है! और उस घर में कितना माल भरा है! और उसे अंगीकार करके दृष्टि में उसे लेने योग्य है। आहाहा! समझ में आया? यह मूल बात है वीतरागमार्ग की अथवा आत्मा के मार्ग की। इसके अतिरिक्त दूसरी बातें करे, वे सब थोथा। समझ में आया? आहाहा! कहते हैं... वापस भाषा कैसी? कारणपरमात्मा, वह वास्तव में आत्मा है, हों! पण्डितजी! यह भाषा समझते हो? वह त्रिकाली ध्रुव वस्तु...

मुमुक्षु : ....पर्याय भी मेरी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय नहीं। क्योंकि एक समय की पर्याय तो अंश रहा। वह तो व्यवहार में गया, व्यवहार आत्मा हुआ। निश्चय आत्मा तो पूरी वस्तु, वह निश्चय आत्मा, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। वह सम्यग्दर्शन उसे अंगीकार करता है। आहाहा! स्वरूपचन्दभाई! है ऊँचा, परन्तु समझ में आये ऐसा है। समझ में आये ऐसा है न? पुराने व्यक्ति हैं। आहाहा!

भाई! तेरा आत्मा तुझे वास्तविक किसे कहना? वास्तविक तू कौन? सच्चा कौन? वास्तविक कौन? यथार्थ कौन? कि कर्म-फर्म तो नहीं, दया, दान, विकल्प और पुण्य, पाप में तू नहीं, परन्तु एक समय की पर्याय... यहाँ तो ख्याल यह आया कि वह राग होता है न, वह राग नहीं और राग का निमित्त सामने लक्ष्मी आदि, वह तो नहीं, परन्तु यहाँ राग का ज्ञान होता है न, एक समय की पर्याय में (कि जिसे) व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान (कहा है, वह भी तू नहीं)। आहाहा! एक समय की राग को जानने की पर्याय, वह तू सच्चा आत्मा नहीं। आहाहा! पन्नालालजी! गुना में यह सब कठिन पड़े लोगों को। एकान्त है रे एकान्त है। अरे! भगवान! सुन तो सही, भाई! कुछ इससे लाभ होगा। दया, दान, व्रत, भक्ति करते, तप करते-करते कल्याण होगा। ऐसी बात हो तो अनेकान्त कहलाये। यहाँ कहते हैं कि ऐसे तेरे कुछ तप, व्रत को अज्ञानरूपी भैंसा निगल गया। सुन! समझ में आया? श्रीमद् में कहा है न, भाई? तेरा अज्ञानरूपी भैंसा वहाँ निगल गया। अज्ञानरूपी भैंसा। समझे न? पाडा, समझते हो? भैंसा। अज्ञानरूपी भैंसा तेरे व्रत, तप के पूळा कुछ निकल गया। छिलके हैं तेरे, सुन न! तुझे तेरी खबर नहीं होती और तू धर्म करने बैठा। कहाँ से धर्म होगा?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक कहते हैं यह। ऐसा कि, वे लोग ऐसा कहते हैं, ऐसा भाई कहते हैं। ऐसा कि तुम्हारे से व्रत, तप की क्रिया नहीं होती न, इसलिए तुम उसका निषेध करते हो। परन्तु सुन न अब, तेरे व्रत, तप किसे कहना? सुन न! अब थोड़ी दया पालने का भाव हुआ या अहिंसा (भाव हुआ), वह तो राग है, पुण्य है और मैंने उसकी

दया पालन की, वह तो मिथ्यात्वभाव है, उसमें आत्मा का महाखून है। यह कहते हैं। भाई कहते हैं। करके तो देखो। पालन करके तो देखो एक बार। नग्नपना लो, व्रत, अहिंसा व्रत पाँच महाव्रत लो। अरे! भगवान! सुन न भाई! अब तेरे महाव्रत के परिणाम तो अनन्त बार लिये अज्ञानभाव से। समझ में आया? नौवें ग्रैवेयक गया, वहाँ उसमें कुछ तेरा हित नहीं हुआ। आहाहा! समझ में आया? महीने-महीने के, दो-दो महीने के अपवास, अपवास, छह-छह महीने के अपवास, दो-दो महीने के सन्थारा। सन्थारा अर्थात् ऐसे वृक्ष की डाली न हिले, परन्तु इसका लक्ष्य वहाँ है कि यह क्रिया करता हूँ और यह राग मेरा और इस राग को मैं करता हूँ और इस राग को मैंने छोड़ा है, यह दृष्टि वहाँ है, वह मिथ्यादृष्टि आत्मा के शान्ति का खून करनेवाली है। समझ में आया? कठिन काम!

यहाँ सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं कि जिसे एक समय की पर्याय भी अभूतार्थरूप से, व्यवहाररूप से लक्ष्य में आती है। आहाहा! कैसी शैली से बात की है! मूल तो (समयसार) ११वीं गाथा की शैली से बात है। '**ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' '**भूदत्थमस्सिदो खलु समादिट्ठी हवदी जीवो**' व्यवहार, वह अभूतार्थ है। एक समय की पर्याय अनित्य और क्षणिक है, (इसलिए) वह आश्रय करनेयोग्य नहीं। क्योंकि इससे नयी शान्ति की पर्याय नहीं आती; इसलिए उसे व्यवहार आत्मा कहकर, अभूतार्थ कहकर, वह खोटा आत्मा (कहा), सच्चा नहीं। कठिन भाई! समझ में आया? अमरचन्दभाई! समझ में आया? ऐसी टीका न समझ में आये न फिर... है ऐसा करके जैसा अर्थ इसमें भरना चाहिए, वे भरे नहीं, टीका में तो उलझन कर डाली, ऐसा (लोग) कहते हैं। यह टीका पढ़कर। पद्मप्रभमलधारिदेव ने तो सारी टीका में बहुत उलझन कर डाली, क्लेश कर दिया।

मुमुक्षु : गाथा तो सरल थी, परन्तु टीकाकार ने क्लिष्ट कर डाली।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्लिष्ट कर डाली, ऐसा कहते हैं। अरे! गाथा में से सरलरूप से उसका स्पष्ट कर दिया है। सुन न! आहाहा!

मुमुक्षु : सब निचोड़ निकालकर प्रस्तुत किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा कहते हैं। चार भाव को अगम्य (कहकर) क्लिष्ट कर डाली टीका। जुगलकिशोर और यह रतनचन्दजी और वे सब ऐसा कहनेवाले। आहाहा! वह (जुगलकिशोर) मुखत्यार है न?

कहते हैं, भाई! यह तो स्पष्ट किया है। पाठ भी है या नहीं यहाँ? पाठ क्या है? '**जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।**' यह पाठ है, उसका तो यह स्पष्टीकरण चलता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्या कहा? परन्तु इसका अर्थ ही यह हुआ। वह द्रव्य ही परद्रव्य है। आहाहा! '**जीवादिबहित्तच्चं**' बाह्य तत्त्व, बाह्य भाव, बाह्य द्रव्य, परद्रव्य— यह सब एक ही है। समझ में आया? आहाहा! यह तो परमात्मा भगवान के भेंट की बातें हैं। ऐसा ध्रुव तत्त्व, उसका माहात्म्य न आवे और इसे कहीं भी विकल्प और निमित्त और पर्याय का माहात्म्य आवे तो उसका मिथ्यात्व नहीं जायेगा। आहाहा! समझ में आया?

इन्होंने तो हल्का किया। उसमें हेय कहा है, तो इसमें वास्तव में उपादेय नहीं, ऐसा शब्द प्रयोग किया है, ऐसा। पहला शब्द रखा कि '**हेयोपादेयतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्**' पश्चात् '**जीवादिसप्ततत्त्वजातं परद्रव्यत्वान्न ह्युपादेयम्**' आहाहा! समझ में आया? उसे स्वयं को समझ में न आवे, इसलिए टीकाकार का दोष निकालते हैं। भाई!

मुमुक्षु : विद्वान को न आवे, ऐसा बने?

पूज्य गुरुदेवश्री : अब विद्वान कहना किसे? यह तो आ गया था, नहीं? विद्वान निश्चय को तजकर व्यवहार में वर्ते, परन्तु मुक्ति तो निश्चय के आश्रय से है। पुण्य-पाप (अधिकार) में आ गया न? विद्वान पढ़-पढ़कर व्यवहार निकालते हैं और व्यवहार से कल्याण होगा, ऐसा मानते हैं और व्यवहार में वर्तते हैं, उसे तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि कहा है। ऐसा निकाला वह शास्त्र पढ़कर? जहर निकाला। पुण्य-पाप (अधिकार) में है न? विद्वानजन भूतार्थ तज व्यवहार में वर्तन करे। नित्या... आहाहा!

जयसेनाचार्य ने तो यह कहा, विद्वान हो, वह व्यवहार में प्रवर्ते नहीं। ऐसा अर्थ

किया है। आहाहा! दो अर्थ हैं। विद्वान—जिसे वास्तविक तत्त्व और पर्याय का ज्ञान है, वह व्यवहार में वर्तता नहीं, वह निश्चय ज्ञानानन्दस्वरूप में वर्तता है। उसे निश्चय का जाननेवाला विद्वान कहा जाता है। बाकी सब मूर्ख कहे जाते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? हजारों लोगों को समझाना आया, यह कहना आया, परन्तु तत्त्व अन्दर वस्तु है ध्रुव, उसका आश्रय करना, वह शरण है, पर्याय का आश्रय करनेयोग्य नहीं—ऐसा सीखा नहीं तो वह विद्वान नहीं, परन्तु बड़ा मूर्ख है। दूसरा है, लो न, ऐसा लो।

हमारे भाई लालन बोलते थे नहीं कि यह न हो तो? स्वयं पाप, ऐसा न बोले। तो लोग कहे, पाप। हाँ यह। लालन पण्डित थे न श्वेताम्बर। ९० वर्ष की उम्र। और जरा मजाकिया भी थे, जामनगर के। भाषण दे, फिर कहे, देखो, भाई! इसका नाम धर्म और इसका नाम पुण्य, इसके अतिरिक्त दूसरा वह? वह कहे, दूसरा कहे पाप। हाँ, वह। पाप न बोले स्वयं।

मुमुक्षु : नाम न ले।

पूज्य गुरुदेवश्री : नाम न ले, ऐसे थे वे। वे सब ऐसे थे। अमेरिका में २०-२० हजार लोगों में भाषाण दे। २०-२० हजार में बड़ा भाषण (दे) तो लोग ऐसे... समझे न? पाँच-पाँच, सात-सात रुपये देकर उसका व्याख्यान रखे। बड़ा पण्डाल हो लाख-लाख का। रुपये बहुत उपजे। उसमें भला क्या हुआ? तेरा तत्त्व कौन है और किसकी शरण में जाना और किससे हटना—इसकी खबर बिना तेरी खबर कहाँ की सच्ची हुई? समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि 'कारणपरमात्मा वह वास्तव में 'आत्मा' है।' गजब बात! चिदानन्द ध्रुव वस्तु जो है, वह अपना कारणप्रभु आत्मा है और वही वास्तव में उसे ही सच्चा आत्मा कहने में आता है। आत्मा में भी सच्चा और खोटा।

मुमुक्षु : नय दो प्रकार से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : नय है न? समझ में आया? आहाहा!

अब कहते हैं... पहले तो स्वयं की बात की थी न मुनि की? यह तो अति-आसन्न भव्य जीवों को... अति आसन्न भव्य जीव (अर्थात्) नजदीक में जिनका—भव्य

का मोक्ष होने की पात्रता है, ऐसे **अति आसन्न भव्य जीवों को...** जिसे मोक्ष अति आसन्न अर्थात् निकट वर्तता है। आहाहा! जिसे अल्प काल में निकटपने—नजदीकपने मोक्ष वर्तता है, ऐसे **अति आसन्न भव्य जीवों को ऐसे निज परमात्मा के अतिरिक्त (दूसरा) कुछ उपादेय नहीं है।** समझ में आया? आहाहा! बहुत सरस बात! बहुत सरस!

कितना त्याग वर्ता दृष्टि में, इसकी तो खबर नहीं होती। समझ में आया? इसकी कीमत नहीं और कीमत यह बाह्य त्याग किया, यह छोड़ा, यह रखा। जिसमें मिथ्यात्व का पोषण है। विकल्प का कर्ता हो और बाह्य त्याग मैंने किया, ऐसा अभिमान है उसे। वह तो मिथ्यात्व है। उसमें पूरे आत्मा का त्याग वर्तता है। पण्डितजी! बराबर है यह? आहाहा!

कहते हैं, अहो! आसन्न—नजदीक, अति नजदीक है जिसे। आत्मा का भव्य (पना) पकने पर मोक्षदशा—भव्य जीव का पाक, केवलज्ञानादि का पाक—जिसे अति नजदीक में है। ऐसे भव्य जीवों को तो एक यह निजपरमात्मा (आदरणीय है), परपरमात्मा भी नहीं, अरिहन्त-सिद्ध भी आदरणीय है नहीं। आहाहा! अपनी एक समय की पर्याय आदरणीय नहीं, फिर परमात्मा तो कहीं पर में रह गये। आहाहा! समझ में आया? समवसरण और समवसरण में विराजमान तीर्थंकर और अनन्त केवलज्ञानी और... कहते हैं, वह कोई जीव को आदरणीय नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव को अल्प काल में केवलज्ञान होने की तैयारी है। आहाहा! समझ में आया? उसे तो एक निज परमात्मा... अपना कारणपरमात्मा (शब्द) प्रयोग किया, वास्तविक आत्मा (शब्द) प्रयोग किया। समझ में आया? और ऐसा आत्मा आत्मा को—तीक्ष्ण बुद्धिवाले को वह ग्रहण करनेयोग्य है, ऐसे आत्मा को वास्तव में उपादेय (जो) आत्मा है, वह यह आत्मा। त्रिकाली ध्रुव नित्यानन्द प्रभु, वही वास्तविक आत्मा, कारणपरमात्मा, कारण जीव है। इसके अतिरिक्त... इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ अर्थात् देव-गुरु-शास्त्र भी आदरणीय नहीं, उससे—निमित्त से (होता) भक्ति का रागभाव भी आदरणीय नहीं, परन्तु निज (शुद्ध)पर्याय है, वह भी आदरणीय नहीं। आहाहा! समझ में आया?

अति आसन्न भव्य जीवों को ऐसे निज परमात्मा के अतिरिक्त....' सहजानन्द नित्य प्रभु, इसके अतिरिक्त **(दूसरा)...** अर्थात् कि निमित्त, राग और पर्याय **(दूसरा)**

कुछ उपादेय नहीं है। दूसरा कुछ अंगीकार करनेयोग्य, आदर करनेयोग्य नहीं है। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो यही कहा है न! वहाँ भी यही कहा है। उसकी यह बात है। दूसरी बात कहाँ है? यहाँ तो मोक्षमार्ग है, इसलिए कारणपरमात्मा में से मोक्षमार्ग प्रगट होता है, ऐसा सिद्ध करते हैं। पर्याय का कहना है परन्तु वह पर्याय द्रव्य में से आती है, इसलिए द्रव्य का ही कारणपना है और उस द्रव्य को ही आदरनेयोग्य है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

अब ३८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं।

(मालिनी)

जयति समयसारः सर्व-तत्त्वैक-सारः,
सकल-विलय-दूरः प्रास्त-दुर्वार-मारः।
दुरित-तरु-कुठारः शुद्ध-बोधावतारः,
सुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः ॥५४॥

'**क्लेशवाराशिपारः**' आहाहा! **सर्व तत्त्वों में जो एक सार है...** देखो! संवरतत्त्व, निर्जरातत्त्व, मोक्षतत्त्व, आस्रवतत्त्व, बन्धतत्त्व, अजीवतत्त्व—इनमें तो एक सार, त्रिकाली द्रव्य, वह एक सार है। आहाहा! समझ में आया? **सर्व तत्त्वों में जो एक सार है...** अर्थात् कि अजीवतत्त्व, संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व वह तत्त्व है एक समय की पर्याय... संवर-निर्जरा-मोक्ष हो गया न पर्याय? उन तत्त्व में भी त्रिकाली तत्त्व, वह एक सार है। बाकी इसके अतिरिक्त सब असार है, ऐसा इसका अर्थ है। आहाहा! साधारण व्यक्ति को नया सुने उसे ऐसा लगे, यह क्या कहते हैं धर्म का रूप ऐसा? ऐसा धर्म होगा? एकदम-एकदम ऐसा होता हो, ऐसा हो। शास्त्र के जानपने की बातें करे, व्रत, तप की बातें करे, तो लोगों को ऐसा होता है कि आहा! बहुत अच्छी धर्म की बात करते हैं। धूल भी धर्म की बात नहीं, सुन न! तुझे खबर नहीं। शोभालालजी!

मुमुक्षु : बात कहाँ है और बात कहाँ की करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ की बात करे। कुछ खबर नहीं। समझ में आया? अन्धा अन्ध पलाय। अन्धा दिखलानेवाला और अन्धा चलनेवाला। 'अन्धा अन्ध पलाय' शब्द है।

अहो! **सर्व तत्त्वों में जो एक सार है...** नौ तत्त्व में एक कारणपरमात्मा, वह सार तत्त्व है। **जो समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है...** विकल्प, निमित्त और एक समय की पर्याय, वह सब नाश होनेयोग्य है। आहाहा! कैसी शैली रखते हैं! **जो समस्त नष्ट होनेयोग्य....** राग, पुण्य, दया, दान, यह तो नष्ट होनेयोग्य विकृतभाव है, परन्तु एक समय की (शुद्ध) अवस्था भी नष्ट होनेयोग्य है। व्यय होने को, सिद्ध की अवस्था भी व्यय होने के योग्य है। उत्पाद-व्ययरूप है न वह? व्यय होने के योग्य है न? ध्रुव तो त्रिकाली है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

जो समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों... समस्त नष्ट होनेयोग्य भाव... भाव शब्द से नष्ट होनेयोग्य पर्याय, नष्ट होनेयोग्य राग। बदलनेयोग्य तेरा निमित्त आदि, उसे तो पर रखो, उससे तो दूर है। एक समय की पर्याय से ध्रुव, वह दूर है। ऐई! समझ में आया? भगवान ध्रुव तत्त्व जो अचल, अवलम्बन योग्य जो तत्त्व है, वह पर्याय से दूर है। असंख्य प्रदेश में (होने) पर भी दूर है, दूर है। आहाहा! अपने आ गया न अलिंगग्रहण में, नहीं? पर्याय, द्रव्य को स्पर्शती नहीं; द्रव्य, पर्याय को छूता नहीं और पर्याय, द्रव्य को छूती नहीं। आहाहा! अलिंगग्रहण में सब बहुत आया था। एक व्यक्ति कहता था बेचारा, हों! अलिंगग्रहण बहुत सरस अधिकार चला है। सब थे न मौके से, और वह आ गया उसमें। वह लेने का नहीं था। वह लिया।

अहो! भगवान आत्मा जो कुछ समस्त नष्ट होनेयोग्य भाव... यह शरीर, वाणी, मन, वह तो एक ओर रह गया, हों! और दया, दान के विकल्प व्रत, तप का राग, वह तो विकल्प है, वह भी नाश होनेयोग्य है। यह आस्रवतत्त्व, यह भावबन्ध तत्त्व, अजीवतत्त्व है। परन्तु अन्दर में नाश होनेयोग्य संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय... आहाहा! वह नष्ट होनेयोग्य है, बदलनेयोग्य है, उससे भगवान ध्रुव तत्त्व तो इस पर्याय से दूर है। ऐसा सुना जाये नहीं, हों!

मुमुक्षु : इस काल में सुना जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सम्प्रदाय की (बात है)। ऐई! कानजीस्वामी ने तो सब ऐसे उड़ाया। भाई! सुन न, तुझे खबर नहीं। वाडा में धर्म कहीं नहीं है। वह वाड़ा बाँधकर बैठे, उसमें कहीं धर्म नहीं है। 'वाडा बाँधी ने बैठा रे अपना पंथ करवाने।' अपना पंथ—सम्प्रदाय रखने बैठे हैं बेचारे। तत्त्व क्या है, इसकी खबर नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : समझने जैसी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो ऐसी है, भाई! अपनी वाड़ा की पद्धति और परम्परा की रीति कैसे टिकी रहे, इसके लिये मिथ्या प्रयास करते हैं।

मुमुक्षु : बड़ा छेद पड़ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक शैली देखो न! पद्मप्रभमलधारिदेव की! एक तो यह कहा कि सर्व तत्त्व में एक सार है, दूसरा सार नहीं। (दूसरा), समस्त नष्ट होनेयोग्य भाव—पर्याय से दूर है। भगवान आत्मा, एक समय की अवस्था बदलती है, उससे दूर तत्त्व है। आहाहा! सिद्ध की पर्याय एक समय की बदलनेवाली है, उससे ध्रुव है, वह दूर है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ।

जिसने दुर्वार काम को नष्ट किया है,... अर्थात्? कि जिसमें काम है नहीं, ऐसा इसका अर्थ। नष्ट किया है, ऐसी भाषा है। जिसमें काम-भोग की वासना नहीं, इसलिए नष्ट किया है, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? **जिसने दुर्वार...** (अर्थात्) निवारण नहीं किया जा सके, ऐसा जो विकल्प, भोग की वासना का भाव, कहते हैं कि जिसने नष्ट किया, अर्थात् कि जिसमें नहीं, ऐसा। उसकी व्याख्या ऐसी है। समझ में आया? नष्ट किया है अर्थात् नाश करता है, ऐसा भी नहीं और नष्ट किया है, ऐसा भी नहीं। नष्ट किया है, इसका अर्थ कि उसमें नहीं है, उसका अभाव वर्तता है, इसका नाम नष्ट किया है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया?

जो **जो पापरूप वृक्ष को छेदनेवाला कुठार है...** अर्थात् कि जिसमें पाप नहीं, ऐसा इसका अर्थ है। वह पुण्य कहा, पुण्य का फल कामादि इच्छा। यहाँ **पापरूप वृक्ष को छेदनेवाला कुठार...** इस पाप शब्द से पुण्य और पाप दोनों पाप हैं। बहुत जगह आता है, नहीं? अघ... अघ। अघ और सुख और दुःख सब पाप है। शुभ और अशुभभाव दोनों पाप है। समझ में आया? आहाहा! दया, दान और व्रत का विकल्प है, वह पाप है, राग जो पुण्य है, वह पाप है। शोभालालजी! संसार में भटकावे, उस भाव को पुण्य कैसे कहा जाये? उसे सुशील कैसे कहा जाये? वह तो कुशील है। आहाहा! समझ में आया? पण्डितजी! बहुत माल है। ... लालजी गये? गये होंगे।

क्या कहा है? कि पुण्य-पापरूपी ऐसे वृक्ष हैं न? उसे तो उगने देता नहीं। मूल तो ऐसा कहते हैं (कि) उसमें है नहीं। समझ में आया? भगवान आत्मा अमृत का सागर प्रभु ध्रुव, वह पापरूपी वृक्ष को छेदनेवाला कुठार है अर्थात् पापवृक्ष की उत्पत्ति जिसमें नहीं है। अथवा उस पारिणामिकभाव का आश्रय करने से पाप और पुण्य का नाश हो जाता है। समझ में आया?

जो शुद्ध ज्ञान का अवतार है... वह तो शुद्ध ज्ञान का जन्म लिया है उसने— आत्मा ने। अकेला शुद्ध ज्ञान ही अवतरित हुआ है। है त्रिकाली, ऐसा। पर्याय की बात नहीं यह, हों! शुद्ध ज्ञान का जिसका जन्म है अर्थात् 'है'। शुद्ध ज्ञान का ही जिसका अवतार है। अकेला शुद्ध ध्रुव चैतन्य, उस ज्ञान का ही उसका रूप है, वही उसका अवतार है। समझ में आया? वे उलझन में आये कि ऐसे अर्थ किये? चार भाव अगोचर है, अगम्य है। लोग कहे, ऐसा (अर्थ)? परन्तु सुन न! किस अपेक्षा से कहते हैं, यह समझ तो सही! चार भाव उसमें नहीं है, इसलिए उनके आश्रय से ज्ञान नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

शुद्ध ज्ञान का अवतार है... भगवान आत्मा वस्तु, एक समय की पर्याय के अतिरिक्त शुद्ध ज्ञान का अवतार है। यहाँ केवलज्ञान की बात नहीं। केवलज्ञान तो एक समय की पर्याय है, वह पर्याय ध्रुव में नहीं। ऐसा शुद्ध ज्ञान का अवतार है ध्रुव। समझ में आये ऐसा है, हों! ऐसा है ऊँचा और अच्छा, परन्तु न समझ में आये, ऐसी बात नहीं। यह तो बहुत सादी है। नय का अधिकार तो जरा लम्बा करना पड़े, (इसलिए) कठिन

पड़े। आहाहा! तथापि बाद में लेंगे। सब हल्का होगा तब। कहो, समझ में आया? कहीं छोड़ नहीं देना है। पूरा करना है। ४७ नय। आहाहा!

शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहते हैं। जन्मा, ऐसा नहीं कहते? कि यह मनुष्य जन्मा। अर्थात् जन्मा अर्थात् है। यह मनुष्य हुआ, नहीं था और हुआ, ऐसा। है, इसी प्रकार यह शुद्ध ज्ञान ही है, ऐसा। शुद्ध ज्ञान ही जिसका जन्म अर्थात् अवतार है, ज्ञान ही जिसका स्वरूप है। उसमें ज्ञान की पाँच पर्यायें आदि उसमें है नहीं। आहाहा! इसलिए शुद्ध ज्ञान कहा है। और केवलज्ञान भी सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। वह भी इसमें नहीं। निश्चय तत्त्व भगवान आत्मा तो शुद्ध ज्ञान का स्वरूप है पूरा। आहाहा! सूक्ष्म बात है, कान्तिभाई! वहाँ मुम्बई में ऐसी न चली हो। मुम्बई में थे न वहाँ। कान्तिभाई आये थे। शान्तिभाई के समधी नहीं? शान्तिलाल खुशाल। अपने गये थे न! तुम गये थे न? उस मन्दिर के साथ। वे लेने आये थे। सुमनभाई के वहाँ लेने आये थे न? सुमनभाई के वहाँ लेने आये थे। कहो, समझ में आया? इसने कभी ऐसा सुना न हो। यह क्या? ऐई! प्राणभाई!

जो सुखसागर का पूर है... आहाहा! यह सुखसागर का समुद्र है। पूर बहता है अन्दर।

मुमुक्षु : ज्ञान और सुख दो लिये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो लिये हैं। ज्ञान और सुख दो ही वस्तु है न! समझ में आया? फिर नास्ति से लेंगे तीसरा। अस्ति से यह लिया।

भगवान आत्मा सुखसागर का पूर है, ध्रुव। **और जो क्लेशोदधि का किनारा है...** क्लेश का समुद्र, उसका उसमें अभाव है, किनारा है अर्थात् (अभाव है)। क्लेश का समुद्र पूरा, विकल्प की आकुलता, उसमें है ही नहीं। क्लेशोदधि का किनारा है अर्थात् उसमें है ही नहीं, ऐसा। यहाँ नहीं। बाहर गया बाहर। **वह समयसार (शुद्ध आत्मा) जयवन्त वर्तता है।** ऐसा ध्रुव भगवान ऐसा का ऐसा जयवन्त त्रिकाल वर्तता है। यह समकिती को शरण और आदरनेयोग्य है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्रावण कृष्ण १५, गुरुवार, दिनांक - ११-०९-१९६९
गाथा-३९, श्लोक-५५, प्रवचन-३४-३

यह नियमसार। मोक्ष का मार्ग, उसका अधिकार है। उसमें यह शुद्धभाव अधिकार है। शुद्धभाव अर्थात् इस जीव का त्रिकाली ध्रुवस्वभाव, उसे यहाँ शुद्धभाव कहा गया है। इस शुद्धभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और धर्म की दशा प्रगट होती है। इस बात का वर्णन है। मोक्षमार्ग है न? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही मोक्षमार्ग है और वह निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान अर्थात् सच्चा दर्शन, ज्ञान और चारित्र, त्रिकाली ध्रुव अखण्ड अभेद निर्विकल्पतत्त्व को अवलम्बन करने से, उसका आश्रय करने से यह दशा प्रगट होती है। यह बात ३८ में थोड़ी कही, विशेष ३९ में कहते हैं।

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा॥३९॥

मानापमान, स्वभाव के नहिं स्थान होते जीव के।
होते न हर्षस्थान भी, नहिं स्थान और अहर्ष के॥३९॥

टीका - यह निर्विकल्प तत्त्व के स्वरूप का कथन है। आत्मा निर्विकल्प अभेद है, जिसमें राग-द्वेष तो नहीं, परन्तु एक समय की पर्याय जो मोक्षमार्ग की दशा, वह भी जिसमें नहीं।

मुमुक्षु : कोई पर्याय नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई पर्याय (उसमें सब) आयी। मोक्षमार्ग की पर्याय नहीं, फिर कौन सी पर्याय गिनना? जिसका अधिकार है यहाँ। नियमसार। '**णियमेण य जं कज्जं**' नियम से जो '**जं कज्जं**' निश्चय से जो करनेयोग्य है। निश्चय से करनेयोग्य कार्य हो तो आत्मा के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, यह करनेयोग्य है। यह तीनों ध्रुव चैतन्य निर्विकल्प परमात्मास्वरूप के लक्ष्य से, उसके ध्येय से, उसके अनुभव से वह प्रगट होता है। आज (लेख) आया है, बहुत बड़ा, वह शुभभाव का... शुभभाव से निर्जरा न हो तो, देखो! करणलब्धि सब शुभभाव है और शुभभाव... और

जहाँ-तहाँ जयधवल का (उद्धरण) डालते हैं। शुभ और शुद्ध बिना निर्जरा नहीं, इसलिए शुभ से निर्जरा है, ऐसा लिखते हैं जैनगजट में। ऐसा नहीं है। वह तो व्यवहार से कथन किया तीन करण। बाकी तो शुद्ध ध्रुव में अन्तर्दृष्टि देने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यह तो जो करण परिणाम हैं, उनका भी लक्ष्य छूटकर... उसे खबर कहाँ है कि यह करण परिणाम है? यह बात....

भगवान निर्विकल्प अभेद निष्क्रिय, परिणाम की पर्याय से रहित... परिणामरूपी पर्याय है, उससे रहित। ऐसे तत्त्व को जो पर्याय अवलम्बती है, उसके अन्दर पसरती है, ऐसी पर्याय में द्रव्य का आधार—ध्रुव का आधार है। और ध्रुव के आधार बिना सम्यग्दर्शन का अंश या सम्यग्ज्ञान का अंश या चारित्र प्रगट नहीं होता। समझ में आया? तो कहते हैं कि **यह निर्विकल्प तत्त्व के स्वरूप का कथन है।** भगवान! टीका है न इसमें? '**निर्विकल्पतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्।**' निर्विकल्प कहो या अभेद कहो या शुद्धभाव ध्रुव कहो। आहाहा! महाध्रुव सागर चैतन्य ध्रुव नित्यानन्द नित्य ऐसा जो भगवान जीवास्तिकाय... ऐसा शब्द प्रयोग किया है न! जीवास्तिकाय। अकेला जीव, ऐसा नहीं, परन्तु अस्तिकाय। क्योंकि है, वह असंख्यप्रदेशी है। समझ में आया? ऐसा नित्य ध्रुव असंख्यप्रदेशी एकरूप वस्तु, उसे यहाँ निर्विकल्प तत्त्व कहा गया है।

ऐसे निर्विकल्प तत्त्व के अन्दर, कहते हैं कि **त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है...** कैसा है भगवान आत्मा? **त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है...** तीनों काल जिसमें उपाधि रागादि की है नहीं। समझ में आया? **त्रिकाल-निरुपाधि जिसका स्वरूप है ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय को...** ऐसे जीव को, ऐसा शब्द प्रयोग किया है, मूल पाठ में। टीकाकार ने स्पष्ट किया कि ऐसा जीवास्तिकाय। ध्रुव अस्तिरूप है, वह असंख्यप्रदेशी है, ऐसा ध्रुव है, वह जीव। उस जीव को **वास्तव में विभावस्वभावस्थान नहीं है;...** पाठ में है '**णो खलु सहावठाणा**'। यह स्वभाव (अर्थात्) यहाँ विभावस्वभाव लेना है। समझ में आया? जितने विभावस्वभाव के स्थान अध्यवसाय के, पुण्य-पाप के विकल्प, दया, दान आदि के भाव, वे विभावस्वभावस्थान हैं, जीवास्तिकाय प्रभु ध्रुव में वे नहीं हैं। आहाहा! समझ में आया?

भगवान निश्चय आत्मा... कल आया था, वास्तव में आत्मा वस्तु जो ध्रुव

नित्यदल, चैतन्यदल ऐसा जो जीवास्तिकाय, उसमें विभाव के प्रकार शुभ-अशुभ विकल्पों के प्रकार, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी ध्रुवस्वभाव में नहीं है। समझ में आया? **ऐसे शुद्ध जीवास्तिकाय को वास्तव में विभावस्वभावस्थान...** अर्थात् विकारी भाव, असंख्य प्रकार के शुभ और अशुभ ऐसे प्रकार। स्थान अर्थात् प्रकार, भेद। अन्दर वस्तु में नहीं है। समझ में आया? ऐसा चैतन्यरत्नाकर समुद्र ध्रुव, उसमें ऐसे असंख्य प्रकार के विकारी शुभाशुभभाव (नहीं हैं)। उन्हें यहाँ स्वभाव कहा, विभावरूप स्वभाव, ऐसा। विभावरूप स्वभाव।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसकी पर्याय में है न? परन्तु वे विभावरूप स्वभाव हैं। स्वभावरूप स्वभाव में वे नहीं। समझ में आया? इसलिए जिसे धर्म प्रगट करना हो, उसे उन विभावस्वभाव पर लक्ष्य न देकर, त्रिकाली ध्रुव नित्यस्वरूप अन्तर्मुख ऐसा जो चैतन्य गोला नित्य ध्रुव, उसका लक्ष्य करके सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। कहो, सेठी!

मुमुक्षु : जीवास्तिकाय में तो प्रदेश....

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रदेश लेना। अस्तिकाय है न? अस्ति—है, काय—समूह। गुण का समूह हुआ न! यहाँ वह काम नहीं है। अस्ति लेना है। यहाँ तो अस्ति और काय लेना है। यहाँ काय (अर्थात्) असंख्य प्रदेश का समूह, वह काय लेना। तो असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण हैं (उनका) एकरूप द्रव्य है। आहाहा! समझ में आया?

यह तो भगवान आत्मा परमात्म ध्रुव सत्त्व कैसा है? तेरा आत्मा ध्रुव चिदानन्द प्रभु, जिसमें असंख्य प्रकार के शुभ-अशुभ विकल्पों का अभाव है। अर्थात् करे, अज्ञानभाव से हो, परन्तु इसके स्वरूप में है नहीं। आहा! टालने का नहीं रहा, ऐसा कहते हैं मूल तो। स्वभाव में नहीं अर्थात्? शुद्ध ध्रुव स्वभाव की अन्तर्दृष्टि करने से, अन्तर एकाग्र होने से वे उत्पन्न नहीं होते, (उन्हें) टालता है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु उसमें है नहीं तो उत्पन्न कहाँ से हो? समझ में आया? जिसकी खान में ही वह भाव नहीं। स्वर्ण की खान में लोहा होगा? उसमें से तो सोना निकलेगा। उसी प्रकार भगवान आत्मा चिद्घन, सुख का सागर एकरूप प्रभु, उसमें ऐसे विकाररूप दुःखभाव... फिर

हर्ष के स्थान कहेंगे, सुख और दु:ख बाद में कहेंगे, पहले यह भाव नहीं, इसलिए इनके अन्तर्भेद करेंगे कि यह हर्ष और सुख, हर्ष और अहर्ष ऐसे जो भाव उसमें है नहीं, ऐसा। आहाहा! समझ में आया? जहाँ निधान चैतन्य है, वहाँ नजर डालनी है, उसके अन्दर ये भाव नहीं हैं।

(शुद्ध जीवास्तिकाय को)... इतनी बात करके अब इसे दु:ख में डालते हैं। **प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से...** यह प्रशस्त शुभराग जिसे कहते हैं न? और अप्रशस्त अशुभराग और मोह का अभाव होने से। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का दल, वज्र अनन्त आनन्द का वज्र बिम्ब दल भगवान आत्मा है, उसे यहाँ निर्विकल्प तत्त्व अथवा सच्चा आत्मा कहा जाता है। आहाहा! ऐसे आत्मा में शुभ और अशुभ समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव है। लो, इसमें तो प्रशस्त मोह-अमोह, राग-द्वेष प्रशस्त-अप्रशस्त सब आया। ऐई! वैसे द्वेष को अप्रशस्त गिना नहीं ऐसे दूसरे में—पंचास्तिकाय में। पंचास्तिकाय में नहीं गिना, आत्मानुशासन में गिना है। समझ में आया?

एक साधु हो और कोई सिंह मारता हो, तो साधु की रक्षा करने का भाव है, उसमें सिंह को मारता है। मारने का भाव नहीं, उसमें से साधु को बचाने का भाव है। है तो मारने का भाव, है तो प्रशस्त द्वेष। वह पुण्यबन्ध का कारण प्रशस्त द्वेष है। उसे मारने का भाव नहीं परन्तु यह मुनि को ऐसा करता है, उसमें बचाने जाता है, उसे प्रशस्त द्वेष आता है। वह सिंह को मारे, ऐसा भाव... क्रिया तो जड़ की है... वह भी चिल्लाहट मचाते हैं। आहाहा! लो, यह पर को मारने की क्रिया जड़ की है, उसे आत्मा नहीं कर सकता। अर्थात् पर की हिंसा नहीं कर सकता। परन्तु किसने की? सुन न! आहाहा! पर को क्या करे? वह तो क्रिया उस क्षण में जो होनेवाली हो, वहाँ उसे प्रशस्त द्वेष आया कि इसे मारूँ। मारने के लिये हेतु नहीं है, उनको (-मुनि को) बचाने का हेतु है। यदि सिंह चला जाये तो मारने जाता है पीछे?

यहाँ मुनि ध्यान में बैठे हैं, आनन्द में। उसमें वह सिंह चला जाये तो (उसके) पीछे मारने जाता है? मात्र इसे यह है, इसलिए ऐसा भाव (आया है)। पुत्र को कोई मारे

तो भाव आता है या नहीं? वह तो अशुभभाव है। आहाहा! ऐई! पुत्र को कोई मारता हो और बचाने का भाव आवे, वह तो अशुभ है। यह तो मुनि हैं, अन्दर आनन्दकन्द में झूलते हैं। आनन्द की बहती नदी में रेलमछेल में अन्दर में होते हैं। वहाँ कोई सिंह आवे, उसे मारे तो सिंह भी मर जाये और सिंह इसे मारे तो एक समय में दोनों मर जाये। परन्तु उस सिंह के परिणाम पाप के हैं, इसके परिणाम पुण्य के हैं। समझ में आया? इसलिए वहाँ उसे प्रशस्त द्वेष गिनने में आया है। पंचास्तिकाय में राग को प्रशस्त और द्वेष को अप्रशस्त कहा है।

यह यहाँ स्पष्टीकरण किया है कि प्रशस्त अर्थात् शुभ और अप्रशस्त अर्थात् अशुभ। समस्त मोह। प्रशस्त मोह मुनि आदि और धर्मादि की रक्षा के लिये होता हुआ, इसी प्रकार प्रशस्त राग वह भी मुनि आदि धर्म की रक्षा के लिये होता है। प्रशस्त द्वेष, वह भी मुनि आदि की इसमें (-रक्षा में) होता और अप्रशस्त—कुटुम्ब की रक्षा के लिये, पुत्रादि की रक्षा के लिये होता मोह और वह राग-द्वेष, वह सब अपशस्त है। कहो, समझ में आया?

यह **प्रशस्त या अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से मान-अपमान के हेतुभूत कर्मोदय के स्थान नहीं हैं;...** कहो, समझ में आया? **मान-अपमान के हेतुभूत कर्मोदय के स्थान नहीं हैं;...** इसे। मान-अपमान कैसा वहाँ? अकेला ज्ञानस्वरूप भगवान, उसमें मान-अपमान के विकल्प—उससे तो पहले इनकार किया। निर्विकल्प वस्तु अभेद चिदानन्द है। उसमें दूसरे को समाधान करूँ तो मेरा मान रहे और नहीं तो मेरा अपमान करते हैं, ऐसे मान-अपमान के स्थान भगवान आत्मा में नहीं हैं। समझ में आया?

कहते हैं, **(शुद्ध जीवास्तिकाय को)...** अब इसका स्पष्टीकरण करते हैं। **शुभपरिणति का अभाव होने से...** पहले मान-अपमान की व्याख्या की। पहली विभाव की करके, पश्चात् मान-अपमान की (व्याख्या) की। अब हर्ष की। भगवान आत्मा को **शुभपरिणति का अभाव होने से...** आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा ऐसा जो शुभभाव, हों! शुभपरिणति, ऐसा लिया है। वह आत्मा में नहीं है।

मुमुक्षु : प्रशस्त मोहनीय अर्थात् चारित्र मोहनीय...?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब आ गया। मोह (अर्थात्) सावधानी है न पर में जरा! देव-गुरु-शास्त्र (का प्रशस्त), सामने स्त्री-कुटुम्ब का अप्रशस्त। समझ में आया?

(शुद्ध जीवास्तिकाय को)... भगवान चिद्घन आत्मा, ऐसा परमात्मा स्वयं निज स्वरूप से अस्तिमान विराजमान है, उसके अन्दर **शुभपरिणति का अभाव होने से...** लो! वे कहते हैं कि पर की दया का भाव, वह जीव का स्वभाव है। यह शोर मचाते हैं न बहुत? ऐई! पण्डितजी! वे कहते हैं या नहीं? जीवदया, वह तो जीव का स्वभाव है।

मुमुक्षु : धर्म है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लो, यह और धर्म है, धर्म है; इसलिए स्वभाव है। अरे! भाई! यह जीवदया कौन सी? राग के अभावस्वभावस्वरूप अन्तर में राग की-विकल्प की उत्पत्ति नहीं होना, ऐसा जो निर्विकल्प तत्त्व भगवान है, उसके आश्रय से वीतरागी परिणति खड़ी हो, उसे दया और आत्मा की अहिंसा कहने में आती है, क्योंकि उसमें नहीं, वह कहाँ से आयेगी? शुभपरिणति वस्तु में नहीं। वस्तु तो शुद्ध वीतरागमूर्ति है। आहाहा! 'जिन सो ही है आत्मा...' वीतराग अकषायस्वरूप ऐसा आत्मस्वभाव, उसमें कहते हैं कि पाँच महाव्रत के परिणाम आदि, बारह व्रत के विकल्प आदि शुभ परिणति वस्तु में नहीं है। समझ में आया? यदि हो तो उसका अभाव करके वीतराग परिणति कहाँ से प्रगट हो? समझ में आया?

शुभपरिणति... परिणति अर्थात्? परिणति। परिणति अर्थात् उसकी अवस्था। शुभराग की अवस्था का अभाव होने से उसे **शुभकर्म नहीं है...** क्योंकि शुभपरिणति नहीं है, इसलिए शुभकर्म नहीं है, ऐसा कहते हैं। और **शुभकर्म का अभाव होने से संसारसुख नहीं है,...** उसे अनुकूल सामग्री मिले, ऐसा नहीं है। आहाहा! संसारसुख ही नहीं उसमें। अनुकूल सामग्री नहीं। यह चक्रवर्ती का राज मिले, पैसा आदि, वह वस्तु में है नहीं और उसके कारण फिर कल्पना हो कि 'यह मुझे ठीक है'—ऐसी सुखबुद्धि भी वस्तु में नहीं है। समझ में आया? यह तो भगवान निजानन्द मूर्ति है। अपने निज आनन्द से भरा हुआ भरपूर... भरपूर...। ऐसी शुभ परिणति के विकल्परहित ऐसा निर्विकल्प तत्त्व ध्रुव, उसे यहाँ शुद्धभाव कहा जाता है और शुद्धभाव, वह जीवास्तिकाय

है। पुण्यपरिणाम, वह जीवास्तिकाय नहीं—ऐसा कहते हैं। महाव्रत के परिणाम, वे जीवास्तिकाय नहीं। आहाहा! समझ में आया? उसे संसारसुख ही नहीं।

अरे! संसारसुखरहित आत्मा! वह (सुख) तो इसकी कल्पना है, हों! इन विषय में, इज्जत में, कीर्ति में हर्षित हो जाता है न? ऐसा कहते हैं। हर्षित हो जाता है न? हर्ष के स्थान नहीं न? ऐसा कहना है न मूल तो? ऐसे हर्षित हो जाता है। आहाहा! कुछ इसे चतुर कहे, पैसावाला कहे, इज्जतवाला कहे, अरे! जिसे आज्ञाकारी कुटुम्ब है, सब प्रकार से बाह्य सामग्री से सुखी है। उसमें इसे हर्ष होता है न, हर्ष? कहते हैं कि वे हर्ष स्थान ही स्वरूप में नहीं न! ऐई! प्राणभाई! आहाहा!

मुमुक्षु : .... खोटा है वह बतावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह है ही नहीं इसमें। हर्ष आवे ऐसे शेयर बाजार में जहाँ दो लाख पैदा हो। और जहाँ कुछ जाये थोड़ा एक दिन या दो दिन...

मुमुक्षु : दवा देनी पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : दवा देनी पड़े। शोक करे। यह सब सेठिया सब पैसे के बड़े पत्थर के स्वामी। कहते हैं कि उसमें हर्ष होता है, वह हर्ष स्वरूप में नहीं और तू कहाँ से लाया यह? ऐसा कहते हैं। आहाहा! ओहोहो! समझ में आया?

भक्ति करते-करते भी हर्ष हो जाये न, हर्ष? वह हर्षस्थान भी तुझमें नहीं है, भाई! वह तो विकल्प उठा है। समझ में आया? उससे तो शून्य है और आनन्द तथा ज्ञान से परिपूर्ण भरा हुआ है। ऐसे भगवान पर अन्तर्मुख दृष्टि कर न, ऐसा कहते हैं, यह कहते हैं। ऐसा जो भगवान आत्मा जिसमें संसार सुख और हर्ष के स्थान नहीं, वहाँ नजर कर न! यह हर्ष के स्थान में नजर करने से यह मेरे और मुझे ठीक पड़ते हैं, वहाँ तो मिथ्यात्वभाव खड़ा होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा विराजमान चैतन्य सच्चिदानन्द प्रभु में अनुकूलता के प्रसंग में हर्ष का उद्‌भवित होना, वह वस्तु में नहीं है। आहाहा! समझ में आया? कहो, क्या है भीखाभाई! अच्छा लड़का हो, हीराभाई जैसा...

मुमुक्षु : मेरा कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हीराभाई जैसा लड़का... ऐसे भाई! भाई! बापूजी! बापूजी! कितना करे, लो। बापूजी को ठीक नहीं। आहाहा! कहते हैं, अरे! प्रभु! तेरी प्रभुता में, हर्ष उत्पन्न हो, वह प्रभुता में नहीं है। आहाहा! स्वरूपचन्दभाई! अच्छा लड़का हो कलेजे के कोर जैसा। नहीं कहते लोग? देखकर कलेजा स्थिर होता है, लो! क्यों सुमनभाई जैसे हों आठ-आठ हजार मासिक वेतन, लो! और आकर पैर दबावे। उसके वहाँ दूसरे दबाये। यहाँ लावे बापूजी थोड़ी देर... पैर जड़ के परन्तु इसे ऐसा लगे कि... आहाहा! समझ में आया?

शंकराचार्य थे। शंकराचार्य हुए न? अन्यमत में। दृष्टि मिथ्यात्व वेदान्त की। फिर एक बार वह बड़ा बादशाह बाजीराव पेशवा उनके पास गया। उसके गुरु थे, इसलिए पैर धोता है। बाजीराव पेशवा स्वयं पैर धोता है। बैठे थे न, पैर (धोता है)। इसलिए बाजीराव को लगा कि आहा! ऐसा मैं बड़ा बादशाह, शंकराचार्य के पैर धोऊँ, अभी इन्हें कितना सुख है! ये कितने सुखी कहलाये! तो शंकराचार्य कहते हैं, बाजीराव! तू पैर धोवे, इसलिए हमको ठीक पड़ता है, हर्ष है—ऐसा है? बापू! जब हमको शास्त्र की युक्तियों में क्या समाधान है, उसकी समझ न हो और शिष्य सब उसका हल करने बैठे हों और उस शास्त्र के हार्द का हल हृदय में आवे, उस समय जो हमको सुख होता है, वह तेरे इसमें धूल भी नहीं, सुन न! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बाहर की बात। परन्तु यह तो वह स्थिति उसके बदले यह कल्पना अलग प्रकार की है, ऐसा कहना है। यद्यपि शास्त्र का हल होने से कल्पना में ठीक हो, वह कल्पना भी हर्ष राग है। परन्तु यह तो उसकी अपेक्षा से... उसकी दृष्टि की बात है न। यह तत्त्व की कहाँ बात है? ऐसा एक राजा बाजीराव पेशवा। खम्मा अन्नदाता। जिसे हजारों ऐसे करोड़पति (कहते हों), खम्मा अन्नदाता। वह पैर धोता है एक बाबा के। शंकराचार्य ऐसे बाबा त्यागी थे न, ब्रह्मचारी थे, बालब्रह्मचारी। पैर धोता है। आहाहा! उनकी पदवी कितनी ऊँची कि जिसके बाजीराव पैर धोवे! शोभालालजी! वह तो सुखी कहलाये, हों! बाजीराव! यह सुख नहीं, भाई! यह तो उसकी अपेक्षा से...

शास्त्र की सूक्ष्मता का हल हो, शास्त्र की युक्ति में इतने न्याय गम्भीर गहरे भरे हों, उस जाति के वेदान्त के, उसका हल न सूझता हो और जब शिष्यों की टोली इकट्ठी होकर सब उसका मन्थन करते हों कि इसका कैसे अर्थ बैठना चाहिए? ऐसा अर्थ जहाँ यथार्थ बैठे आगे-पीछे के न्याय से विरुद्ध नहीं ऐसा, उस समय हमको जो सुखीपना दिखता है, वह तेरे सुख में धूल भी नहीं। काम नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि उस समय भी कल्पना होती है, वह भी आत्मा का सुख नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया? आहाहा! विषय के सुख की तो क्या बात करना? परन्तु शास्त्र के अवलम्बन के प्रसंग में किसी समय हर्ष आ जाये, कहते हैं कि वह भी तेरी वस्तु में नहीं, भगवान! आहाहा! ऐसा चिदानन्द बादशाह स्वयं, अरे! कहाँ भूलकर भ्रमता है? और कहाँ अपनी जाति है, वहाँ यह सम्हाल में आता नहीं? ऐसा कहते हैं। अमरचन्दभाई! आहाहा! समझ में आया?

'भटकत द्वार द्वार लोकन के कुकर आशा धारी।' कुत्ते की भाँति टुकड़े के लिये जहाँ-तहाँ भटकता है, इसी प्रकार यह अज्ञानी जहाँ-तहाँ मुझे कोई बड़ा कहे, अच्छा कहे, अभिनन्दन दे। कहते हैं, भाई! ऐसा तेरा भाव वह वस्तु में नहीं। कहाँ लेने जाता है तू? कहाँ जाता है? आहाहा! यह संसारसुख आत्मा में नहीं। आहाहा! संसारसुख अर्थात् कि कल्पना का सुख या दुःख। वह तो जहर है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, उसमें यह हर्ष के स्थानरूप सुख नहीं। नया खड़ा करता है पर्यायबुद्धि से, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अंशबुद्धि से नया खड़ा करता है, वह घर में नहीं है। आहाहा! मूल तो ऐसा कहते हैं।

संसारसुख का अभाव होने से हर्षस्थान नहीं हैं;... ऐसा कहना है। भिन्न-भिन्न हर्ष आता है न? बहुत प्रकार के—असंख्य प्रकार के हर्ष होते हैं। साधारण कोई शब्द सुनकर, किसी स्त्री की वाणी सुनकर, पुत्र का शरीर देखकर, किसी लक्ष्मी की आमदनी का भाव (हुआ कि) ऐसे आये, ऐसा हुआ, ऐसा सुनकर कोई अशुभ हर्ष आदि प्रकार होता है, वे सब नये हैं, बापू! तेरे स्वरूप में नहीं हैं। आहाहा! समझ में आया? उससे तो उदास तेरा भिन्न स्वरूप है। समझ में आया? जिस स्वरूप में यह नहीं, वहाँ दृष्टि दे,

उस निधान को निरख तो समकित हो, ऐसा है। अभी तो सम्यग्दर्शन वहाँ से होता है। समझ में आया?

और (शुद्ध जीवास्तिकाय को) अशुभपरिणति का अभाव होने से... लो! हिंसा, झूठ, चोरी, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, ऐसी अशुभपर्याय—अशुभपरिणति भगवान आत्मा के निज स्वरूप में नहीं है। आहाहा! पर्यायबुद्धि से खड़ी करे, वह द्रव्यस्वभाव में नहीं, ऐसा कहते हैं। वस्तु में नहीं। ऐसा निष्क्रिय भगवान चिदानन्द परमपारिणामिकस्वभाव, जिसे यहाँ शुद्धभाव कहा, उसकी नजर करने से, उसकी दृष्टि करने से निहाल हो, ऐसी दशा प्रगट होती है। समझ में आया? कहो, मूलचन्दभाई! गजब बातें ऐसी।

अशुभपरिणति का अभाव होने से अशुभकर्म नहीं है,... अशुभभाव नहीं तो फिर कर्म नहीं, ऐसा कहते हैं। और कर्म नहीं तो कर्म का अभाव होने से उसे दुःख नहीं। जैसे संसारसुख नहीं, वैसे प्रतिकूलता (आने पर) अन्दर ऐसा हीन पड़ जाये, दुःख होता है। आहाहा! तेल बहाया है, कहे, अभी तो चैन नहीं भाई! यह कुछ घर में मर जाये या महत्ता जाये या छोटे का नाम रहता न हो, ऐसे में अन्दर चैन न आवे, लो! एक व्यक्ति कहता था कि (जिस) साधु ने दीक्षा दी तो उसका शिष्य नहीं ठहराया। शिष्य ठहराया दूसरे का।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! कलेजा जलता है, ऐसे धग... धग... धग... धग... होता है। अरे! क्या है परन्तु यह सब? समझ में आया? राणपुर की बात है। तुम आये थे न? जयचन्दभाई के... उनके... एक थे उनका नाम नहीं दिया। मैंने कहा, इनका दो अब बड़े का। रखो न सबको। जले अन्दर से। धग... धग... सुलगते हैं। यहाँ बाहर दीक्षा का महोत्सव होता है। अरे! मुफ्त की होली सुलगती है। मेरा शिष्य नहीं किया, लो! मेरा नाम शिष्य को नहीं दिया, कहो।

कहते हैं, भगवान! यह दुःखीरूपी दशा—यह खेदरूपी दशा तेरे स्वरूप में नहीं है, हों! ऐसा भगवान चैतन्यबिम्ब, जिसकी वज्र की पाळा में पड़ा है अन्दर, उसे यह

दु:ख-बुख है नहीं। स्त्री विधवा हो तब नहीं कहते? कि दु:खी हुई, दुखियारी हुई, दुखियारी हुई। दुखियारी, यह स्त्री दुखिया है। लो! दुखिया है, यह कहाँ से लाया? ऐसा **दु:ख का अभाव होने से अहर्षस्थान नहीं है।** हर्ष का अभाव ऐसा जो दु:ख, ऐसा जो शोक उसमें है नहीं। आहाहा!

जिसकी नजर करने से जिसमें शुद्धता झरे और अशुद्धता उत्पन्न न हो, ऐसा भगवान चिदानन्द तू विराजमान है, भाई! समझ में आया? आहाहा! इसका कलश है, यह श्लोक (गाथा) का।

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे नि:शेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदोदितशर्मनिर्मितवियद्बिम्बाकृतावात्मनि।
चैतन्यामृत-पूर-पूर्ण-वपुषे प्रेक्षावतां गोचरे,
बुद्धिं किं न करोषि वाञ्छसि सुखं त्वं सन्सृतेर्दु:कृते: ॥५५॥

दिवाकर है यह। **श्लोकार्थ : —जो प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वतपद है;....** भगवान (आत्मा) तो प्रीति-अप्रीति रहित है। हर्ष-शोक को प्रीति-अप्रीति में डाल दिया। समझ में आया? मान-अपमान भी उसमें आ जाते हैं। अरे! मान किसका और अपमान किसका? भगवान (आत्मा) में अन्दर मान मिले और अन्दर अपमान मिले, ऐसा कहाँ है, भाई! समझ में आया? अकेले अमृतसागर के अन्दर, अमृत जहाँ छलाछल (भरा है) भगवान आत्मा में, अमृतस्वरूप भगवान पूरा पड़ा है, उसमें **प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वतपद है;....** लो, यहाँ शाश्वत् लिया। जिसे यहाँ शुद्धभाव कहा, उसे ध्रुवभाव कहा, उसे नित्य कहा, उसे यहाँ शाश्वत् कहा। समझ में आया?

जो सर्वथा अन्तर्मुख और प्रगट प्रकाशमान ऐसे सुख का बना हुआ,... कैसा है वह भगवान आत्मा? सर्वथा अन्तर्मुख। अन्तर्मुख वस्तु है, अन्तर्मुख वस्तु है, वह बहिर्मुखता में आती नहीं। समझ में आया? कहते हैं, जो सर्वथा अन्तर्मुख है। भाई! कथंचित् रखो, नहीं तो अनेकान्त नहीं होगा। आहाहा! समझ में आया? नि:शेष का शब्द है न यह? नि:शेष। नि:शेष अर्थात् सर्वथा। नि:शेष का अर्थ। आहाहा! नि:शेष शब्द का अर्थ सर्वथा किया है।

भगवान आत्मा, वह तेरे गीत यहाँ गाये जाते हैं, सुन तो सही! वह विवाह में गीत गाते हैं तो प्रसन्न-प्रसन्न होता है। विवाह करने जाये और वह रिश्तेदार गाली दे तो प्रसन्न होता है। ऐई! प्राणभाई! ऐसा हमारे काठियावाड़ में चलता है। तुम्हारे और हो वह ठीक, नहीं? वर की माँ तो मोचीडा को गयी थी और वहाँ से यह जूते मिले, ऐसी बातें करे। ऐसा गाते थे। अब गया होगा। परन्तु वह सुनकर प्रसन्न होता है। यह तो सबने देखा हुआ है न हमारे। एक विवाह में देखा। रायचन्दभाई का विवाह था न, गढडावाले नहीं? रायचन्द ताराचन्द। गांडाभाई के दामाद। बहुत वर्ष की बात है। उनके विवाह में यह बोलती थी महिलायें। कहा, क्या बोलती हो यह? समझ में आया? वह जूते अच्छे पहने हो न? जोड़ा समझे? जूते-जूतियाँ। जूते पहने वर। यह वर का जूता कहाँ से (आया)? तो कहे, इसकी माँ मोची के (यहाँ) गयी थी, वहाँ से जूते मिले हैं। ऐई! नवनीतभाई! ऐसे गाने गाते थे, हों! ५०-६० वर्ष पहले की बात है। अब तो ऐसा चले नहीं।

इसके अतिरिक्त एक बहुत कठोर गाना था। हम राणपुर उपाश्रय में थे न! सामने थे एक केवजीभाई वसाणी। उनका विवाह होता था। कोई हीरा के थे। हीराभाई है न। हीरालाल नहीं? हीरालाल। साथ-साथ में मकान सामने। ऐसी गालियाँ बोले लड़कियाँ। यह प्रसन्न हो। आहाहा! भाई! तुझे यह गालियाँ! चाहे जो गाली दे, परन्तु तेरी लड़की को लेकर जानेवाला हूँ, ऐसा। उसके हर्ष के यह... अरे! मूढ़ क्या है परन्तु तुझे यह?

यहाँ कहते हैं कि अरे! तेरे गीत गाये जाते हैं कि यह तू सच्चा कितना है? समझ में आया? आहाहा! शुद्ध परिणति से विवाह करना हो और प्रगट करना हो तो भगवान ऐसा है, ऐसी नजर करनी पड़ेगी। समझ में आया? भगवान आत्मा चिदानन्द, कहते हैं कि सर्वथा अन्तर्मुख है वह तो। वस्तु अन्तर्मुख है। आहाहा! जिसमें रागादि तो नहीं, परन्तु पर्याय जिसमें नहीं, ऐसा अन्तर्मुख ध्रुव है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

पर्याय है न! धर्म की पर्याय, हों! वीतरागी पर्याय। कहते हैं, अन्तर्मुख में वह नहीं। आहाहा! अन्तर्मुख स्वरूप ही अकेला ध्रुव सत् शाश्वत् ऐसा प्रगट प्रकाशमान है। वापस वस्तु प्रगट है। पर्याय की अपेक्षा से उसे अव्यक्त कहा। पर्याय—अवस्था व्यक्त

है प्रगट। परन्तु यह वस्तुरूप से प्रगट ही है। ढँका हुआ है यह कहीं? आवरण में है? वस्तु है। आहाहा! ज्ञान की ज्योति जलहल ज्योति अरूपी भगवान प्रगट प्रकाशमान है। कहो, रमणीकभाई! दुनिया में तो ऐसी बात सुनना मुश्किल पड़े। इतना बड़ा क्या? यह रंक है न। अरे! रंक, वह पर्याय में माना है। है नहीं। तू तो तीन लोक का नाथ, तीन काल और तीन लोक तेरी पर्याय में समाहित हो जायें, ऐसा बड़ा तू है। आहाहा!

गुण और द्रव्य की तो क्या बात करना, परन्तु एक समय की पर्याय जिसे यहाँ बहिर्मुख कहते हैं और अन्तर्मुख वस्तु शाश्वत् है। आहाहा! समझ में आया? केवलज्ञान की पर्याय भी व्यवहार है, उसमें लोकालोक ज्ञात होता है। अन्तर्मुख तत्त्व में वह भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा भगवान आत्मा प्रगट प्रकाशमान अन्तर दीपक चैतन्य प्रभु विराजता है न, प्रभु! उसमें नजर करनेयोग्य है, वहाँ दृष्टि देनेयोग्य है, वहाँ स्थिर होनेयोग्य है। आहाहा! अन्यत्र नजर करनेयोग्य नहीं। अन्यत्र देखना नहीं, अन्यत्र जाना नहीं, अन्यत्र रहनेयोग्य नहीं। आहाहा! समझ में आया?

प्रकाशमान ऐसे सुख का बना हुआ,... वापस प्रगट प्रकाशमान ऐसे सुख का बना हुआ। समझ में आया? आहाहा! '**विमुक्तशाश्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख निर्भेदोदितशर्म...**' महा आनन्द का सागर प्रगट वस्तु है, अस्ति महासत्ता प्रभु है, उस आत्मा को यहाँ ध्रुव और शुद्धभाव कहा जाता है। ऐसे भगवान पर नजर क्यों नहीं करता? जहाँ महासागर भरा है, वहाँ नजर क्यों नहीं करता? और जिसमें कुछ नहीं, उसमें नजर करके पड़ा है पर्यायबुद्धि से, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

सुख का बना हुआ,... बना होगा कभी? यह आनन्द का रूप ही इसका है। सुखसागर आहाहा! लबालब-ठसाठस जिसमें सुख भरा है। अनन्त-अनन्त आनन्द निकाले तो भी आनन्द कम हो, ऐसा नहीं। आहाहा! कोठी में तो दाने डाले हों, ५० मण-१०० मण। निकाले तो कम हो जाये। प्रतिदिन इतने खर्च में आवे पकाने में, उतने कम हो जायें बाहर में। यहाँ तो कहते हैं, कम नहीं होता। आहाहा! इतने सब जीव हैं कि सिद्ध चाहे जितने हों तो भी जीव कम नहीं होते; इसी प्रकार आत्मा में चाहे जितना आनन्द निकाल (प्रगट कर) तो आनन्द भी कम नहीं हो। आहाहा! ऐसा सुखसागर भगवान ध्रुव परमात्मा स्वयं है, उसकी दृष्टि करने से आत्मा अन्तरात्मा होता है, और

उसकी दृष्टि भूलकर, विकल्प और एक अंश को माने तो वह तो बहिरात्मा होता है। समझ में आया? यह अन्तर की गति और दृष्टि के विषय की बात है।

जो नभमण्डल समान आकृतिवाला है;... कैसा है भगवान? आकाशमण्डल जैसे अकृत्रिम है। आकाश किसी से किया हुआ है? नभमण्डल पूरा, आकाश, हों! सर्वव्यापक आकाश है न? यह आकाश जो कहलाता है, वह आकाश... देखो, यह खुल्ला आकाश है, वह आकाश नहीं। यह तो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श की आकृति है। आज आकाश खुल्ला दिखता है, आज आकाश काला भँवरे के रंग जैसा दिखता है। परन्तु वह तो रंग है, वह आकाश नहीं। आकाश मण्डल अर्थात् पूरा—सर्वव्यापक चौदह ब्रह्माण्ड और अलोक। उसे कौन करे? भगवान नभमण्डल समान किसी से किया हुआ नहीं। जैसे आकाश को किसी ने बनाया नहीं। कौन बनावे? आकाश पदार्थ सर्वव्यापक है। लोक और अलोक में व्यापक है। उसे कौन बनावे? है, बस! स्वयंसिद्ध आकाश है। ऐसे **नभमण्डल समान...** अकृत है—किसी से किया हुआ नहीं, उसी प्रकार आत्मा को किसी ने बनाया नहीं। आत्मा अन्तर्मुख प्रगट अतीन्द्रिय सुख का पिण्ड है। वह सब स्पष्टीकरण किया। योगफल किया। आत्मा अन्तर्मुख प्रगट अतीन्द्रिय सुख का पिण्ड... सुख से बना हुआ पिण्ड है। आहाहा! समझ में आया? स्वयंसिद्ध शाश्वत् है। यह पहले में आ गया। स्वयंसिद्ध और शाश्वत् वस्तु है, है... है... है। जिसकी आदि नहीं, जिसका अभाव वर्तमान में नहीं, जिसका भविष्य में नाश नहीं—ऐसा पदार्थ—ऐसा तत्त्व अनादि-अनन्त तत्त्व जो भगवान, उसे (लक्ष्य में ले)।

उसमें **चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ जिसका स्वरूप है;...** श्लोक तो देखो! भरा घर है, नहीं कहते लोग? इसका भरा घर है, ऐसा कहते हैं। मर जाये, तब ऐसा कहते हैं न कि अरे! भरा घर छोड़कर कैसे निकले? महिलायें रोये। भरे घर में से निकले। किसे निकलना था इसे? है वहाँ है वह तो। भरे घर में भी नहीं था और शरीर में भी नहीं था और राग में भी वह नहीं था। आहाहा! भगवान आत्मा... जिसकी नजर करने से निहाल हो, ऐसा आत्मा है। कहते हैं कि **जिसका चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ...** पानी के प्रवाह का पूर चला आता है। देखो न, अभी तो पानी कितना आता है।

देखो न! इन सबको अटकाया न आज। नहीं आये मुम्बईवाले। उस ओर बहुत बरसात है। नर्मदा, तापी। क्या कहलाता है अंकलेश्वर में वहाँ कहीं है न? रोके वहाँ।

मुमुक्षु : वड़ोदरा विश्वामित्र।

पूज्य गुरुदेवश्री : विश्वामित्र। सर्वत्र पानी की बरसात बहुत। यहाँ तीन में सात इंच आयी। बिना भविष्यवाणी के। अब फिर आज भविष्यवाणी डाली है कि ऐसा होगा। यह थी तब भविष्यवाणी कहाँ गई तेरी? यहाँ तो तीन दिन में सात इंच। तब तो भविष्यवाणी नहीं थी। अब बड़ा तूफान होनेवाला है, बहुत बरसात होनेवाली है।

यहाँ कहते हैं, आहाहा! महाप्रवाह से भरपूर भगवान है। **चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ जिसका स्वरूप है;...** ओहोहो! अमृतचन्द्राचार्य की शैली से की है। चैतन्यरूपी अमृत जिसका पूर, उससे भरा हुआ स्वरूप है। चैतन्य का पूर अन्दर भरा है पूरा। समझ में आया? पानी का बड़ा प्रवाह आवे। यह देखो न नर्मदा का कितना पूर आता है! दल चला आता है! तापी में कितने? ९९ फीट ऊँचा। १०२-३ फीट ऊँचा। वह तो सब अमुक माप में ऊँचा। यह तो स्वभाव का पूर जिसका माप ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? चैतन्य अमृत का पूर, चैतन्य अमृत का सागर। पूर है, वह तो पूर बहता है। धोध... धोध... धोध... पड़ा है अन्दर। आहाहा! शब्द कम पड़ते हैं, कहते हैं यहाँ।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा जाता है न थोड़ा-थोड़ा।

भगवान आत्मा जिसमें हर्ष, शोक आदि उदयभाव के स्थान नहीं। यह तो नास्ति से लिया। अब अस्ति से लेते हैं। तब है कैसा? यह नहीं... यह नहीं... नेति... नेति... करते हैं। वेदान्त में आवे नेति। परन्तु नेति है कैसा? उसकी व्याख्या नहीं होती। समझ में आया? उसकी व्याख्या यहाँ होती है।

कहते हैं, श्रीमद् में आता है न? नहीं? बाकी अनुभव रहे, ऐसी आती है न कुछ भाषा, नहीं? 'अबाध्य अनुभव जो रहे, वह है जीवस्वरूप।' ऐसा आता है। यह नहीं... यह नहीं... यह नहीं... यह नहीं। है कैसा? कि उन सबको कम करते हुए

रहे अनुभवस्वरूप, वह आत्मा। 'अबाध्य अनुभव जो रहे, वह है जीवस्वरूप।' इसके पहले पद क्या है ?

मुमुक्षु : जो दृष्टा है दृष्टि का....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, 'जो दृष्टा है दृष्टि का, जो देखत है रूप। जो दृष्टा है दृष्टि का...' दृष्टि का भी दृष्टा, ऐसा कहते हैं। आहाहा! 'जो दृष्टा है दृष्टि का अरु जो देखत है रूप, अबाध्य...' कम करते... करते... करते... करते... सब निकल जाये, तब रहे कैसा ? अबाध्य, जिसे अब कम (रद्द) नहीं किया जा सकता। है उसे कम किस प्रकार करना ? राग नहीं, पुण्य नहीं, शरीर नहीं, कर्म नहीं, एक समय की पर्याय नहीं उसमें। आहाहा! समझ में आया ? 'अबाध्य अनुभव जो रहे...' उसे निकालने से जो वस्तु का अनुभव रहे। 'वह है जीवस्वरूप...' भगवान आत्मा का ऐसा स्वरूप।

कहते हैं, **चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ जिसका स्वरूप है;...** आहाहा! **जो विचारवन्त चतुर पुरुषों को गोचर है**—आहाहा! वह विचिक्षण ऐसे ज्ञानी, ऐसे समकिती को गम्य है, कहते हैं। अज्ञानी को वह गम्य नहीं हो सकता। आहाहा! देखो, आया यहाँ। उसमें कहा था न ? चार भावों को अगोचर है। वह तो चार भाव के आश्रय से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। यहाँ कहा, देखो! **विचारवन्त...** अर्थात् ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी, विचिक्षण को, ऐसे चतुर पुरुषों को... उन्हें चतुर पुरुष कहा है कि जो आत्मा को परखकर पकड़ते हैं, उन्हें गोचर अर्थात् गम्य है। इस ज्ञान की दशा में, निर्मलदशा में उसकी गम्यता है। राग से, पुण्य से, व्यवहार से उसकी गम्यता, उसकी प्राप्ति नहीं है। आहाहा! समझ में आया ? आज तुमको क्यों देरी हुई, सेठ को ? तुम्हारे सेठ मुम्बई से एक दिन में आये। कहो, समझ में आया ? यह सबके साथ हो। कौन जाने... वह तो एक दिन में आ जाये। यह संसार ऐसा है...। भगवान ऐसा नहीं। संसार विचित्र जाल... आहाहा!

प्रभु! कहते हैं कि **विचारवन्त चतुर पुरुषों को...** जिसने स्वभाव सन्मुख होकर विचार किया है, ऐसे चतुर पुरुषों को गम्य है। आहाहा! अरे! **ऐसे आत्मा में तू रुचि क्यों नहीं करता...** देखो! यह लिया। भगवान! ऐसा आत्मा तू स्वयं है न! तुझे ऐसे आत्मा की रुचि क्यों नहीं होती ? देखो! यह आश्चर्य किया है। अरे! **ऐसे आत्मा में तू**

रुचि क्यों नहीं करता... ऐसा नहीं कि इसे कर्म अवरोधक है और काल बाधक है, इसलिए रुचि नहीं करता। तू रुचि नहीं करता तो नहीं होती, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? तू स्वयं महाप्रभु ध्रुव है न! आहाहा! ऐसे भगवान की रुचि... अरे! ऐसे आत्मा में तू रुचि क्यों नहीं करता? अरे! क्यों तुझे यह माल पोषाता नहीं? ऐसा माल लेना तुझे क्यों पोषाता नहीं? ऐसा कहते हैं। ऐई! प्राणभाई! यहाँ लाये, देखा! अरे! ऐसा प्रभु है न, भाई! तुझे ख्याल में नहीं आता? क्योंकि तू रुचि करता नहीं, ऐसा कहते हैं।

और दुष्कृतरूप संसार के सुख की वांछा क्यों करता है। आहाहा! अरे! खोटे सुख की कल्पना में क्यों पड़ा है बाहर की? भूंडा सुख। भूंडा समझे न? खोटा। भूंडा कहते हैं हमारी काठियावाड़ी भाषा में। आहाहा! ऐसा प्रभु विराजता है और तू उसकी रुचि, उसकी दृष्टि, उसके सामने क्यों नहीं देखता? और यह दुष्कृत संसार कल्पना के सुख का जाल बाँधा है। अरे! ऐसे सुख को क्यों चाहता है? आहाहा! मुझे स्वर्ग मिले, मुझे पैसा मिले, मेरी कोई महिमा करे, मुझे कोई बड़ा कहे। अरे! यह संसार के सुख... ? भाई! तुझे यह वाँछा क्यों होती है? समझ में आया? घर में भरे बर्तन छोड़कर जूठन चाटता है? ऐसा कहते हैं। कहते हैं, नहीं? घर में अच्छी, सज्जन स्त्री हो, उसे छोड़कर व्यभिचारी कहीं गोता खाता हो तो लोग कहे, भाई! घर में भरा बर्तन पड़ा है, उसे छोड़कर कहाँ जाता है? उसी प्रकार यह भरा भगवान है न अन्दर तेरे पास, कहते हैं। कहा था न ऊपर?

चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ जिसका स्वरूप है;... समझ में आया? अरे! उसे छोड़कर यह दुष्कृत संसार... पुण्य-पाप के भाव और उसके फल, उसके सुख को क्यों चाहता है? तुझे क्या हुआ है? भाई! आहाहा! ऐसा पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि आश्चर्य करके कहते हैं। अरे! तू ऐसा भगवान है न, भाई! तुझे क्यों रुचि नहीं होती? और ऐसे भगवान के अतिरिक्त ऐसे सुख की कल्पना क्यों करता है? ऐसा कहकर आश्चर्य किया है। इसलिए आत्मा ऐसा है, उसे समझकर रुचि और दृष्टि करना, इसका नाम धर्म और सम्यग्दर्शन है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

चैत्र शुक्ल १२, बुधवार, दिनांक - ०७-०४-१९७१
गाथा-४०, श्लोक-५५, प्रवचन-३५

नियमसार का श्लोक / कलश है न?

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदोदितशर्मनिर्मितवियद्बिम्बाकृतावात्मनि।
चैतन्यामृत-पूर-पूर्ण-वपुषे प्रेक्षावतां गोचरे,
बुद्धिं किं न करोषि वाञ्छसि सुखं त्वं सन्सृतेर्दुःकृतेः ॥५५॥

अधिकार आत्मा का है न, यह शुद्धभाव का? आत्मा शुद्धभावस्वरूप ध्रुव है... पर्याय की बात नहीं यहाँ। उदयादि चार प्रकार की पर्याय है, उससे भी रहित ध्रुव शुद्ध चैतन्यदल सदृश नित्य वस्तु है। **जो प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वतपद है;....** जिसमें राग और द्वेष नहीं, केवल वीतराग का पिण्ड शाश्वत पद है। समझ में आया? **प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वतपद है;....** चैतन्यध्रुव, उसे यहाँ आत्मा अथवा शुद्धभाव कहने में आया है। वही जीव है, ऐसा। समझ में आया? **प्रीति-अप्रीति रहित शाश्वतपद....** नित्यानन्द ध्रुवस्वभाव, वही जीव है। उस जीव की शरण लेना, आहाहा! इसका नाम धर्म है।

मुमुक्षु : ....दूसरी लप्पन-छप्पन सब छोड़ देना।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी का शरण नहीं चलता। शरण एक ध्रुव का है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : यह तो निश्चय... रागादि....

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार का अर्थ क्या हुआ? वह तो उपचारिक—आरोपित बात है। यथार्थ प्रीति-अप्रीति बिना का तत्त्व वीतरागमूर्ति आत्मा है यहाँ तो। शाश्वत् उसका नित्यानन्द स्वभाव वीतरागपिण्ड प्रभु है। उसका आश्रय करने से, उसकी शरण लेने से जो पर्याय प्रगट होती है, वह प्रगट हुई दशा वीतरागता, उसे धर्म कहते हैं। परन्तु धर्म की वह वस्तु... ८० पृष्ठ, पृष्ठ ८०, पहला श्लोक। इस ओर नहीं, इस ओर, ८० पृष्ठ पर। यह जरा निकालने में देरी लगे... यह यहाँ शुद्धभाव अधिकार है न! शुद्धभाव

अर्थात् कि जीव। जीव का भाव शुद्धभाव ध्रुव, वह जीव है। समझ में आया? वह आत्मा।

वह शुद्धभाव प्रीति-अप्रीति रहित है। उसमें विकल्प राग-द्वेष के हैं नहीं, वीतरागमूर्ति है। प्रीति-अप्रीति से रहित वीतरागस्वरूप आत्मा है। त्रिकाल वीतरागमूर्ति आत्मा है, उसकी अन्तर्दृष्टि करने से जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, शान्ति आदि प्रगट होते हैं, वह मोक्ष का मार्ग है, वह धर्म का रूप और स्वरूप है। समझ में आया? वह सर्वथा **(निःशेषपने) अन्तर्मुख...** सर्वथा अन्तर्मुख है। कैसा है प्रभु आत्मा? जिसे शुद्धभाव कहते हैं, जिसे वास्तव में जीव कहते हैं, जिसे वास्तव में आत्मा कहते हैं, वह अन्तर्मुख है। सर्वथा अन्तर्मुख है, ऐसी भाषा है न? निःशेष का अर्थ किया न! निःशेष का अर्थ 'सर्वथा' है न? सर्वथा अन्तर्मुख है अर्थात् कि वर्तमान पर्याय से भी अन्दर अत्यन्त भिन्न है। भाई! कथंचित् अन्तर्मुख, (ऐसा) अनेकान्त करो। कथंचित् अन्तर्मुख और कथंचित् बहिर्मुख। अनेकान्त ऐसा नहीं। सर्वथा अन्तर्मुख है, बहिर्मुख किंचित् भी नहीं। पर्याय में नहीं और सर्वथा ध्रुव में अन्तर्मुख ही आत्मा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

यह शुद्धभाव अधिकार कहो या जीव का नित्यस्वभावभाव, आत्मस्वभावभाव कहो—वह सब एक ही बात है—एक बात है। सर्वथा अन्तर्मुख... यहाँ तो जरा 'निःशेष' कहा न? '**निःशेषतोऽन्तर्मुखः**' कुछ भी बाकी रखे बिना पर्याय आदि से रहित अन्तर्मुख आत्मतत्त्व है। कहो, हीराभाई! ऐ भीखाभाई! इसमें क्या आया? अन्तर्मुख पूरा है, पर्याय में भी नहीं, कहते हैं, तो फिर विकल्प में और बाहर में कहाँ से आया इसे? क्या कहा? आहा! वस्तु तो, कहते हैं, शरीर का, विकल्प का, निमित्त का आश्रय लेकर हो, ऐसी चीज़ है ही नहीं। वह चीज़ जो है आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर ने यह ध्रुववस्तु नित्य अविनाशी देखी, वह तत्त्व शाश्वत् पद है। और वह शाश्वत् पद सर्वथा—निःशेष अन्तर्मुख है। अन्तर्मुख वह वस्तु है। पर्याय में भी वह वस्तु नहीं आती। आहाहा! कठिन बातें, भाई! यह वीतराग का.... देखो! पहले वीतराग से शुरु किया है न? लाईन वहाँ से उठायी है न? '**नो खलु सहावठाणा**' करके फिर '**हरिस**' और '**अहरिस्स...**' ऐसा कहकर वीतरागभावस्वरूप आत्मा है, ऐसा सिद्ध किया है। समझ में आया?

श्लोक का (-गाथा का) यह कलश निकाला, पूरा सार। यह तो अकेला

वीतराग की मूर्ति अन्तर्मुख है। इस हिसाब से तो उसमें पर्याय कोई क्षयोपशम, क्षायिक की नहीं, ऐसा भी साथ ही इसमें आ जाता है। आहा! भारी कठिन काम... ऐसा आत्मा—वस्तु है शुद्धभाव त्रिकाल ज्ञायकप्रभु, सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने वह देखा कि जो सम्यग्दर्शन का विषय है, सम्यग्दर्शन का-ध्यान का ध्येय है। वह ध्रुव सर्वथा अन्तर्मुख है। अन्तर्मुख वस्तु है, वह अन्तर्मुख दृष्टि से ही प्राप्त होती है। सेठी! गजब बातें! समझ में आया? भगवान अन्तर्मुख वस्तु है पूरी। उसकी अन्तर्मुख दृष्टि... अन्तर्मुख वस्तु पर अन्तर्मुख दृष्टि करने से... पर्याय को अन्तर में झुकाने से, यह तो एक अपेक्षा से कथन है, बाकी ध्रुव में ध्येय करने से जो पर्याय प्रगट होती है, वह अन्तर्मुख के आश्रय से प्रगट होती है। आहाहा! भाषा ऐसी वह वीतराग की! कहो, समझ में आया?

सर्वथा अन्तर्मुख **और** प्रगट **प्रकाशमान ऐसे सुख का बना हुआ,...** आहाहा! '**निर्भेदोदितशर्मनिर्मित**' 'प्रगट' वहाँ किया उसका—निर्भेद का अर्थ। उदित... उदित है। उदित अर्थात् प्रकाश... निर्भेद-भेदरहित प्रगट—उदित प्रकाशमान ऐसे सुख का बना हुआ यह आत्मा है। वह अतीन्द्रिय आनन्द का बना हुआ अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा है।

मुमुक्षु : सुखसागर का पूर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आ गया है पहले। अतीन्द्रिय आननद प्रगट उदयमान है, प्रगट प्रकाशमान ही है। प्रगट प्रकाशमान ऐसा सुख आनन्द—अतीन्द्रिय आनन्द का रूप है, उसका बना हुआ, उसे आत्मा कहते हैं, उसे यहाँ शुद्धभाव कहते हैं, उसे यहाँ नित्यानन्द भगवान कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

जिसे आनन्द चाहिए हो, प्राप्त करना हो तो नित्यानन्द में से मिलेगा। बाहर से कुछ आनन्द मिले, ऐसा नहीं है। इसका अर्थ कि धर्म प्राप्त करना हो तो अन्तर्मुख से मिलेगा। धर्म अर्थात् सुखदशा। धर्म का अर्थ, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह सुखदशा है—सुख की अवस्था है। वह धर्म चाहिए हो तो उसे धर्म जहाँ है, अतीन्द्रिय आनन्दमय प्रभु, वहाँ से मिलेगा, उस दुकान से मिलेगा, अन्यत्र से मिलेगा नहीं। भाई! गजब ऐसा। बापू! यह तो निश्चय की (बात है), परन्तु वस्तु ही यह है, वस्तु का स्वरूप ही यह है।

जिनेश्वर परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने कहा हुआ आत्मा, वह आत्मा ऐसा है। ऐसी जिसे खबर नहीं, उसे धर्म हो जाये, धूल भी धर्म नहीं होगा। धूल अर्थात् अच्छा पुण्य भी नहीं होगा। समझ में आया? है या नहीं अन्दर? सेठी! आहाहा!

'प्रगट' अर्थ किया निर्भेद का, उदित प्रकाशमान। प्रगट प्रकाश की मूर्ति सुख का बना हुआ है। अकेला प्रकाश का पूर और सुखस्वरूप अभेद एकरूप, उसे यहाँ आत्मा कहा गया है। आहाहा! पूरे आत्मा का विवाद उठा है। आत्मा किसे कहना और कहाँ से लाना चीज़? चाहिए है धर्म, वह कहाँ से लाना—उसकी खबर नहीं होती। कहीं से—बाहर से मिल जायेगा यहाँ से कहीं से। सम्मेदशिखर से मिल जायेगा, जा। गिरनार से मिल जायेगा, शास्त्र में से मिल जायेगा, गुरु में से मिल जायेगा, भगवान में से मिल जायेगा, कुछ समवसरण में जाये वहाँ से। आहाहा! भगवान! तू कहाँ अधूरा है कि दूसरे से लेना चाहता है? ऐसा कहते हैं, देखो! अतीन्द्रिय प्रकाश और सुख की बनी हुई चीज़ ही है तू तेरी। बना हुआ अर्थात् नया, ऐसा नहीं। ऐसा कहकर... समझ में आया?

निर्मित... का अर्थ बना हुआ किया है। आहाहा! अभी जिसे ख्याल भी नहीं, समझ भी नहीं कि क्या चीज़ है आत्मा और आत्मा में क्या-क्या भरा हुआ है और वह आत्मा किससे खाली है। समझ में आया? उसकी मूल की खबर नहीं होती और फिर बाहर के सब परद्रव्य के ज्ञान का जानपना और इसका यह... थोथा भी नहीं उसमें कुछ। आहाहा! बसन्तलालजी! आहाहा! कहते हैं, सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ की सभा में इन्द्रों के बीच दिव्यध्वनि में ऐसा आया, भगवान! तू तो प्रगट-व्यक्त... प्रगट प्रकाश और आनन्द का बना हुआ, प्रकाश और आनन्दस्वरूप ही तेरा है। प्रकाश और आनन्द की मूर्ति तू है। उसमें तो पर्याय का भी अभाव है, पर्याय से खाली है, स्वभाव से भरपूर है वह तो। आहाहा! कहो, पोपटभाई! वह चीज़ दुःख से खाली है, ऐसा कहते हैं। विकार से खाली चीज़ है भगवान आत्मा और अतीन्द्रिय प्रकाश और आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है। आहाहा! ऐसे आत्मा को अन्तर में दृष्टि करके अनुभव करना, इसका नाम धर्म और मोक्ष का मार्ग है। बाकी सब बातें हैं। आहाहा! समझ में आया?

अब कहते हैं, **जो नभमण्डल समान अकृत...** है। जैसे आकाश किया हुआ नहीं

है... देखो! आकाश का दृष्टान्त दिया है, देखा! सर्वव्यापक आकाश किसका किया हुआ होगा? किसी से नहीं किया हुआ... जैसे आकाश को किसी ने बनाया नहीं, उसी प्रकार आत्मा को किसी ने बनाया नहीं। सवव्यापक आकाश कौन बनावे? ऐसी उपमा दी है। सर्वव्यापक आकाश है, लोक और अलोक, ऐसी चीज़ को कौन बनावे? वह तो अकृत्रिम है—नहीं करायी हुई चीज़ आकाश सर्वव्यापक है, इसी प्रकार भगवान आत्मा अन्तर्मुख प्रगट अतीन्द्रिय सुख का पिण्ड स्वयंसिद्ध वस्तु है। आहाहा! समझ में आया? भाई! ऐसा अतीन्द्रिय प्रकाश और सुख का सागर किसी ने बनाया होगा? परमेश्वर कोई होगा? कोई परमेश्वर-बरमेश्वर है नहीं। यह स्वयं ही अपना परमेश्वर है। आहाहा!

नभमण्डल समान... वापस। नभमण्डल अकृत है। भगवान आत्मा... आकाश सर्वव्यापक है, सर्वव्यापक को कौन करे? ऐसा वापस। इतनी छोटी चीज़ हो तो उसे करे, ऐसा कहे, परन्तु इस सर्वव्यापक को कौन करे? यह तो है, अकृत वस्तु है। उसकी भाँति यह भगवान आत्मा अन्दर प्रकाश और आनन्द की मूर्ति अकृत है—किसी ने की नहीं। आहाहा! ऐसा भगवान तू है, भाई! ऐसा कहते हैं। तुझे तेरी खबर नहीं होती और बेखबर होकर जहाँ-तहाँ भटकता है.... आथड़े अर्थात् भटकता है। यहाँ सुख है, यहाँ सुख है और यहाँ से धर्म होगा। जहाँ धर्म नहीं, वहाँ से धर्म होगा। जहाँ धर्म भरा हुआ है, वहाँ से नहीं होगा। आहाहा! कहो, जेठाभाई! आहाहा! भगवान! यह शुद्धभाव है न, यह इसका त्रिकाल स्वभाव-धर्म है। 'शुद्धभाव' अधिकार यह है न?

ओहोहो! दिगम्बर सन्तों ने तो केवलियों के पेट (अभिप्राय) खोलकर रखे हैं। यह बात दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त तीन काल में कहीं नहीं है। ऐसी वस्तु ऐसे भगवान ने कही कि देख भाई! तू देख तो सही! कुन्दकुन्दाचार्य आदि आडतिया हुए व्यापार के (और) भगवान का माल बताते हैं। देख! भगवान का यह माल है। समझ में आया? क्या कहते हैं, भाई यह 'एजेन्सी ली'? एजेन्सी ली है भगवान की। आहाहा! बापू! तेरी चीज़ में कितना पड़ा है, कितना है, कैसा है—यह तुझे खबर नहीं, भगवान! और उसकी खबर पड़ने पर वह गुप्त रहे ऐसा नहीं है। उसका भान होने पर वह गुप्त रहे, ऐसा नहीं है, ऐसा उसका स्वभाव है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! प्रगट है। आहाहा! समझ में आया? वह तो प्रत्यक्षस्वभावी वस्तु है, ऐसा कहते हैं। अपने स्वभाव से प्रत्यक्ष ज्ञात हो,

ऐसा उस वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। उसका भान, उसका ज्ञान उसके ऊपर लगाने से वह ज्ञात न हो, यह चीज़ ही नहीं है। पर के ऊपर लगाने से वह ज्ञात हो, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

देहदेवल में भगवान... यह (शरीर) तो मिट्टी का पिण्ड-जड़ है। अन्दर राग और द्वेष के विकल्प—विकार वे भी भिन्न चीज़ हैं। अरे! ऊपर इसकी एक समय की पर्याय है, वह भी द्रव्य से भिन्न चीज़ है। आहाहा! समझ में आया? थोड़ा परन्तु सत्य होना चाहिए। लम्बा-लम्बा—बड़ी-बड़ी बातें करे और उसमें निकले नहीं कुछ। यहाँ यह कहते हैं, भगवान! तू तो साक्षात् भगवानस्वरूप ध्रुव ही है। तेरा शुद्धभाव साक्षात् भगवानस्वरूप है। आहाहा! उस भगवान के लिये किसी की उसे आवश्यता नहीं। समझ में आया? **नभमण्डल समान अकृत...** है। यह देखो न! आधार कैसा दिया है। ओहोहो!

कहा न, बहुत वर्ष पहले हमारे एक चर्चा चली थी पारडा में। एक वेदान्ती बाबा आया था और एक कबीर का साधु आया था। बाहर धर्मशाला है, बतायी थी। वे आये तो हम भी देखने गये, सुनने (गये)। चलो न, क्या चर्चा करते हैं यह? यह जाकर (देखें)। वह वेदान्ती कहे, यह सब ईश्वर ने किया हुआ है। उसका ईश्वर कर्ता है। तो कबीर कहे—कबीर का साधु, कबीर का साधु वैरागी बोलता था। वह.... बोलता, अरे! किसने बनाया है? कहाँ खड़े रहकर बनाया है? आकाश को उसने बनाया तो फिर खड़ा कहाँ रहा वह? यह प्रश्न किया था। यह तो बहुत वर्ष की बात है। (संवत्) १९६५-६६ की बात होगी, संवत् १९६५-६६। ६० वर्ष पहले की बात है। हम तो देखने गये। यहाँ तो छोटी उम्र से रस था। देखें, क्या चर्चा करते हैं? .... दो व्यक्ति बड़े इकट्ठे हुए। कबीर के दो-तीन साधु थे और वह अकेला था लठ्ठ जैसा लम्बा था वेदान्ती और वे बेचारे कबीर के साधु वैरागी.... हमारे सामने देखकर प्रसन्न होवें, क्यों भाईयों! यह मैं पूछता हूँ, वह बराबर है? ईश्वर ने कहाँ खड़े रहकर बनाया है? प्रकाशदासजी! यह ६५ वर्ष पहले की बात है। सामग्री कहाँ से लाया? सामग्री कहाँ से बनायी? पहले नहीं थी? यह मुझे समझाओ। परन्तु मेरा शिष्य होवे तो समझाऊँ, कहे। लो, ठीक। यह

चर्चा चली थी। ऐ पोपटभाई! हम दुकान पर बैठते थे, परन्तु ऐसा हो तो दुकान छोड़कर चले जाते थे। ....

यहाँ तो कहते हैं, आहाहा! भगवान! तू अकृत चीज़ है, हों! किसी ने की हुई चीज़ नहीं। किसकी भाँति? कि आकाश की भाँति। आहाहा! देखो न! सर्वव्यापक आकाश को कौन बनावे? इसी प्रकार तू आत्मा अकृत है, हों! किसी ने किया हुआ (नहीं), ऐसी शाश्वत् स्वयंसिद्ध वस्तु है। स्वयं से सिद्ध है, पर से सिद्ध है—ऐसा नहीं है। अरे! यह भाव तो लावे जरा अन्दर। स्वयंसिद्ध वस्तु। आहाहा! ऐई! नीचे अर्थ किया है न? देखो न! अन्तिम। 'स्वयंसिद्ध शाश्वत्' लिखा है न। नोट में नीचे है न? 'स्वयंसिद्ध शाश्वत् है।' आहाहा! अरे! ऐसा इसे ज्ञान हो तो वह ज्ञान की दशा मुड़े ध्रुव की ओर। जहाँ भगवान परिपूर्ण स्थित है, वहाँ इसका ज्ञान मुड़े, तब उसे ज्ञान कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? तब उसे सम्यग्दर्शन-धर्म की पहली दशा होती है।

ऐसा मेरा शाश्वत् प्रभु पूर्णानन्द के प्रकाश से भरपूर सत् अकृत तत्त्व, ऐसा अन्तर में विश्वास और प्रतीति और उस ज्ञेय का ज्ञान हो, वहाँ उसे शान्ति मिले... वहाँ उसे शान्ति मिले, शान्ति हो, इसका नाम धर्म है। उसका नाम आचरण है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान, आत्माका आचरण किया उसने। यही आचरण है न? आता है न? आहाहा! आचरण-आत्मा का आचरण। देह की क्रिया तो जड़-मिट्टी-धूल है। अन्दर पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, वे विभाव हैं, विकार हैं, वे कहीं आत्मा का आचरण नहीं हैं। आहाहा! ऐसा भगवान तीन लोक का नाथ परमात्मा ने जाना, देखा, वाणी द्वारा कहा, वह आगम हुआ। आगम में ऐसी पुकार की है। परमागम में ऐसी पुकार आत्मा की है।

मुमुक्षु : परमागम किसे कहते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भगवान की वाणी, उसे परमागम (कहते हैं)। वह आगम तो कहते हैं श्वेताम्बर भी। वे तो नये बनाये हुए हैं। यह तो भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ महावीर प्रभु, कल उनका जन्मदिन है न, उनके मुख से निकली हुई वाणी है। इसका नाम परमागम कहा जाता है। समयसार, प्रवचनसार, नियमसार सब भगवान की वाणी है। कुन्दकुन्दाचार्य भगवान के पास गये थे, सीमन्धर भगवान के पास (गये थे), वहाँ

आठ दिन रहे थे। आकर यहाँ सन्देश लाकर रखा है। सज्जनों को सन्देश दिया है। 'भव्यसमूह' आया था न भाई? भव्यसमूह को यह कहा है। बापू! ऐसा तू है न, भाई! तेरी नजर वहाँ क्यों नहीं पड़ती? जहाँ तेरा निधान है, वहाँ नजर क्यों नहीं पड़ती? जहाँ तेरा कुछ नहीं, उसमें कहाँ नजर डट गयी है? धरमचन्दजी! अन्दर में धरमचन्द पड़ा है, कहते हैं। आहाहा!

यह बात दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त कहीं तीन काल में अभी कुछ है नहीं। यह सन्त, हों! अन्तर के आनन्द के अनुभव में स्थित, अन्तर्मुख की दृष्टि में अन्तर प्रचुर आनन्द की दशा जिसे इतनी प्रगट हुई है, उस आनन्द की लहर में जिसे वृत्ति उठती नहीं। आहाहा! ऐसा अन्तर्मुख भगवान आत्मा, कहते हैं, चैतन्य अमृत के पूर से भरपूर जिसका स्वरूप है। आहाहा! जिसके लिये शब्द कम पड़ते हैं। कैसा है प्रभु तू? ध्रुव है, राग बिना का, एक समय की पर्याय बिना का है, वह **चैतन्यामृत के पूर से भरा हुआ जिसका स्वरूप है;...** चैतन्य का अमृत है, वह तो पूर है—बड़ा प्रवाह है अन्दर में। ओहोहो! ध्रुवस्वरूप शुद्धस्वरूप चैतन्य अमृत का पूर है, वह तो पूर का प्रवाह है। पूर से, देखो न! अमृत के पूर से भरपूर बड़ा प्रवाह पड़ा है। ओहोहो! प्रपात। अमृत के.... चैतन्य का अमृतस्वरूप, हों! चैतन्य का अमृत, ज्ञान का अमृतस्वरूप, उसका पूर, उसका भरा हुआ भाव स्वयं पूर्ण है। भाषा देखो! समझ में आया?

यह आता है पद्मनन्दिपंचविंशति में। भगवान! आपने ऐसा आत्मखजाना खोलकर जगत के समक्ष रखा, वह इस धूल का खजाना छोड़कर इस खजाने को शोधने क्यों न जाये? वह धूल का खजाना पाँच लाख, दस लाख, बीस लाख धूल का खजाना सब मिट्टी का-श्मशान का पिण्ड है। श्मशान में लड्डू रखते हैं न? वे सब श्मशान के लड्डू हैं, बापू! तेरा भगवान का स्वरूप... प्रभु ने खजाना खोलकर जगत के समक्ष रखा, अब वह जगत, तिनके जैसा चक्रवर्ती का राज, निधान भी सड़े हुए तिनके जैसे हैं, उन्हें छोड़कर इस खजाने में कौन न आवे? ऐसा पद्मनन्दि में पद्मनन्दि आचार्य दिगम्बर सन्त वनवासी ने ऋषभदेव भगवान की स्तुति जब की है, उनकी स्तुति में आया है—हे नाथ! आपने ऐसा आत्मा खोला, वह सर्वज्ञ के सिवाय अन्य कोई कह नहीं

सका। उसे सुनकर निज का खजाना खोलने के लिये कौन नहीं आये अब? ऐसा कहते हैं। यह धूल-बूल छोड़ देगा, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। कुछ नहीं उसमें छह लड़के और पैसे और धूल में। तुम्हारे एक है, इन्हें छह हैं। कहो, समझ में आया? आहाहा!

चैतन्य अमृत के पूर से भरपूर जिसका स्वरूप है, **चैतन्यामृत के पूर से... 'पूर पूर्ण वपुषे'** वपुषे का अर्थ किया यह? **वपुषे**—शरीर ही तेरा ऐसा है। तेरा शरीर ही ऐसा है। यह वपु (अर्थात्) शरीर है। वपुषे शब्द से... आहाहा! यह धूल का शरीर नहीं, यह तो मिट्टी... मिट्टी हड्डियाँ हैं। तेरा वपुषे... स्वरूप ही तेरा—शरीर ही तेरा चैतन्य अमृत से भरपूर वह शरीर तेरा, स्वरूप तेरा है। आहाहा! अरे! इसे मण्डप में तो आवे, तो खबर पड़े कि यह किसके गीत गाये जाते हैं? मण्डप में तो वर के गीत गाये जाते होंगे या नहीं? आहाहा! यह आत्मा के गीत हैं, भाई! यह तो मोक्ष के मण्डप में आत्मा के गीत हैं। अरे! सुनने तो आ, सुन तो सही एक बार।

यह भगवान अन्तर शुद्ध भगवान परमात्मा चैतन्य के अमृत के पूर... पूर... आहाहा! उससे तो भरपूर... जिसमें से अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द के, केवलज्ञान के पूर निकाले तो भी कम न हो, ऐसा वह पूर है। यह खजाना तो खाली हो जाये थोड़े समय में, दो-पाँच-दस करोड़ हों तो भी। ऐसा भगवान आत्मा जिसकी अन्तर्दृष्टि में आवे, तब उसे सम्यग्दर्शन और धर्म की शुरुआत कहने में आती है। बाकी सब बातें हैं। बाकी एक बिना के शून्य, रण में शोर मचाने की बात है सब, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? कहो, चेतनजी! आयी थी बात तुम्हारे कहीं? बिल्कुल नहीं। ऐ जयन्तीभाई! आज रविवार नहीं तो भी आज आया, लो, यह सब। आहाहा!

अब थोड़ी सी बात डालते हैं। **जो विचारवन्त चतुर पुरुषों को गोचर है...** आहाहा! जो अन्तर सन्मुख ढलने के ज्ञानवाला है, उसे वह गम्य है। ऐसा लिया है, भाई! ऐसा लिया है। आहाहा! कठिन बात परन्तु। ऐसा जो भगवान आत्मा, जिसका ज्ञान अन्तर्मुख ढला है, ऐसा विचारवन्त... **जो विचारवन्त चतुर पुरुषों...** समझ में आया? **'प्रेक्षावतां गोचरे'** इतना न? **'प्रेक्षावतां गोचरे'** विचारवन्त को... अर्थात् कि विचारवन्त उसे कहते हैं कि जो स्वसन्मुख में जाये, उसे विचारवन्त कहते हैं। समझ में

आया ? आहा ! आज एक श्लोक सवेरे जंगल जाते समय याद आया। रास्ते में कहा था, नहीं ? यह सब आगम की बातें चले न, विकल्प उठते हैं जरा।

'**आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्**' समाधिशतक (गाथा ५०) में है। आत्मा के ज्ञान के अतिरिक्त बुधपुरुष दूसरी बात को अधिक काल अन्दर रहने नहीं देते। आहाहा ! ऐ भीखाभाई ! पूज्यपादस्वामी, दिगम्बर सन्त, सर्वार्थसिद्धि की टीका करनेवाले। '**आत्मज्ञानात्परं कार्यं**' आत्मज्ञान से अन्य विकल्पादि '**न बुद्धौ धारयेच्चिरम्**' तत्त्वज्ञानी को वह विकल्प आया, गया, लम्बाता नहीं। '**न धारयेति चिरम्**'—लम्बे काल। ध्रुव नहीं। वह समाधितन्त्र में है। काय और वचन... काया और वचन से हो गया... '**वाक्-कायाभ्याम्**' ऐसा शब्द है। सब याद होता है ? वह तो रास्ते में जरा उस आगम का जरा चला न, यह हिम्मतभाई के विकल्प का... वह वापस आते समय नहीं हो, जाते। जाते यह प्रश्न हुआ था। कहा, क्या हुआ यह ? आहाहा !

कहते हैं, **विचारवन्त चतुर पुरुषों...** यह तो विचारवन्त चतुर पुरुष... '**प्रेक्षं**' है न, इसलिए इकट्ठा कर डाला। पुरुषों को गोचर—गम्य है। लो, कल ऐसा आया था कि चार भाव को अगोचर है। यहाँ तो (कहते हैं कि) ज्ञानी पुरुष जिसका—समकिती का ज्ञान अन्तर में झुका हुआ है, उसे गम्य है। समझ में आया ? उसे यहाँ विचारवन्त और चतुर कहा है कि जिसकी नजरें अपने निधान में जाती हैं। भगवान निधान पड़ा है बड़ा, अनन्त सिद्ध की दशायें जिसकी खान में पड़ी है, ऐसा भगवान आत्मा, उसमें जिसकी नजर जाती है, उसे विचारवन्त और चतुर कहते हैं और उस विचारवन्त को वह गम्य है। यह शुरुआत और पहला और अन्तिम यह सब है... कहो, समझ में आया ? आहाहा ! बसन्तलालजी ! किसकी बात चलती है यह ? आहाहा ! जिसका मण्डप डाला हो, उसके वर के गीत गाये न सीधे सवेरे उठकर। उसी प्रकार यह वर के गीत हैं यह।

भगवान चैतनय आनन्द का नाथ, अमृत का पूर भगवान आत्मा अन्दर है। आहा ! अरे ! तेरी नजरें वहाँ नहीं गयी, ऐसा कहते हैं। विचारवन्त की नजरें वहाँ जाती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा ! भगवान आये और तू उनके साथ बातें करने को निवृत्त नहीं हुआ। आहाहा ! ऐसा भगवान आत्मा अन्दर चैतन्यमूर्ति परमानन्द के स्वरूप से परमात्मस्वरूप

विराजमान तेरा तत्त्व है। उसके समीप में नहीं गया, उसकी नजरें नहीं की, उसका विचार करके उसके सन्मुख नहीं झुका, प्रभु! क्या हुआ यह तुझे? तुझे गम्य नहीं आया। तुझे उसका ख्याल, ऐसी चीज़ है—ऐसा ख्याल नहीं आया। किसे आवे? **विचारवन्त चतुर पुरुषों को गोचर है...** अरे! ऐसा भगवान आत्मा... देखो! गम्य है, (ऐसा) पहले कहा।

ऐसे आत्मा में तू रुचि क्यों नहीं करता... वापस ऐसा कहा, देखो! जिस ज्ञानी का ज्ञान उसमें झुकता है, उसे गम्य है, ऐसे आत्मा की रुचि क्यों नहीं करता? कहते हैं। आहाहा! देखो! यह मुनि! पद्मप्रभमलधारिदेव जंगलवासी दिगम्बर थे। सन्त वन में रहते थे। वे तो आत्मा के आनन्द में झूलनेवाली की बात है यह तो। अतीन्द्रिय आनन्द के झूले में झूलते अन्दर... झूले में झूलते थे अन्दर। उसमें यह विकल्प आ गया और शास्त्र बन गये। उसके हम कर्ता भी नहीं, उसमें हम नहीं, हम आये नहीं उसमें कि हमारे से बने, विकल्प में हम आये नहीं कि हमारे से विकल्प बने, विकल्प में हम नहीं। हम जहाँ हैं, वहाँ विकल्प और वाणी और पुस्तक का कुछ... है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

अरे! ऐसे आत्मा में तू रुचि क्यों नहीं करता? तेरी रुचि जमी है धूल में सर्वत्र। यहाँ तो, पर्याय की रुचि क्यों करता है और ऐसे की रुचि क्यों नहीं करता? ऐसा कहते हैं। दूसरी रुचि तो कहीं रह गयी धूल में पैसा, स्त्री, भोग और विषय और इज्जत-कीर्ति। वे तो सब श्मशान की लकड़ियाँ हैं। सुलग उठेंगी सब। वहाँ कहाँ था आत्मा? समझ में आया? आहाहा! अरे प्रभु! तेरा तुझमें डोले। 'तेरा प्रभु तुझमें डोले।' आता है या न? वीर के यह वचन हैं कि 'तेरा प्रभु तुझमें डोले।' मेरे पास तेरा प्रभु नहीं है। समझ में आया? अरे! ऐसा आत्मा... ऐसा आत्मा... कितनी महिमा की! (१) प्रीति-अप्रीति रहित, (२) शाश्वत्, (३) अन्तर्मुख प्रगट, (४) प्रकाशमान सुख का बना हुआ, (५) नभ की भाँति अकृति, (६) चैतन्य अमृत से भरपूर, (७) विचारवान को गम्य है— उसमें तू रुचि क्यों नहीं करता? आहाहा!

और दुष्कृतरूप संसार के सुख की वांछा क्यों करता है? इस धूलरूपी पुण्य के फल यह स्वर्ग और पैसा और चक्रवर्ती के राज—ऐसे धूल के फल, उस दुष्कृत

संसार के सुख को क्यों चाहता है ? अरे प्रभु ! तू यह क्या करता है ? पर में सुख है, मुझे मजा आता है। संसार के भोग में, इज्जत में, पैसे में, शरीर में यह क्या कर रहा है तू यह ? तुझे जो करने का है, उसकी तुझे खबर नहीं और यह तू क्या करता है ? ऐसा कहते हैं। आहाहा ! समझ में आया ? भारी बातें यह ऐसी, भाई ! प्रभु ! तू कहाँ है ? इतना तू है, वहाँ तुझे रुचि क्यों नहीं होती ? और यह इसके अतिरिक्त के यह पुण्य-पाप के विकल्प और इनके फल धूल के ढ़ेर—यह स्त्री, पुत्र और राग, अरे ! यह तो दुष्कृत सब हैं। इस संसार के सुख को (कि जो) दुष्कृतरूप संसार है, उसके सुख को प्रभु ! तू क्यों चाहता है ? यह तुझे क्या हुआ है ? आहाहा !

यहाँ जहाँ पाँच-पच्चीस लाख मिले, स्त्री मिले और शरीर सुन्दर मिले तो आहा... हम सुखी हैं। धूल भी नहीं, सुन न ! पागल है.... पागल है, पागल है। आहाहा ! अरे ! पागल ! क्या करता है तू यह ? ऐसा कहते हैं। ऐई ! इन सब पैसेवालों को पागल कहते हैं। ऐ मलूकचन्दभाई ! भाई ! दुनिया में मिले दो-पाँच करोड़ रुपये और... आहाहा ! मुम्बई जायेंगे, तब खबर पड़ेगी वहाँ। उसे पूछेंगे और यह करेंगे सब। बापू ! चलो, परन्तु बैठे रहना हनुमान के पत्थर की भाँति। ऐ पोपटभाई ! आहाहा ! यह सब कचरा उठाना है। भगवान का खजाना भगवान आनन्द का धाम प्रभु है। अरे ! ऐसे आत्मा को तू प्रेम क्यों नहीं करता ? और इस दुनिया में प्रेम करके लुट जाता है, यह तुझे तेरी खबर नहीं। ऐ पोपटभाई ! कठिन बातें !

देखो ! यह दिगम्बर सन्त थे जंगल में रहनेवाले, आत्मध्यान में मस्त, वस्त्र का टुकड़ा—ताना-बाना नहीं। अन्तर के आनन्दसहित, हों ! अकेला नग्नपना तो अनन्त बार लिया। पंच महाव्रत भी अनन्त बार पालन किये, परन्तु वह कोई आत्मा नहीं। वह तो राग है। आहाहा ! २८ मूलगुण, वह राग है—विकल्प है; वह आत्मा नहीं, वह आत्मा का आचरण नहीं। आहाहा ! भगवान आत्मा अन्दर के ज्ञान की पर्याय से उसे पकड़े और उसकी रुचि करे, उसमें स्थिर हो, वह आत्मा का आचरण है। एक कलश में कितना रखा ! कहो ! पौन घण्टा हुआ। आहा ! ऐसी कोई पद्धति है सन्तों की कि एक-एक लाईन में पूरा रूप रच देते हैं। पण्डितजी ! आहाहा ! देखो ! यह ३९ (गाथा) हुई। इस दुष्कृत संसार के सुख... कोई मुझे ठीक कहे, कोई मुझे अच्छा कहे, मुझे कोई बड़ा

कहे। क्या हुआ परन्तु तुझे यह ? भिखारी हो गया, पागल हो गया है, पागल... आहाहा! तेरे पास क्या नहीं ? उसे तू बाहर शोधने जाता है, ऐसा कहते हैं। उलहाना... उलहाना... क्या कहे...

अब ४० गाथा लो। यह ३९ का श्लोक हुआ। ४० (गाथा)।

णो ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा॥४०॥

नीचे हरिगीत। ऊपर का श्लोक कुन्दकुन्दाचार्य का है। नीचे हरिगीत है। पण्डितजी ने बनाया है।

नहिं प्रकृति स्थान-प्रदेश स्थान न और स्थिति-बन्धस्थान नहिं।
नहिं जीव के अनुभागस्थान तथा उदय के स्थान नहिं॥४०॥

लो, गाथा में आया है, भाई! उदय के स्थान नहीं, ऐसा लिया है। सब स्थान नहीं, ऐसा हुआ। वे विभावस्वभावस्थान है न पहला ? पहले आया। ३९ में आया न कल। विभाव, उसमें चारों भाव डाले तो भी दिक्कत नहीं, ऐसा लगता है। क्योंकि यहाँ उदय तो आया है। अकेला उदय वहाँ हो तो... उदय के स्थान नहीं, उसमें कहा है। वह विभाव आया था न ३९ में पहला बोल। वहाँ सब-सब चारों विभावभाव वस्तु में नहीं और वापस भिन्न भी किये, उसमें भिन्न बतलाये।

टीका : यहाँ (इस गाथा में) प्रकृतिबन्ध, कर्म स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध के स्थानों का तथा उदय के स्थानों का समूह जीव को नहीं है—ऐसा कहा है। बन्ध के चार भेद हैं। पृथक् समझाना है न ? **सदा निरुपराग जिसका स्वरूप है...** भगवान आत्मा का तो त्रिकाली... सदा त्रिकाली 'निरुपराग-उपरागरहित। (उपराग=किसी पदार्थ में अन्य उपाधि की समीपता के निमित्त से होनेवाला उपाधि के अनुरूप विकारी भाव, औपाधिकभाव, विकार, मलिनता)।' भगवान वस्तु जो शुद्ध ध्रुव त्रिकाली है, जिसे वास्तव में आत्मा कहते हैं पर्याय बिना का, वह तो निरुपराग है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं। संसार के भाव बिना का वह ध्रुवस्वभाव है। उसमें संसारभाव—उदयभाव ही नहीं। आहाहा! इससे संसार का अभाव स्वभाव में होने से,

स्वभाव की दृष्टि से संसार का अभाव हो जाता है। पर्याय उत्पन्न होती है, उसे नहीं गिना, ऐसा कहते हैं। सेठी! वहाँ मुम्बई-मुम्बई में ऐसा नहीं वहाँ। वहाँ बैठे तो (सब कहे), पिताजी साहेब आओ, पिताजी साहेब आओ।

सदा निरुपराग.... बैठना चाहिए अन्दर, हों! यह वस्तु स्वयं विकार और संसाररहित चीज़ है अन्दर, उसे आत्मा कहा जाता है। देखो! **ऐसे निरंजन (निर्दोष) निज परमात्मतत्त्व...** निरंजन अर्थात् निर्दोष। निरुपराग तो कहा है, इससे फिर 'अंजनरहित' का अर्थ निर्दोष कर दिया। **निज परमात्मतत्त्व...** अपना कारणस्वरूप भगवान ध्रुव, वह निज कारणपरमात्मा, अपना आत्मा परमात्मा, ऐसा कहते हैं। भगवान तीर्थंकरादि तो उनका आत्मा परमात्मा है। आहाहा! **निरुपराग जिसका स्वरूप है...** अर्थात् उपाधिरहित जिसका स्वरूप है। वस्तु के त्रिकाली स्वभाव में उपाधि है ही नहीं। उपाधि पर्याय में है। वस्तु निरुपाधितत्त्व ध्रुव है। वह उपाधिरूप हो तो फिर शुद्धता रहे ही नहीं, तो अशुद्धता का पिण्ड हो गया। समझ में आया? ऐसी धर्मकथा किस प्रकार की? उसमें करना क्या, यह कुछ आता नहीं। कहा न कि ऐसा जो आत्मा, उसकी रुचि क्यों नहीं करता? उसकी रुचि करने लग।

'**नियमेण य जं कज्जं**' नियम से करनेयोग्य हो तो ऐसा भगवान आत्मा, उसकी रुचि, श्रद्धा, उसका ज्ञान और रमणता—यह करनेयोग्य है। समझ में आया? **निज परमात्मतत्त्व को...** 'निज परमात्म' भाषा प्रयोग की है न? यह शुद्धभाव कहो या निज परमात्मतत्त्व कहो। अधिकार शुद्धभाव है न? अपना परमात्मा ध्रुव निश्चल अविनाशी स्वभाव, एक समय की पर्याय और रागरहित **निज परमात्मतत्त्व को वास्तव में द्रव्यकर्म के...** जड़कर्म के **जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के स्थान नहीं हैं।** उसे कर्म की स्थिति, ... कर्म की स्थिति है न? जघन्य स्थिति, मध्यम और उत्कृष्ट—ये सब प्रकार वस्तु में है ही नहीं। आहाहा!

सब अधिकार है, सब महाबन्ध... यहाँ तो पर्याय के साथ सम्बन्ध है, ऐसा कहेंगे। उसमें अशुद्धतत्त्व के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। ध्रुव के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं, उसमें कहेंगे। अशुद्ध अन्तःतत्त्व और कर्मपुद्गल के प्रदेश में

सम्बन्ध है। समझ में आया? मलिनता की पर्याय और कर्म को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वस्तु के साथ कोई सम्बन्ध है नहीं। आहाहा! वह तो व्यवहार हो गया। व्यवहार अभूतार्थ हो गया। आहाहा! द्रव्यकर्म अर्थात् जड़कर्म। ज्ञानावरणादि है न आठ, उसके भेद जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट स्थिति के स्थान उसमें नहीं।

ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों में के उस-उस कर्म के योग्य ऐसा जो पुद्गलद्रव्य का स्व -आकार,... देखो! यह नयी बात। स्व-आकार, वह प्रकृतिबन्ध है। आठ कर्म में जो प्रकृति का स्वभाव है न स्वभाव, उसे पुद्गल का आकार कहा जाता है। स्व अर्थात् वह पुद्गल का स्व-आकार हुआ। प्रकृतिस्वभाव पुद्गल स्व-आकार है। जैसे ज्ञानावरणादि प्रकृति का ज्ञान रोकने का निमित्त स्वभाव होता है न—ऐसा जो स्वभाव, वह पुद्गलद्रव्य का स्व-आकार है, वह प्रकृतिबन्ध है। ध्रुव में—ध्रौव्यवस्तु में नहीं। निज कारणपरमात्मा प्रभु के अन्दर वह नहीं। वह नहीं, इसलिए टालने की चिन्ता तुझे है नहीं। उसकी दृष्टि कर और वस्तु प्राप्त हो जाये, तो टालने का रहता नहीं, टल जाती है अपने आप, ऐसा कहते हैं। कठिन बात है, भाई!

ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों में के उस-उस कर्म के योग्य... उस-उस कर्म के योग्य स्वभाव ज्ञानावरणीय का, दर्शनावरणीय का जो स्व-आकार प्रकृतिबन्ध, वह आत्मा में नहीं। **उसके स्थान (निरंजन निज परमात्मतत्त्व को) नहीं हैं।** निरंजन निज परमात्मतत्त्व में वे नहीं।

अब कहते हैं, देखो! **अशुद्ध अन्तःतत्त्व के (अशुद्ध आत्मा के)...** पर्याय विकारी। अशुद्ध अन्तःतत्त्व है न विकारी पर्याय? अशुद्ध अन्तःतत्त्व। वह शुद्ध अन्तःतत्त्व त्रिकाली और पर्याय विकारी अशुद्ध अन्तःतत्त्व। यह राग-विकार। उसे **और कर्मपुद्गल के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश वह प्रदेशबन्ध है;...** इन दोनों का एक क्षेत्र में रहना, वह प्रदेशबन्ध है। समझ में आया?

भाई! यह तो वीतराग का अध्यात्ममार्ग है। यह अपूर्व है, कभी इसने वास्तव में अन्तर की बातें सुनी नहीं। सुनी सब थोथेथोथा और खोखा। आहाहा! '**श्रुत परिचित अनुभूता**' आता है न? तूने सुना सब, परन्तु सब पर। कामभोग—भोग की इच्छा और

कर्म का भोगना और इच्छारहित भगवान आत्मा एक समय की पर्याय बिना का ध्रुवतत्त्व, यह बात तूने सुनी नहीं, परिचय में अभी आयी नहीं, तो अनुभव में कहाँ से आवे? अशुद्धपर्याय राग और कर्मपुद्गल को परस्पर प्रवेश, उसे प्रदेशबन्ध कहते हैं।

इस बन्ध के स्थान भी (निरंजन निज परमात्मतत्त्व को) नहीं है। शुभाशुभकर्म की निर्जरा के समय सुख-दुःखरूप फल देने की शक्तिवाला, वह अनुभागबन्ध है;... शुभाशुभ कर्म के टलने के काल में सुख-दुःख का फल तो उसमें आवे, अनुभाग में, हों! ऐसी शक्तिवाला अनुभाग, वह आत्मा में नहीं है। **इसके स्थानों का भी अवकाश (निरंजन निज परमात्मतत्त्व में) नहीं है और द्रव्यकर्म तथा भावकर्म के उदय के स्थानों का...** लो, दोनों आये। **भी अवकाश (निरंजन निज परमात्मतत्त्व में) नहीं है।** भगवान ध्रुवस्वरूप नित्यानन्द भगवान में यह सब प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग है नहीं। उनमें है, वस्तु में नहीं और सम्बन्ध हो तो राग के अशुद्धपरिणाम के साथ एक (क्षेत्र में) अवगाहन होना, ऐसा सम्बन्ध है। ध्रुव के साथ तो (एक क्षेत्र में) अवगाहन होना, ऐसा सम्बन्ध है नहीं। ऐसा आत्मा शुद्ध भगवान आत्मा, उसकी अन्तर्दृष्टि, ज्ञान और रमणता का नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। यही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल १, शुक्रवार, दिनांक - १२-०९-१९६९
गाथा-४०, श्लोक-५५ प्रवचन-३६-४

यह नियमसार शास्त्र चलता है, इसका शुद्धभाव अधिकार। शुद्धभाव अर्थात् क्या? कि आत्मा का जो त्रिकाली... सेठी कहते हैं, कारणपरमात्मा और परमपारिणामिक क्या है? इसका स्पष्टीकरण तो चलता है। शुद्धभाव अर्थात् आत्मा का एक समय में त्रिकाली ध्रुव नित्य स्वभाव, जिसमें कर्म, शरीर नहीं; जिसमें पुण्य-पाप के विकल्प भी नहीं और जिसमें वर्तमान अवस्था—पर्याय जो है, वह पर्याय भी जिसमें नहीं, ऐसे त्रिकाली नित्यानन्द ध्रुवस्वभाव को यहाँ कारणपरमात्मारूप से (कहते हैं)। क्योंकि कार्य जो होता है—सिद्धदशा का कार्य, वह कारण त्रिकाली ज्ञानानन्दस्वभाव में से कार्य होता है। समझ में आया? त्रिकाली चिदानन्द ध्रुवस्वरूप, जिसे यहाँ शुद्धभाव कहा, उसे ही कारणपरमात्मा कहते हैं और उसे ही परमपारिणामिकस्वभावभाव कहते हैं। समझ में आया? जिसे सामान्य स्वभाव कहो। एकरूप रहनेवाला कायम का तत्त्व, उसे यहाँ शुद्धभाव कहते हैं। शरीर, वाणी, मन तो पर है, वे कहीं आत्मा में नहीं और दया, दान, व्रत, भक्ति या काम, क्रोध के जो विकल्प उठते हैं, वह तो उपाधि, मैल है। यह कहेंगे अभी। उपाधि, मैल है, वह कहीं आत्मा में नहीं है।

जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो—धर्म की पहली दशा प्रगट करनी हो—उसे ऐसा आत्मा जो त्रिकाली ध्रुव; जिसमें मलिन परिणाम तो नहीं, परन्तु जिसकी वर्तमान अवस्था में जो कुछ निर्मल अवस्था अस्तित्व गुणादि की होती है, वह निर्मल अवस्था भी जिस त्रिकाली में नहीं। समझ में आया? उसे कारणपरमात्मा कहो, उस ध्रुवस्वभाव को कारणजीव कहो, उस ध्रुव परमस्वभावभाव को पारिणामिक परमभाव कहो, उसे पर से भिन्न अत्यन्त अबद्धस्पृष्ट ऐसा भाव कहो, उसे एकरूप ज्ञायकभाव त्रिकाली, ऐसा कहो, उसे कोई पर्याय की अपेक्षा नहीं, ऐसा निरपेक्ष शुद्धभाव कहो—यह सब एकार्थ है। सेठ! समझ में आया?

मुमुक्षु : निर्मल परिणाम.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : निर्मल परिणाम वस्तु में नहीं। वस्तु तो पर्यायरहित है। मोक्ष

की पर्याय भी जिसमें नहीं और मोक्षमार्ग की पर्याय जो है मोक्षमार्ग की... यह मोक्षमार्ग का अधिकार है, यह नियमसार। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो वीतरागी मोक्षमार्ग की पर्याय—अवस्था, वह भी ध्रुव में नहीं।

मुमुक्षु : आपने फरमाया, कारण में से कार्य होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भेद की दृष्टि से ऐसा कहा जाता है। भेद की दृष्टि से तो ऐसा ही है। समझ में आया? परन्तु वास्तविक तो ध्रुव, वह ध्रुव है और पर्याय प्रगट होती है, वह स्वतन्त्र पर्याय प्रगट होती है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी है कि भेद से जब उसे जानना हो, तब वह पर्याय आती है अन्दर से। और जो पर्याय हुई, वह वापस जाती है अन्दर। वस्तु ऐसी है। देवीलालजी! परन्तु उसकी एकरूपता—सदृश्यता के ध्रुव को यदि लक्ष्य में ले तो उसमें एक समय की पर्याय का आना-जाना, ऐसा उसमें है नहीं। यह तो वह अंश है, इसलिए यह तो भेददृष्टि हो गयी। समझ में आया? सूक्ष्म तत्त्व है।

सम्यग्दर्शन का विषय, ध्येय कि जिसमें से आत्मकल्याण की दशा प्रगट हो, ऐसा जो विषय द्रव्य। द्रव्यार्थिकनय का द्रव्य कहो तो वह। जो नय एक अंश को—त्रिकाली ध्रुव को स्वीकार करे। समझ में आया? जिसने नजर—श्रद्धा को अन्दर में पसरने से, फैलाने से पूरी वस्तु जहाँ पर्याय में कब्जे में आ जाती है। समझ में आया? ऐसा जो त्रिकाली कारणप्रभु, जिसमें कारणरूप शक्ति पूर्ण पड़ी है ध्रुवरूप से, उसे कारणप्रभु कहा जाता है। एक समय की पर्याय बिना के तत्त्व को। केवलज्ञान की जो एक समय की पर्याय है, वह भी वस्तु में नहीं—ध्रुव में नहीं। सेठ! जरा सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : बहुत सूक्ष्म।

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत सूक्ष्म। मैं सूक्ष्म कहूँ, इसका अर्थ कि ध्यान रखने जैसा है, ऐसा। आहाहा! समझ में आया?

जिसमें एकरूप सत्‌रूप सदृश्यरूप अकेला आनन्द और शान्ति एकरूप पड़ी है, ऐसे आत्मतत्त्व को यहाँ निश्चय आत्मा कहो। निश्चय आत्मा (अर्थात्) वास्तविक

आत्मा। पर्यायवाला आत्मा, वह व्यवहार आत्मा है। समझ में आया? एक समय की केवलज्ञानादि पर्याय, वह व्यवहार आत्मा है। शोभालालजी! यह सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : सूक्ष्म समझना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समझना है? हाँ, ठीक। आहाहा! सेठ को अभी बहुत वह किया हो न थोड़ा-थोड़ा समझने में जरा (देरी लगे)। आहाहा!

कहते हैं, यह 'शुद्धभाव' शब्द है न ऊपर? ऊपर है न ऊपर? शुद्धभाव। नियमसार। इस ओर नियमसार तथा इस ओर शुद्धभाव अधिकार है। समझ में आया? इस ओर ८० है। इस ओर ४० है गाथा। तुम्हारे ८०-४० चलना है न कल? ऐई! चिमनभाई! ऐई! वजुभाई! देखो यहाँ। पृष्ठ ८० है और गाथा ४० है। समझ में आया?

कहते हैं कि भगवान आत्मा आठ कर्मरहित है। यहाँ यह गाथा आयी है सहज। देखो! (पृष्ठ) ८० है न? और ४० गाथा है। भगवान आत्मा... आठ कर्म की प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश। कर्म जो जड़ है, उस जड़ के आठ भेद हैं। समझ में आया? और जिसके अन्दर... यहाँ तो कहेंगे, प्रकृति में स्व आकार कहेंगे। भिन्न चीज़ कहते हैं। प्रकृति, वह उसका परमाणु—कर्म का स्वभाव है, उसका वह स्व-आकार है, स्वभाव है उसका, ऐसा। प्रकृति अर्थात् भाव; भाव अर्थात् स्व-आकार। आहाहा! समझ में आया? और यह कर्म की प्रकृति में जो स्थिति पड़ती है ७० और ४० कोड़ाकोड़ी इत्यादि-इत्यादि, वह सब जड़ में है। वह जड़ की स्थिति, जड़ के प्रदेश संख्या से अनन्त, जड़ में पड़ा हुआ रस-अनुभाग और उसका प्रकृति स्वभाव-आकार। चारों जड़ के हैं, वे आत्मा में नहीं। समझ में आया? आहाहा!

यह तो लोग कहे, कर्म हमको हैरान करते हैं। जैन में तो कर्म नुकसान करे। जगत को ईश्वर भटकावे, तब इसको कर्म भटकावे। ऐई! परन्तु कर्म वस्तु में ही नहीं, फिर भटकावे कहाँ से तुझे? ऐसा कहते हैं। यह तो कर्म के चतुष्टय जो हैं, यह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव... परमाणु, उनकी स्थिति, उसका भाव। समझ में आया? उसका क्षेत्र जो है इतना—ये चारों उसमें है। कर्म के कर्म में है, आत्मा में नहीं। यहाँ तो एक समय की पर्याय बिना का पहले सिद्ध किया और अब सब प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रकार से सिद्ध करते हैं।

चैतन्य महाप्रभु... एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में महा चैतन्यप्रभु पूर्ण स्वरूप है। पर्याय है केवलज्ञान की, ऐसी-ऐसी तो अनन्त-अनन्त पर्याय का समूह एक ज्ञानगुण है। समझ में आया? सदृश्यरूप से गुण। आनन्द जो प्रगट होता है पर्याय में, एक समय का आनन्द... केवली का अनन्त आनन्द, वह भी त्रिकाली आनन्द की अपेक्षा से तो अनन्तवें भाग का आनन्द है। समझ में आया? आत्मबल जो है अन्दर वीर्य, जो पूर्ण वीर्य—बल प्रगट होता है, पर्याय में—अवस्था में, वह तो अनन्त-अनन्त पुरुषार्थ का पिण्ड है, उसके अनन्तवें अनन्तवें भाग का वीर्य प्रगट होता है। आहाहा! कहो, समझ में आया या नहीं इसमें? आहाहा! और साधक का जो पुरुषार्थ है, वह तो बहुत अनन्तवें-अनन्तवें भाग में है। भगवान तो अकेला पुरुषार्थ का पिण्ड है। समझ में आया? अकेले वीर्य की कातली, ध्रुव आत्मबल। समझ में आया? ऐसा जो ज्ञान, ऐसा दर्शन, आनन्द, वीर्य आदि चतुष्टय प्रगटता है न, और उसके कारणरूप जो मोक्ष का मार्ग है, वह तो ध्रुव के स्वभाव में कहीं अनन्तवें-अनन्तवें भाग है। अमरचन्दभाई!

यह तो भगवान के घर की बातें हैं, भाई! ऐसा जो भगवान आत्मा, जिसे अनन्त वीर्य एक समय में प्रगट हुआ, उससे भी अपरिमित अनन्त वीर्य का पिण्ड प्रभु ध्रुवस्वरूप नित्य स्वभाव, कायमी स्वभाव, असली स्वभाव, कारणस्वभाव, कारणजीव, परमपारिणामिकस्वभाव, शुद्धभाव, नित्यभाव, सदृश्यभाव, सामान्यभाव, एकरूप भाव है। सेठी! यह सब विशेषण चलते हैं यहाँ। आहाहा! समझ में आया? ऐसा जो भगवान शुद्धभाव स्वभाव का जो पिण्ड है, एकरूप सदृश्य रहता है, ऐसा शुद्धभाव, उसमें उसकी वर्तमान होती पर्याय भी जिसमें नहीं। समझ में आया? यह पहले आ गया है, पहली गाथा में। संवर, निर्जरा, मोक्ष और जीव की एक समय की पर्याय, यह ऐसा जो ध्रुव आत्मा, उसकी एक समय की दशा, वह व्यवहारजीव है। संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय एक समय की, वह भी वस्तु के मूल तत्त्व में—आत्मद्रव्य में नहीं। तो फिर आस्रव और बन्ध... पुण्य-पाप के शुभ विकल्प वह आस्रव, शुभ और अशुभ, वह आस्रव और अटकती दशा, ऐसा भावबन्ध, वह वस्तु में नहीं, वह उससे दूर है। अरे! समझ में आया?

भगवान आत्मा की केवलज्ञानादि की पर्याय से भी दूर वर्तता है आत्मा। पण्डितजी!

समझ में आया या नहीं? यह तो सादी भाषा है। पहले से 'नहीं समझ में आता' ऐसा करके... 'नहीं समझ में आता' ऐसा करके हो जाता है। यह तो सादी शास्त्रभाषा है। समझ में आया? वस्तु जो वस्तु ध्रुव नित्य द्रव्यस्वभाव, कायमी तत्त्व का स्वभाव, भले ऊँचे नीचे—क्षेत्र में कहीं हो, उसे ऊँचा-नीचा क्षेत्र लागू नहीं पड़ता। आहाहा! ऐसा एक-एक भगवान आत्मा जिसे एक समय का काल लागू नहीं पड़ता, एक समय की अवस्था का। त्रिकाल कहना, यह भी एक अपेक्षित बात है। वस्तु है, बस ऐसी की ऐसी। समझ में आया? ऐसी वस्तु पर दृष्टि करना, उसे भगवान सम्यग्दर्शन कहते हैं। कहो, मूलचन्दभाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : करे तो बने। नहीं करता, भान नहीं होता, ऐसे का ऐसा करता नहीं। वह भटकता है, उन बीड़ी और तम्बाकू में, देखो न! समझ में आया? यह तो दृष्टान्त। सब ऐसा ही करते हैं न! यह डॉक्टर-बॉक्टर। वकील भी करे। लो! आहाहा!

अरे! भगवान! तेरा तल इतना बड़ा है, ऐसा कहते हैं। तल समझते हो? पाताल कुँए का पेटा कहा जाता है न पेटा। पाताल का पेटा, पाताल का पेटा। पाताली कुँआ होता है न? पानी कम होता ही नहीं, कम होता ही नहीं। ऐसा भगवान पाताल कुँआ है। आहाहा! '**श्रुतपरिचित अनुभूता**' दूसरी बात तूने सुनी है, कहते हैं। परन्तु ऐसा स्वभाव है, यह बात तूने रुचिपूर्वक कभी सुनी नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? बाकी यह सब तुम्हारे पैसे, शरीर और धूलधाणी और स्त्री, पुत्र वे तो कहीं उनमें रहे। वे उनके होकर रहे हैं, तेरे होकर रहे नहीं। बराबर होगा? उनके होकर रहे हैं। यहाँ तो कहते हैं कि एक समय की पर्याय भी उसकी होकर रही है, द्रव्य की होकर रही नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तो परमेश्वर का पेट (अभिप्राय) खोल जाता है। समझ में आया?

कहते हैं कि ऐसा शुद्धभाव, उसका यह अधिकार चलता है। यह ४०वीं गाथा है, देखो!

णो ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा॥४०॥

नहिं प्रकृति स्थान-प्रदेश स्थान न और स्थिति-बन्धस्थान नहिं।
नहिं जीव के अनुभागस्थान तथा उदय के स्थान नहिं ॥४०॥

टीका : यहाँ (इस गाथा में) प्रकृतिबन्ध,... कर्म के स्वभाव का आकार ऐसा जो बन्ध। **स्थितिबन्ध,...** कर्म की अवधि का काल का जो बन्ध। कर्म में, हों! '**अनुभागबन्ध...** रसशक्ति का बन्ध और प्रदेश की संख्या का बन्ध पुद्गलकर्म में। यह कर्म... कर्म की चिल्लाहट करते हैं न लोग? अरे! कर्म ने हैरान किया, कर्म ने भटकाया, चार गति में कर्म ले जाता है—ऐसा है नहीं। तुझमें नहीं, तुझे क्या ले जाये? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह **उदय के स्थानों का समूह...** देखो! इन सबका समूह लिया है न? स्थान कहा है न, अर्थात् समूह। **जीव को नहीं...** तब किसे होता है यह? कर्म किसे होते हैं? जीव को नहीं होते, तब लकड़ी को होते हैं? आहाहा! भाई! यह कर्म, कर्म होकर रहे हैं, यह जीव की कोई पर्याय होकर रहे नहीं। जीव का द्रव्य जो है वस्तु और उसकी शक्तियाँ—गुण है, उसरूप तो कर्म होकर रहे नहीं, परन्तु तेरी पर्याय होकर भी वे रहे नहीं। आहाहा! समझ में आया? तेरी पर्याय होकर रहा हुआ जो भाव हो, उससे भी ध्रुवस्वभाव शुद्ध तो भिन्न दूर वर्तता है। तो फिर कर्म से तो अत्यन्त दूर वर्तता है। आहाहा! समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, देखो! **सदा निरुपराग जिसका स्वरूप है...** सेठी! अब तुम्हारा आया, देखो! परमपारिणामिकभाव। कारण आत्मा कहो, परमपारिणामिकभाव कहो, उसे शुद्धभाव कहो, उसे पर्याय की क्रिया बिना का ध्रुवस्वभाव कहो—यह सब एक ही है। ऐसा जो भगवान आत्मा, वह सदा तीनों काल। उसमें त्रिकाल शब्द लिया था—त्रिकाल निरुपाधि। तो इसमें सदा (शब्द) लिया। भगवान अन्दर विराजमान प्रभु ध्रुव, जिसमें नजर डालने से कल्याण हो, जिसके ऊपर नजर पड़ने से मोक्षमार्ग की दशा प्रगट हो, नजर डालने से प्रगट हो। आहाहा! समझ में आया? ऐसा जो भगवान महाप्रभु, शुद्ध ध्रुव। **सदा निरुपराग जिसका स्वरूप है...** त्रिकाल सदा उसका निरुपराग... निरुपराग—उपराग बिना का। निरुप शब्द पड़ा है न? उपराग बिना का।

उपराग=... अब उपराग की व्याख्या। **किसी पदार्थ में...** आत्मा त्रिकाली ध्रुव, वह निरुपराग है। उसमें उपराग नहीं। उपराग अर्थात् क्या? **किसी पदार्थ में, अन्य**

उपाधि की समीपता के निमित्त से... अन्य उपाधि की नजदीकता के कारण **होनेवाला उपाधि के अनुरूप विकारीभाव;...** उस उपाधि को अनुरूप। उपाधि निमित्त। कर्म, समझ में आया? वह निमित्त है। उसके अनुरूप... निमित्त है, वह अनुकूल है। जड़ कर्म है, जड़ है, वह निमित्त अनुकूल है और उसके अनुरूप... उसके अनुरूप आत्मा की होती विकारी अवस्था, उसे यहाँ उपराग कहा जाता है। समझ में आया?

देखो! उपराग शब्द पड़ा है न? उपराग। **किसी पदार्थ में, अन्य उपाधि की समीपता के...** समीप। उस 'उप' का अर्थ समीप। भाई! आहाहा! उप अर्थात् समीप। उसके **निमित्त से होनेवाला उपाधि के अनुरूप...** यह कर्म निमित्त है, उसके अनुरूप। कर्म निमित्त है, वह अनुकूल... अनुकूल। अनुकूल और अनुरूप। समझ में आया? निमित्त को अनुकूल कहा जाता है और नैमित्तिकदशा को अनुरूप कहा जाता है।

कहते हैं, **अन्य उपाधि की....** अन्य उपाधि होती है न? अपनी उपाधि होती है? ऐसा कहते हैं। अन्य उपाधि जो कर्म की है, उसके समीपपने के निमित्त से होता उपाधि के अनुरूप। जो उपाधि कर्म है, उसके अनुरूप। अर्थात् क्या? कि विकारीभाव। यह मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय, योग—ऐसा जो भाव, वह राग है अथवा उपाधि है अथवा मैल है। उस मैल बिना का आत्मा है। समझ में आया? आहाहा! निरुपराग सदा जिसका स्वरूप है। भगवान (आत्मा) तो निर्मलानन्द प्रभु चैतन्य रत्नाकर ध्रुव भगवान, परमस्वभाव से विराजमान है, जिसकी पर्याय को भी जहाँ अपरमभाव कहा, उसके समीप में उपाधिभाव को तो क्या कहना? कहते हैं। वह उसमें नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : यह बात किसकी चलती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसकी बात चलती है यह? यह सम्यग्दर्शन का विषय ध्रुव चैतन्य किसे कहा जाता है, उसकी बात चलती है। नियमसार है न? नियमसार अर्थात् मोक्ष का मार्ग। सम्यग्दर्शन-ज्ञान, वह नियम और सार अर्थात् विकार और व्यवहार बिना का भाव, उसे नियमसार—मोक्ष का मार्ग कहा जाता है। वह मोक्ष का मार्ग प्रगट होने में कौन कारण है? कि ध्रुव। डॉक्टर! यह थोड़ा सूक्ष्म है। समझ में आया इसमें? उस मशीन-बशीन में पूरे दिन रच-पच जाये न, इसलिए यह क्या होगा अभी? आहाहा!

भगवान की महा-मशीन ऐसी है अन्दर, कहते हैं कि जिसकी सदृश्यता की, एकता की ध्रुवता में जिसे वर्तमान एक समय की पर्याय का भी जिसे स्पर्श नहीं। आहाहा! ऐसा कहकर ऐसा जो ध्रुवतत्त्व है, उसमें दृष्टि रखकर, अन्तर्मुख होकर अन्तर्मुख स्वभाव में... अन्तर्मुख स्वभाव है ध्रुव शुद्धभाव, उसे अन्तर्मुख परिणति से दृष्टि में लेकर अनुभव करना, इसका नाम मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया? कठिन बात, भाई!

कहते हैं, ऐसा भगवान आत्मा जिसमें मैल तो अंश भी नहीं। समझ में आया? यह बड़े कर्म के थोक पड़े हैं, बाँधे हैं। परन्तु तुझमें नहीं, सुन न! आहाहा! तेरी दृष्टि से तुझे गहल-पागल बनाया है कि मैं इस वाला हूँ, ऐसा हूँ, इस वाला हूँ, कर्मवाला हूँ, मैलवाला हूँ—ऐसी दृष्टि को पागलदृष्टि, मिथ्यादृष्टि कहते हैं। बसन्तभाई! समझ में आया?

भगवान आत्मा वस्तु है न? तो उसका स्वभाव है न? वह वस्तु और वस्तु का स्वभाव नित्य एकरूप रहता है। उसे ही वास्तविक आत्मा और कारणपरमात्मा कहा जाता है। वह आत्मा वास्तविक है। आहाहा! ऐसे वास्तविक आत्मा के अन्दर में जिसका सदा निरुपरागस्वरूप है... उसका तो सदा उपाधि बिना का स्वरूप है। आहाहा! उपाधि के समीप में होता मैल, उससे रहित स्वरूप है। आहाहा!

ऐसे निरंजन... निरंजन अर्थात् निर्-अंजन अर्थात् निर्दोष। अंजन बिना का। अंजन-आंजण आँख में नहीं आँजते?

मुमुक्षु : लड़कों आँजते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़के और बड़े भी आँजते हैं अभी, काला टीका करने को। वह सुरमा आँजते हैं। लो, यह ठीक कहते हैं। उसको आँजे वह। बड़ा सुरमा आँजे ऐसे। लेते हैं सली? और ऐसे करके घुमावे सवेरे। धूल भी नहीं, सुन न अब।

अन्दर भगवान चिदानन्द प्रभु ऐसा विराजमान अनादि-अनन्त शाश्वत् तत्त्व है। अपना निज, हों! वह निरंजन है—उसे अंजन है नहीं। निरुपराग—रागरहित कहा है, फिर निरंजन कहा अर्थात् कि अंजनरहित निर्दोष, ऐसा। अस्ति से कहा, निर्दोष भगवान आत्मा। वह निर्दोष स्वभाव का पूरा सागर है। ऐसे कैसे जँचे? यहाँ बीड़ी बिना चले

नहीं, तम्बाकू बिना चले नहीं। एक चपटी तम्बाकू हो वहाँ, आहाहा! तृप्त... तृप्त... और चाय-बाय पीकर आवे पाव सेर, डेढ़ पाव सेर का उकाला, तब सुनने में मस्तिष्क ठीक रहे और चाय, उकाला बिना सुनने बैठे तो मस्तिष्क ठीक रहे नहीं। डेढ़ पाव सेर की उकाले से तेरा मस्तिष्क ठीक रहे? ऐसी यह भ्रमणा! उकाला है न, वह क्या है? चाय... चाय... गर्म-गर्म उकालते हैं। दूसरा क्या है, धूल है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तेजी धूल भी नहीं आती। किसे तेजी दे? आहाहा! एक को वहाँ मरने की तैयारी हो, चाय डालने जाये तो यहाँ श्वास अटक जाये एकदम। वह जहाँ डालने जाये वहाँ रग में अन्दर न उतरे, वहाँ पकड़ में आ जाये। फू... जाओ दूसरे स्थान में चाय पीते। समझ में आया? यह चाय तो धूल है चाय। मिट्टी के रजकणों की दशा है। इसके कारण आत्मा को मजा आवे। इसे ऐसा आत्मा है, यह कैसे जँचे? समझ में आया? महेन्द्रभाई! लो, इन्होंने पूछा है बुजुर्ग ने कि परमपारिणामिकभाव और कारणपरमात्मा को जरा स्पष्ट करना। आहाहा!

कहते हैं कि जो स्वरूप है, उसकी तो इशारे की बातें आती हैं यह तो। उसकी व्याख्या सर्वज्ञ भी पूर्ण रीति से वाणी में नहीं ला सकते। आहाहा! समझ में आया?

जो स्वरूप सर्वज्ञ ने देखा ज्ञान में,
कह सके नहीं वह भी श्री भगवान जब।
उस स्वरूप को अन्य वाणी तो क्या कहे?
अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब।
अनुभवगोचर मात्र रहा वह ज्ञान जब।
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा?

लोगस्स में नहीं आता? 'सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु' आता है? बलुभाई! लोगस्स... लोगस्स। लोगस्स आता है। इसमें भी आता है, परन्तु यह लोगों को खबर नहीं। लोगस्स में ऐसा आता है। 'सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु'। हे भगवान! मुझे सिद्धि दिखाओ। आहाहा! दिसंतु अर्थात् दिखाओ। 'सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु'। मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिए। हे प्रभु! आपकी सिद्धदशा मुझे दिखाओ।

मुमुक्षु : दिखाओ, आपका काम यह है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह केवलज्ञान होने पर सिद्धदशा प्रगट दिखाई देती है। मति-श्रुत में परोक्ष रीति से होती है, केवलज्ञान में प्रत्यक्ष सिद्ध (होता है)। वह माँगता है, मुझे सिद्धा दिखाओ। प्रभु! तुम्हारा पद है न दिखाने का? वह तो पद कब देखे? कि केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट करे तब। केवलज्ञान, केवलदर्शन कब होता है? कि मोक्ष का मार्ग प्रगट करे तब। मोक्षमार्ग प्रगट कब होता है? कि ध्रुव का अवलम्बन करे तब।

मुमुक्षु : ध्रुव का अवलम्बन कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो पूछा, ध्रुव का अवलम्बन कब? कि पुरुषार्थ करे तब। कहो, समझ में आया? बाहर का झुकाव बदलकर अन्तर के झुकाव में करे, तब। वळण समझ में आया? झुकाव। बाहर का झुकाव है, उसे अन्दर का झुकाव करे। आहाहा! मार्ग तो ऐसा है, भाई! ऐसा मार्ग सर्वज्ञ वीतराग के अतिरिक्त कहीं नहीं हो सकता। समझ में आया? प्रभु स्वयं सर्वज्ञस्वभावी ध्रुव है न, ऐसा कहते हैं यहाँ तो।

पूर्ण स्वभाव है, इसका अर्थ क्या? सर्वज्ञ की एक समय की पर्याय तो कहीं रह गयी। ऐसे-ऐसे सर्वज्ञ का सर्वज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... ज्ञ... उपयोग, त्रिकाली उपयोग, त्रिकाली ध्रुव उपयोग। यह नियमसार में ही आता है न पहला? त्रिकाल ध्रुव उपयोग। **'सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।'** जिसका ज्ञान और दर्शन का भाव—उपयोग त्रिकाल भगवान आत्मा का है, वह ध्रुव है। समझ में आया? ऐसे आत्मा में सदा **सदा निरुपराग जिसका स्वरूप है—ऐसे निरंजन (निर्दोष)....** अब आया। सेठी! **निज परमात्मतत्त्व को...** यह निज परमात्मतत्त्व कहो या कारणपरमात्मा कहो या परमपारिणामिक (कहो)। परमपारिणामिक अर्थात्? किसी निमित्त के सद्भाव की और अभाव की जिसे अपेक्षा नहीं। समझ में आया? ऐसा एकरूप त्रिकाली भगवान निज परमात्मतत्त्व। देखो! दूसरे भगवान एक ओर रहे। यहाँ तो निज परमात्मतत्त्व... परम तत्त्व भगवान आत्मा कायम रहनेवाला ध्रुव शुद्ध... शुद्ध... शुद्धभाव अर्थात् ध्रुव।

ऐसे निज परमात्मतत्त्व को वास्तव में द्रव्यकर्म के जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट

स्थितिबन्ध के स्थान नहीं हैं। जघन्य अन्तर्मुहूर्त की स्थिति और उत्कृष्ट ७० कोड़ाकोड़ी की इत्यादि-इत्यादि जिसकी जो हो उसकी। और मध्यम उसके सब भाग। ऐसे जघन्य अर्थात् हीन दशा अल्प स्थिति हो कर्म में। और मध्यम, उत्कृष्ट स्थिति, उसके बन्ध के प्रकार के स्थानों का समूह भगवान में है ही नहीं। आहाहा! एक कहे, आहा! ७० कोड़ाकोड़ी की स्थिति कर्म की! समझ में आया? मिथ्यात्व की ७० कोड़ाकोड़ी की स्थिति। एक समय में, हों! कर्म में। अर्थात्? कि ७० कोड़ाकोड़ी सागरोपम। एक सागर के असंख्य भाग में... एक सागर (के असंख्य भाग में) दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम जाते हैं और एक पल्योपम के असंख्य भाग में असंख्य अरब वर्ष जाते हैं। ऐसा एक सागर, दो सागर, हजार-लाख सागर नहीं, करोड़ सागर नहीं, कोड़ाकोड़ी सागर। इतने भी नहीं, ७० कोड़ाकोड़ी सागर। चिल्लाहट मचा जाये न! एक वृद्धा कहती है कि अरर्र! ऐसे सागर! अरे! परन्तु तू अनादि-अनन्त है, उसमें तुझे ७० कोड़ाकोड़ी की गिनती कहाँ था? सुन न! समझ में आया? आहाहा! इतना बड़ा! परन्तु तू कहता है कि इतना बड़ा, उससे भी तू अनादि-अनन्त बड़ा, उसके बिना का है। आहाहा! कहो, समझ में आया? यह तो माल का मार्ग है अभी तो। गाथा ऐसी आयी है न यह सब। नियमसार लिया शुद्धभाव। सवेरे भी आस्रव का अधिकार (चलता) है।

यही कहते हैं कि **निज परमात्मतत्त्व...** अपना परमस्वरूप तत्त्व... परम-आत्म है न? परम-आत्म अर्थात् परमस्वरूप। परमात्मतत्त्व, परमस्वरूपतत्त्व, कायमीतत्त्व, असलीतत्त्व, शुद्धभावतत्त्व, उसे वास्तव में ऐसे द्रव्यकर्म के स्थान नहीं हैं। उसके प्रकार-स्थिति के नहीं हैं। भगवान स्थितिरहित अनादि-अनन्त है, उसमें यह कहाँ से आया? परन्तु ऐसा स्वरूप मेरा है, ऐसा इसे दृष्टि के अन्दर में माहात्म्य नहीं आता। माहात्म्य ले जाता है दूसरे। समझ में आया? या कोई दया, दान के परिणाम और या शुभभाव, वह माहात्म्य ले जाता है। यह हो तो होता है। वह माहात्म्य ले जाता है मिथ्यादृष्टि को। समझ में आया? ऐसा मेरा नाथ प्रभु, सनाथ का नाथ। आता है न, अनाथ का सनाथ? बहुत शब्द कलश में तो आते हैं। समझ में आया?

ऐसा प्रभु पूर्णानन्द से विराजमान ऐसा मेरा निज आत्मा, उसमें यह वस्तु है नहीं। मुझमें नहीं तो अब मुझे फिक्र क्या? ऐसा भाई ने कहा है न? भाई ने कहा है, नहीं?

नियमसार, पद्मप्रभमलधारिदेव ने। एक जगह आता है कलश में। आता है। मुझमें नहीं है। मुझमें विभाव नहीं तो अब मुझे चिन्ता किसकी? ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? कर्म के समीप में उत्पन्न होता भाव, उससे भी जहाँ रहित हूँ, वहाँ मुझे यह है इसकी चिन्ता... यह है और मुझे टालना है, इसकी चिन्ता है नहीं। आहाहा! मूलचन्दभाई! यह तो अजर-अमर की बातें हैं। आहाहा!

यह वहाँ आया था अपने। विचारवान चतुर पुरुषों को गम्य है। कलश में आया था ऊपर। ऐसा आत्मा परन्तु सम्यग्दर्शन को गम्य है, सम्यग्ज्ञान में ज्ञात हो—ऐसा है। समझ में आया? सम्यग्ज्ञानी उसे जान सकते हैं। ऐसा भगवान (आत्मा) उसमें यह कर्म की स्थिति नहीं।

ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों में के उस-उस कर्म के योग्य... उस-उस कर्म के योग्य **ऐसा जो पुद्गलद्रव्य का स्व-आकार,...** स्वभाव अर्थात् आकार। प्रकृतिबन्ध। प्रकृति है न? उसे यहाँ स्व-आकार कहा है। विशिष्ट अलग ही भाषा प्रयोग की है। उसका स्वस्वभाव उसका प्रकृति का स्वभाव। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि उस-उस प्रकृति का उसका आकार, उसका स्वभाव, उसका भाव। **उस-उस कर्म के योग्य ऐसा जो पुद्गलद्रव्य का स्व-आकार, वह प्रकृतिबन्ध है; उसके स्थान...** उसके जितने प्रकार हैं, उतने भगवान **(निरंजन निज परमात्मतत्त्व को) नहीं हैं।** ऊपर के साथ मिलान किया। निरंजन निज परमात्मा भगवान आत्मा में वे प्रकृति के आकार और स्वभाव नहीं हैं। इस कर्म का ऐसा स्वभाव है और ज्ञानावरणीय का स्वभाव ज्ञान को रोके, धूल को रोके और इसे रोके। आहाहा! समझ में आया? कहते हैं कि यह प्रकृति का स्वभाव जड़ में है, यह आत्मा में है नहीं। आहाहा! कठिन बात, भाई! उसके स्थान नहीं।

अब प्रदेशबन्ध कहते हैं। **अशुद्ध अन्तःतत्त्व के....** क्या कहते हैं? कि पर्याय में मलिनता, वह अशुद्ध अन्तःतत्त्व। अन्तःतत्त्व है वह तो शुद्ध है। परन्तु अशुद्ध अर्थात् पर्याय में अशुद्धता, मलिनता वह। **और कर्मपुद्गल के प्रदेशों का परस्पर प्रवेश...** शुद्ध में तो प्रवेश निमित्तपना भी है नहीं। अशुद्धपने के परिणाम और कर्म के प्रदेश—इन दोनों को निमित्त-नैमित्तिक (सम्बन्ध) है। उन्हें प्रदेशों का परस्पर प्रवेश... भगवान

आत्मा है वहाँ अशुद्धता की पर्याय होने पर उसके रजकण आवे दो-पाँच। इन दो का प्रवेश हुआ उसमें। **कर्मपुद्गल के प्रदेशों का...** अशुद्ध अन्तःतत्त्व के भीतर... अशुद्ध अन्तःतत्त्व आता है। दूसरी जगह है। २०५ पृष्ठ पर है। है २०५ पृष्ठ पर। वहाँ **अशुद्ध अन्तःतत्त्व और कर्म पुद्गल का भेद भेदाभ्यास के बल से करता है,...** है, १०६ गाथा। २०५ पृष्ठ। है न? यह तो निश्चयप्रत्याख्यान का अधिकार है न! सच्चा प्रत्याख्यान किसे होता है? कि **अशुद्ध अन्तःतत्त्व और कर्म पुद्गल का भेद भेदाभ्यास के बल से...** उसे प्रत्याख्यान प्रगट होता है। उससे भिन्न पड़कर स्थिर हो, उसे प्रत्याख्यान होता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : २०५ पृष्ठ। १०६ गाथा। २०५ पृष्ठ कहा, फिर कोई प्रश्न रहता नहीं। समझ में आया? वहाँ यह है, अशुद्ध अन्तःतत्त्व और पुद्गल—दो का... देखो! यहाँ अशुद्ध अन्तःतत्त्व और पुद्गलों का प्रवेश इकट्ठा किया। वहाँ अशुद्ध अन्तःतत्त्व और पुद्गल—इनका भेद करके अन्दर में स्वभाव में जाये और स्थिर हो, उसे प्रत्याख्यान प्रगट होता है। वह प्रत्याख्यान ऐसे हाथ जोड़कर यह किया, इसलिए (कुछ) प्रत्याख्यान नहीं होते। बलुभाई! वर्षीतप किया था न बलुभाई ने? कहो, समझ में आया?

अशुद्ध अन्तःतत्त्व... अर्थात् दो बातें लीं। एक अन्तःतत्त्व तो शुद्ध त्रिकाली है, परन्तु उसकी पर्याय में अशुद्धता और कर्म पुद्गल, (ऐसे) दो का प्रवेश—दो को सम्बन्ध होता है, ऐसा कहते हैं। वस्तु को सम्बन्ध नहीं होता। अशुद्ध—मलिन भाव और कर्मप्रदेश—इन दो को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है। इसलिए इन्हें प्रवेश कहा अन्दर। अशुद्ध पर्याय में... अन्दर अशुद्ध पुद्गल प्रवेश करता है अर्थात् (एक) क्षेत्रावगाह में ऐसे अन्दर जाता है। समझ में आया? ऐसा जो भाव वह कर्मपुद्गल के प्रवेश, वह प्रदेशबन्ध के उसके जितने प्रकार, वे निरंजन निज परमात्मा को नहीं हैं। वे अनन्त प्रदेश और एक-एक प्रकृति के अनन्त (प्रकार) ओर ऐसे अनन्त स्कन्ध और उन सब प्रदेश की संख्या का माप जड़ में रहा, आत्मा में है नहीं। अब आत्मा असंख्यप्रदेशी, वह अनन्त प्रदेशी का एक स्कन्ध, ऐसे-ऐसे अनन्त स्कन्ध। आहाहा! समझ में आया? कहते हैं, ऐसे भगवान निज परमात्मतत्त्व, शुद्ध आनन्दकन्द का कारणतत्त्व। वह कारणतत्त्व स्वयं, ऐसा। उसे (कर्म के) प्रदेश के प्रकारों के स्थान नहीं हैं। समझ में आया?

शुभाशुभकर्म की निर्जरा के समय... अब अनुभाग लेते हैं, अनुभाग। वह शुभाशुभकर्म जब खिरता है न, उस काल में सुख-दुःख फल देने की शक्ति है न कर्म में? ऐसा जो अनुभाग—पाक—विपाक... कर्म का विपाक—कर्म का अनुभाग भगवान आत्मा में नहीं है। समझ में आया? आहाहा! भाई! कर्मविपाक आता है कठोर, अनुभाग आवे न... प्रकृति तो सामान्य स्वभाव है, यह विशेष है अनुभाग। फल देने में यह मूल है, कहते हैं। परन्तु वह वस्तु में—आत्मा में नहीं तो किसे फल देगा? कहते हैं। यहाँ कहते हैं। शोभालालजी! यह तो धर्मकथा आत्मा की है, इसलिए यह कथा तो अलौकिक अगम्य वस्तु है। ज्ञानगम्य हो, परन्तु साधारण विकल्प से, वह गम्य नहीं है।

ऐसा जो भगवान आत्मा उसे, कहते हैं कि सुख-दुःखरूप फल देने की शक्ति का अनुभाग आत्मा में है ही नहीं। इसका **भी अवकाश नहीं...** ऐसी भाषा ली है। अवकाश... वहाँ स्थान को अवकाश नहीं, कहते हैं। भगवान चिद्घन पड़ा है। नकोर निबड अनन्त गुण का पिण्ड एकरूप आत्मा। आहाहा! कहते हैं कि ऐसे अनुभाग के प्रकार (जो) शुद्धभाव में नहीं, उसकी दृष्टि करना, उसे पकड़ना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया? इसका नाम मोक्षमार्ग का वर्णन है न यह? गजब!

और... अब अन्तिम मुद्दा यह आता है न? **द्रव्यकर्म तथा भावकर्म के उदय के स्थानों का...** यह जड़ के उदय के असंख्य प्रकार या अनन्त प्रकार और भावकर्म के असंख्य प्रकार। पुण्य-पाप के हैं न विकल्प? ऐसे **उदय के स्थानों का भी अवकाश...** भगवान ध्रुव आत्मा में है नहीं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा निज परमात्मतत्त्व ध्रुव शुद्धभाव तत्त्व, कारणपरमात्मा को दृष्टि में लेना और उसमें दृष्टि को पसारना, इसका नाम मोक्षमार्ग है। समझ में आया? कठिन भाई यह! कहाँ रखना दृष्टि? कहते हैं कि ऐसे ध्रुव पर रखना, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ध्रुव पर दृष्टि रखने से दृष्टि स्थिर होगी। अध्रुव पर दृष्टि रखने से दृष्टि स्थिर कहाँ रहेगी? आहाहा! समझ में आया? द्रव्यकर्म और भावकर्म के... ओहोहो! उदय के समूह-स्थान-प्रकार भी निरंजन निज परमात्मतत्त्व में नहीं है।

इस प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में ११वें श्लोक द्वारा) कहा है कि— लो, ११वाँ श्लोक है

यह। १४वीं गाथा का है न? १४वीं गाथा का। अब तो यह दूसरे भी बातें करने लगे इसमें से निकालकर। अमर भारती में है, भाई! स्थानकवासी में। तुम्हारे कब यह था? अबद्धस्पृष्ट। यह अबद्धस्पृष्ट आया है आज। आत्मा अबद्धस्पृष्ट है, फलाना.. फलाना.. समझे न? ऐसी ज्ञान की क्रिया। वह भी तुम्हारे थी कब यह? तुम्हारे तो यह अपवास करना, व्रत पालना, यह करना, वह करना... अबद्धस्पृष्ट ऐसा आत्मा है। लिखता है कोई है, गिरधर कोई है।

(मालिनी)

''न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावदयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्॥''

अरे! जगत के प्राणी! **जगत मोहरहित...** जगत अर्थात्? जगत में रहनेवाले आत्माओ, ऐसा। कहते हैं न कि यह मुम्बई आया। कहा न? मुम्बई आता होगा? यह तो मुम्बई आया अभी कहा न? बस आयी न, बस? कहे, मुम्बई आ गयी। बलुभाई! वह मुम्बई नहीं, परन्तु मुम्बई के रहनेवाले हैं। उसके वासी—बसावट करनेवाले लोग, ऐसा। इसी प्रकार जगत नहीं, परन्तु जगत में बसावट करनेवाले जीव। हे जगत के जीवो! देखो! आचार्य सम्बोधन करके (कहते हैं)। हे जगत के जीवो! **मोहरहित होकर...** क्षणिक भ्रमणा छोड़कर... कहीं मुझे ठीक है, पर्याय में ठीक है, राग में ठीक है, निमित्त में ठीक है—ऐसी उत्कण्ठित—उत्साहित दशा दृष्टि, वह मोह है। ऐसा मोहरहित होकर... कैसा होना? और ऐसा कहते हैं। ऐसा कर न यह? मोहसहित है, उसे मोहरहित होकर दृष्टि कर आत्मा में, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

हे जगत! **मोहरहित होकर सर्व ओर से प्रकाशमान...** अकेला चैतन्य भगवान प्रकाश... प्रकाश... ज्ञान के प्रकाश के नूर का पूर। समझ में आया? **सर्व ओर से प्रकाशमान...** ऐसा। **ऐसे उस सम्यक् स्वभाव का ही अनुभवन करो...** एक त्रिकाली ज्ञायकभाव का अनुभव करो। अनुभव, वह पर्याय है और त्रिकाल स्वभाव, वह त्रिकाली ध्रुव है। समझ में आया? कठिन काम! यहाँ तो कहे, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, वह

समकित; नौ तत्त्व की श्रद्धा, वह समकित। समकित तो बहुत सस्ता और सरल। कितने ही ऐसा कहते थे कि इन सोनगढ़वालों ने समकित को बहुत महँगा कर दिया। सोनगढ़ में (और दूसरे में) अन्तर कहाँ? यह तो वस्तु का स्वभाव है। समझ में आया?

भगवान आत्मा त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु ऐसा जो सम्यक् स्वभाव, उसे ही अनुभव करो। आहाहा! जिसमें कर्म के रस, स्थिति, प्रदेश आदि नहीं और जिसमें पूरा अखण्ड आनन्द आदि स्वभाव है, उसे अनुभव करो। आहाहा! वह अनुभव करनेयोग्य है। उसे अनुभव करना, वह धर्म है। ऐसे त्रिकाली स्वभाव को अनुभव करना, वह मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया?

अनुभव चिन्तामणि रत्न, अनुभव है रसकूप,
अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्षस्वरूप।

आहाहा! भगवान ध्रुवस्वभाव के किनारे जा न, कहते हैं। इस बाहर में वर्तता है न राग में। वह तेरा प्रेम बाहर में लुटता है, वह प्रेम अन्दर में डाल न! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वतन्त्र है ही। स्वयं है ही। सहज तो वही है। यह तो कृत्रिम... विकल्प आदि ये तो कृत्रिम विकार है। समझ में आया?

अरे! **ऐसे उस सम्यक् स्वभाव का 'ही' अनुभवन...** समझ में आया? **जिसमें यह बद्धस्पृष्टत्व आदि भाव उत्पन्न होकर स्पष्टरूप से ऊपर तैरते होने पर भी,...** देखो! राग-द्वेष की पर्याय एक समय की ऊपर तैरती होने पर भी। अरे! निर्मल पर्याय भी ऊपर रहने पर भी अन्दर प्रवेश नहीं पाती। समझ में आया? पाँच बोल है न अबद्धस्पृष्ट आदि के। १४वीं गाथा में, १५ वीं गाथा में। वे भाव **स्पष्टरूप से ऊपर तैरते होने पर भी,...** प्रगट ऊपर रहते हैं। भगवान अन्तर ध्रुव में वे प्रवेश नहीं करते। **ऊपर तैरते होने पर भी, वास्तव में स्थिति को प्राप्त नहीं होते।** प्रतिष्ठा नहीं पाते, ऐसा। समझ में आया? है न यह? **'यत्र प्रतिष्ठाम्'** ऐसे प्रतिष्ठा नहीं पाते, उन्हें आधार नहीं मिलता। ऊपर-ऊपर (रहते हैं)। वस्तु ध्रुव-ध्रुव नित्यानन्द ऊपर पर्याय और राग तैरते हैं, अन्दर में जाते नहीं। ऐसे भगवान आत्मा का अनुभव करना, उसे अनुसरकर निर्मल दशा का परिणमन करना, इसका नाम मोक्ष का मार्ग और धर्म है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल २, शनिवार, दिनांक - १३-०९-१९६९
गाथा-४१, श्लोक-५६-५७ प्रवचन-३६-५

यह नियमसार शास्त्र चलता है, इसका शुद्धभाव अधिकार। नियमसार अर्थात् आत्मा की दशा में मोक्षमार्ग प्रगट होना, उसे नियमसार कहते हैं (कि जो) नियम से जो कर्तव्य है। जो आत्मा त्रिकाली शुद्धभाव... यह शुद्धभाव अधिकार चलता है न? त्रिकाली शुद्धभाव, ध्रुवभाव, उसका अवलम्बन करने से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा प्रगट हो, उसे नियमसार अथवा मोक्षमार्ग कहते हैं। समझ में आया? यह मोक्षमार्ग किसमें से—किसके ध्येय से प्रगट होता है, यह अधिकार चलता है। समझ में आया?

देखो! यह गाथा आयी है। ५६ कलश। ५५ गया। ५६ कलश है इसका—४०वीं गाथा का।

(अनुष्टुभ्)

नित्यशुद्धचिदानन्दसम्पदामाकरं परम्।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम्॥५६॥

क्या कहते हैं? जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, उसका ध्येय क्या? कि **जो नित्य शुद्ध चिदानन्दरूपी सम्पदाओं की उत्कृष्ट खान है...** आत्मा है ध्रुव। समझ में आया? जो सम्यग्दर्शन प्रगट करना है, वह सम्यग्दर्शन कोई निमित्त में से नहीं आता। तथा कोई दया, दान के विकल्प—राग है, उसमें से नहीं होता तथा एक समय की वर्तमान प्रगट अवस्था में से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। समझ में आया?

जो ध्रुव चिदानन्दस्वरूप नित्य शुद्ध—सदा का शुद्ध भगवान ध्रुव, शुद्धभाव, परमपारिणामिकस्वभाव, कारण आत्मा अथवा कारणपरमात्मा, ध्रुव कारणजीव। वह जीव कैसा है? नित्य शुद्ध है। एक समय की वर्तमान हालत बिना का। पुण्य-पाप बिना का तो है, कर्मादि परपदार्थ के अभावस्वभावस्वरूप है। अभावस्वभावस्वरूप है, परन्तु एक समय की जो प्रगट अवस्था उत्पाद-व्यय की, उस अवस्था से भी दूर रहा हुआ तत्त्व है। समझ में आया? अर्थात् कि वह अवस्था में आता नहीं, तथा वह अवस्था उसके ध्रुव में एकमेक प्रविष्ट नहीं होती।

ऐसा **जो नित्य शुद्ध चिदानन्दरूपी सम्पदाओं की...** जिसमें ज्ञान और आनन्द की सम्पदा है, उसकी वह **उत्कृष्ट खान है...** लो, यह पैसे की खान आयी। सेठ! यह सम्पदा की खान। चैतन्य आनन्द, ऐसा है न? देखो! चिदानन्द। चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द अर्थात् सुख। ऐसा नित्य भगवान ध्रुव, सामान्य एकरूप, अवस्था—वर्तमान पर्याय से खाली, परन्तु अपने आनन्द और ज्ञान की सम्पदा से भरपूर। समझ में आया? ऐसी चिदानन्दरूपी सम्पदा, सम्पाद—लक्ष्मी, उसकी उत्कृष्ट खान है। खान है ऐसा कहते हैं, खान। खान को खोदते हुए चाहे जितना निकालो तो भी कम नहीं होता। बाहर का तो समाप्त हो जाता है, परन्तु यह समाप्त नहीं होता। आहाहा! भगवान ज्ञान और आनन्द जिसका नित्य शुद्ध कायमी चिदानन्दस्वभाव है। वह चिदानन्द की—ज्ञान और आनन्द की—उत्कृष्ट ध्रुवस्वरूप यह शुद्धभाव खान है। समझ में आया?

और... इसके सामने गुलाँट खाता है अब। जो सम्पदा का स्थान है, तब **विपदाओं का अत्यन्तरूप से अपद है... 'उच्चैरपदं'** रागादि की आकुलता की आपदा अर्थात् विपदा का उसमें बिल्कुल अभाव है। विपदा का अपद है। अत्यन्तरूप से अपद है, ऐसा शब्द प्रयोग किया है। भगवान आत्मा शुद्ध नित्यानन्द प्रभु जो शाश्वत् है, वह अपने आनन्द और ज्ञान की सम्पदाओं से उत्कृष्ट भरपूर खान है कि जिसमें नजर डालने से शान्ति, सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि अवस्था प्रगट होती है। भारी कठिन, बात! कहो, रतिभाई! लो, यह सम्पदा की बात आती है यह। जगत की सम्पदा, वह आपदा का निमित्त है। यह पैसा और धूल जो यह कहलाते हैं वह। शोभालालजी! यह सब पैसेवाले कहलाते हैं या नहीं? वह आपदा की सखी है। है न? योगसार में। योगसार में से निकाला था। लक्ष्मी, वह विपदाओं की सखी है—सहेली है। नवनीतभाई! देखो न, सिद्ध होता है न कि परवस्तु है, उसका जहाँ लक्ष्य होता है, तो राग और आकुलता ही उत्पन्न होती है। इसलिए लक्ष्मी तो विपदा की सखी है, सखी है—सहेली है। समझ में आया?

भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द और ज्ञान की सम्पदा की उत्कृष्ट खान है। ऐसा जो नित्य प्रभु... कहो, मास्टर! यहाँ तो पर्याय नहीं, अब ऐसा चलता है। दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प, वे तो उसमें नहीं, वह चीज तो दूर रह गयी। परन्तु उसकी जो निर्मल परिणति—वर्तमान पर्याय—एक समय की अवस्था से भी भिन्न तत्त्व, ध्रुव तत्त्व है। वह

ध्रुव तत्त्व सम्पदाओं की उत्कृष्ट खान है और विपदाओं का अत्यन्त अपद है, अर्थात् विपदा के लिये वहाँ जरा भी स्थान नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

नित्यानन्द भगवान सच्चिदानन्द प्रभु अपना निज स्वरूप है, उसमें अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान का तो उत्कृष्ट निधान—खान है और उसमें विपदा का बिल्कुल स्थान नहीं। विपदाओं का अत्यन्त '**उच्चै**' कहा है न? आहाहा! समझ में आया? कहो, नटुभाई! समझ में आता है या नहीं यह? क्या है यह वह भी कठिन! ऐसा आत्मा कहीं हाथ नहीं आया अनादि से। अरे! भाई! वह तो अनादि का है। तुझे हाथ नहीं आवे... बिल्ली के बच्चे को सात-सात दिन में उनकी माँ फिराती है। फिर आँख उघड़ती है, तब दिखता है कि ओहोहो! यह पृथ्वी कब की है, यह देखता है वह? तेरी आँखें नहीं थीं तो भी वह तो है। वह कहीं नयी नहीं है। इसी प्रकार तुझे नजर में न आवे, इससे वस्तु का अभाव हो जाये, ऐसा नहीं है। नित्यानन्द प्रभु है, वह तो। आहाहा! इसने अनन्त काल में पुण्य-पाप की क्रियायें अनन्त बार कीं, परन्तु वह वस्तु पुण्य, पाप और एक समय की अवस्था बिना का नित्यानन्द सम्पदाओं का घर और आपदाओं का अस्थान है। उसके तत्त्व पर इसने कभी नजर नहीं की। समझ में आया?

कहते हैं कि वह तो **विपदाओं का अत्यन्तरूप से अपद है...** आहाहा! नरक के स्थान में रव रव नरक में जाये (तो) अकेली आपदा पर्याय में उत्पन्न होती है। समझ में आया? यह निजानन्द पद में यदि जाये, तो विपदा और आपदा जहाँ जरा भी नहीं, ऐसी सम्पदा का स्थान भगवान (आत्मा) है, वहाँ नजर कर न! उसमें नजर पहुँचा न, ऐसा आत्मतत्त्व, उसके अन्तर में स्वसन्मुख होकर विश्वास कर न! तुझे पूरा आत्मा नजर में, श्रद्धा में, प्रतीति में आवे, तब उसे सम्यग्दर्शन और धर्म हुआ, ऐसा कहने में आता है। कहो, समझ में आया? मूलचन्दभाई! विपिन को कहते थे सवेरे। क्या कुछ कहते थे न? कायापलट हो गयी धर्म की। कायापलट। सवेरे कहते थे। पुण्य से, क्रिया से धर्म मानते थे। यह तो कायापलट... काया क्या कहते हैं? कायाकल्प कहते हैं न? ८० वर्ष का हो, ९० वर्ष का हो। ऐसा सब... कायाकल्प करे। सब बदल डाले। कुछ कहते हैं। ... घूमना यह तो... घूमे नहीं और मर जाये उसमें करने जाये वहाँ।

यह तो पूरा भगवान आत्मा जो कुछ पुण्य और पाप के परिणाम में अटका हुआ

और वह मेरी चीज़ है, ऐसा जाना, वह तो विपरीत आत्मा का रूप हो गया। वह तो कायापलट गुलाँट खाता है। व्यवहार के वर्तन का जो विकल्प है, पंच महाव्रत व्रतादि का, वह भी जिसमें नहीं। वह विकल्प है, वह भी आपदा का स्थान है। समझ में आया? ऐसा निजानन्द भगवान जिसमें विपदा को स्थान नहीं।

ऐसे इस पद को... पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं। आचार्य नहीं। यह ठीका करनेवाले। **इसी पद को मैं अनुभव करता हूँ।** अपनी बात भी साथ में (करते हैं)। आहाहा! अब इनकी टीका को पास नहीं करते कितने ही, क्योंकि उन्हें बैठती नहीं। निरपेक्ष तत्त्व को बताती है। कारणपरमात्मा भगवान त्रिकाली शुद्ध ध्रुव नित्यानन्द उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। उस उत्पाद-व्यय की वर्तमान अवस्थारहित तत्त्व, ऐसे ध्रुव को सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये राग और विकल्प की अपेक्षा बिना वह प्रगट होता है, उसे सम्यग्दर्शन में अपेक्षा ध्रुव की रहती है। समझ में आया? अभी तो चौथा गुणस्थान सम्यग्दर्शन-धर्म की पहली सीढ़ी। आहाहा! वहाँ तो धर्म धर्म हो गया जगत में, अभी यह भान बिना। समझ में आया?

कहते हैं कि **इसी पद को...** ऐसा जो शुद्ध चैतन्य है, ध्रुव है, उसे मैं अनुभव करता हूँ। अनुभव करता हूँ, यह पर्याय है। बात कहते हैं कि इसी पद को मैं अनुभव करता हूँ। क्या कहते हैं, समझ में आया? पद तो ध्रुव है। ध्रुव का वेदन नहीं होता, अनुभव नहीं होता, परन्तु अनादि के पुण्य और पाप के विकल्प का वेदन जो दुःखरूप था, उसके बदले इस ध्रुव पर नजर जाने से उसे ध्रुव का वेदन है, ऐसा कहने में आता है। उस राग का वेदन टलकर, भगवान ध्रुव चिदानन्द का सागर, उस पर नजर पड़ने से जो परिणति खड़ी हुई, यह कहते हैं कि अनुभव तो पर्याय का होता है। समझ में आया? परन्तु ध्रुव के लक्ष्य से प्रगट हुई, इसलिए उसे मैं अनुभव करता हूँ, (ऐसा कहते हैं)। आहाहा!

जिसके आत्मा के आनन्द के अनुभव के समक्ष इन्द्र के इन्द्रासन, जिसके शरीर अन्नरहित। समझ में आया? अन्नरहित पोषण जिन्हें वैक्रियिकशरीर है इन्द्राणियों को और इन्द्रों को। यह तो धान का ढोकला है। धान ठीक (मिले) तो शरीर व्यवस्थित रहे। नहीं तो ऐं... ऐं... हो जाये। जवानी हो तो भी दो, पाँच, दस (दिन) जहाँ.... क्या

कहलाता है ? टाईफाइड होता है न ? ...एक सप्ताह, दो सप्ताह, फिर मिटा या नहीं ? तीन जाते हैं, तीन मिटा नहीं, चार जाते हैं। करते-करते चार और पाँच सप्ताह। पच्चीस वर्ष का जवान हो वह ऐं... ऐं... (करता हो)। यह तो वैक्रियिकशरीर इन्द्र और इन्द्राणियों को। समझ में आया ? तथापि वह सुख नहीं है, वहाँ उसमें बाहर में। समझ में आया ? यह पद... सुख नहीं उस पद में। यह निजानन्द पद भगवान आत्मा, उसे अनुभव करता हूँ, कहते हैं। वह अनुभव जो है इन्द्राणी आदि का, वह तो राग का अनुभव है और कोई पंच महाव्रत के परिणाम आदि हों और उन्हें वेदन करे, वह भी आकुलता—कषाय का वेदन है, कषाय का अनुभव है, वह आत्मा का नहीं। आत्मा का अनुभव... चिदानन्द प्रभु ध्रुवस्वरूप है, उसमें नजर डालकर जो पर्याय प्रगट होती है अथवा परिणमती है, उसमें मैं यह ध्रुव के लक्ष्य से वेदन करता हूँ अर्थात् ध्रुव को यह... पाठ ऐसा है न ? **इसी पद का मैं अनुभव करता हूँ।** पद तो ध्रुव कहा पहले नित्य और शुद्ध ध्रुव। समझ में आया ?

ध्रुव का वेदन नहीं होता, परन्तु उस ध्रुव की ओर के झुकाववाला वेदन, वह ध्रुव का है, ऐसा यहाँ कहा है। आहाहा! जिसमें अमृतरस झरता है, वह अमृत का सागर कहा न ऊपर ? सुख-आनन्द। आनन्द का सागर भगवान आत्मा की दृष्टि करने से अमृत झरता है। वे अमृत के घूंट झरते हैं, कहते हैं। तृषा लगी हो और पीते हैं न पेय ? मौसम्बी या आईसक्रीम या कुछ कहते हैं न सब ? लड़के बहुत चूसते हैं ऐसे। आहाहा! यह तो अब भगवान आत्मा को चूसो, यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया ? चूसना समझते हो न ? चूसना, क्या कहते हैं हिन्दी में ? चूसना कहते हैं ? आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि मैं आत्मा को चूसता हूँ। आहाहा! उसमें अमृत भरा है न! उसे मैं स्वस्वभावसन्मुख होकर अनुभव करता हूँ। वह मेरा धर्म है, वह मेरी दशा है, उसे अनुभव करता हूँ, यह नियमसार है, यह मोक्ष का मार्ग है। सेठ! यह सब पैसे-पैसे तुम्हारे हैं, उसमें कुछ धर्म नहीं, उससे धर्म नहीं होता, ऐसा कहते हैं। इसलिए रखना, ऐसा ? .... अर्थात् क्या कहा ? रखता है कौन और देता है कौन ? उसके कारण से आते और उसके कारण से जाते हैं। बीच में ममता करे कि मैंने ऐसा ध्यान रखा, इसलिए आये और मैंने ऐसे राग मन्द किया, इसलिए पैसे गये, ऐसा है नहीं। समझ में आया ? आहाहा!

देखो न! संक्षेप में एक सम्पदा का स्थान (और) अपदा-विपदा का अस्थान। अपद अर्थात् अस्थान। वहाँ विपदा खोजने से मिले, ऐसा नहीं है, ऐसा वह भगवान आत्मा ध्रुव स्थान है। अरे! वहाँ क्यों रुचि नहीं करता? आया था या नहीं? आया था कल। समझ में आया? उसमें कल आया था, ५५ कलश में। ५५ में। अरे! ऐसे आत्मा की रुचि नहीं करता, भगवान! तुझे पोषाये ऐसा माल आत्मा में है न! देखो! ४० गाथा के ऊपर है। **ऐसे आत्मा की रुचि क्यों नहीं करता?** यह ५६ हुआ। कलश ५६।

५७ (कलश)।

(वसंततिलका)

यः सर्व-कर्म-विष-भूरुह-सम्भवानि,
मुक्त्वा फलानि निजरूपविलक्षणानि।
भूङ्क्तेऽधुना सहज-चिन्मय-मात्म-तत्त्वं,
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति सन्शयः कः॥५७॥

अरे! **श्लोकार्थः—(अशुभ तथा शुभ) सर्व कर्मरूपी विषवृक्षों से...** यह पुण्य और पाप विष के वृक्ष हैं। सर्व कर्म कहा है, इसलिए फिर कहीं पुण्य बाकी नहीं रखा जाता बाहर। यह तो आ गया पुण्य-पाप में। सर्व कर्म का निषेध है, फिर उसमें पुण्य और पाप में अन्तर क्या रहा तब? आहाहा! भेद (करना वह) उन्माद है, गहलताई है, भगवान! पागल हुआ है कि पुण्य के परिणाम शुभ ठीक और पाप के अठीक। उन्माद, गहलता, मिथ्यात्व का जोर है। कहो, पोपटभाई! आहाहा! यह पैसे की धारा होती हों, बारह महीने में पाँच-पाँच लाख पैदा करे, दस-दस लाख पैदा करे। आँखें फट जाये। यह कहते हैं, धूल भी नहीं वहाँ, सुन न! ऐई! चिमनभाई! प्रतिकूलता आवे तब ऐं... ऐं... हो जाता है। आहाहा! इस प्रतिकूलता में द्वेष हो, वह दुःख है और अनुकूलता के समय हर्ष हो, वह भी आकुलता की अग्नि सुलगती है। समझ में आया?

भगवान! **सर्व कर्मरूपी विषवृक्षों से उत्पन्न होनेवाले,...** जहर के वृक्ष... कर्म जहर का वृक्ष और पुण्य-पाप भी जहर का ही वृक्ष है, कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा अमृतस्वरूप है, तब पुण्य और पाप दोनों जहर है। अरे! यह तो पुण्य के परमाणु पके हों न, उसका कुछ फल आवे न, तो प्रसन्न-प्रसन्न (हो जाता है), आहाहा! अभी

हमारे बादशाही है। रतिभाई! आहाहा! उसमें दो-दो अरब रुपये, ढाई-ढाई अरब रुपये जहाँ सुने बनिया, मेरे घर में। बड़ा दु:खी है।

मुमुक्षु : पैसे के प्रमाण में दु:ख है?

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसे के प्रमाण में दु:ख किसने कहा? उसकी ओर के झुकाव में आकुलता के कारण से दु:ख है। कहो, समझ में आया?

सर्व कर्मरूपी विषवृक्षों से उत्पन्न होनेवाले,... अरे! यह तो ठीक परन्तु **निजरूप से विलक्षण ऐसे फलों को छोड़कर...** भगवान तो आनन्दस्वरूप है न, प्रभु! उसका निजफल तो आनन्द और शान्ति है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र होने से वह निज के अन्तर में तो आनन्द है। चारित्र, वह आनन्द है; सम्यग्दर्शन, आनन्द है; ज्ञान, वह आनन्द है। लोग कहते हैं कि चारित्र पालकर तो देखो। (चारित्र अर्थात्) यह वह बाहर की क्रिया। अब सुन न! आहाहा! समझ में आया? ऐसी क्रिया भी की थी पहले। यह न करे, ऐसी क्रिया थी कठोर। १५-१५ वर्ष पानी की बूँद न मिले प्रतिदिन। समझ में आया? एक पानी की बूँद में निगोद के असंख्य जीव। भिक्षा के लिये—आहार के लिये जायें, ख्याल आवे कि यह पानी तो हमारे लिये बनाया (प्रासुक किया) है। ... दे। पूरे दिन पानी बिना चलावें। छाछ और रोटी। परन्तु उसमें क्या है अब उस क्रिया में? धूल में भी नहीं। समझ में आया? ऐसे तो १५-१५ वर्ष बिताये। (संवत्) १९७० से १९८५। ऐई! बलुभाई! तब तो बलुभाई के सम्प्रदाय में थे न!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नारणसेठ थे। सेठ थे। वह तो ... आटकोट में उनके पिता सेठ, नारणसेठ थे। देखा हो नारणसेठ को। पहले आये थे न जब, तब थे वृद्ध। आहाहा!

कहते हैं, बापू! उस क्रिया में क्या है? पानी का एक बिन्दु ओस का पड़ता हो, ख्याल में आवे ऐसे। भिक्षा के लिये नहीं निकलते थे। पण्डितजी! पानी की बूँद ऐसी मच्छ जैसी लगे न कुछ। मच्छर जैसा समझते हो? मच्छर जैसा ऐसे लगे न ऐसे देखें कहीं ऐसा, तो भिक्षा के लिये नहीं निकलें। एक-एक दिन, दो-दो दिन तक ऐसे पानी बिना के, आहार बिना के चलाये हैं। समझ में आया? परन्तु उससे क्या, वह वस्तु है?

वह वस्तु है ? वह तो राग की मन्दता हो इस प्रकार... हो। यहाँ तो वर्षा की छींटे गिरती हों तो भी आहार लेने और भिक्षा के लिये निकले। जिसमें छह काय की हिंसा है। एक पानी की बूँद में असंख्य जीव हैं, अनन्त निगोद के जीव हैं। सच्चा साधु हो, वह एक बिन्दु भी ऐसे झरता दिखाई दे कहीं मच्छर जैसा, (तो) भिक्षा के लिये नहीं निकलें। समझ में आया ? ऐसी अन्तर समता और आनन्द की लहर में जिसे बाहर की प्रतिकूलता का दुःख नहीं लगता। आहाहा! कहो, समझ में आया ?

कहते हैं, अरे! भगवान आत्मा, यह तेरे घर में अमृत की नारियली। श्रीमद् कहते हैं एक पत्र में, लोगों ने तो शक्कर के नारियल की महिमा की है। शक्कर का नारियल। यहाँ तो अमृत की सचोड़ी नारियली है। नारियली समझते हो न ? श्रीफल। अमृत के श्रीफल पकें, ऐसा भगवान आत्मा। उसे खबर कहाँ है ? समझ में आया ? यह शरीर की जवानी पासडा जैसा लगे, रोग न हुआ हो, न हुआ हो, होता न हो, होने की भविष्यवाणी न हो। ऐसा निरोग शरीर पुष्ट शरीर हो और उसे ऐसा लगे कि आहाहा! क्या करें मानो ? विषय सेवन कर क्या करें ? अरे! भगवान! यह तो जहर है, बापू! भाई! तेरा अमृत आत्मा वहाँ लुटता है। समझ में आया ? अमृतस्वरूप भगवान उसमें—लूट में आता है। तुझे ऐसा लगता है कि यह तो मजा—सुख है। आहाहा! मिथ्याबुद्धि पर में सुख मानकर मजारूप से मानता है, वह आत्मा के स्वभाव से विलक्षण ऐसे फल को वेदता है।

यहाँ कहते हैं कि उसे छोड़कर... ओहो! शुभ-अशुभ, हर्ष और शोक, ऐसे भाव जो कर्म का फल (है, उसे) छोड़कर... **जो जीव अभी...** भाषा है न ? प्रवचनसार की है न भाई अन्तिम ? अन्तिम। ऐसी शैली ली है। भाई! आज ही कर। प्रवचनसार में आता है अन्त में। अभी ही कर, भाई! काल दूसरा... वायदा करेगा तो व्यर्थ चला जायेगा। अभी नहीं... अभी नहीं... बापू! अभी नहीं, अभी ही। आहाहा! समझ में आया ?

कहते हैं कि **इसी समय सहजचैतन्यमय आत्मतत्त्व को भोगता है,...** आहाहा! सहज स्वाभाविक चैतन्यमय आत्मा। भाषा देखो! आत्मा, वह द्रव्य—तत्त्व है, उसका चैतन्यमय स्वरूप है। अकेला ज्ञानमय, ज्ञान का सूर्य, अरूपी ज्ञान का महा तेजस्वी प्रकाशित जलहलता चैतन्यसूर्य आत्मा है। समझ में आया ? कहते हैं, अरे! **इसी समय... 'अधुना' 'अधुना'** है न ? **'अधुना'** है, भाई! अनन्त काल से ऐसे दुःख भोगे हैं।

'**अधुना**' —अब तो **सहजचैतन्यमय आत्मतत्त्व को भोगता है,...** आनन्दसागर पर नजर पड़ने से आनन्द का अनुभव होता है, वह आत्मतत्त्व को भोगता है, ऐसा कहने में आता है। आत्मतत्त्व को भोगता है। अज्ञानी पुण्य और पाप, राग और आकुलता को भोगता है और 'उसमें मजा है' ऐसा मिथ्याभ्रम में भ्रमणा में चढ़ा हुआ अज्ञानी मानता है। धर्मी जीव ऐसे निज आनन्द के फल से विपरीत पुण्य और पाप के भावों को छोड़कर अभी सहज चैतन्य ऐसा तत्त्व, उसे अनुभव करता है। ऊपर 'अनुभव करता है' उसे अनुभव करता हूँ, ऐसा कहा। यहाँ भोगता है, ऐसा कहा।

वह जीव... क्या कहते हैं अब? जो कुछ शुभ-अशुभ परिणाम जहर के परिणाम अथवा कर्म जहर, उसका फल अनुकूल-प्रतिकूल, उसकी ओर का होता हर्ष और शोक, ऐसा जहर, उसे छोड़कर चैतन्यमय आत्मा भगवान वस्तु को जो अनुभव करता है, भोगता है, **अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करता है...** देखो! यह भोगता है, वह मोक्ष का मार्ग है। ध्रुवस्वरूप को निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान से आनन्द को वेदना, आनन्द को अनुभव करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है। समझ में आया? आनन्द का वेदन, इसका नाम भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन अर्थात् बराबर उसे देखा और माना; सम्यग्ज्ञान (अर्थात्) उसे देखा और जाना; सम्यक्चारित्र अर्थात् स्वरूप में रमणता—वह जीव को आत्मतत्त्व का भोगना है। यह भोगता है, वह अल्प काल में केवलज्ञान को पाता है, ऐसा कहते हैं। बीच में व्यवहार पंच महाव्रत आदि के विकल्प आते हैं, वह भोगनेयोग्य नहीं और उनसे मुक्ति होती नहीं। कहो, शोभालालजी! वे संगमरमर के पत्थर, बीड़ियों के पैसे। ऐई! चिमनभाई! उसे क्या? उसे लोहे का है। आहाहा!

देखो! '**अचिरात्**'। ऐसा भगवान आत्मा पुण्य-पाप के विकार के फल को अथवा उसके वेदन को छोड़कर, भगवान आत्मा चिदानन्द ध्रुव के आनन्द को वेदता हुआ अल्प काल में केवलज्ञान को अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है। मुक्ति का यह उपाय है, ऐसा कहते हैं। आत्मा को अनुभव करना, यह मुक्ति का उपाय है। वीरचन्दभाई! आहाहा! यह एक ही उपाय है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : एकान्त हो जाता है। तो सम्यक् एकान्त ही है। बात सच्ची। वे कहें, एकान्त हो जाता है, एकान्त। चिल्लाहट मचाये इसके लिए चिल्लाहट मचाये।

मुमुक्षु : अनुभव मार्ग मोक्ष का।

पूज्य गुरुदेवश्री : 'अनुभव चिन्तामणि अनुभव है रसकूप।' छोटे लड़के थे न खेलते थे? खबर है? मामा का घर कितना? कि दीपक जले उतना। ऐसा कहते थे। खबर है? लड़के खेलते, तब हमारे यहाँ स्कूल में किसान के थे न! रस का कूप, ऐसा कुछ बोलते सही, भूल गये। ऐ बलुभाई! छोटे लड़के खेलते हैं न? ऐसा कुछ बोलते। मैं भूल गया। रस का कूंपा... ऐसा बोलते थे। चला तो आता है खेल में भी ऐसा, हों! वह रस का कूप तो आत्मा। कूंपो अर्थात् समझे? शीशा। यह शीशा होता है न काँच का। रस का कूंपा कुँआ है। आनन्द का कुँआ है, अन्दर डोल डालकर निकालना हो, उतना निकाल। उसमें एकाग्र हो, उतना निकले, उतना निकाल। समझ में आया? धर्मी जीव का धर्म, आत्मा की दृष्टि करके अनुभव करना, वह धर्मी का धर्म है। समझ में आया? कठिन काम, भाई!

'अचिरात्' अल्प काल में मुक्ति प्राप्त करता है... क्रमबद्ध कहाँ गया तब अब? यह तो कहते हैं, अल्प काल में प्राप्त करता है। वह क्रम में ऐसा है कि आत्मा अनुभव करता है, उसे अब अल्प काल में ही केवलज्ञान होता है। ऐसा ही भगवान ने देखा और ऐसा ही क्रम में भाव है। **'अचिरात्'** का अर्थ ऐसा करे। देखो! **'अचिरात्'** कहा है इसमें। एकदम थोड़े काल में मोक्ष जाये। तुम कहते हो कि काल में-काल में ही मोक्ष जाये। जिस समय में मोक्ष जाने का हो, उस काल में जाये। कालनय आता है न? कालनय और अकालनय—दो हैं। प्रवचनसार में अन्तिम नय आते हैं न? ४७। ४७ समझे? ४७। कालनय से मोक्ष जाये, अकाल में मोक्ष जाये, ऐसा है। अरे! सुन न!

अकाल में का अर्थ कि उस समय में दूसरे पुरुषार्थ आदि हैं, उसे अकाल कहा है और जिस समय में हुआ है, उसे काल कहा है। बाकी काल में ही मोक्ष जाये। समझ में आया? जो भगवान आत्मा मुक्तस्वरूप है, उसकी अन्तर्दृष्टि करके, एकाग्र होकर आत्मा को वेदे अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्रगट करे, वह आत्मा को वेदे, उसे

अनुभव करे, उसे थोड़े से काल में केवलज्ञान लेने का क्रम है। उसे लम्बा काल नहीं होता। एक या दो भव में उसकी केवलज्ञानदशा मुक्ति प्रगट होती है। किसी को उस भव में होती है काल हो तो। अभी केवलज्ञान का काल नहीं है। उसे अल्प काल में, मुक्तस्वरूप भगवान को पकड़ने से तो पर्याय में मुक्ति अल्प काल में ही होती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? और पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम को पकड़ने से वह भावबन्ध है, भावबन्ध है। भावबन्ध में मोक्ष का कारण कहाँ से आवे? आहाहा!

इसमें क्या संशय है? देखो, आचार्य-मुनि कहते हैं। ऐसा स्वरूप जो वेदे, उसे अल्प काल में ही मुक्ति है। संशय क्या? समझ में आया? यह अनुभव केवलज्ञान को बुलाता है, ऐसा आता है धवल में। बुलाता है, आओ... आओ... आओ... आहाहा! ऐई! मनुष्य! यहाँ आओ। ऐसा कहते हैं न लोग? ऐई! लड़के! यहाँ आओ। इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि मति-श्रुतज्ञान आत्मा का अनुभव केवलज्ञान को बुलाता है, ऐई! केवलज्ञान लाओ नजदीक में। आहाहा! कहो, रतिभाई! देखो! यह धर्मी के मीठे बोल अन्दर का, हों!

शुभ-अशुभ परिणाम को भिन्न रखकर अपने आत्मा के स्वभाव में अभेदपना जो स्वभाव का है, उसमें अभेद होकर अनुभव करना, उसे अभेदपना केवलज्ञान अल्प काल में प्रगट होगा ही। संशय क्या? भगवान ने कब देखा होगा? भगवान ने कितने भव देखे होंगे? अरे! कितने-फितने (कहाँ) भगवान ने देखे? यह तूने किया तो भगवान ने देखा कि तुझे अल्प काल में केवलज्ञान होगा, ऐसा भगवान ने देखा है, ले। समझ में आया? इसमें सन्देह क्या? संशय को स्थान क्या? आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तैयार ही है। केवलज्ञान पड़ा है अन्दर में, उसकी तो प्रतीति की है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर में आ रहा है। एक बार यह बात चलती थी न, भाई! बहुत वर्ष की बात है। (संवत्) १९८५। लोग बहुत... बोटाद में तो बहुत लोग भरते हैं।

व्याख्यान भी लोगों को कानजीस्वामी वाँचने बैठे हैं, कानजीमुनि बैठे हैं। ढ़ेरों लोग। ८५ के (वर्ष)। चालीस वर्ष पहले की बात है। लोग तो चींटियों की तरह उमड़ते थे। ऐसी बात चलती थी। पाँचवाँ अध्ययन चलता था लोकसार। समयसार का चारित्र का अधिकार था। उसमें ऐसा अधिकार आते-आते... लोग ऐसा बोले कि ओहोहो! महाराज को फिरते केवलज्ञान फिरता है। तब, हों! ४० वर्ष पहले सम्प्रदाय में थे तब।

मुमुक्षु : अब तो बहुत नजदीक आ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अब तो अल्प काल है, अब लम्बा काल है ही नहीं। समझ में आया? यह तो ७२ में कहा था, विवाद आया तब। भगवान ने देखे, उतने भव होंगे, उसके बिना अपने पुरुषार्थ क्या करें? भगवान ने तुम्हारे देखे होंगे, हमारे भव-बव नहीं। ऐई! ७२ के फाल्गुन शुक्ल १३। भव-बव हमारे नहीं। भगवान ने देखे नहीं हमारे भव। देखे कहाँ से? यहाँ भव कहाँ थे? आहाहा! समझ में आया? आहाहा! कहते हैं कि अरे! इसमें क्या संशय? आहाहा! देखो तो सही। लो, यह गाथा पूरी हुई। कितनी हुई यह? यह ४० हुई। तुम्हारे ८० और ४० का था न यह। आया था न ८० और ४०, देखो। पृष्ठ ८० था और गाथा ४० थी।

अब ४१वीं शुरु हुई। यह पाँच भाव की बात करते हैं। अन्दर पारिणामिकभाव भी लेंगे।

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा॥४१॥

गाथा में चार है, टीका में पाँच लेंगे। वे चार समझाने हैं तो पाँचवाँ भी समझाना पड़े न! समझ में आया? उसमें आता है स्तवन में। 'मोटाने उत्संग...' खोळो... खोळो... खोळो समझते हो? उत्संग अर्थात् खोळो। ... माँ के गोद में बैठा हो, उसे भय क्या? भय होगा? गोद में बैठा हो, माँ की गोद में बैठा हो। ऐसा कहते हैं कि हे नाथ! 'मोटाने उछरंग, बैठाने शी चिन्ता, तेम... सेवक थया निश्चिंता।' आहाहा! यह कहते हैं, देखो! 'मोटाने उछरंग बैठाने शी चिन्ता, तुम प्रभु परम प्रसाद सेवक थया निश्चिंता।' आहाहा!

भगवान का जहाँ अनुभव हुआ और दृष्टि जमी, कहते हैं कि अब क्या चिन्ता? बैठे, बड़े की गोद में बैठे हैं यहाँ तो। आहाहा! भगवान के घर में बैठे हैं। जिसमें मोक्ष पके, ऐसे भगवान के घर में हैं, बाहर में हैं नहीं। ऐसा कहते हैं, समझ में आया? ऐसे प्रभु... आता है। करण कषाय भक्ति कषाय... बाहर से बात है। श्रीमद् ने लिखा है। रतिभाई! श्रीमद् में आता है न?

अशेष कर्म का भोग है, भोगना अवशेष रे।
इससे देह एक धारकर जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे॥

ऐसे अन्तर होने पर देखते देखते हैं।

अशेष कर्म का भोग है, भोगना अवशेष रे।
इससे देह एक धारकर जाऊँगा स्वरूप स्वदेश रे॥

अपने देश में पूर्णता को प्राप्त करूँगा। देखो! कितना निःसंशयभाव! यहाँ कहते हैं, संशय कैसा?

(संवत्) १९७७ के वर्ष में प्रश्न उठा था, हों! कि ऐसा छद्मस्थ कह सकता है? पंचम काल के मति-श्रुतज्ञानी ऐसी बात (करे)? ऐसा प्रश्न देवीदासभाई ने किया। ऐई! तुम्हारे घेवरिया ने। हरखचन्दभाई थे, हरखचन्द सेठ। वे थे और ... भवानी। कच्छ। कच्छी नहीं थे? भवानी, तीन थे। वहाँ आये थे। ७७ के वर्ष में, ऐसा कैसे? ऐसा कैसे अर्थात् क्या? मति-श्रुतज्ञान की ताकत की तुमको खबर है? मति-श्रुतज्ञान... भगवती (सूत्र) में ऐसा कहते हैं कि मति-श्रुतज्ञान की निर्मलता सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को जाने। तब तो अभी समयसार हाथ नहीं आया था। समझ में आया? ७७ की बात है। संवत् १९७७। मति-श्रुतज्ञान का जोर... भगवती में ऐसा कहा है, कहा, इतना है कि सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव जाने। भले परोक्ष है परन्तु परोक्ष प्रमाण है या नहीं? या अप्रमाण है? समझ में आया? परन्तु ऐसी आत्मा की मति-श्रुत में सामर्थ्य है, वह बैठती नहीं तो इसे आत्मा की सामर्थ्य कैसे बैठे? आहाहा! पर्याय की अभी इतनी सामर्थ्य! आहाहा! उसे तो ऐसा रंक मानकर बैठा है न, मानो भिखारी। ऐई, नेमिदासभाई!

तीन लोक का नाथ, तेरी पर्याय की जेब में तीन लोक और लोकालोक समा गये

हैं, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? ऐसा भगवान आत्मा, कहते हैं कि जहाँ दृष्टि में लिया और वेदन हुआ, बस! उसे तो अल्प काल में केवलज्ञान (होनेवाला है)। इसमें संशय क्या? कहते हैं, समझ में आया?

इस ४१ गाथा में, चार भाव परमस्वभाव में नहीं है, ऐसा बतलाना है।

नहिं स्थान क्षायिकभाव के, क्षायोपशमिक तथा नहीं।
नहिं स्थान उपशमभाव के, होते उदय के स्थान नहिं॥४१॥

टीकाः—चार विभावस्वभावों के स्वरूपकथन द्वारा पंचम भाव के स्वरूप का यह कथन है। क्योंकि मूल तो शुद्धभाव अधिकार चलता है न? ऐसा कहते हैं। शुद्धभाव कहो या पंचमभाव कहो या पारिणामिकभाव कहो, ध्रुवभाव कहो, नित्यभाव कहो, सामान्यभाव कहो, सहजात्मस्वरूप का भाव कहो। समझ में आया? कहते हैं कि **चार विभावस्वभाव...** भाषा देखो! आत्मा की पर्याय में ये रागादि भाव उदय हो, वह तो विभावस्वभाव है ही, परन्तु उपशम सम्यग्दर्शन, उपशमचारित्र हो, वह विभावस्वभाव है। क्योंकि उसमें निमित्त के अभाव की अपेक्षा आती है।

क्षयोपशमभाव जो ज्ञान का—स्वसंवेदन का ज्ञान का, वह भी विभावस्वभाव है। क्योंकि वह एक समय की पर्याय कर्म के अभाव से उत्पन्न होती है, इतनी अपेक्षा, इसलिए उसे विभावस्वभाव कहा है। अरे! क्षायिकभाव—केवलज्ञान और केवलदर्शन। आहाहा! समझ में आया? केवलज्ञान और केवलदर्शन मुक्तिस्वरूप पर्याय, कहते हैं कि वह क्षायिकभाव एक समय की पर्याय है। उसे हम यहाँ विभावस्वभाव कहते हैं। आहाहा! अभी तो महाव्रत के परिणाम को विभाव मानने में इसे पसीना उतर जाता है। समझ में आया? उसे यहाँ तो कहते हैं कि क्षायिकभाव विभावस्वभाव है। सुन!

जो एक समय की पर्याय की दशा का वर्णन है... पंचास्तिकाय में आता है न? कर्म बिना चार भाव नहीं होते, ऐसा आता है। वह निमित्त है न निमित्त? उदय में कर्म का निमित्त है। है स्वयं से उदय, हों! और क्षायिक, उपशम, क्षयोपशम भी कर्म के अभाव की अपेक्षावाली पर्याय है। निरपेक्ष त्रिकाली परमभाव में वह नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : बात नयी लगती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लगती है? लगत है? सुनी नहीं न कभी। नयी लगती है इसे। देखो, क्या कहते हैं?

चार विभावस्वभावों के स्वरूपकथन द्वारा... स्वरूप तो चार का कहना है भाव में, परन्तु उसके **द्वारा पंचम भाव के स्वरूप का यह कथन है।** आहाहा! यह लिखा है अभी का है? यह सोनगढ़ का है? यह नहीं समझते, वाँचना नहीं आता, समझना नहीं आता और जहाँ मूल बात आवे, ऐ... सोनगढ़वालों की बात है। आहाहा!

कहते हैं, टीका है न देखो! '**चतुर्णां विभावस्वभावानां स्वरूपकथनद्वारेण पंचमभावस्वरूपाख्यानमेतत्।**' आहाहा! ४१ वीं गाथा में पद्मप्रभमलधारिदेव महासन्त मुनि हैं, उनके मुख में से आगम झरता है, उसमें अन्दर है लेख। यह परमागम झरता है। आहाहा! देखो! यह मुनि को भी मानते नहीं अभी कितने ही। इस टीका को... टीका को... है न, सुना है तुमने? वे रतनचन्दजी मुखत्यार हैं। क्योंकि यह समझने जाये तो उनका एक भी रहता नहीं। इसलिए इसकी टीका भी रद्द। आचार्यों का चाहिए।

मुमुक्षु : मुनि का नहीं चलता?

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनि कहते हैं कि पंच महाव्रत विकल्प है और अन्दर में निर्विकारी परिणति है। ऊपर कहा न? मैं इस पद को अनुभव करता हूँ। मुनि की दशा के योग्य अनुभव है। आगमचक्षु हैं सिद्धान्त, महापरमेश्वर पद है वह। समझ में आया? आगे तो कहा है इसमें। अरे! ऐसे मुनि में और केवलज्ञानी में अन्तर मानते हैं, (तो) हम जड़ हैं, ऐसा लिखा है। एक कलश है न? कितना कलश है? ऐई! कहीं लिखा होगा न। यह तो वापस फेरफार हो जाये न? यह—शास्त्र-पुस्तक दूसरी है। परमावश्यक? यह आया, लो, यह आया। २९६ पृष्ठ पर है। २९६ पृष्ठ है, नियमसार। देखो! इसका पहला २५३ कलश है।

सर्वज्ञ-वीतराग में और इन स्ववश योगी में कभी भी कुछ भी भेद नहीं है... है? प्राणभाई! सूझता है काँच में या नहीं बराबर? तुमको कहता हूँ। है।

(अनुष्टुभ्)

सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः।
न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम्॥२५३॥

अहो! मुनि, जिनकी दशा तीन कषाय के अभाव की वर्तती है। अहो! मुनि! लोग कहते हैं कि मुनि की निन्दा करते हैं। अरे! भगवान! मुनि की निन्दा होती है? बापू! भाई! तुझे खबर नहीं। समझ में आया? मुनि तो परमेश्वर हैं, बापू! परन्तु मुनि हो वह न? मुनि न हो, उसे मुनि कहना और उसके लिये कहना कि अरे! यह हमको मानते नहीं।

कहते हैं, **सर्वज्ञ वीतराग में और स्ववश योगी...** मुनि, हों! मुनि की बात है। चौथे, पाँचवें की यहाँ नहीं। इन **स्ववश योगी में कभी भी कुछ भी भेद नहीं है...** समझ में आया? **तथापि...** क्या कहते हैं? **अरे रे! हम जड़ हैं...** अपने को मिलाकर बात डाली। आहाहा! समझ में आया? भगवान आत्मा अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। उसकी दशा में भले पुण्य और पाप के विकल्प-रागादि हों, वह तो विपरीत जहर जैसे भाव हैं। अन्तर का उसका कायमी असली स्वरूप भगवान ध्रुव आत्मा, उसमें तो अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है। उसे कभी खबर नहीं, उसे कभी विश्वास नहीं। अनादि का मूढ़ हुआ जीव, उसे अपनी जाति में कितनी चीज़ है, इसकी खबर नहीं। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि अरे! सर्वज्ञ परमेश्वर परमात्मा और सन्त... ऐसे सन्त, हों! जिन्होंने आत्मा के आनन्द का खजाना खोला है, पुण्य-पाप के विकल्प राग है, वह मेरे ऐसी एकत्वबुद्धि में जिसने खजाने को ताला लगाया है। समझ में आया? भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप सत्-शाश्वत् (ज्ञान और) आनन्द का कन्द भगवान, उसमें यह विकल्प पुण्य-पाप के, शुभ-अशुभराग आदि के, उन्हें मेरा स्वभाव और यह दोनों एक हैं, ऐसी जो मान्यता, उसने वहाँ मिथ्यात्व का ताला लगाया है अन्दर। चैतन्य को खोलने के खजाने की इसे—अज्ञानी को खबर नहीं। मूलचन्दभाई! आहाहा!

जिसने भगवान आत्मा अन्दर महा चिदानन्दमूर्ति, उसे खोलकर, राग के साथ एकताबुद्धि छोड़कर, स्वभाव के साथ एकत्व करके खोले—उसने खजाना प्रगट किया है। ऐसे जो सन्त, मुनि और सर्वज्ञ वीतराग में, अरेरे! जड़ है (कि जो) भिन्नता मानता

है, कहते हैं। है इसमें? आहाहा! राग और पुण्य-पाप के भाव, वे तो पराधीन दुःखी प्राणी पामर हैं। समझ में आया? शरीर मेरा, पैसा मेरा, धूल मेरी, पर में सुख है—यह मान्यता तो इसकी पराधीनता की, भ्रमणा की, अज्ञानी की मान्यता है। वह प्राणी पामर है। चाहे तो राजा हो या चाहे तो देव हो। अरबोंपति हो, परन्तु वह भिखारी और पामर है। उसे अपनी निजसम्पदा की खबर नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा... कहते हैं कि सन्त.... ऐसे सन्त, हों! योगी। ऐसे सन्त कहे, ऐसे। स्ववश—अन्दर आनन्द में वश हो गये। आहाहा! यह पुण्य-पाप के राग के आधीन नहीं होते। पर में सुख है, ऐसी बुद्धि की तो अब वहाँ गन्ध नहीं रही। ऐसे धर्मात्मा-सन्तों में और वीतरागी केवलज्ञानी में अन्तर मानता है, (वह) जड़ है, कहते हैं। जड़ हो? तुझे भान नहीं? चैतन्य जगमगा उठा है अन्दर से। ज्ञानानन्द का सागर भगवान उछलकर अपनी वर्तमान दशा में वीतरागता जिसे परिणमती है, ऐसे सन्त और वीतराग भगवान—उसमें तुझे क्या अन्तर लगता है? ऐई! आहाहा!

कहते हैं कि ऐसा आत्मा, उसमें चार विभावस्वभाव नहीं है। आहाहा! भारी कठिन बात! शरीर-बरीर तो नहीं। यह तो मिट्टी, जड़ है, धूल है। यह तो अजीवतत्त्व है। परमाणु से बना हुआ पिण्ड फू... होकर राख में उड़ जायेगा। इतनी राख भी नहीं होगी। हवा आवे तो उड़ जाये। वह तो जड़ है, वह कहाँ आत्मा था? सुन न! परन्तु अन्दर में पुण्य और पाप के, दया, दान, व्रत के और काम, क्रोध के, भोग के आदि के परिणाम होते हैं, वे भी विकार और मैल और जहर है। आहाहा! उससे भिन्न भगवान है, उसमें चार पर्यायें नहीं, ऐसा कहते हैं। राग भी नहीं और क्षायिकभाव भी नहीं। ऐसा कहकर परमस्वभावभाव, परमस्वभावी वस्तु चैतन्यदल सत् नित्य ध्रुव की दृष्टि कराने को, ऐसा आत्मा है—यह वर्णन करके इसे सम्यग्दर्शन कराने का हेतु है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

भाद्र शुक्ल ३, रविवार, दिनांक - १४-०९-१९६९
गाथा-४१, प्रवचन-३६-६

नियमसार, शुद्धभाव अधिकार, ४१वीं गाथा की टीका। जरा यह अधिकार अपूर्व है। यहाँ कहते हैं कि **चार विभावस्वभावों के स्वरूपकथन द्वारा पंचम भाव के स्वरूप का यह कथन है।** कहो, सेठी! पारिणामिकभाव का कथन है। सेठी का प्रश्न था न? पारिणामिकभाव अर्थात्? यह नीचे कहेंगे। अन्दर में स्पष्टीकरण देंगे। समझ में आया? पारिणामिकभाव का परिणामी... भाषा है न? **परिणाम से जो भाव हो, वह पारिणामिकभाव है।** यह आयेगा। यह तो पारिणामिक अर्थात् क्या? पहले पेरेग्राफ का अन्तिम शब्द है। है सेठी? पहले पेरेग्राफ की चौथी लाईन का अन्तिम। **परिणाम से जो भाव हो, वह पारिणामिकभाव है।** इस गाथा में। है? हाथ आया?

परिणाम से जो भाव... परिणाम अर्थात्? सहज स्वभाव, पारिणामिकस्वभाव। जिसे किसी कर्म के निमित्त के सद्भाव की या असद्भाव की अपेक्षा नहीं। सहजस्वरूप नित्यानन्द ध्रुव चैतन्य भगवान, शाश्वत् असली स्वभाव, उसे परिणाम से भाव हो, वह पारिणामिकभाव कहा जाता है। उस भाव की दृष्टि करने से, उसका आश्रय करने से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र... यह मोक्षमार्ग है न? मोक्ष का मार्ग नियमसार है। यह मोक्ष का मार्ग, परमस्वभाव एकरूप परिणाम से सहजस्वभावरूप भाव, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं। समझ में आया?

इसलिए कहते हैं, **चार विभावस्वभावों के स्वरूपकथन द्वारा पंचम भाव के स्वरूप का यह कथन है।**

अब, **कर्मों के क्षय से जो भाव हो,...** भाव अर्थात् पर्याय—अवस्था। जिसमें... नीचे अर्थ है, देखो। कर्म के क्षय में। **कर्मों के क्षय में; कर्मक्षय के सद्भाव में।** सद्भाव अर्थात् अस्ति में। **(व्यवहार से कर्मक्षय की अपेक्षा, जीव के जिस (पर्याय) भाव में आये, वह क्षायिकभाव है।)** क्या कहते हैं? आत्मा में क्षायिकभाव एक समय की पर्याय है। वह प्रगट हो, तब उसे व्यवहार से कर्म निमित्त जो है, उसके क्षय की अपेक्षा

जिसमें निमित्तरूप से, उसे क्षायिकभाव की पर्याय—भाव—अवस्था कहा जाता है। समझ में आया? भारी सूक्ष्म बातें हैं।

यह है सही, ऐसा बतलाना है। यह है। जिसमें कर्म के अभाव की... क्षय अर्थात् अभाव की, जिसमें निमित्त के अभाव की अपेक्षा आती है, ऐसी एक पर्याय आत्मा में (होती है)। क्षायिकभाव के केवलज्ञान, केवलदर्शन भेद आयेंगे। यह एक समय की क्षायिक शुद्ध पूर्ण पर्याय है। वह भी यहाँ आवरणसंयुक्त कही गयी है। समझ में आया? उसमें और उसमें है, देखो! पीछे है। ये चार भाव आवरणसंयुक्त है... आवरणसंयुक्त है। ८५ पृष्ठ पर है। आवरणसंयुक्त अर्थात् कि जिसमें कर्म के—निमित्त के क्षय की अपेक्षा है, इस अपेक्षा से उसे आवरणवाला कहा जाता है। सूक्ष्म बात है। कही थी न?

वस्तु भगवान आत्मा परमस्वभाव, जिसका अतीन्द्रिय आनन्द परमभावस्वभाव ऐसा अनादि-अनन्त आत्मा का स्वभाव है, वह नित्य स्वभाव है, वह नित्य है, उसे यहाँ शुद्धभाव कहा जाता है। उस शुद्धभाव में, वर्तमान पर्याय में—अवस्था में... जिस अवस्था में कर्म के अभाव की—क्षय की—नाश की व्यवहाररूप से निमित्तरूप से अपेक्षा आवे, उस पर्याय को यहाँ क्षायिकभाव कहते हैं और इसलिए उसे आवरणवाला, ऐसा कहते हैं। उस निमित्त की अपेक्षा आयी न? ऐसा। आवरण था, उसका अभाव हुआ, परन्तु आवरण का अभाव हुआ, इतनी अपेक्षा केवलज्ञान की पर्याय में, केवलदर्शन की पर्याय में इतनी अपेक्षा आती है, इसलिए वह भाव आश्रय करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

कर्मों के क्षय से जो (पर्याय) भाव हो,... भाव अर्थात् पर्याय—अवस्था। द्रव्य को भी भाव कहा जाता है, गुण को भी भाव कहा जाता है और वर्तमान पर्याय को भी भाव कहा जाता है। जहाँ जिसे लागू पड़े, वहाँ उसे समझना। यहाँ भाव पर्याय की अपेक्षा से है। भगवान आत्मा परमस्वभावी भगवान की दशा अर्थात् हालत में केवलज्ञानावरणीय प्रकृति का अभाव.... अभाव है। इतनी सद्भावता उसकी आयी, ऐसी जो केवलज्ञान की पर्याय, वह क्षायिकभाव से है, परन्तु वह आश्रय करनेयोग्य नहीं। छद्मस्थ को तो है नहीं, तथापि केवलज्ञान की क्षायिक पर्याय, वह भी जीव को... वह एक समय की दशा है।

केवलज्ञान भी आत्मा में एक समय ही रहता है। समझ में आया? दूसरे समय में केवलज्ञान दूसरा, तीसरे समय में तीसरा। क्योंकि वह पर्याय है और पर्याय है इसलिए एक समय में तो क्षय—नाश हुए बिना नहीं रहती। भले वैसा का वैसा केवलज्ञान दूसरे समय में हो, तथापि उसकी स्थिति तो एक समय की ही है। सेकेण्ड के असंख्य भाग—एक समय इसकी स्थिति है; इसलिए वह आश्रय करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! और त्रिकाल जिसकी स्थिति है, (ऐसा) नित्यानन्द ध्रुव वज्रबिम्ब, जो ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण—शक्ति का ध्रुव तत्त्व, ऐसा जो त्रिकाली स्वभावभाव, वह आश्रय करनेयोग्य, नजर करनेयोग्य, अवलम्बन करनेयोग्य... समझ में आया? वह परमस्वभावभाव है। उसकी अपेक्षा से क्षायिकभाव भी अपरमभाव कहा जाता है। वह परमभाव नहीं। बलुभाई! सूक्ष्म है यह। ऐसे का ऐसा पकड़ में आये, ऐसा नहीं है। यह नियमसार आया है।

मुमुक्षु : पकड़ में आये ऐसा....

पूज्य गुरुदेवश्री : पकड़ में आये ऐसा ही होता है यह। परन्तु अब इसे मस्तिष्क में काम आना चाहिए न?

यह आत्मा... शुद्धभाव अधिकार है। शुद्धभाव पर्याय की यहाँ बात नहीं। यह ऊपर है न शुद्धभाव अधिकार? शुद्धभाव त्रिकाल ध्रुव, उसका ही अधिकार, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के लिये उसका ही आश्रय और अधिकार है। दूसरे का अधिकार नहीं। नटुभाई! समझ में आया? आहाहा! जिसे मोक्षमार्ग प्रगट करना है, जिसे अनन्त काल में नहीं हुई आत्मज्ञान कला मोक्ष के कारणरूप प्रगट करनी है, उसे तो त्रिकाली ध्रुव शुद्ध स्वभाव का ही आश्रय लेना पड़ेगा। उसके बिना वह पर्याय प्रगट नहीं होगी। कहो, मूलचन्दभाई! यहाँ तो अभी कहीं का कहीं चलता है। दया, दान, व्रत, भक्ति, यह करो... यह करो... यह करो। यह तो उदयभाव में आ गया। यहाँ तो क्षायिकभाव की पर्याय आश्रय करनेयोग्य नहीं, तो फिर उदयभाव की राग की क्रिया, वह तो आलम्बन करनेयोग्य है ही नहीं। वह तो विभाव और विकार है। समझ में आया? वह क्षायिकभाव है।

कर्मों के क्षयोपशम से जो (पर्याय) भाव हो, वह क्षायोपशमिकभाव है। अब

इससे कम विकास। यह पूर्ण विकास है—क्षायिकभाव आत्मा की पर्याय में—अवस्था में पूर्ण विकास है। परन्तु है वह एक समय की अवस्था। इसलिए जिसे सम्यग्दर्शन प्रगट करना हो, उसे तो त्रिकाली परमस्वभाव का ही अवलम्बन और आश्रय करना चाहिए। आहाहा! गजब बात, भाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न! आयेगा, देखो!

अब क्षयोपशम से जो भाव हो अर्थात् जो आत्मा की ज्ञान, दर्शन, वीर्य की, श्रद्धा की अवस्था के विकास में जिसे कर्म के निमित्त का आंशिक क्षयोपशम हो, ऐसी जिसमें अपेक्षा हो, उस दशा को क्षयोपशमदशा कहते हैं। वह क्षयोपशमदशा की पर्याय भी धर्मी के लिये आश्रय करनेयोग्य नहीं है। समझ में आया? धर्मी जीव को—जिसे धर्म करना है और धर्म नहीं, वहाँ पर्याय में धर्म (रूप) परिणमन करना है, ऐसे धर्मी जीव को—तो यह त्रिकाली परमस्वभाव, ध्रुवस्वभाव का आश्रय लेने से ही धर्म की दशा प्रगट होती है। यह क्षयोपशमभाव हुआ।

कर्मों के उदय से जो भाव हो, वह औदयिकभाव है। राग, द्वेष, गति। इसका स्पष्टीकरण आयेगा। दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, वह उदयभाव है। क्योंकि कर्म के उदय की जिसमें निमित्तता है। उदय होता है स्वयं से, परन्तु जिसमें कर्म के पाक के निमित्तता की अपेक्षा है, ऐसा जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, मिथ्यात्व, राग, द्वेष—इन सब भाव को उदयभाव की विकारी अवस्था / पर्याय (कहा जाता है)। ऐसा पहले सिद्ध करते हैं कि यह है। वह है, परन्तु धर्मी जीव को धर्म करने के लिये वह उदयभाव आश्रय करनेयोग्य नहीं। वह शुभभाव दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी आश्रय करनेयोग्य नहीं। ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : यह शुरुआत में....

पूज्य गुरुदेवश्री : शुरुआत में ही परमपारिणामिकभाव का आश्रय पहले नम्बर में और पहले शुरुआत में (होता है), यहाँ ऐसा कहते हैं। समझ में आया? महाप्रभु चैतन्य ध्रुव है, नित्य है, अविनाशी है। 'आत्मा द्रव्य से नित्य है', आता है न? 'पर्याये

पलटाय।' शरीरादि की दूसरी बात तो उसके घर में रही। स्वयं भगवान आत्मा द्रव्य से अर्थात् वस्तु से—तत्त्व से अनादि-अनन्त नित्य है। अवस्था बदलती है—पर्याय बदलती है। उसकी पर्याय में भी जो पुण्य का, दया, दान, व्रत, भक्ति का भाव (हो), उसे यहाँ उदयभाव, निमित्त की अपेक्षा से उसे उदयभाव कहा है। समझ में आया?

मुमुक्षु : व्रत और महाव्रत किसमें आते होंगे?

पूज्य गुरुदेवश्री : महाव्रत-बहाव्रत किसमें आते होंगे? कहा न इसमें। उदयभाव में। समझ में आया? देवीलालजी! महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण भाव किसमें आते होंगे? छह आवश्यक करे, लोंच करे, एक बार आहार करे, खड़े-खड़े आहार करे—ऐसे अट्ठाईस मूलगुण नहीं आते मुनि को? कहते हैं कि वह तो विकल्प है, भाई! वह राग है। वह राग मूल तो एक पर्याय में है, ऐसा व्यवहार से बताया है। मूलगुण तो अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द का कन्द, वह आत्मा मूलगुण है। समझ में आया? वह तो असद्भूत-व्यवहारनय का विषय कहकर उस भूमिका में ऐसे ही प्रकार के विकल्प की मर्यादा होती है, ऐसा बतलाने को उसे असद्भूतव्यवहारनय से उसे मूलगुण कहा है। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याय असद्भूत?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग है न।

मुमुक्षु : .... मूलगुण?

पूज्य गुरुदेवश्री : मूलगुण तो त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानन्द, वह मूलगुण है। सद्भूतव्यवहारनय से अन्दर में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र या केवलज्ञान हो, वह मूलगुण है, सद्भूतव्यवहार से। असद्भूत से (शुभ) राग (मूलगुण है) और परम निश्चय में भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द की खान ध्रुव जो है, वह मूल है, उसे मूलगुण कहा जाता है। स्वरूपचन्दभाई! ऐसा तो कहीं सुना नहीं हो उसमें—वाड़ा में भी, कितने वर्ष गये। हैरान कर दिया लोगों को बेचारों को। उसे सत्य सुनने को भी मिलता नहीं, वह कब समझे? कब विचार करे? कब रुचि करे और कब स्वभाव सन्मुख ढले?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा करो, यह करो... यह करो... अन्दर। यह किया ऐसी क्रियायें तो ओहोहो! बढ़ गया। मिथ्यात्व में बढ़ा है। समझ में आया? आहाहा!

तीन लोक का नाथ वज्रबिम्ब ध्रुव चैतन्यप्रभु, जिसमें तो अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... ज्ञान, दर्शन, आनन्द ऐसी अनन्त पर्याय के थोक पड़े हैं उसमें। ध्रुवरूप से, नित्यरूप से, सदृश्यरूप से, सामान्यरूप से ऐसा परमस्वभावभाव, उसे पारिणामिकभाव कहा जाता है। समझ में आया?

कर्मों के उपशम से जो भाव हो, वह औपशमिकभाव है। कर्म के दबने से, जैसे पानी में मैल नीचे बैठ जाये, उसी प्रकार कर्म बैठ जाये, और ऐसी पर्याय जिसमें हो, उसमें कर्म के उपशम की अपेक्षा आती है, उस पर्याय को उपशमभाव (कहते हैं)।

सकल कर्मोपाधि से विमुक्त,... अब आया। सेठी! **सकल कर्मोपाधि से विमुक्त,...** यह भी एक निमित्त की अपेक्षा की। **सकल कर्मोपाधि से विमुक्त, ऐसा परिणाम से जो भाव हो,...** अर्थात् कि कर्म उपाधि शब्द से? कर्म की अस्ति भी नहीं और कर्म की नास्ति, वह भी एक उपाधि है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ कहते हैं न! कहते हैं, जाने नहीं देते।

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ प्रभु ध्रुव चैतन्य नित्य वस्तु है... नित्य वस्तु है... सत् नित्य वस्तु है। उस चीज़ को कर्म के निमित्त की अस्ति की उपाधि है परन्तु उसके अभाव की भी एक उपाधि है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अभावरूप उपाधि भी जिसमें नहीं, ऐसा कहते हैं। नवनीतभाई! जिसमें कर्म का अभाव आवे, वह भी एक पर्याय हुई, तब अभाव हुआ। वस्तु में तो कर्म के सद्भाव और अभाव की अपेक्षा है ही नहीं। अभाव कहाँ करना था? किसका? अभाव किसका होना? वह तो वस्तु है। समझ में आया?

भगवान आत्मा पूर्ण स्वरूप... पूर्ण इदं ध्रुव। कहते हैं कि ऐसा जो भाव—ऐसा जो स्वभाव जिसे यहाँ शुद्धभाव कहा, उसे कर्म का उदय निमित्त है, इसलिए यहाँ भाव हुआ... हो भले स्वयं से। और उसका अभाव हुआ, इसलिए भाव हुआ, वह तो

क्षायिक, उपशम में जाता है। कर्म का अभाव हुआ और यहाँ पुरुषार्थ है उस प्रकार का, तब उसे क्षयोपशम, उपशम और क्षायिक इस दशा में जाता है, यह बात। परन्तु यह आत्मा का त्रिकाली भाव स्वभाव है, उसमें तो कर्म का अभाव, इतनी एक उपाधि भी उसे लागे नहीं पड़ती। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसमें है ही नहीं। कर्म का निमित्तपना भी नहीं और निमित्त का अभाव... वह तो पर्याय में निमित्त का अभाव लागू पड़ता है। वस्तु को लागू नहीं पड़ता। आहाहा! पण्डितजी! यह तो अलौकिक बात है। आहाहा!

ऐसा भगवान ज्ञान, दर्शन, आनन्द से ध्रुवरूप... ध्रुव... ध्रुव अर्थात् नित्य शक्ति का पिण्ड जो है, उसे तो ज्ञानावरणीयकर्म का अभाव हुआ, ऐसा कहना, वह भी एक उपाधि है। ऐसी उपाधि जो वस्तु में है नहीं। आहाहा! एकान्त निरपेक्ष। अभी तो बाहर में शोर मचाते हैं। ऐसा करना, यह किया, यह करे तो होगा। अरे! भाई! यहाँ तो प्रभु विराजता है न, महाप्रभु। एक समय की क्षायिक पर्याय भी व्यवहार आत्मा है। आहाहा! केवलज्ञान की पर्याय, केवलदर्शन की पर्याय, केवली भगवान की निर्मल पूर्ण पर्याय, वह भी व्यवहार आत्मा है; निश्चय में वह है नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह तो अलौकिक मार्ग की पद्धति है। समझ में आया? ध्रुव भगवान आत्मा जिसे, कहते हैं कि कर्म के अभाव की भी अपेक्षा पर्याय में लागू पड़ती है; द्रव्य को लागू नहीं पड़ती।

क्या कहा? **सकल कर्मोपाधि से विमुक्त,...** अर्थात्? कि कर्म का निमित्तपना है, वह उपाधि है और निमित्त का अभाव होना, वह भी एक .... अपेक्षा से उपाधि है। वस्तु जो त्रिकाल ज्ञायकभाव परम कारणप्रभु, जिसमें अनन्त-अनन्त सिद्ध की पर्यायें पड़ी हैं, ऐसा ध्रुव स्वभाव, उसे कर्म के अभाव की भी जहाँ अपेक्षा नहीं। कि भाई! कर्म का अभाव हो और यहाँ पर्याय में पुरुषार्थ से क्षायिकभाव हो, ऐसी अपेक्षा त्रिकालीभाव में है नहीं। धन्नालालजी! कठिन मार्ग, भाई! आहाहा! ऐसा मार्ग वीतराग का सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा। परन्तु लोग कहीं गोते खाते हैं, मिलता नहीं, मिलता नहीं। कहीं न कहीं उल्टा मिलता है।

सकल कर्मों की... आठों कर्मों के अभाव की भी जिसमें अपेक्षा नहीं, ऐसा कहते हैं। क्योंकि वह तो वस्तु है वह है। उसमें अभाव और सद्भाव की अपेक्षा तो पर्याय में लागू पड़ती है। समझ में आया? आहाहा! अरे! जिसके ज्ञान में भी क्या चीज़ है और किस प्रकार से है? यह समझ में भी न आवे, तो वह स्वभाव-सन्मुख ढले किस प्रकार? उसके स्वभाव का उसे माहात्म्य किस प्रकार आवे? समझ में आया? शास्त्र पढ़-पढ़कर रटे। रटकर इसका ऐसा होता है और इसका ऐसा होता है। भाई! तुझे तेरा भगवान पूर्ण प्रभु... द्रव्यार्थिकनय अर्थात् द्रव्य जिसका विषय है, ऐसा द्रव्यार्थिकनय, उसका जो ध्येय, विषय ध्रुव, कहते हैं कि उसे तो कर्म का अभाव निमित्तरूप से हो, व्यवहाररूप से... कर्म का अभाव तो परद्रव्य है न? अर्थात् परद्रव्य है, इसलिए व्यवहार से उसका अभाव। निश्चय में तो अन्दर में अशुद्धपने का पर्याय का अभाव होकर शुद्धपना प्रगट होता है पर्याय में, वह स्वयं के कारण से। उसमें कर्म के अभाव का निमित्तपना आता है। कहते हैं कि उस वस्तु के स्वभाव में अभाव और सद्भाव की अपेक्षा नहीं है। समझ में आया? भारी सूक्ष्म बात। ऐसे बड़े दिनों में ऐसी बात! बड़े दिन में अच्छी न आवे तो कब आवे? तब आवे, मुश्किल से इकट्ठे हों। भाई! तुझे करना यह पड़ेगा। यह किये बिना कहीं सुख और धर्म का मार्ग नहीं होगा। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी बात चलती है न! चलती है अभी। यह पूरी गाथा ही ऐसी है। सब गाथायें ऐसी हैं।

सकल कर्म... वह चार बात करके चार भाव की। क्षायिक, क्षयोपशम, उदय और उपशम। ... फिर लिया। यह सकल कर्म की अपेक्षा, अर्थात् कर्म है, उसकी तो बात नहीं। परन्तु कर्म का अभाव, ऐसा व्यवहार से लागू पड़े जिसे अपेक्षा। व्यवहार से। निश्चय से तो अपनी निर्मल पर्याय प्रगट होती है, तब वहाँ कर्म का अभाव कर्म में उसके कारण से होता है। परन्तु वह तो वर्तमान पर्याय—अवस्था को वह व्यवहार लागू पड़ता है। समझ में आया? भगवान शुद्ध ध्रुव चैतन्य परमस्वभाव भगवान, जिसे कारणजीव कहते हैं, कारणजीव, कारणपरमात्मा। परमपारिणामिकभाव। यह शुद्धभाव

अधिकार है वह। उस शुद्धभाव को कर्म के अभाव की भी अपेक्षा नहीं। वह तो ऐसा का ऐसा पड़ा है, प्रगटरूप चैतन्य आनन्दकन्द त्रिकाल पड़ा है। आहाहा! कहो, माणेकलालभाई! पर्याय... पर्याय कहाँ गयी?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्या कहा? यह क्या कहते हैं? पारिणामिकभावों में पारिणामिकभाव वह अस्ति बात आयी। क्या आयी यह? वह तो अपेक्षा की। वह तो समझाते हैं कि जिसमें निमित्त का अभाव भी नहीं, ऐसा त्रिकाली अस्ति तत्त्व। यह तो बात करते हैं। क्या कहते हैं यह? ध्यान कहाँ रखते हैं? **परिणाम से जो भाव हो, वह पारिणामिकभाव है।** ऐसा आया या नहीं? यह अस्ति आयी। सहजपने का भाव, जिसमें कर्म के अभाव की अपेक्षा नहीं, ऐसा सहजपने का भाव, उसे पारिणामिकभाव, ध्रुवभाव, नित्य के नित्यानन्द प्रभु को शुद्धभाव कहा जाता है। और उसका आश्रय ले तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। छोटे में छोटी धर्मदशा भी उसके आश्रय से होती है, मध्यमदशा भी उसके आश्रय से होती है, उत्कृष्टदशा भी उसके आश्रय से होती है, एक होय तीन काल में... यह मार्ग है। दुनिया माने, न माने और दूसरे तर्क और कुतर्क करके कहे, परन्तु उससे मार्ग कहीं दूसरा हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

सकल कर्मोपाधि से विमुक्त,... ऐसा कहा न यहाँ तो? अब अस्तिरूप से क्या? **परिणाम से जो भाव हो, वह पारिणामिकभाव है।** ऐसा वापस। परिणामिक नहीं, पारिणामिकभाव... पारिणामिकभाव है। **इन पाँच भावों में, औपशमिकभाव के दो भेद हैं,...** यह तो संख्या बताते हैं। **क्षायिकभाव के नौ भेद हैं, क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेद हैं, औदयिकभाव के इक्कीस भेद हैं, पारिणामिकभाव के तीन भेद हैं।**

अब, औपशमिकभाव के दो भेद इस प्रकार हैं—उपशमसम्यक्त्व, और उपशमचारित्र। उपशम सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से वह... समझ में आया? ग्यारहवें में कहा अब। उपशमसमकित की पर्याय चौथे से ग्यारहवें तक होती है और उपशम चारित्र, वह ग्यारहवें में होता है। गुणस्थान समझ में आता है? ... न? पहला—अपूर्व उपशम समकित, वह चौथे गुणस्थान में द्रव्य के आश्रय से, द्रव्य में दृष्टि जाने से उपशम

समकित, पानी में जैसे मैल जाये नहीं, परन्तु मैल बैठ जाये, उसी प्रकार कर्म दब गये हों, अपने पुरुषार्थ के कारण अन्दर में उपशमभाव प्रगट हुआ है, उसमें कर्म दबते हैं, ऐसी एक निमित्त की अपेक्षा है। ऐसा उपशम समकित और उपशम चारित्र, वह ग्यारहवें गुणस्थान में होता है, वह पर्याय है। ऐसे उपशम समकित का और उपशम चारित्र का भी धर्मी जीव को आश्रय और अवलम्बन नहीं होता।

अब उसमें यहाँ भगवान की मूर्ति और मन्दिर का अवलम्बन उत्थापित करना, भारी कठिन पड़े जगत को। ऐई! समझ में आया? वह तो स्वरूप में स्थिर नहीं हो सके, तब कोई शुभभाव होता है, तब उसमें वे निमित्त कहलाते हैं, करता है तब। ऐसे एक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध का व्यवहार है। और एक चर्चा आयी, भाई! कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जो है, वह व्यवहार ही है, यह बात खोटी है। वह बड़ा लेख आया है। गजब परन्तु... कर्म का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, यह तो निश्चय है, ऐसा (वे) कहते हैं। ऐसे दो प्रकार किये। एक आया है। समझ में आया? अरे! भगवान! एक और दूसरे—दो का सम्बन्ध हुआ, यह व्यवहार हो गया।

यहाँ तो एक समय की पर्याय को व्यवहार कहते हैं, सुन न अब! आहाहा! समझ में आया? मूल तो उसे यह स्थापित करना है कि निमित्त सम्बन्ध निश्चय है, इसलिए कर्म का उदय हो तो विकार होता है, ऐसा। विपरीतता घुस गयी है न! यह कहलाता तो है। भाई! यह तो (संवत्) १९७१ के वर्ष से सभा में कहते थे। सभा में, हों! तब तो आठम और पाखी के प्रौषध हों तो एक घण्टे दोपहर में... प्रोषध किये हों न! लाठी की बात है, लाठी। लाठी में चातुर्मास था या नहीं? लाठीवाले हैं या नहीं कोई? इसे कहाँ भान होता है वहाँ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहा उसने कब (सुना था)? ५४ वर्ष हुए उसे तो। ७१ के वर्ष। ५४ वर्ष हुए। तब दोपहर के अष्टमी को कोई आवे न हरगोविन्दभाई और यह कानजीभाई... यह वीरचन्द कानजी। कलकत्ता में है न? वे सब प्रोषध करते। जाधवजीभाई! वीरचन्दभाई नहीं? उनके पिता थे, उनके पिता थे। वे आवें, प्रोषध करें।

यह तुम्हारे देसाई। ऐई! जेठा देसाई। तुम्हारे पिता से बड़े थे या छोटे? बड़े वे, उनके काका के पुत्र जेठाभाई और वे सब प्रोषध करते आठम के, पूनम, आठम और अमावस करे वे लोग। चौदश नहीं। स्थानकवासी थे न। फिर सवेरे व्याख्यान हीराजी महाराज (देते थे)। थे न हमारे गुरु। दोपहर में एक घण्टे (मैं वाँचन करता), उसमें रखते थे यह बात। ७१ की बात है।

आत्मा में विकार होता है, उसमें कर्म हो तो होता है, यह बात है नहीं। अपने कारण से... ऐसा पाठ है वहाँ। भले उन्हें अर्थ नहीं आता था। परन्तु मैंने किया था, उसके ऊपर से स्वीकार किया था, उन लोगों ने... ऐसा पाठ है। ... विद्यमान है। छतो, समझ में आया? अब अस्तिवाला है। ... विद्यमान है, अस्ति अर्थात् है। ... अर्थात् पुरुषार्थ की पर्याय में, पुरुषार्थ के कारण से विकार हो, ऐसा विद्यमानपना उसमें है, ऐसा पाठ है। समझ में आया? और आत्मा को यह उपशम समकित आदि हो, वह कर्म उपशम हो तो (होता है), ऐसा नहीं है। वह भी अस्ति उत्पन्न.... अस्ति है, मौजूदगीवाला पुरुषार्थ है। जो पुरुषार्थ द्रव्य की गति करे तो उसे उपशम समकित होता है। उसमें ऐसा कर्म हो और अमुक हो तो उपशम समकित होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! चिल्लाहट मचाये। समझ में आया? ... कहते हैं न! उसमें इतना सब सुना और पढ़ा न हो। समझे न? इसलिए बेचारे... यहाँ तो पहले भगवती वाँचन किया। श्वेताम्बर में भगवतीसूत्र है। १६ हजार श्लोक हैं और सवा लाख (श्लोक प्रमाण) संस्कृत की टीका है। सोलह हजार श्लोक की ऊँचे में ऊँची वह बड़ी पुस्तक। और वह जब पढ़े तब रुपया-रुपया रखावे, स्वर्ण मोहर रखावे। श्वेताम्बर में स्वर्ण मोहर रखे ....साथिया कर दे। ऐसी भगवती(सूत्र) की महिमा उन लोगों को है। यह तो १७ बार भगवती(सूत्र) का वाँचन किया था। १० और ७, परन्तु उसमें कुछ माल नहीं मिलता।

यह समयसार जहाँ हाथ में आया... आहाहा! अशरीरी की बात है, कहा, इसमें। समझ में आया? दामोदर सेठ को कहा था। ... नहीं कहा? ... नहीं कहा? तब तो उसमें थे न हम। यह चीज़—समयसार है, वह अशरीरी सिद्ध करने की बात है, कहा यह। समझ में आया? यह (संवत्) १९७८ की बात है। २२ और २५ = ४७ वर्ष हुए। पहले जब वाँचन किया (तब कहा) कि यह अशरीरी की चीज़ है, शरीररहित होना हो

और सिद्धपद होना हो तो यह मार्ग है। समझ में आया? कहो, पन्नालालजी! कितने वर्ष हुए? ४७ वर्ष। ४७ कहते हैं न तुम्हारे? ४ और ७।

कहते हैं कि यह उपशम सम्यग्दर्शन त्रिकाली द्रव्य के लक्ष्य से, आश्रय से पुरुषार्थ से होता है। वह देव-गुरु के लक्ष्य से और कषाय की मन्दता के लक्ष्य से उपशम समकित नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? इसी प्रकार उपशम चारित्र।

पश्चात् **क्षायिकभाव के नौ भेद इस प्रकार हैं—क्षायिकसम्यक्त्व,...** हैं उस ओर? यह क्षायिक समकित पर्याय पुरुषार्थ से होती है, परन्तु यह क्षायिक समकित ध्रुव चैतन्य भगवान के अवलम्बन से होता है। लोग ऐसा कहते हैं न कि भाई! क्षायिक समकित तो केवली दुगे... भाई! जहाँ सर्वज्ञ विराजते हो या तीर्थंकर हों, उनके समीप में क्षायिक समकित होता है। भोगीभाई! बात सच्ची। परन्तु उस समीप में व्यवहार से कब कहलाये? कि क्षायिक समकित... द्रव्य का आश्रय करने से क्षयोपशम है (और) द्रव्य में एकाकार विशेष हो, तब क्षायिक समकित होता है। समझ में आया? शास्त्र के कथन ऐसे गोम्मटसार में हैं। केवली दुगे।

देखो! अपने इसमें भी है (उपादान-निमित्त संवाद) देखो भाई! क्षायिक समकित तो... निमित्तवाला प्रश्न करता है कि क्षायिक समकित... केवलज्ञानी, श्रुतकेवली या तीर्थंकर विराजते हों, उनके समीप में क्षायिक समकित होता है। देखो! यह निमित्त की बलवत्ता। हमारे भाई इनकार करते हैं। नहीं, यह बलवत्ता नहीं। यह तो निमित्त वहाँ कैसा था, उसका ज्ञान कराया है। उस क्षण में भी... क्षायिक समकित श्रेणिक राजा को हुआ। श्रेणिक राजा को भगवान के समीप में समवसरण में क्षायिक समकित हुआ। परन्तु वह क्षायिक समकित पर्याय है। वह हुआ तो हुआ अब। वह पर्याय सिद्ध तक ऐसी की ऐसी रहनेवाली है। श्रेणिक राजा अभी नरक में हैं। समझ में आया? हो। नरक में है, ऐसा कहना, वह भी व्यवहार है। आहाहा! वह आत्मा तो अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में है। निर्मल पर्याय में है, राग में भी नहीं। आहाहा! श्रेणिक राजा को हजारों रानियाँ थीं। बड़ा कुटुम्ब, करोड़ों-अरबों के बड़े बँगला—महल थे। उनके दिखाव में भी बड़ा

राजदरबार दिखता है। समझ में आया?... समझ में आया? देखो! बात तो ऐसी आती है, परन्तु उसे समझ में नहीं आये इसलिए यह बोलते थे। समझ में नहीं आये तो क्या करे? आहाहा!

कहते हैं, श्रेणिक राजा को क्षायिक समकित हुआ, भगवान के समीप में हुआ... क्या हुआ? आत्मा के समीप में हुआ है। वह भगवान आत्मा है, उसके समीप में हुआ है। समझ में आया? क्षयोपशम में अमुक अपेक्षा था द्रव्य की, वह विशेष अपेक्षा हुई तो क्षायिक समकित हुआ। समझ में आया? और तीर्थंकरगोत्र बाँधा है। श्रेणिक राजा रानी आदि छोड़ नहीं सके थे, आसक्ति थी, अव्रती थे, अविरति सम्यग्दृष्टि थे। समझ में आया? विशाल करोड़ों-अरबों के महल में उनकी साहेबी। समझ में आया? लोग तो कहे, लो ऐसा! एक बार हमारे कनुभाई कहते थे। कनुभाई भायाणी। बहुत वर्ष पहले की बात है। (संवत्) १९९४। इस मकान में थे। ८६ में उनका जन्म है न? तो आठ वर्ष की उम्र थी।

मुझे कहे कि महाराज! तुम ऐसा कहते हो। तीन-तीन रेशमी रजाई में सोवे और वह धर्मी और हम साधारण गद्दे बिछाकर सोवें तो हम अज्ञानी! गजब बात! ऐई! कान्तिभाई! तुम्हारे भाई हैं न कनुभाई? कन्हैयालाल। वे ९४ में बोले थे। ... मकान हुआ था न तब। उसका ८६ में जन्म, आठ वर्ष हुए। आठ वर्ष की उम्र में कहा था। आप कहते हो कि धर्मी गद्दों में सोता हो, बँगले में सोता हो, उसके कोमल गद्दे और हम यहाँ साधारण में सोते हैं, साधारण खाते हैं तो (भी) हम धर्मी नहीं? भाई! वह तो पुण्य के उदय के कारण सामग्री हो, परन्तु धर्मी उसमें नहीं है। पुण्य के उदय के प्रकार हैं, वे तो बाहर के हैं। यह तो सामग्री के ढ़ेर हों। तीर्थंकर को केवलज्ञान होता है तो सामग्री कितनी? इन्द्र को न हो उतनी।

उन लोगों में आता है श्वेताम्बर में। तुम्हारे भगवान ऐसे कि जब अधूरे थे, तब तो अकेले वन में रहते थे। और अब पूर्ण हुए तो अब विशाल समवसरण में बैठे। ये तुम्हारे कैसे भगवान? ऐसा आता है स्वरूपचन्दभाई! श्वेताम्बर में ऐसा आता है। वह आर्धकुमार है। सूयगडांग के दूसरे अधिकार में। आर्धकुमार को चर्चा चलती है अन्यमती

के साथ। यह महावीर अकेले थे, ध्यान में रहते थे, तब वन में रहते थे और कहे, हम धर्म करते हैं। अब कहते हैं कि हमको तो धर्म का फल केवलज्ञान हो गया। अब यह मांडी इसमें समवसरण की रचना सब, इन्द्र और उनकी सामग्री। इन्द्रों को न हो, उसमें बैठे। रत्नजड़ित गढ़, उनमें बैठे। यह कैसे तेरे महावीर? कहे। अरे! सुन न अब! आहाहा! समझ में आया?

ये तो केवलज्ञानी परमात्मा पूर्ण दशा प्राप्त है। परन्तु तीर्थंकरप्रकृति जो पूर्व में बाँधी थी, उसका पाक ही तेरहवें (गुणस्थान में) आता है। उस समय सामग्री समवसरण और यह। उसकी ऋद्धि अपने साधारण वर्णन की है। अपने भाई ने बनायी है न पण्डितजी ने? तथापि क्या कहे? नजर से देखे उसे खबर पड़े। यह लिखे लिखाये से कहीं उसका माप नहीं आता। वह समवसरण, वह धर्मसभा। चौदह ब्रह्माण्ड के अन्दर ऐसी शोभा कहीं नहीं होती। परन्तु उन्हें क्या है? वे तो केवली हैं। वे तो जैसे जगत के दूसरे पदार्थ, जैसे नरक के स्थान को ज्ञान में देखते हैं, वैसे समवसरण को ज्ञान में इकट्ठा एकसाथ सब जानते हैं। उन्हें जानने के अतिरिक्त है (क्या)? और पूर्व का पुण्य हो तो सामग्री होती है। समझ में आया? धर्मी भिखारी ही हो, ऐसा है कहीं?

वह तो छह खण्ड के बादशाह भरत चक्रवर्ती धर्मी—समकिती थे। छियानवें हजार तो जिन्हें रानियाँ पद्मिनी (जैसी) हों! यह धान के ढोकला वाली नहीं। धान थी तो धान खाया। परन्तु महा उत्तम पुण्यवाले। पद्मिनी जैसी। जिनके वस्त्र में, भ्रमर आवे (ऐसी) गन्ध हो, ऐसा तो शरीर। इसे तो खड़ा रहे तो पसीना गन्ध मारे। समझ में आया? ऐसी छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में बैठा? (—कि) नहीं। परन्तु यह दिखता है न? परन्तु तेरी नजर में। आहाहा! वह तो आत्मा के अन्तर स्वभाव में बैठा है, भाई! तुझे खबर नहीं। अन्तर के मार्ग की श्रेणी की धारा क्या है और कहाँ है—उसकी तुझे खबर नहीं। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि वह क्षायिक समकित... यह क्षायिक के भेद चलते हैं। यह पर्याय है और यह आत्मा के समीप से—ध्रुव के समीप से होती है। तब व्यवहार भले हो। समझ में आया? परन्तु वह बाहर है। (उससे) होवे तब तो सबको होना चाहिए।

समझ में आया? अपने उपादान में डाला है यह। वह कहता है कि देखो! क्षायिक समकित समवसरण में अथवा केवली के समीप में होता है। तब उत्तर दिया कि केवली के समीप में तो (बहुत से) क्षायोपशमिक बैठे हैं, (क्षायिक) क्यों नहीं होता, उनसे होवे तो? समझ में आया? अरे! लोगों को भी खबर नहीं होती और कुछ का कुछ हाँकते हैं। और हमको शास्त्र की जानकारी है। भाई! ऐसा नहीं है। वहाँ तो क्षायोपशमिक वाले धर्मी जीव करोड़ों, अरबों बैठे हैं समवसरण में। और क्षायिक होता है, वह सबको नहीं होता। बस! जो कोई द्रव्य के समीप में जाकर निर्मलता प्रगट करे, उसे होता है। बाकी निमित्त हो तो होता है, ऐसा वहाँ रहा नहीं। समझ में आया? कहो, भीखाभाई!

यथाख्यातचारित्र... यथाख्यातचारित्र क्षायिकभाव है। कहते हैं कि वह पर्याय है। वह परम पारिणामिकभाव का आश्रय लेनेवाले को उस यथाख्यातचारित्र का आश्रय नहीं है। बारहवें गुणस्थान में यथाख्यात प्रगटे। ध्यान रखो। तो भी उसे द्रव्य-ध्रुव का आश्रय है। ध्रुव के आश्रय के बाद बारहवाँ उल्लंघकर केवलज्ञान होता है। समझ में आया? तेरहवें से पहले बारहवें गुणस्थान में यथाख्यातचारित्रदशा पर्याय में प्रगट होती है। तथापि उसे जीव को उस यथाख्यात पर्याय का वहाँ आश्रय नहीं है। ध्रुव भगवान आत्मा में उपयोग लगाया है न? उसके आश्रय से केवलज्ञान होता है। समझ में आया? आहाहा! अरे! ऐसा मार्ग वीतराग का, जिसे सुनने को मिलता नहीं, उसे सुने बिना समझ में तो कब आवे? उल्टे रास्ते ले जाये लोगों को कहे, तुमको ऐसा हुआ। अरे! भगवान! ऐसा समय चला जाता है। आहाहा! अमूल्य चिन्तामणि का समय-समय का वक्त... यह ऐसा समय फिर से आना मुश्किल है, बापू! आहाहा! कहते हैं कि यथाख्यातचारित्र, वह क्षायिक पर्याय है, वह कहीं पारिणामिकभाव नहीं, इसलिए वह भी आत्मा को आश्रय करनेयोग्य नहीं। क्योंकि यथाख्यात और क्षायिक समकित में भी कर्म के अभाव की अपेक्षा आती है।

केवलज्ञान और केवलदर्शन... आहाहा! केवलज्ञान और केवलदर्शन क्षायिकभाव की पर्याय है। वह गुण नहीं, वह ध्रुव नहीं, वह नित्य नहीं। आहाहा! शरीर अनित्य... यह अनित्य... यह अनित्य... ऐसा करते-करते कहे, पर्याय अनित्य है। ले! जेठाभाई! आहाहा! कहते हैं, केवलज्ञान और केवलदर्शन, यह क्षायिकभाव की अवस्था है, वह

भी आश्रय करनेयोग्य नहीं। आहाहा! अपने को—आश्रय करना हो उसे तो होता नहीं। परन्तु दूसरे का केवलज्ञान, यह केवलज्ञान है, ऐसा लक्ष्य करे (तो) विकल्प उठता है। समझ में आया? परमात्मा अरिहन्त, सर्वज्ञ, केवलज्ञानीरूप से महाविदेहक्षेत्र में विराजमान हैं। उनका लक्ष्य करने जाये परद्रव्य का तो विकल्प उठता है। उनके लक्ष्य से कहीं समकित नहीं होता। समझ में आया? आहाहा!

तथा अन्तरायकर्म के क्षयजनित दान,... अन्दर, उस स्वरूप का दान पूर्ण प्रगट हुआ। अपने स्वरूप का दान पूर्ण प्रगट हुआ क्षायिकभाव से। दान वहाँ पैसा-बैसा देने की बात नहीं, हों! स्वरूप का दान, पूर्णानन्द प्रभु अन्तर स्वरूप का आश्रय करके पर्याय में अनन्त निर्मलता की पर्याय का दान जीव ने स्वयं आप प्राप्त किया। परन्तु वह पर्याय है, कहते हैं। क्षायिकभाव की पर्याय है। उसे तो कर्म के अभाव की व्यवहार से अपेक्षा आती है, इसलिए वह परमपारिणामिकभाव नहीं और परमपारिणामिकभाव के अतिरिक्त (कुछ) आश्रय और अवलम्बन करनेयोग्य नहीं। आहाहा! गुरु के भक्त होते हैं न! ये पूछते थे कि महाराज! ऐसा कहते हैं न! हम ऐसा कहते हैं। ...भाई! श्रीमद् में आता है न भक्ति। भक्ति करो गुरु की और उसका अवलम्बन करो, तुम्हारा कल्याण होगा। यहाँ इनकार करते हैं, सुन न! आहाहा! उसे यदि ऐसा कहे कि भक्ति से धर्म नहीं होता। हाय...हाय..! यह तो एकान्त है। यह तो भक्ति उड़ाई। मूलचन्दभाई! भगवान! उड़ाई कब? सुन तो सही! भगवान तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव समवसरण में विराजमान हों और उनकी भी भक्ति करे मणिरत्न के दीपक से। वज्र के... समझ में आया? थालियाँ, हीरा की थालियाँ, मणिरत्न के दीपक और कल्पवृक्ष के फूल। जय प्रभु... जय प्रभु... भाई! यह शुभ विकल्प है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : मिले, ऐसा नहीं? बहिनों-बहिनों को जँचता है या नहीं अब यह? वहाँ सामने है। कहते हैं न। सुना है। अपने को कुछ खबर नहीं। वहाँ महिलाओं में सामने है जरा। ऐसा कोई कहता था। अपने को कुछ खबर नहीं। कोई कहे तो सुना हो। इस बात को समझे बिना सब धूलधाणी है। कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा! नियमसार... नियमसार... 'सहेजे समुद्र उल्लस्यो जेमां रतन तणाया जाय, भाग्यवान

कर वावरे अेनी मोतीये मुठीयुं भराय।' समझ में आया? 'सहेजे समुद्र उल्लस्यो अेमां रतन तणाया जाय, हीणभागी कर वावरे अेने शंखले मुठीयुं भराय।' उसे शंख हाथ में आवे। समझ में आया? आहाहा! जिसके महाभाग्य हैं उसे, कहते हैं कि यह बात कान में पड़े। समझ में आया? आहाहा!

देखो! इस बार अधिकार यही आया। प्रवचनसार पूरा हो गया न! वह नय का अधिकार सूक्ष्म पड़ा। लेना है क्या? यह आया है हाथ। आवे न ... वर्ष का चौमासा है। समझ में आया? भाई! तेरी नजरें वहाँ डालनेयोग्य है, वह चीज़ तो ध्रुव चिदानन्द है। आहाहा! अन्तर्मुख, पर्याय को अन्तर्मुख झुकाने से तो अन्तर्मुख जो अन्तर वस्तु है, वह ध्येय में आती है। समझ में आया?

कहते हैं कि भगवान को अन्तराय के क्षय से उत्पन्न हुआ दान, वह क्षायिकदान है। अपना दान अपने को देते हैं। परन्तु वह पर्याय है क्षायिकभाव की। वह भी त्रिकाली भाव नहीं, पारिणामिकस्वभावभाव वह नहीं। **लाभ...** यह भगवान को लाभ मिला अपने स्वरूप की पूर्ण प्राप्ति का। यह लाभ, हों! यह लाभ सवाया तुम्हारे बनिया लिखते हैं न उसमें? बहियों के ऊपर। भाई! लाभ सवाया। धूल में भी लाभ नहीं सुन न! वहाँ कहाँ लाभ था?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वे कहाँ गये मलूकचन्दभाई! गये हैं? वहाँ कानाकलाब गये होंगे? ठीक। समझ में आया?

भगवान को लाभ मिला, कहते हैं। किसका? पूर्ण निर्मल शुद्ध पर्याय का। वह लाभ मिला, वह भी कहीं आश्रय करनेयोग्य नहीं है। वह त्रिकाली पारिणामिकस्वभाव नहीं। ऐसी पर्याय का महा कन्द पड़ा है भगवान। सुखकन्द। आता है न उसमें, नहीं? 'कबहु न निजघर आये...' आता है न वह? 'परघर भ्रमत नाम अनेक धराये।' सुखकन्द प्रभु आत्मा। शकरकन्द होता है न, शकरकन्द? यह शकरकन्द को क्या कहते हैं तुम्हारे? शकरकन्द नहीं कहते? शकरकन्द। कहीं उसमें रेशा नहीं, रेशा नहीं, ताना नहीं, दाना नहीं, कुछ नहीं। शकरकन्द लाल होता है न? और उसे बाफकर शक्कर में

खाये न कुछ अवरोध नहीं। बिना दाँत के वृद्ध व्यक्ति, बिल्कुल दाँत न हो, उसे भी (दो तो खा जाये)। शकरकन्द। इसी प्रकार आत्मा आनन्द का कन्द शकरकन्द है। जिसमें कोई विकल्प नहीं, राग नहीं, कुछ भेद नहीं, अकेली अभेद चीज़ है। आहाहा! ऐसी बात गजब।

ऐसा अपना भगवान स्वरूप का लाभ है, वह भी एक क्षायिकभाव की दशा है। वह भी आवरणसहित कहने में आती है। क्योंकि उसमें कर्मक्षयजनित हुआ न? कर्म के क्षय के निमित्तपने का व्यवहार आया। यहाँ पुरुषार्थ किया है, परन्तु वहाँ वह व्यवहार आया न? इसलिए उस लाभ को भी आवरणवाली दशा कहा जाता है।

यह **भोग...** आत्मा के आनन्द का भोग। आत्मा के आनन्द का भोग, वह भी क्षायिक पर्याय है, पर्याय है। राग का भोग, पर का भोग, उसकी तो बात है नहीं। परन्तु अतीन्द्रिय आनन्द का भोग। एक बार भोगा जाये, वह भोग। और **उपभोग...** बारम्बार आनन्द की पर्याय का भोग, वह उपभोग। वह भी पर्याय है। क्षायिक... कर्म के क्षयजनित शब्द प्रयोग किया है न? जनित का अर्थ निमित्त है। यहाँ **उपभोग...** एकबार भोगा जाये, उसे भोग कहते हैं और बारम्बार भोगा जाये, उसे उपभोग। आता है न? यह दाल, भात, रोटी एक बार भोगी जाती है और गहने, मकान आदि बारम्बार भोगे जाते हैं, उसे उपभोग कहा जाता है। इसी प्रकार यहाँ आत्मा में आनन्द की दशा का उपभोग बारम्बार हो, ऐसा केवली को है, परन्तु वह सब क्षायिकभाव और एक समय की पर्याय है। समझ में आया?

और **वीर्य...** प्रभु को अनन्त वीर्य प्रगट हुआ। क्षायिकभाव से प्रगट हुआ। अन्तराय का नाश होकर अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... बल (प्रगट हुआ)। परन्तु वह त्रिकाली बल का पूरा पिण्ड, उसके हिसाब से तो यह तो अंशमात्र है। आहाहा! भगवान में जो वीर्य—बल पड़ा है अन्तर ध्रुव में, उसके बल के समक्ष तो यह वीर्य अनन्तवें भाग, अनन्ता-अनन्त में भाग की यह पर्याय है। वह पर्याय भी आश्रय करनेयोग्य नहीं अथवा वह पर्याय भी परमपारिणामिकभाव में नहीं और वह परमपारिणामिकभाव उस रूप आता नहीं। सेठी! लो, यह नौ बोल हुए क्षायिक के। पर्यायरूप से है। द्रव्यरूप...? द्रव्यरूप नहीं, ध्रुवरूप नहीं, परमस्वभावभावरूप नहीं;

इसलिए वह आश्रय करनेयोग्य नहीं। इसलिए उसे आवरणवाला कहा जाता है। नौ बोल को आवरणवाले कहा जाता है। आहाहा! गजब बात! यह केवलज्ञान को आवरणवाला (कहा)। वह आवरण था और इससे अभाव की, व्यवहार से अभाव की अपेक्षा आयी न? समझ में आया? पण्डितजी! ऐसा मार्ग है। आहाहा!

अब, **क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेद इस प्रकार हैं—मतिज्ञान,...** लो! मतिज्ञान है न, मोक्ष के मार्ग का कारण मतिज्ञान। मतिज्ञान, जिससे आत्मा ज्ञात हो कि यह आत्मा है। **श्रुतज्ञान...** वह भी पर्याय है। जिसमें कर्म के निमित्त का क्षयोपशम (अर्थात्) आंशिक अभाव का उसमें निमित्तपना आता है। इसलिए वह क्षयोपशमभाव भी त्रिकाली पारिणामिकस्वभाव में है नहीं। आहाहा! उस केवलज्ञान को ध्रुवस्वभाव स्पर्श नहीं करता, ऐसा कहते हैं। केवलज्ञान की एक समय की पर्याय से भी द्रव्य तो दूर वर्तता है। ध्रुव... ध्रुव... आहाहा! कहो, मास्टर! मगनलाल मास्टर कहाँ गये? देखो तो सही! केवलज्ञान की एक समय की पर्याय, उससे ध्रुवपना दूर वर्तता है, उसमें आता नहीं। आहाहा! यह अन्योन्य अभाव। यह अतात्विकभाव इस प्रकार का। अतद्भाव। इस प्रकार का अन्योन्य, हों! वह पुद्गल की पर्याय का अन्योन्य, वह नहीं। पर्याय में द्रव्य का अभाव, द्रव्य में पर्याय का अभाव—अतद्भाव। यह तो अलिंगग्रहण में अपने आया था। समझ में आया? पर्याय द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! अड़ती नहीं, समझे? छूती नहीं है। केवलज्ञान की पर्याय द्रव्य को छूती नहीं और द्रव्य ध्रुव है, वह पर्याय को छूता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह... यह अठारह बोल में मति-श्रुत आदि....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

चैत्र शुक्ल १४, शुक्रवार, दिनांक - ०९-४-१९७१
गाथा-४१, प्रवचन-३७

शुद्धभाव अधिकार, गाथा ४१। ४० हो गयी।

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा॥४१॥

नहिं स्थान क्षायिकभाव के, क्षायोपशमिक तथा नहीं।
नहिं स्थान उपशमभाव के, होते उदय के स्थान नहिं॥४१॥

टीका:—चार विभावस्वभावों के स्वरूपकथन द्वारा पंचम भाव के स्वरूप का यह कथन है।

ऊपर अधिकार है न शुद्धभाव? यह शुद्धभाव कहो या पंचम भाव कहो। ध्रुवभाव कहो, पंचम भाव कहो, ज्ञायकभाव कहो—इस पंचम भाव के स्वरूप का इसमें कथन है। जो पंचम भाव चार विभावस्वभावों से भिन्न है। वह पंचम भाव जो है, वह जीव है। उस जीव में चार भाव की पर्यायें उसमें नहीं, जीव को वे नहीं। समझ में आया? **चार विभावस्वभावों के स्वरूपकथन द्वारा...** ऐसे तो पर्यायों के भेद के स्वरूपकथन द्वारा... व्यवहार आया पहला। पंचम भाव के स्वरूप का कथन है, वह निश्चय। आत्मा की पर्याय में चार प्रकार के भाव होते हैं। एक उदय—राग-द्वेषादि, उपशम समकित आदि, क्षायोपशम ज्ञानादि, क्षायिक केवलज्ञानादि—ये चारों ही विभावपर्याय है—अवस्था है। केवलज्ञान भी एक विभावपर्यायस्वभाव है, विभावस्वभाव है, सहज स्वभाव नहीं। सेठी! आहाहा!

यह चार विभावस्वभाव वह भी उसका स्वभाव है। विकारभाव या मिथ्यात्वभाव भी जीव की पर्याय का स्वभाव है और केवलज्ञान, केवलदर्शन भी जीव की पर्याय का स्वभाव है। वह जीव को नहीं, ऐसा यहाँ कहना है। लो ठीक! जीव तो शुद्धभाव ध्रुवभाव परमपारिणामिकभाव है। '**परिणामे भवः परिणामिकभावः**' सहज स्वभाव से हो त्रिकाली एकरूप, उसे पारिणामिकभाव, उसे शुद्धभाव, उसे जीव कहते हैं।

मुमुक्षु : ....में पर्याय नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। पर्याय का तो उसमें अभाव है, वह बताते हैं। जीव में पर्याय है ही नहीं, ऐसा कहते हैं, लो। आहाहा! वेदान्त जैसा हो गया, लो। पर्याय, पर्याय में है; वह द्रव्य में नहीं—ऐसा कहना है। सूक्ष्म बात है। गाथा बहुत ऊँची है। आहाहा!

कहते हैं, चार विभावस्वभाव.... उदयभाव को विभावस्वभाव कहा और केवलज्ञान को विभावस्वभाव कहा। मिथ्यात्व को विभावस्वभाव कहा और केवलज्ञान को विभावस्वभाव कहा। मिथ्यात्व को विभावस्वभाव कहा और क्षायिक समकित को विभावस्वभाव कहा। समझ में आया? क्योंकि सामान्य जो ध्रुव चिदानन्द शुद्धभाव, उसमें वह नहीं, इसलिए उसे विशेष-विभावस्वभाव कहने में आया है। विशेषभाव कहो या विभावस्वभाव कहो। समझ में आया?

चार विभावस्वभावों के स्वरूपकथन द्वारा... पंचम भाव भगवान आत्मा नित्यानन्द सहजानन्द '**परिणामे भवः परिणामिकभावः**' जिसका सहज स्वरूप है, जिसमें पर्याय की अपेक्षा ही नहीं, जिसमें कर्म के निमित्त के सद्भाव की या अभाव की अपेक्षा नहीं—ऐसा जो त्रिकाली ज्ञायकभाव, उसके स्वरूप का यह कथन है। आहाहा! समझ में आया? अभी तो कर्मरहित है, ऐसा मानना इसे कठिन पड़ता है। कर्म है न? कर्म से बँधा हुआ है न? अरे! सुन न अब। वह तो रागादि पर्याय और कर्म के उदय को निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है। वह पर्याय ही जहाँ उसमें नहीं तो और फिर किसके साथ सम्बन्ध है? सुन न! ऐ... पोपटभाई! यह सब बहुत सूक्ष्म, हों!

मुमुक्षु : आता नहीं था।

पूज्य गुरुदेवश्री : आता नहीं था? आहाहा! भगवान! जहाँ से धर्म निकलता है, ऐसी जो चीज़ है, उसमें वह धर्म की पर्याय नहीं, कहते हैं, लो।

मुमुक्षु : आत्मा में है उसे भी....

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय है, वस्तु में कहाँ है वह? वह तो एक समय... एक समय... आहाहा! त्रिकाली सहजरूपभाव परिणामस्वभाव... द्रव्य का आत्मलाभ, आया है न पंचास्तिकाय में? वस्तु के स्वरूप की अस्ति वह जीव। पर्याय की अस्ति की बात यहाँ है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? वह बात नहीं। पर्याय की अस्ति वस्तु में

नहीं। '**द्रव्यात्मलाभहेतुकः**' आता है न? ५६वीं गाथा (पंचास्तिकाय) में। वस्तु का सहजभाव अर्थात् आत्मलाभ अर्थात् स्वरूप अस्ति उस ध्रुव को-परमभाव को स्वरूप की अस्ति कहा है। समझ में आया? जो पर्याय बिना की निष्क्रिय वस्तु है, पर्याय के परिणमन बिना की निष्क्रिय वस्तु है, उसे यहाँ शुद्धभाव, ध्रुवभाव, जीव का अस्तित्व इतना और ऐसा कहा है। अरे... गजब व्याख्या! समझ में आया?

यह तो उपोद्घात की पहली लाईन की व्याख्या हुई। आहा! कथन वह कथन भी ऐसा। पर के साथ की बात यहाँ नहीं आती। यह तो वस्तु जो आत्मा है, वह ध्रुव है और उसकी पर्याय है अनादि-अनन्त भिन्न-भिन्न। भले राग की हो, उपशम की हो, क्षायिक की हो, क्षयोपशम की हो, केवल (ज्ञान) की हो, सिद्ध की हो—यह सब विभाव अर्थात् विशेष भाव है न, पर्याय भाव है न! भले उसे स्वभाव कहो, पर्यायस्वभाव कहो चारों को। उसका—पर्याय का स्वभावभाव है। आहाहा! परन्तु उसका त्रिकाली भाव जो शुद्धभाव यहाँ कहा जाता है, उसे यहाँ पंचम भाव कहा जाता है। पंचम भाव ऐसा भगवान आत्मा, उसे यह चार भाव नहीं है। कठिन बात! स्त्री-पुत्र इसके नहीं, कर्म इसके नहीं। तू रह गया? अब लड़का एक ओर। लड़का हो, पैसा हो, नजदीक में मकान हो, लो। हमारी इतनी जगह है। नहीं लेने देंगे। हमारी जगह में हक नहीं किसी का।

यहाँ तो कहते हैं, भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु जो ध्रुव वस्तु है, उसमें इस पर्याय का लगाव नहीं। आहाहा! यह वह कुछ बात! वीतरागमार्ग का स्वरूप तो देखो! परन्तु वस्तु ही ऐसी होती है न! वस्तु दूसरी हो कैसे? पर से तो भिन्न अपना अस्तित्व रखे। अपने दो अस्तित्व में एक अस्तित्व जो ध्रुव का, उसमें इस (पर्याय का) अस्तित्व नहीं है। वरना अस्तित्व सिद्ध कैसे होगा? समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! सर्वज्ञ का पंथ पकड़ना.... 'सर्वज्ञ का धर्म सुशर्ण जाणी...' आता है न? 'आराध्य आराध्य प्रभाव आणी...' उन्होंने कहे हुए तत्त्व अलौकिक वस्तु है। उनके कहे हुए तत्त्व, वह तू है। आहाहा!

तू जो है, वह पंचम भाव है। तू है, वह स्वयं अन्तःतत्त्व है और यह सब पर्यायभाव बहिःतत्त्व है। यह तो पहले अर्थ में आ गया। इसलिए बहिःतत्त्व, वह अन्तःतत्त्व में नहीं। आहाहा! अरे! इसके मूल स्वभाव को समझे तो सही कि क्या चीज़ है, क्या है।

ऐसे का ऐसा समझे बिना यह धर्म करो... धर्म करो... धर्म क्या है, कहाँ है? धर्म जिसका परम स्वभाव ऐसा धर्मी त्रिकाली है। उसमें पर्याय भी नहीं, तो क्रिया करूँ, यह करूँ, ऐसा राग उसमें नहीं। ऐसा जो आत्मा पंचम भावस्वरूप ध्रुव, उसमें दृष्टि और ज्ञान की पर्याय को लगाने से जो ज्ञान सम्यक् और दर्शनरूप से परिणमे, उसे धर्म कहा जाता है। यह सूक्ष्म है। कभी सुना न हो वहाँ। कौन सेवा करता था? मिथ्यादृष्टि मानता है। पर के रजकण और पर के आत्मा की सेवा करे कौन? ...लालजी!

यह सब यह रहे कार्यकर्ता। गिरधरलाल तो बड़े कहलाते हैं। वढवान के, आसपास के गाँव के कार्यकर्ता। किसके? वहाँ आवाज पड़े गिरधरभाई गाँव में जाते हैं, लो। गिरधरभाई कार्यकर्ता आये हैं आज। किसका कार्य करता है तू? उसके विकल्प का करे या पर का करे? गिरधरभाई! आहाहा! अभी वस्तु के अस्तित्व में क्या होता है और मुझमें नहीं, उसमें क्या होता है—उसकी खबर नहीं होती। मुझमें परवस्तु तो नहीं, इसलिए उसमें क्या होता है, उसे मेरे साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। परन्तु वस्तु जो पंचम भाव है, उसमें यह पर्यायें नहीं। तो उसमें क्या होता है, उसका तुझे काम नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐ मगनभाई! अजब-गजब की बातें हैं यह तो। जिसमें से मोक्ष पके और सादि-अनन्त-अनन्त आनन्द का अनुभव रहे, वह कौनसी चीज़ है? आहाहा!

चार विभावस्वभाव... देखो! चारों को विभाव कहा और चारों को स्वभाव कहा। है या नहीं? केवलज्ञान भी एक विभावस्वभाव, मिथ्यात्व भी एक विभावस्वभाव। मनुष्य की गति का उदय अन्दर हो, यह शरीर नहीं, यह भी एक विभावस्वभाव और अनन्त आनन्द की पर्याय प्रगटे और सिद्धपर्याय, वह भी विभावस्वभाव। विभावस्वभाव का अर्थ कि विशेषभाव। एक विकारी विशेषभाव, एक अपूर्ण शुद्ध विशेषभाव, एक पूर्ण शुद्ध विशेषभाव। मगनभाई! आहाहा! यह बात अन्यत्र कहाँ होगी? पूरा हो गया? अपूर्ण कहो, विपरीत नहीं कहो। यह बात आयी थी। ८२ के वर्ष। वढवाण चातुर्मास था न तब। उसे तो बहुत वर्ष हो गये। ४५ हो गये। २७ और १८ = ४५। घड़ीक में बदले वहाँ.... आहाहा! ऐसा कि दूसरे धर्म अपूर्ण हैं। श्रीमद् ऐसा कहते हैं न? श्रीमद् में वाक्य आता है न? आता है। यह कहा था तब ४५ वर्ष पहले। तुम, ऐसा कि अपूर्ण कहो, विपरीत नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि इस वीतरागमार्ग के अतिरिक्त दूसरे मार्ग पूरे विपरीत हैं।

तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ के ज्ञान में आया, वैसा वाणी में आया। यह पंचम भाव तू अकेला है। कायम रहनेवाला भाव, परिणाम से अर्थात् सहजभाव से रहनेवाला भाव। जिसके त्रिकालीभाव में किसी पर्याय की अपेक्षा नहीं तो फिर और निमित्त की अपेक्षा और अन-अपेक्षा है नहीं। आहाहा! पर्याय के सर्वथा निरपेक्षरूप से पंचम भाव रहा हुआ है। मगनभाई! कहा न उसमें? यह नहीं, ऐसा कहा न। उसका अर्थ क्या हुआ? जितनी केवलज्ञान की पर्याय है, उससे सर्वथा निरपेक्षरूप से द्रव्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उत्पन्न होती है न? उत्पन्न होती है तो त्रिकाली तो रहा नहीं।

मुमुक्षु : पंचम भाव में त्रिकाली पर्याय....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह कारणपर्याय की बात अभी नहीं है। वह गयी १४ में। उसमें यह गई १५ में। वह तो पहले आ गया उसमें, यहाँ तो पूरे भाव की बात चलती है।

अब, **कर्मों के क्षय से जो भाव हो, वह क्षायिकभाव है।** पहली व्याख्या। क्षायिकभाव की व्याख्या '**णो खइयभावठाणा**' है न? अर्थात् कर्मों के क्षय में अर्थात् यहाँ कर्म का क्षय और यहाँ आत्मा के केवलज्ञानादि क्षायिकभाव। समय एक। परन्तु कर्म के क्षय में.... यहाँ कहते हैं क्षायिकभाव अर्थात् कर्मों के क्षय से जो भाव (हो) ऐसा कहने में आया है। भाषा देखो! कर्मों के क्षय से जो भाव.... इसका अर्थ ही यह है कि त्रिकाली भाव नहीं, इस अपेक्षा से कर्म का क्षय जीव को जिस समय में हुआ, उस समय क्षायिकभाव हुआ। समय तो वही है। इसलिए क्षायिकभाव की पर्याय कर्म में हुई—क्षय हुआ, (फिर) यहाँ पर्याय हुई, ऐसा कालभेद तो है नहीं। आहाहा! **कर्मों के क्षय में अथवा कर्मक्षय के सद्भाव में।** नीचे लिखा है। कर्मों के क्षय की अस्ति इस ओर तथा इस ओर क्षायिकभाव की अस्ति। समय तो एक ही है। उसे, कर्म के क्षय की अपेक्षा से क्षायिकभाव को विभाव (अर्थात्) विशेष भाव है, सामान्य में नहीं, इसलिए नया है, इसलिए उसे पर के क्षय से जो होता है, उसे ऐसा बतलाया है। क्योंकि क्षायिकभाव पहला अनादि का नहीं था। अनादि का तो सहज पारिणामिकस्वभावभाव ध्रुव है, वह है। समझ में आया?

व्यवहार से कर्मक्षय की अपेक्षा,.... देखो न! इतना डाला न पण्डितजी ने। व्यवहार से कर्मों के क्षय की अपेक्षा जीव के जिस भाव में आवे, वह क्षायिकभाव है। वे कहे, देखो! इसमें लिखा (कि) कर्मों के क्षय से जो भाव हो। परन्तु कर्मों का क्षय तो कर्म की पर्याय में हुआ। कर्मरूपी जो पर्याय थी, वह अकर्मरूप हुई, इसका नाम कर्मों का क्षय। कर्मरूप पर्याय थी, वह अकर्मरूप हुई, इसका नाम कर्म का क्षय। अब यहाँ क्षय (हुआ) तो यहाँ (जीव में) क्या हुआ? वह तो उसे ऐसा बताया कि वहाँ यह क्षायिकभाव की पर्याय यह निमित्त सम्बन्ध से नैमित्तिक उसमें है। ऐसा बताते हैं। आहाहा! समझ में आया?

निमित्त पलटकर वहाँ क्षायिकभाव हुआ है, ऐसा है? कर्म की पर्याय टलकर अकर्म(रूप) परिणमन हुआ, इसलिए यहाँ क्षायिक का परिणमन हुआ, ऐसा है? क्षायिक का परिणमन उस समय में नया हुआ, उस समय में वह पर्याय होने का स्वकाल था, इसलिए वह क्षायिक केवलज्ञान आदि... भेद करेंगे नौ भेद। वह नयी पर्याय उसी काल में—उसी समय में उसका स्वकाल कार्यकाल का था, वह हुई। उसमें त्रिकाली स्वभावभाव में ऐसी अपेक्षा कर्म के सद्भाव की या अभाव की नहीं है। इसलिए इसे कर्म के क्षय की और सद्भाव की निमित्तपने की अस्ति थी, उसका अभाव हुआ, तब यहाँ क्षायिकभाव की पर्याय स्वयं से हुई।

लोग कहते हैं, कर्म के क्षय से—केवलज्ञानावरणीय क्षय हुआ तो केवलज्ञान हुआ, ऐसा कहो, परन्तु केवलज्ञान हुआ तो केवलज्ञानावरणीय क्षय होता है, ऐसा न कहो। परन्तु दोनों में वह का वह है, सुन न! यहाँ केवलज्ञान की पर्याय हुई, इसलिए केवलज्ञानावरणीय का क्षय हुआ, ऐसा नहीं। वह तो उसके कारण से हुआ है। और केवलज्ञानावरणीय का क्षय हुआ, इसलिए यहाँ केवलज्ञान हुआ, ऐसा नहीं है। पण्डितजी! कठिन, भाई! पण्डितों में बड़ा विवाद। अरे भगवान! जहाँ हो, वहाँ विवाद... विवाद... कर्मों के क्षय की जिसमें निमित्तता है, व्यवहार है, जिसमें कर्म का क्षय, उसे कर्म का क्षय, ऐसा उपचार है... यहाँ केवलज्ञान की पर्याय प्रगट हो या क्षायिक समकित हो, वह पर्याय अपने त्रिकाली द्रव्य के लक्ष्य से होती है। तब उस काल में कर्म का क्षय कर्म के कारण से अकर्मरूप परिणमन हो जाता है।

कर्मों के क्षयोपशम से जो भाव हो, वह क्षायोपशमिकभाव है। कर्म का किंचित् उदय रहे और किंचित् टले। कुछ टले और कुछ रहे, ऐसे भाव को क्षयोपशमभाव कहा है। उसमें उस कर्म का क्षयोपशम ऐसा... उसमें कर्म का निमित्तपना है, उसका अन्दर क्षयोपशम हुआ, यहाँ अपनी पर्याय में उस प्रकार के ज्ञान, समकित आदि का क्षयोपशमभाव हुआ। वह कालभेद तो नहीं कि वहाँ दर्शनमोह का क्षयोपशम हुआ तो (बाद में) क्षयोपशम समकित हुआ, ऐसा नहीं है। क्षयोपशम समकित की अस्ति काल में स्वयं से हुआ है, वहाँ दर्शनमोह का क्षयोपशम दर्शनमोह के कारण से उस काल में क्षयोपशम होने की पर्याय का काल था तो हुआ। समझ में आया? लोगों को ज्ञान नहीं होता, समझण नहीं होती, फिर पुकार करे कि कर्म न हो तो ऐसा होगा? कर्म न हो तो ऐसा होगा? वे कहें, भगवान त्रिलोकनाथ परमोपकारी प्रभु कहते हैं कि कर्म के कारण चार गति में भटकता है। लो, ठीक। २००६ के वर्ष में, पालीताणा। तुम ऐसा कहते हो कि अपनी भूल के कारण भटकता है। अरे! भगवान! यह बात तो (संवत्) १९७१ में बाहर आयी है। ....छठ्ठी (वर्ष) में मांडी न अभी तो (संवत्) २७ हो गया। समझ में आया?

अपनी पर्याय रागादि की अपने से होती है और पुरुषार्थ से वे रागादि टलते हैं। कर्म के कारण से टले, कर्म टले तो टलें, कर्म है तो राग होता है, (ऐसा) वस्तु में नहीं। समझ में आया? यह विवाद अभी खानियाचर्चा में ऐसी लगायी है सब। ऐसे शब्द निकाले। शास्त्र में कथन तो अनाश्रय का कथन हो, इसलिए सत्य और निश्चय और पराश्रय का कथन हो तो उपचार और व्यवहार। एक साथ दोनों का कथन हो तो प्रमाण के विषय का कथन, प्रमाण का विषय। समझ में आया? अरे! बनियों को साधारण को ऐसे नय और प्रमाण की खबर न हो। कूटते हों वह धन्धा... थोड़ा समय मिले उसमें वे उल्टी विपरीतता घुसावे और बैठ जाये ऐसे कि हाँ भाई! देखो न .... किये कर्म तो भोगे बिना छुटकारा नहीं। कर्म किये भी जीव ने और भोगता भी जीव है। कहते हैं, दोनों खोटी बात है, सुन। आत्मा विकार करे और विकार को भोगे, निर्विकारी दशा करे और निर्विकारी को भोगे। कर्म करे और कर्म भोगे—यह वस्तु के स्वरूप में है नहीं। आहाहा! समझ में आया? वे तो निमित्त के कथन व्यवहार के हैं। जिस काल में क्षयोपशमपना हुआ, यहाँ ज्ञान में क्षयोपशम, समकित में क्षयोपशम, वहाँ कर्म के रजकणों में वह पर्याय उस प्रकार से क्षयोपशम होने का काल था, तो हुई है।

कर्मों के उदय से जो भाव हो, वह औदयिकभाव है। लो ठीक। विकार तो कर्म के उदय से भाव हो। कर्म के उदय से जो भाव हो, ऐसा कहा, वह उदयभाव। कर्म का उदय, यह तो निमित्त की व्याख्या की। यहाँ विकार का उदय वह स्वयं से हुआ, वहाँ उसका (—कर्म का) उदय निमित्त है, ऐसी बात को बतलाया। निमित्त, वह नैमित्तिक को प्रसिद्ध करता है। आहाहा! **कर्मों के उदय से जो भाव हो,...** उसमें भाव तो अपना अपने से होता है राग-द्वेष-मिथ्यात्व, कहो, समझ में आया? परन्तु उसमें कर्म के उदय का निमित्त था, उपस्थिति थी, कर्म की तद्भाव अस्ति थी, इतना बताने को, वहाँ विकार का करनेवाला जीव है, ऐसा नैमित्तिक को प्रसिद्ध करता है। निमित्त, नैमित्तिक को प्रसिद्ध करता है। निमित्त, नैमित्तिक को उत्पन्न नहीं करता। बिल्कुल कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं है। निमित्त, नैमित्तिक को उपजाता नहीं तो कारण-कार्य (कहाँ से) हो? निमित्त, नैमित्तिक को प्रसिद्ध करता है कि यहाँ उदय हुआ और यहाँ राग-द्वेष करनेवाला जीव है, बस इतनी बात है।

कर्मों के उपशम से जो भाव हो, वह औपशमिकभाव है। लो, पंचास्तिकाय में तो ऐसा आया है कि कर्म बिना चार भाव होते नहीं। बिना कर्म के चार भाव होते नहीं। इसका अर्थ क्या? विशेष अर्थ है कि उसमें एक उदय में निमित्त की अस्ति का सूचन है और तीन में निमित्त के अभाव का सूचन है। अभाव होना या निमित्त रहना, वह तो उसके जड़ की स्वतन्त्र पर्याय है। समझ में आया?

उपशम से जो भाव हो,... लो। कर्मों के उपशम से.... कर्म तो कर्म में अपने कारण से वहाँ उपशम हो। यहाँ जीव समकित पावे (तो) अपने उपशमभाव के पुरुषार्थ से प्राप्त करता है। समझ में आया?

सकल कर्मोपाधि से विमुक्त,... सकल कर्मोपाधि अर्थात् निमित्त और निमित्त का अभाव—दो। दोनों से **विमुक्त, ऐसा परिणाम से जो भाव हो,...** परिणाम से अर्थात् सहजभाव जो हो। परिणाम से अर्थात् योगफल में ऐसा नहीं। विद्यालय में आता है न कि परिणाम क्या आया? परिणाम से अर्थात् सहजभाव से जो भाव हो, **वह पारिणामिकभाव है।** आहा! समझ में आया? आज का अधिकार बड़ा बहुत सरस है। **परिणाम से जो भाव हो...** परिणाम से अर्थात् सहजरूप से जो भाव हो, ऐसा। सहजस्वभाव,

पंचम भाव, ध्रुव भाव जिसमें उसकी पर्याय का उत्पाद भी नहीं, जिसमें व्यय भी नहीं। जिसकी ध्रुवता में उत्पाद और व्यय नहीं। जो क्षायिकभाव पर्याय, उसका उत्पन्न होना, ऐसा भी जिसके ध्रुव पंचमभाव पारिणामिकभाव सहजभाव में वह भाव नहीं। सहजभाव ऐसा जो ध्रुवभाव शुद्धभाव जीवभाव, उसमें वह क्षायिकभाव भी नहीं। समझ में आया? अरे, कठिन बात!

सकल कर्मोपाधि से... उपाधि शब्द से अस्ति और नास्ति—दोनों को उपाधि कहा जाता है। कर्म का अभाव होता है और यहाँ हो तो भी उस उपाधि का अभाव हुआ। परन्तु वह उपाधि कहलाये न? अपेक्षित हो गयी न उपाधि। कर्म का.... क्या कहा? उपाधिभाव में कर्म की अस्ति तो उपाधि, परन्तु गयी, उसे भी उपाधि कहने में आता है। क्योंकि इतनी अपेक्षा रही न गयी की। यह दोनों इसमें नहीं। सूक्ष्म है, भाई! यह वीतराग जैनदर्शन का मूल तत्त्व है अर्थात् वस्तु के विश्वदर्शन का। जैनदर्शन कोई सम्प्रदाय नहीं, वह विश्वदर्शन है। विश्वदर्शन... समस्त पदार्थों का जो स्वरूप, वह जैनदर्शन है। समझ में आया?

इन पाँच भावों में, औपशमिकभाव के दो भेद हैं,... वर्णन करते हैं अभी, हों! **क्षायिकभाव के नौ भेद हैं, क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेद हैं, औदयिकभाव के इक्कीस भेद हैं, पारिणामिकभाव के तीन भेद हैं। अब, औपशमिकभाव के दो भेद इस प्रकार हैं—उपशमसम्यक्त्व, और उपशमचारित्र।** लो। उपशमसमकित और चारित्र—उपशम के दो ही भाव होते हैं। ज्ञान में उपशम नहीं होता। उपशम समकित चौथे से ग्यारहवें, उपशम चारित्र ग्यारहवें में होता है। आठवें से श्रेणी माँडकर... यह दो भाव हैं, वे पर्याय हैं। जिसमें कर्म अर्थात् उपशम की अपेक्षा रहती है, इससे उसे विभावभाव कहकर पर्याय द्रव्य में है, ऐसा कहा। ग्यारहवें में.... उपशम हुआ। उपशम चारित्र, उपशम समकित भी ग्यारहवें में होता है.... यहाँ तो कहते हैं, पाँच भाव में उपशम के दो भेद, वे ध्रुव में नहीं हैं। पारिणामिक के भाव में वे भाव नहीं हैं। वह उपशम समकित और उपशम चारित्र पंचम भाव जो ध्रुव सहज भाव त्रिकाली, ऐसा जो जीव, उसे नहीं है, ऐसे जीव को नहीं है। आहाहा! द्रव्यरूप जो जीव, ध्रुव शुद्धभावरूप जो जीव, उसे उपशमसमकित और उपशमचारित्र नहीं है। पण्डितजी! आहा! सूक्ष्म बात।

क्षायिकभाव के नौ भेद इस प्रकार हैं—क्षायिकसम्यक्त्व,... जिसमें दर्शनमोह के क्षय का अपेक्षित भाव निमित्त हो, और आत्मा क्षायिकभाव से स्वयं से परिणमे पर्याय में, ऐसा जो क्षायिक समकितभाव, वह शुद्धभाव जीवद्रव्य जो द्रव्यजीव है—जो वस्तुजीव है, उसमें वह नहीं। इतना स्पष्ट किया है, पण्डितजी! लोग वाँचते नहीं, स्वाध्याय करते नहीं और स्वाध्याय करे तो अपनी दृष्टि से करे। देखो! इसमें लिखा है, इसमें लिखा है। **यथाख्यातचारित्र....** ११वें से १४ (वें गुणस्थान) तक यथाख्यातचारित्र—जैसा स्वरूप है, वैसी प्रसिद्धि पर्याय में शान्ति, स्थिरता प्रगट हुई, वह यथाख्यातचारित्र। उसमें चारित्रमोह के अभाव की अपेक्षा है, इसलिए उस यथाख्यातचारित्र को भी विभावस्वभाव कहा गया है और वह यथाख्यातचारित्र जो द्रव्यजीव है, ध्रुवजीव है, उसमें वह नहीं। आहाहा! समझ में आया? यथाख्यातचारित्र 'है' ऐसी अस्ति तो है या नहीं? यथाख्यातचारित्र है, क्षायिक समकित है, परन्तु वह है, वह पर्याय—अवस्था में है, त्रिकाली द्रव्य में वह है नहीं। आहाहा!

इसी प्रकार **केवलज्ञान...** केवलज्ञानावरणीय में क्षय की जिसमें निमित्तता हो, नैमित्तिक उस काल में केवलज्ञान अपने कारण से परिणमा है परन्तु वह नया हुआ, इसलिए उसे विशेषभावरूपी विभावभाव कहकर, वह जीवद्रव्य जो है, जिसे ध्रुव जीव कहते हैं, जिसे वास्तव में आत्मा कहते हैं, उसमें वह केवलज्ञान नहीं। केवलज्ञान नहीं अर्थात् केवलज्ञानावरणीय कर्म है ही नहीं न पर्याय में भी वह? उसने लिखा है, केवली तो व्यवहार से जाने पर को, निश्चय से तो आत्मा को जानते हैं। बाकी पर को जाने, ऐसा करके तुम क्रमनियमित सिद्ध करते हो, ऐसा नहीं हो सकता। ऐसा कहा उसमें, अभी आया.... कोई एक शीतलप्रसाद क्षुल्लक है, वह चलाता है अभी शिविर। अभी शिविर चलाना है न?

तुम केवलज्ञान की अपेक्षा लेकर जो क्रमनियमित सिद्ध करोगे, क्रम-क्रम से जिस समय में जहाँ होनेवाली होती है, ऐसा कहोगे, तो केवलज्ञानी पर को तो जानता नहीं। केवलज्ञानी स्व को जानते हैं, और ऐसा... पर में केवलज्ञान की अपेक्षा से क्रमबद्ध सिद्ध करने जाओगे तो नहीं होगी। कैसी दलील उसकी? ऐई! आहाहा! अरे भगवान! केवलज्ञान है अपनी आत्मज्ञपर्याय, परन्तु उसमें पर लोकालोक और अपना

द्रव्य-गुण-पर्याय सब जानने में आ गया है अन्दर। वह स्व और पर का ज्ञान, वह अपना ज्ञान है। उसका ज्ञान कहना, वह व्यवहार—इस अपेक्षा से व्यवहार है। उसका ज्ञान पूरा इसमें नहीं आया, ऐसा नहीं है। भारी विवाद, भाई! मूल बात का विवाद। केवलज्ञान... ज्ञान से निश्चय करो वह तो उसने कहा है... केवलज्ञान से देखो तो जितने तीन काल के समय, उतनी तीन काल की अवस्थायें हैं। भगवान ने तो जिस समय में जहाँ देखा, वह स्वकाल में होता है, उसे भगवान ने देखा है। यह तो स्वीकार किया है उन लोगों ने। हो सब स्वीकार किया है।

परन्तु श्रुतज्ञान की अपेक्षा से, श्रद्धा श्रुतज्ञान की रखे, परन्तु वर्तन में—उसका प्रयोग में दूसरी बात करता है। यह वह क्या बात है? यह बात नहीं थी वहाँ तक दिक्कत नहीं। ....यह बाहर आया सब। केवलज्ञान ऐसा कि.... केवलज्ञान की अपेक्षा से स्वकाल में प्रत्येक पर्याय होती है, यह बराबर, परन्तु श्रुतज्ञानी श्रद्धा रखे, परन्तु श्रुतज्ञानी को खबर नहीं तीन काल—तीन लोक की, इसलिए स्वयं पुरुषार्थ से ऐसा करना, ऐसा मानता है और पुरुषार्थ से ही उसे होता है। अरे! परन्तु केवली को माने और केवली को स्वकाल में वह भी पुरुषार्थ से होता है। स्वकाल में जो होता है, वह प्रत्येक में शक्ति से ही होता है प्रत्येक द्रव्य में। यहाँ अपनी शक्ति से ही श्रुतज्ञानी पुरुषार्थ करके काम करे। वह तो उस समय में होनेवाला है, ऐसा भगवान ने देखा है। भारी गड़बड़, भाई!

केवलज्ञान की पर्याय है अस्तिरूप से, उसकी जो श्रद्धा करे... केवलज्ञान की एक समय की पर्याय तीन काल—तीन लोक को और अपने को अपनी अवस्था में जाने, ऐसा जो निर्णय करने जाता है, उसे पर्याय के आश्रय से निर्णय नहीं होता। जिसमें सर्वज्ञपना—केवलज्ञानपना पड़ा है त्रिकाल, उसका आश्रय लेगा तो केवलज्ञान की प्रतीति यथार्थ होगी। आहाहा! बनिया-वनिया धन्धे में लवलीन (हो), घण्टे-दो घण्टे उपाश्रय में जाये निवृत्त होकर, मन्दिर में जाये, ऊपर जो कहे वह हाँ। सिर पर तो मक्खी बैठी हो... दस बकरा, दस बकरी, दस बकरे का बच्चा, गुरु मारे गप्पा, वह कहे सच्चा। कुछ भान नहीं होता। व्यापार में सब परीक्षा करे। ऐसा करे न, नामा देखे न, घिसोडा ऐसे देखे और वैसे देखे, कोई दाग तो नहीं न घिसोडा में? घिसोडा समझते हैं या नहीं? घिसोड़ा... घिसोडा... तुरिया... सब्जी तुरिया। यहाँ घिसोड़ा कहते हैं, तुरिया भी कहते

हैं। यह लेना हो तो भले दो पैसे का सेर हो... पहले तो दो पैसे का सेर था न, अब सब महँगा हो गया, तो भी सर्वत्र जाँच करे। ...की सींग देखे तो जाँच करे कि सींग में कोई दाग तो नहीं न! ऐसे देखे, छोटी देखे, सींग देखे न... यहाँ देखता नहीं, कुछ परीक्षा... यहाँ अन्ध-अन्ध... पड़ा है। धर्म जैसी अमूल्य चीज़... ऐसी (बाहर की) चीज़ तो अनन्त बार आयी और गयी, उसमें तुझे क्या? यह धर्म जैसी अमूल्य चीज़ की परीक्षा करनी हो तो उसमें निवृत्ति नहीं मिलती।

कहते हैं, क्षायिक केवलज्ञान और क्षायिक केवलदर्शन... हुई है पर्याय स्वयं के काल में स्वयं से, परन्तु जिसमें कर्म के निमित्त के अभाव की अपेक्षा है, इसलिए उसे विभावस्वभाव कहकर पर्याय को बतलाया और वह पर्याय उस त्रिकाल द्रव्य में नहीं, ऐसा उसे बतलाया। ऐसा अंश त्रिकाल में नहीं। समझ में आया? कहो, भीखाभाई! अब इसमें अकेली भक्ति-बक्ति चले, ऐसा कुछ नहीं। भक्ति करो... भक्ति करो। परन्तु किसकी भक्ति? **अन्तरायकर्म के क्षयजनित...** लो, आया? उसमें तो नहीं डाला था। **अन्तरायकर्म के क्षयजनित....** अन्तरायकर्म का क्षय हुआ, तब उत्पन्न हुए **दान।** स्वरूप का दान। स्वयं अपने को पूर्ण आनन्द दिया, वह दान। क्षयजनित, यह निमित्त से कथन किया। अपने स्वरूप में अपने आनन्द का दान स्वयं दे, वह अपने पुरुषार्थ परिणति से स्वयं करता है। तब अन्तराय का कर्म साथ में निमित्तरूप होता है, उसका क्षयोपशम होता है या क्षय होता है। क्षायिक की बात है न अभी?

लाभ... होना। अनन्त स्वरूप का पर्याय में लाभ होना। अपनी शुद्ध आनन्द आदि की पर्याय, उसका आत्मा की पर्याय में लाभ होना, वह अन्तराय का निमित्तपना उसका है—उसका क्षय का निमित्त है (इससे) उसे क्षयजनित कहा जाता है। है तो आत्मजनित। निश्चय से तो आत्मस्वरूप का पूर्ण लाभ आत्मजनित है, परन्तु निमित्तजनित के व्यवहार से उसकी प्रसिद्धि करके बतलाया है। **लाभ...**

भोग... अनन्त आनन्द का भोग। अज्ञानी अनादि से राग का भोग भोगता था, वह भी अपने उल्टे पुरुषार्थ की पर्यायकाल में ही भोगता था। और आत्मा का भोग... एक बार भोगा जाये, वह भोग। एक समय की पर्याय अतीन्द्रिय आनन्द अथवा अनन्त गुण की निर्मल अंश की पर्याय, क्षायिक अंश की पर्याय, उसे जो भोगे, वह अन्तराय

क्षयजनित कहा गया है, यह निमित्त से कहा। अपने पुरुषार्थ से उस आत्मा के अनुभव का भोग करता है। समझ में आया? यह दान, लाभ और भोग, वे द्रव्य में नहीं हैं। आहाहा! अर्थात् कि आनन्द के अनुभव का भोग, वह द्रव्य में नहीं है। ऐसा द्रव्य— ध्रुवद्रव्य है, वहाँ नजर डाल। वहाँ त्राटक नजर डाल, तब तेरा संसार नाश होकर परमात्मरूप होगा। दूसरा कोई उपाय नहीं है। जहाँ खान है, वहाँ खोद। जहाँ खान है वहाँ खोद। सोना की खान हो, वह खोदे या सोना लेने के लिये धूल की खान में खोदते होंगे? इसलिए कहते हैं।

भोग, उपभोग.... आत्मा के आनन्द का बारम्बार उपभोग। अन्तरायकर्म के जनित कहा, वह निमित्त से यह प्रसिद्धि की। वहाँ एक आत्मा के आनन्द का भोगनेवाला पर्याय में है। **वीर्य...** यह अन्तरायकर्म क्षयजनित वीर्य कहा, परन्तु वह अपने क्षायिकभाव के वीर्य से प्रगट किया है। आहाहा! अरे! आज तो सूक्ष्म ही आया। वे पुराने लोग हों तो... कुछ भान नहीं होता। तावकाय क्या और तत्सूत्री क्या... आहाहा! ऐसा स्वरूप भगवान...

दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य यह अन्तरायकर्म के क्षय से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा कहा, वह तो व्यवहार वचन है। अपने पुरुषार्थ से प्रगट हुआ, यह निश्चय है। तथापि ये दोनों चीज़ ध्रुव में नहीं है। आहाहा! गजब बातें, भाई! जीव को नहीं, ऐसा कहा है न? क्या? इस जीव को नहीं चार भाव। तब जड़ को होंगे? यह कह गये हैं पहले ३९ में और ४० में। जीव के नहीं, जीव को यह नहीं.... जीव को यह नहीं। वह जीव अर्थात् त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक ध्रुवस्वभाव जो वास्तव में ध्रुवजीव है, उसे यह नहीं। पर्यायरूपी जीव, व्यवहारिक जीव में है। यह व्यवहार, वह अभूतार्थ है। निश्चय, वह सत्यार्थ और भूतार्थ है। कहो, ...भाई! ऐसा कुछ था वहाँ?

यह करो, यह करो, अपवास करो, दीक्षा ले लो और मुँडाओ। ऐ प्रकाशदासजी! मुँडा जाओ। अरे! मिथ्यात्व तो मुँडाओ। मिथ्यात्व का तो नाश कर, फिर मूँड न बाहर में। इसे मिथ्यात्व के नाश की तो खबर नहीं होती कि मिथ्यात्व क्या और मिथ्यात्व का नाश कैसे हो। पहली चीज़ तो वह महापाप है। एक समय की पर्याय को पूरा आत्मा मानना, यह कहते हैं कि मिथ्यात्व है।—ऐसा कहते हैं। रागवाला मानना, कर्मवाला

मानना, पुण्यवाला मानना, शुभ-अशुभवाला मानना—वह तो मिथ्यादृष्टि जीव है। परन्तु द्रव्य को अन्दर में, 'यह पर्याय द्रव्य में है', ऐसा मानना, वह भी मिथ्यादृष्टि है अथवा उस पर्याय जितना आत्मा है, उतना व्यवहार है, उसे मानना, वह भी मिथ्यात्व है। समझ में आया? निश्चय जीव को मानना कि जिसमें यह पर्यायें नहीं, ऐसा ध्रुव, उसे मानना, इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। भारी कठिन बात! समझ में आया? क्षायिकभाव के भेद हुए।

क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेद इस प्रकार हैं—मतिज्ञान,... लो। मतिज्ञान, वह ध्रुव में नहीं। मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से उत्पन्न हो वह मतिज्ञान। यह निमित्त से प्रसिद्धि करायी, परन्तु मतिज्ञान होता है अपने पुरुषार्थ से। मतिज्ञान की पर्याय अपने पुरुषार्थ से होती है, ऐसा जो मतिज्ञान उसे, मतिज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से हुआ, ऐसा कहना वह व्यवहार। दोनों चीज़ ध्रुव में नहीं। आहाहा! मतिज्ञान ध्रुव में नहीं, लो! पंचमभाव श्रुतज्ञान (रूप) ध्रुव में नहीं, ऐसा। ऐसा कहे, जितना क्षयोपशम श्रुतज्ञानावरणीय का हो, उतना ज्ञान यहाँ होता है। प्रश्न था न? रिकॉर्ड माँगी है बाहर। यह क्षयोपशम मति-श्रुत का जितना अपना पुरुषार्थ हो, उतने प्रमाण में होता है। उसके बदले वे लोग ऐसा कहते हैं, कर्म का जितना क्षयोपशम हो, उस प्रमाण क्षयोपशम होता है। रिकॉर्डिंग है। देखा है या नहीं? रिकॉर्डिंग... उसमें है। समझ में आया?

कानजीस्वामी ऐसा कहते हैं कि अपनी योग्यता प्रमाण मति-श्रुतज्ञान होता है। महाराज! कैसे होता होगा? कि नहीं। देखो! ऐसे कैसे हो? केवली कहते हैं, ऐसा नहीं, ग्यारह अंगधारी कहते हैं, ऐसा नहीं। बारह अंगधारी, लो, बारह अंगधारी। इन्हें मिले थे न। ऐई! यह सब गड़बड़ चली है चारों ओर। दिगम्बर में भी यह, श्वेताम्बर में भी यह, चारों ओर यह बात। चूल्हे में राख... जितने प्रमाण में मतिज्ञान के आवरण का क्षयोपशम हो, उतना हो—ऐसा नहीं। कर्म का जिसमें निमित्तपना है, उस निमित्त में अभावपना हो, परन्तु क्षयोपशम जो ज्ञान में होता है, वह स्वयं से होता है। पर्याय की उस समय की योग्यता से वह पर्याय हुई है। कल तो यहाँ तक कहा नहीं था रात्रि में? पर्याय का कारण-कार्य पर्याय है। लो, ठीक। तत्त्वार्थराजवार्तिक, रात्रि में कहा था न! तब तो पर्याय कहलाती है न? पर्याय किसे कहा जाता है? उस समय की वह पर्याय

वही उसे कारण-कार्य, यह पर्यायार्थिकनय का विषय है। कर्म के कारण से नहीं, द्रव्य-गुण के कारण से नहीं। आहाहा!

यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की पर्याय अपने स्वतन्त्र उस काल में हुई, परन्तु जैसे त्रिकाली सत् है, ऐसा वर्तमान पर्याय का सत् है, परन्तु त्रिकाली सत् में वह नहीं। इसलिए जिसमें त्रिकालीपना है, वह उसमें श्रद्धा और निर्णय करने योग्य है। आहाहा! **अवधिज्ञान...** अवधिज्ञानावरणीय... यह कथन व्यवहार है। **मनःपर्ययज्ञान...** क्यों तुमको नहीं होता? और ऐसा कहते हैं। गजब करते हैं न! उल्टा पाड़ने को, आत्मा को उल्टा करने को, पराधीन करने के लिये कैसा प्रयास करते हैं? तुमको क्यों नहीं? करो न। वह अवधिज्ञानावरणीय अवरोधक है, इसलिए नहीं होता। अवरोधक कौन? सुन न! जातिस्मरण सबको क्यों नहीं होता? किसी-किसी को होता है। जिसे कर्म खिरे, उसे होता है। ठीक। और ऐसा कहते हैं। उसके क्षय से होता है... कर्म की विपरीतता जैन में ऐसी विपरीतता घुसा दी है। अवधि, मनःपर्ययज्ञान (आदि) चार ज्ञान, वे ध्रुव में नहीं। पंचमभाव में वे चार ज्ञान होते ही नहीं। केवलज्ञान नहीं, तो और यह पर्याय तो अपूर्ण है। पूर्ण पर्याय जहाँ नहीं, वहाँ अपूर्णपर्याय की बात (क्या करना)? समझाना हो तो यह सब समझाओ न?

कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान, ऐसे तीन भेद... अज्ञान, यह उसमें नहीं। **चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन,...** और केवलदर्शन यह भी उसमें नहीं। वह केवलदर्शन पहले लिया, अब अपने तो यहाँ जरा थोड़ा लेना है। **काललब्धि....** भी द्रव्य में नहीं। लो, काललबिध वह क्षयोपशमभाव से एक समय की पर्याय है। ध्रुव में काललब्धि नहीं। आहाहा! तुझे काललब्धि के सामने देखना नहीं है, ऐसा कहते हैं। पर्याय के सामने देखना नहीं। वस्तु जो है त्रिकाली पंचम पारिणामिकभाव सहजभाव उसे देखने से, उसकी श्रद्धा करने से पर्याय में शान्ति, सम्यग्दर्शन प्रगट हो, वह उसका— काललब्धि का काल ही था। काललब्धि देखने के लिये रुकना नहीं, देखना है वह द्रव्य। समझ में आया? लो, यह लेना था थोड़ा। समय हो गया।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण ३, शुक्रवार, दिनांक - ११-६-१९७१
गाथा-४१, श्लोक-५८-५९, प्रवचन-३८

शुद्धभाव अधिकार, ४१ गाथा।

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा॥४१॥

नहिं स्थान क्षायिकभाव के, क्षायोपशमिक तथा नहीं।
नहिं स्थान उपशमभाव के, होते उदय के स्थान नहिं॥४१॥

टीका:—चार विभावस्वभावों के स्वरूपकथन द्वारा पंचम भाव के स्वरूप का यह कथन है।

आत्मा में पाँच भाव हैं। त्रिकाली पारिणामिकभाव सहज स्वभावभाव, जिसे कर्म का निमित्तपना या निमित्त का अभावपना लागू नहीं पड़ता, ऐसा जो त्रिकाली पारिणामिकस्वभाव; पारिणामिकस्वभाव अर्थात् सहजस्वभाव, वह पारिणामिकभाव है। उसकी हैं चार अवस्थायें, उन्हें यहाँ विभावस्वभाव कहा जाता है। **चार विभावस्वभावो....** औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक—चार विभावस्वभाव हैं—विशेषभाव हैं। जिसे कर्म की उपाधि लागू पड़ती है चार भाव को। कर्म उपाधि की अपेक्षा लागू पड़े, वह चार भाव और उपाधि रहित स्वभावभाव, वह पंचम भाव। **चार विभावस्वभावों के स्वरूपकथन द्वारा पंचम भाव के स्वरूप का यह कथन है।** मूल तो पंचम भाव सहज पारिणामिक अस्तिवाला त्रिकाली सत् ध्रुव का यहाँ कथन मुख्यरूप से है। अब इसका अर्थ करते हैं।

कर्मों के क्षय से जो भाव हो, वह क्षायिकभाव है। जिसमें कर्म के निमित्त का क्षयपना—अभावपना—विश्लेष—नाशपना है, जिस भाव में कर्म के क्षय का निमित्तपना है व्यवहार से, उसे यहाँ क्षायिकभाव कहा जाता है। क्षायिकभाव, वह पर्याय है, आत्मा की निर्मल पर्याय है, परन्तु उसे कर्म के निमित्त की अपेक्षा (है, वह) स्वभाव की अपेक्षा से, वह भी उपाधि है, इसलिए उसे विभावस्वभाव कहा जाता है।

कर्मों के क्षयोपशम से जो भाव हो, वह क्षायोपशमिकभाव है। कर्म के कुछ उदय और कुछ अनुदय, ऐसी दशा, उसे क्षयोपशमभाव कहते हैं। वह भी एक आत्मा की पर्याय-अवस्था है। **कर्मों के उदय से जो भाव हो, वह औदयिकभाव है।** जिस विकारी आदि भाव में कर्मों का निमित्तपना है, उसके कारण निमित्त के आधीन हुई वस्तु, इससे वह उदयभाव है। **कर्मों के उपशम से जो भाव हो, वह औपशमिकभाव है।** कर्मों के खिरने से यहाँ वह... पुरुषार्थ से नहीं। है तो पुरुषार्थ से कहा, परन्तु कर्म के उपशम की अपेक्षा आती है, इसलिए उसे उपशमभाव कहा जाता है।

सकल कर्मोपाधि से विमुक्त,... लो। उसमें उपाधि से लिया था। सकल कर्म की उपाधि (अर्थात्) कर्म की अस्ति या नास्ति, ऐसी जिसे उपाधि लागू नहीं पड़ती। ऐसे परिणाम से जो भाव होता है, वह पारिणामिकभाव है। परिणाम से अर्थात् रिजल्ट से जो भाव हो, ऐसा? यह लड़कों का परिणाम नहीं आता? परिणाम (परीक्षाफल) कितने प्रतिशत आया? परीक्षा लेते हैं न? उसे परिणाम कहते हैं। वह परिणाम यहाँ नहीं। वह तो परीक्षा का फल आया, वह परिणाम। वह तो वस्तु का स्वरूप, आत्मा का... आत्मद्रव्य अस्ति, आत्मा वस्तु की त्रिकाली अस्ति, उसे यहाँ पारिणामिकभाव कहते हैं। सकल कर्म... वापस उसमें अर्थ किया।

उनमें कर्म की उपाधि का सद्भाव है, चार भावों में। वहाँ भी (पंचास्तिकाय में) ५६वीं गाथा में आता है 'उपाधि'। यह कहीं घर का अर्थ नहीं किया। कोई ऐसा कहे.... अमृतचन्द्र ने यह अर्थ किया है। अमृतचन्द्राचार्य ने 'सकल' का अर्थ उपाधि (किया) है। पंचास्तिकाय। 'उपाधि का चतुर्विधपना जिसका कारण है....' उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक—चार में 'उपाधि का चतुर्विधपना जिसका कारण है...' देखो! चार। और 'स्वभाव जिसका कारण है, ऐसा एक है...' चार भाव में कर्म के निमित्त की उपाधि है। भले निमित्त का अभाव हुआ, परन्तु अपेक्षा आयी न (इसलिए) उपाधि (कहा)। और जिसका स्वरूप का भेद... अकेला स्वरूप का प्रकार, उसे पारिणामिक कहते हैं। सहज ध्रुवभाव। चार भाव उत्पाद-व्यय में जाते हैं, पाँचवाँ भाव अकेला ध्रुव में जाता है।

पद्मनन्दि ऐसा लिखते हैं न? .... आहाहा! कर्मों के आवरणवाले, ऐसा लिखते

हैं न? चार भाव आवरणवाले हैं। आवरणवाले कहो या उपाधिवाले कहो—सब एक का एक है। सकल कर्मोपाधि से विमुक्त ऐसा पारिणामिक सहजभाव से भाव, स्वाभाविकभाव, त्रिकाल भाव, उत्पाद-व्यय बिना का भाव, उसे यहाँ पारिणामिकभाव कहते हैं। **इन पाँच भावों में, औपशमिकभाव के दो भेद हैं, क्षायिकभाव के नौ भेद हैं,...** भेद की व्याख्या की। **क्षायोपशमिकभाव के अठारह भेद हैं, औदयिकभाव के इक्कीस भेद हैं, पारिणामिकभाव के तीन भेद हैं।**

अब, औपशमिकभाव के दो भेद इस प्रकार हैं—उपशमसम्यक्त्व, और उपशमचारित्र। ... दो भेद है न? कर्म की उपाधि जिसे लागू पड़ी इतनी, इससे उसे.... उपशम-कर्म का उपशम, दर्शन का उपशम, चारित्र का उपशम इतनी उसे उपाधि लागू पड़ी न? इसलिए वह उपाधिवाला भाव है। उपशमसमकित और उपशमचारित्र।

क्षायिकभाव के नौ भेद इस प्रकार हैं—क्षायिकसम्यक्त्व,... यह भी कर्म की उपाधि का सम्बन्ध है इसे, कर्म का सम्बन्ध है इसे। सम्बन्ध टूटा, इतना भी सम्बन्ध हुआ न? कर्म उपाधिवाले क्षायिकसमकित को कहा जाता है। **यथाख्यातचारित्र...** पूर्ण स्वरूप अन्दर यह यथाख्यात ग्यारह, बारह, तेरह, चौदह (गुणस्थान)। वह भी कर्म के उपाधि का अभाव, इतनी अपेक्षा आयी न, इसलिए उसे कर्मोपाधिवाला भाव (कहा)। पारिणामिकभाव उपाधि रहित स्वभावभाव, उपाधि बिना का, उत्पाद-व्यय बिना का स्वभावभाव। **केवलज्ञान...** वह भी उपाधिवाला भाव। लो, ठीक! ज्ञानावरणीयकर्म की उपाधि थी न, उसका अभाव है, इतनी उसे अपेक्षा आयी न? उत्पाद-व्यय... ऐसा केवलज्ञान उत्पाद होता है। इसलिए वह उपाधिभाववाला गिनकर छोड़नेयोग्य है, ऐसा कहेंगे। मुक्ति का कारण नहीं, केवलज्ञान मुक्ति का कारण नहीं, ऐसा कहते हैं। **केवलदर्शन...** केवलदर्शन तेरहवाँ गुणस्थान। (इसमें) कर्म की उपाधि के अभाव की अपेक्षा आयी, (इसलिए) वह भी आदरणीय नहीं।

अन्तरायकर्म के क्षयजनित दान,... दान... स्वरूप का दान। लो, प्रगट हुआ न... ज्ञानी को। स्वरूप का **लाभ,...** स्वरूप का अनुभव **(भोग),** बारम्बार **उपभोग,...** स्वरूप का **वीर्य**—यह पाँच पर्याय, उसे कर्म के अभाव की अपेक्षा उसमें आयी, इसलिए उन्हें भी कर्म की उपाधि लागू कही जाती है। कहो! **क्षायोपशमिकभाव के**

अठारह भेद इस प्रकार हैं—मतिज्ञान,... कहो! मतिज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है। दोनों कर्म की अपेक्षावाले हैं। मतिज्ञान को अपेक्षा आयी न निमित्त की? त्रिकाल परम स्वभावभाव सत्... सत्... दल, एकरूप स्वाभाविक दल, एकरूप स्वाभाविक पदार्थ, पारिणामिकभाव सहजभाव, वह एक उपादेय है—ऐसा सिद्ध करना है। उसकी भावना करनेयोग्य है। भावना तो सम्यक् क्षायिकभाव की भावना हो, परन्तु भावना स्वभाव का आश्रय लेकर हुई है न (इसलिए) उसके काल में भावना से पंचमगति का लाभ होता है। पंचम भाव की भावना से पंचम गति का लाभ होता है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह और कहाँ... यह तो वहाँ ध्रुव, वह ध्रुव है अकेली वस्तु। आता है और जाता है इतना भेद है व्यवहारनय का। अकेला चैतन्यकन्द... उसमें आता है, पारिणामिकभाव की भावना से पंचम गति में मुमुक्षु जाते हैं, लो। ३२० गाथा में ऐसा आता है, जयसेन आचार्य। मोक्ष और मोक्ष के कारण का परिणाम, उसे ध्रुव नहीं करता। मोक्ष और मोक्ष के कारणरूप परिणाम... मोक्ष के परिणाम और मोक्ष के कारण परिणाम, बन्ध के परिणाम और बन्ध के कारण के परिणाम—इन चार परिणाम से रहित है, उसे ध्रुव और पारिणामिकभाव कहा जाता है। अत्यन्त अभेद बात है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान—ऐसे ज्ञान चार... यह चार ज्ञान क्षयोपशमभाव है। क्षयोपशम (अर्थात्) कुछ विघ्न है और कुछ विघ्न टला है। उद्भव-अनुद्भव नहीं। पंचास्तिकाय में है। समझ में आया? **कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और विभंगज्ञान,...** यह भी क्षयोपशमभाव से है। उसे कर्म की उपाधि का.... **ऐसे भेदों के कारण अज्ञान तीन; चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन, ऐसे भेदों के कारण दर्शन तीन;...** क्षयोपशम। (केवलदर्शन) क्षायिकभाव में आ गया। **काललब्धि,...** लो। उसमें क्षयोपशमलब्धि (ली थी)। पाँच लब्धियाँ हैं न पाँच? उसमें क्षयोपशम (ली), यहाँ काललब्धि ली। **करणलब्धि, उपदेशलब्धि**—देशना, **उपशमलब्धि—** यह विशुद्धि **और प्रायोग्यतालब्धि ऐसे भेद के कारण, लब्धि पाँच,...** लो, ऐसे भेद किये तो वह रतनचन्दजी कहे—नहीं, सिद्धान्त अनुसार नहीं है। भाई! किस अपेक्षा से भेद किये,

सुन न! ऐसा करके लोगों ने टीका को उड़ा दिया। टीका में एकदम मोक्षमार्ग निरपेक्ष सिद्ध करते हैं। व्यवहार की जिसे अपेक्षा नहीं, ऐसा निश्चयमोक्षमार्ग है।

मुमुक्षु : मोक्षमार्ग स्वयं उपाधि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दूसरी बात है। वह तो निश्चयमोक्षमार्ग को व्यवहार की अपेक्षा नहीं, ऐसा। व्यवहार की, राग की—दोनों की अपेक्षा नहीं, ऐसा। यह और निश्चयमोक्षमार्ग पर्याय है, वह तो कर्म के निमित्त का अभाव है, (इस अपेक्षा से) उपाधि, वह तो केवलज्ञान को (भी) उपाधि (गिना)। यहाँ तो उस निश्चयमोक्षमार्ग में व्यवहार का अभाव सिद्ध किया है, यह उन्हें सुहाता नहीं। व्यवहारसहित हो तो निश्चय, व्यवहार से निश्चय होता है। व्यवहार-फ्यवहार से कभी होता नहीं। शास्त्र में ऐसा आवे 'नियत हेतु' छहढाला में। आहाहा! 'हेतु नियत को होई' व्यवहार। यह तो उसका ज्ञान कराया कि आचरण ऐसा होता है। क्या हो? बहुतों को विवाद यही उठा है। व्यवहार पहले चाहिए, व्यवहार साधन है। यह पंचास्तिकाय में कहा है कि व्यवहार साधन, निश्चय साध्य। नहीं कहा? यह पण्डितजी ने सब अर्थ किया है। व्यवहार साधन, निश्चय साध्य और धीरे... धीरे... धीरे... वहाँ सुख से... सुख से व्यवहार से छूटे... व्यवहार से...

यह सब अपेक्षा के कथन समझे नहीं। अकेला भगवान परमस्वभावभाव, बस उसका आश्रय और उस व्यवहार का आश्रय नहीं—ऐसा जो मार्ग है, उसे मोक्षमार्ग कहा जाता है। ऐसा वस्तु का स्वरूप है। परन्तु दूसरे से कुछ करना चाहता है, यह वस्तु की जो स्थिति है, वह नहीं रहती। कथन तो अनेक प्रकार के आते हैं व्यवहार के, निश्चय के। किस नय का कथन है, ऐसा जानना चाहिए न। **वेदक सम्यक्त्व...** यह क्षयोपशम समकित और **वेदकचारित्र...** यह क्षयोपशमचारित्र **और संयमासंयमपरिणति...** यह क्षयोपशम के अठारह भेद। है पर्याय, परन्तु कर्म के उपाधि की इसमें अभाव की अपेक्षा है, इसलिए इसे उपाधिवाला भाव कहा जाता है।

औदयिकभाव के इक्कीस भेद इस प्रकार हैं... यह तो सीधे वाक्य हैं। **नरकगति...** शरीर नहीं हों, वह गति... गति। **तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति, ऐसे भेदों के कारण गति चार...** वह भी हेय है। **क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय और**

लोभकषाय, ऐसे भेदों के... यह चार कषाय, इसमें शुभ-अशुभ सब आ गया। **स्त्रीलिंग, पुलिंग और नपुंसकलिंग, ऐसे भेदों के कारण लिंग तीन; सामान्यसंग्रहनय की अपेक्षा से मिथ्यादर्शन एक,...** है। ऐसे तो मिथ्यादर्शन के असंख्य प्रकार हैं, सूक्ष्म के अनन्त प्रकार हैं। सामान्यरूप से एक है। **अज्ञान एक...** अज्ञान भी सामान्यरूप से एक, भेद तो अनन्त। **असंयमता एक...** ऐसे असंयम के भेद अनन्त हैं, परन्तु सामान्यरूप से एक। **असिद्धत्व एक...** सिद्धपने का अभाव, वह एक है असिद्धपना। चौदहवें गुणस्थान तक असिद्धत्व है, तब तक उदयभाव है, ऐसा। आहा!

शुक्ललेश्या,... ...से उठाया है, लो। कृष्णलेश्या नहीं उठायी। कृष्ण (लेश्या) अन्त में डालेंगे। शुक्ललेश्या। शुक्ललेश्या, वह भी उदयभाव है। वह तो अभव्य को भी (होता है)। शुक्ललेश्या, शुक्लध्यान नहीं। **पद्मलेश्या, पीतलेश्या...** उसमें ऐसा लिया। कृष्ण, नील, कापोत, तेजु (-पीत), पद्म और शुक्ल। यहाँ तो कहते हैं, यह शुक्ललेश्या, यह औदयिकभाव है, ऐसा कहकर यहाँ से लिया है। यह विकारभाव है। **कापोतलेश्या, नीललेश्या और कृष्णलेश्या, ऐसे भेदों के कारण लेश्या छह।** छोड़नेयोग्य है।

पारिणामिकभाव के तीन भेद इस प्रकार हैं—जीवत्वपारिणामिक, भव्यत्व-पारिणामिक और अभव्यत्वपारिणामिक। यह द्रव्यसंग्रह में आता है, (समयसार) ३२० गाथा में आता है। **यह जीवत्वपारिणामिकभाव, भव्यों को तथा अभव्यों को समान होता है;...** जीवपने का स्वभावभाव—जीवपने का सहजभाव, वह तो भव्य और अभव्य को सब समान होता है। जीवपने का सहजभाव—जीवपने का पारिणामिकभाव भव्य-अभव्य दोनों को समान होता है। **भव्यत्वपारिणामिकभाव, भव्यों को ही होता है;...** जीव(त्व) का तो दोनों को होता है, परन्तु भव्यत्वपारिणामिकभाव भव्यों को ही होता है। **अभव्यत्वपारिणामिकभाव, अभव्यों को ही होता है। इस प्रकार पाँच भावों का कथन किया।**

पाँच भावों में क्षायिकभाव, कार्यसमयसारस्वरूप है। लो। कार्यसमयसारस्वरूप है। तीन पारिणामिकभाव कारणसमयसारस्वरूप है। **वह (क्षायिकभाव) त्रिलोक में प्रक्षोभ के हेतुभूत... खलबली... तीर्थंकर के जन्मकल्याणकादि प्रसंगों पर तीन लोक में आनन्दमय खलबली होती है।** आनन्दमय खलबलाहट। उद्वेग नहीं। भगवान का

जन्म हो... जन्म कल्याणक आदि है न सब ? दीक्षा कल्याणक, केवल (ज्ञान) कल्याणक। आनन्दमय खलबलाहट ऐसे **तीर्थंकरत्व द्वारा प्राप्त होनेवाले सकल-विमल केवलज्ञान से युक्त...** सकल-विमल केवलज्ञान से युक्त, लो, ऐसे **तीर्थनाथ को (तथा उपलक्षण से सामान्य केवली को) अथवा सिद्धभगवान को होता है।**

यहाँ वापस सकल-विमल केवलज्ञान लिया, देखो! और वहाँ केवलज्ञान कर्म की उपाधि (कहा था)। जिस अपेक्षा से जो है, वह समझना चाहिए न! उत्पन्न हुआ, वह सकल-विमल केवलज्ञान पूर्ण निर्मल अस्तिरूप से। वह उपाधि थी, उसका अभाव हुआ, इस अपेक्षा से उसे विभावस्वभाव—उपाधि का भाव... कहने में आया है। वाँचा है या नहीं नियमसार ? मनसुख! नहीं वाँचा। ठीक कहा... बहियाँ बाकी रखीं एक भी वाँचे बिना की बारह महीने की ?

औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिकभाव, संसारियों को ही होते हैं;... चार भाव का वर्णन किया है न पहला। क्षायिकभाव कार्यसमयसार तीर्थंकर केवली और सिद्ध को होता है और तीन भाव उदय, उपशम, क्षयोपशम वह संसारी को ही होता है। **मुक्त जीवों को नहीं।** मुक्त जीव तो आ गये उसमें क्षायिकभाव कार्यसमयसार (में)।

अब आया देखो! **पूर्वोक्त—** पूर्व में कहे वे **चार भाव आवरणसंयुक्त होने से...** उन्हें कर्म का सद्भाव और अभाव की अपेक्षा लागू पड़ने से मुक्ति का कारण नहीं है। क्षायिकभाव मुक्ति का कारण नहीं है। पूर्व में कहे वे चार भाव—क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और औदयिक मुक्ति का कारण नहीं है। क्योंकि उन्हें आवरण का युक्तपना है। यह कहा है न ५६ में ? उदय युक्त उदयभाव, परिणामिक युक्त पारिणामिकभाव... युक्त शब्द प्रयोग किया है संयुक्त। ५६। और इसका लिखा है। **आवरणसंयुक्त होने से...** पद्मप्रभमलधारिदेव सर्वत्र अमृतचन्द्राचार्य का अनुकरण किया है। पूर्वोक्त चार भाव... पर्याय को यहाँ चार भाव कहे हैं। औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक, **मुक्ति का कारण नहीं हैं। त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है...** लो। तीनों काल जिसे कर्म के अभाव और सद्भाव की अपेक्षा नहीं, ऐसा निरुपाधि **जिसका स्वरूप है—ऐसे निरंजन...** निरंजन (अर्थात्) अंजन जिसे नहीं, त्रिकाल परमस्वभावभाव

ध्रुव... ध्रुव... यह उत्पाद-व्यय (सहित) चार हैं, वे सब निकाल दिये। उत्पाद-व्यय आश्रय करनेयोग्य नहीं, मूल तो ऐसा कहना है।

त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है—ऐसे निरंजन निज परम पंचम भाव... देखो! निज परम पंचम भाव, ऐसा। भगवान का (पंचम भाव) नहीं, भगवान का भगवान के पास रहा। त्रिकाल निरुपाधि... उसका अर्थ हो गया कि सब चार (भाव) उपाधिवाले हैं। तीनों काल **निरुपाधि जिसका स्वरूप है—ऐसे निरंजन....** कोई अंजन नहीं। सत्... सत्... सत्... ध्रुव सत्। परमस्वभावभाव सत्... अस्ति सत्, ऐसा जिसका स्वरूप त्रिकाल ध्रुव का है। ज्ञायकभाव जिसे चार भाव के उत्पाद-व्यय की अपेक्षा नहीं, ऐसे **निज परम पंचम भाव (पारिणामिकभाव की) भावना से...** लो, आया। वहाँ कहा था कि चार भाव आवरणसंयुक्त होने से मुक्ति का कारण नहीं। यहाँ कहा (कि) पारिणामिकभाव पंचम भाव की भावना से....

मुमुक्षु : ....अक्रिय है, फिर भावना.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : भावना से... वह कहाँ है? पंचम भाव अक्रिय है, परन्तु उसकी भावना सक्रिय है न! वह पर्याय की बात है। उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक... यहाँ जोर इसका देना है। वैसे तो उपशम, क्षयोपशम का निषेध किया। मुक्ति का कारण नहीं। पंचम भाव त्रिकाली भाव की भावना... भावना तो उपशम, क्षयोपशम और क्षायिकभाव है, परन्तु यहाँ अपेक्षा आयी, उस त्रिकाली ज्ञायकभाव की अपेक्षा, इसलिए उसकी भावना ली है। है तो उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक। जिसका यहाँ इनकार किया था कि चार भाव, वह मुक्ति का कारण नहीं है। उसे यहाँ पंचम भाव की भावना से **पंचम गति में मुमुक्षु (वर्तमान काल में) जाते हैं,...** देखो! वहाँ इनकार किया और यहाँ हाँ किया। यह थोड़ा-थोड़ा वाँचना चाहिए। पुस्तक रखी होगी घर में। पैसे पड़े रहते हैं वहाँ? उन्हें तो फिराया करता है। वहाँ पालेज के तो पण्डित कहलाते हैं। यह तो ऐसा का ऐसा पड़ा है, वाँचा नहीं।

निज परम पंचमभाव.... पारिणामिकभाव, सहजभाव, ध्रुवभाव—उसकी भावना, वह ध्रुव नहीं। यहाँ जोर पंचम भाव का देना है। भावना उसकी है, ऐसा। समझ में आया? उसकी भावना से मुक्ति में जाता है। यहाँ कहे, चार भाव आवरणसंयुक्त होने से

मुक्ति का कारण नहीं। ऐई! सबको उलझन पड़े। किस अपेक्षा से बात है? चार की भावना नहीं (और) इसकी भावना—ऐसा कहने के लिये... भाव तो वापस आया। भावना वह पर्याय। उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक पर्याय आयी न? त्रिकाल ज्ञायकभाव... नियमसार सूक्ष्म है। समयसार की अपेक्षा कितने ही बोल सूक्ष्म हैं।

पंचम गति में... परम निज निरंजन.... 'निरंजन निज' दो नन्ना हो गये। परम पंचम भाव... परम पंचम भाव त्रिकाल... भावना से (अर्थात्) उसकी एकाग्रता से, ऐसा। त्रिकाली ध्रुव में अन्तर एकाग्र होने से (अर्थात्) उसकी **भावना से पंचम गति में मुमुक्षु जाते हैं,...** मुमुक्षु पंचम गति पंचम भाव की भावना से पाते हैं, ऐसा कहते हैं। चार भाव की भावना से नहीं, इसलिए ऐसा कहा। चार भाव पर्याय है। पर्याय की भावना करने से कहाँ होगी? वह तो विकल्प उठा। त्रिकाल ध्रुव, वह टिका रहा हुआ तत्त्व है। चार भाव तो पर्याय है, पर्याय पलटती रहती है, उसका आश्रय कहाँ होता है? वह दृष्टि का विषय—भावना का विषय ध्रुव त्रिकाल निरुपाधि जिसका स्वरूप है, ऐसा जो त्रिकालीभाव पारिणामिक परिणाम सहज ध्रुव, जिसे निमित्त तो नहीं, राग तो नहीं, परन्तु जिसमें पर्याय भी नहीं। चार भाव... ऐसा जो ध्रुवभाव उसकी भावना से... यह बारह भावना आती है न संवर में? .... यह तो पंचमभाव की भावना। कभी सुना भी न हो कि पंचम भाव क्या होगा? छोटाभाई! पंचम भाव कौन जाने क्या, कहाँ होगा? सिद्ध में होगा? पंचम भाव तुझमें त्रिकाल है वह। नित्यानन्द प्रभु ध्रुवस्वरूप, परमस्वभाव, एकरूपभाव अनादि-अनन्तरूपभाव, जिसमें पर्याय का भी अभाव है, ऐसे ध्रुव की **भावना से पंचम गति में मुमुक्षु जाते हैं,...** लो, यह मोक्ष का कारण पंचम भाव की भावना है। श्रीचन्दजी!

पहले कहा था कि चार भाव आवरणसंयुक्त होने से मुक्ति का कारण नहीं है। वह तो पर्याय की अपेक्षा से कहा था, परन्तु यहाँ त्रिकाली की अपेक्षा रखकर जो भाव हुआ है, है तो वह का वह। ऐसे पंचम भाव की भावना... ध्रुव नित्यभाव, स्वभावभाव... जीव के दो अंश—एक पर्याय अंश और एक ध्रुव अंश। जिसकी अस्ति में दोनों हैं—जीव की अस्ति में दो है। (पर्याय) अंश और ध्रुव (अंश)। उसमें अस्तिवाला सही, वह ध्रुव (और) एक समय की अस्तिवाला वह नाशवान। 'द्रव्य आत्मलाभ हेतु' यह

कहा था न वहाँ? वस्तु का अस्ति का भाव, उसका हेतु वह पारिणामिक। वस्तु ध्रुव वही अस्ति है, ऐसा कहना है यहाँ। पर्याय की त्रिकाल अस्ति नहीं। समय-समय की... पलटती है। बहुत सूक्ष्म। वह बाधा निकाले कि निमित्त से होता है, व्यवहार करते-करते होता है, व्यवहार पहले हो तो फिर निश्चय आता है। उसमें बड़ा लेख है। ...कोई साधु है, दिगम्बर साधु है।

व्यवहार अभूतार्थ सर्वथा नहीं है। उसका एक बड़ा लेख था... भूतार्थ वस्तु... तुम अभूतार्थ कहते हो तो असत्यार्थ क्यों नहीं कहा उसे? अब अभूतार्थ कहो या पण्डित जयचन्दजी ने लेखन में असत्यार्थ कहा। त्रिकाली की अपेक्षा से असत्यार्थ है, (परन्तु) अपनी अपेक्षा से भूतार्थ है। पर्याय है नहीं? पर्याय की अपेक्षा से पर्याय है। सत्यार्थ त्रिकाली की अपेक्षा से वह नहीं। ऐसे पर्याय की अपेक्षा से त्रिकाली नहीं, ऐसा नहीं वापस। कोई कहे कि उसकी (त्रिकाली की) अपेक्षा से यह (पर्याय) नहीं तो फिर इसकी (पर्याय की) अपेक्षा से वह (त्रिकाली) नहीं—ऐसा नहीं है। दोनों कहलाते हैं कि भूतार्थ की अपेक्षा से वह अभूतार्थ और यह व्यवहार भूतार्थ की अपेक्षा से निश्चय अभूतार्थ। अरे! ऐसा नहीं होता।

(वर्तमान काल में) जाते हैं। एक ही सिद्धान्त, देखो! निरंजन निज परम पंचम भाव भगवान ध्रुव की नजर लगाकर, ध्रुव पर दृष्टि देकर, ध्रुव में एकाग्र होकर मुमुक्षु वर्तमान काल में महाविदेह में मोक्ष जाते हैं। **(भविष्य काल में) जायेंगे...** एक ही .... **और (भूतकाल में) जाते थे।** लो, भूतकाल में भी इसी प्रकार से मोक्ष गये हैं। पंचम ध्रुवभाव... उत्पाद-व्ययवाले चार भाव। ध्रुवभाव एक परमभाव, उसकी अपेक्षा से चार भाव अपरमभाव है। परमस्वभावभाव निज निरंजन की भावना से अनन्त जीव भूतकाल में मोक्ष गये, भविष्य काल में जायेंगे और अभी जाते हैं। एक ही प्रकार है, लो! इसमें समझ में आया?

(अब, ४१वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं—)

अंचितपंचमगतये पंचमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः।
संचितपंचाचाराः किंचनभावप्रपंचपरिहीणाः॥५८॥

श्लोकार्थ :— (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, और वीर्यरूप) पाँच आचारों से युक्त... मुनि... जिसने निश्चय ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—ऐसे पाँच आचारों से सहित होकर... सन्त भगवन्त महन्त, उसका भव का अन्त है। ऐसे पंच आचारों से युक्त है, **किंचित् भी परिग्रह प्रपंच से सर्वथा रहित...** है। इसे एक विकल्प भी नहीं, वस्त्र का टुकड़ा भी नहीं। **किंचित् भी परिग्रह प्रपंच से...** परिग्रह से **सर्वथा रहित...** है। लो, यहाँ 'सर्वथा' शब्द आया है। **ऐसे विद्वान**—ऐसे सन्त—ऐसे मुनि **पूजनीय पंचम गति को प्राप्त करने के लिए...** लो, पूजनेयोग्य ऐसी पंचम गति क्षायिकपर्याय... लो। पंचम गति को प्राप्त करने के लिये **पंचम भाव का स्मरण करते हैं।** आहाहा! पंचम भाव को याद करते हैं, उसका स्मरण (करते हैं)। पर्याय का नहीं, निमित्त का नहीं, भगवान का नहीं, भगवान के जाप से और स्मरण से मुक्ति होती है—कि नहीं। ऐसा कहते हैं। जीव में है ही नहीं। ... कुछ जीव को नहीं। पहले कहा इतना, पंचम भाव की भावना यह कहा। वह पर्याय हुई।

जिसे क्षयोपशम आवरण न हो, जिसे कर्म उपाधि की अपेक्षा कहीं थी, उसकी भावना से... होगा? ... उसकी भावना... देखो वहाँ। भावना, वह वस्तु कही, परन्तु भावना किसकी? ध्रुव की। उसकी (पर्याय की) नहीं। समझ में आया? ओहोहो! एक तो यह कि पाँच आचारसहित मुनि होते हैं। सहित, अब रहित? कुछ भी परिग्रह (से रहित), सहित और रहित दो सिद्ध किये। आत्मा का ज्ञान, दर्शन, चारित्र निश्चय ऐसे सहित होते हैं और कुछ भी परिग्रह का प्रपंच—एक वस्त्र का टुकड़ा और विकल्प—(उससे) सर्वथा रहित है, लो। ठीक! **ऐसे विद्वान...** ऐसे विद्वान... उसे विद्वान कहते हैं।

वे **पूजनीय पंचम गति को प्राप्त करने के लिए...** लो। उत्पन्न करना है न? उत्पन्न करना और व्यय करना है... ध्रुव का आश्रय करके उत्पन्न किया, ऐसा। ध्रुव का आश्रय करके अर्थात् आश्रयभावना से और उससे उत्पन्न करना यह। यह केवल (ज्ञान), सिद्धदशा। और व्यय? उसका आश्रय और इसका उत्पाद... पूर्व की पर्याय का व्यय, भावना से केवलज्ञान का उत्पाद (और) भावना ध्रुव की। आहाहा! गजब मार्ग! नियमसार ने तो बहुत स्पष्ट किया है। इसलिए कितने ही (कहते हैं कि) यह नियमसार की टीका नहीं... टीका नहीं। परन्तु पाठ में है वह रखा है। यह तो पाठ में नहीं? '**णो**

खइयभावठाणा...' यह तो पाठ है। '**णो खइयभावठाणा...**' पाठ स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। यह शुद्धभाव, शुद्धभाव कहो या ध्रुवभाव कहो। यह अधिकार है न ऊपर? शुद्धभाव। शुद्धभाव, वह पर्याय का भाव नहीं। शुद्धभाव कहो या ध्रुवभाव कहो या परमपारिणामिकस्वभावभाव एकरूपभाव। इस शुद्धभाव की भावना कहो या परमपारिणामिकभाव की भावना (कहो या) ध्रुवभाव की भावना (कहो)।

पूजनीय पंचम गति को प्राप्त करने के लिए पंचम भाव का स्मरण करते हैं। (अर्थात्) उसका ध्यान करते हैं, ऐसा। ...धारण हो गयी है कि यह आत्मा हूँ.... ऐसा अन्दर निश्चय हुआ है, अब उसे स्मरण करते हैं। बारम्बार उसका स्मरण है। निमित्त का नहीं, विकल्प का नहीं, पर्याय का नहीं। लोग स्वाध्याय करते नहीं (और) स्वाध्याय करे तो अपनी दृष्टि से करे वापस। अपनी दृष्टि से साधारण अर्थ को खींच ले। शास्त्र में जो कहना है तत्प्रमाण तेरा अर्थ, तेरी दृष्टि कर ऐसा (करे) नहीं। यह वाँचे तो सही। अब वाँचते तो हैं। यहाँ रखे हैं प्रश्न। वाँचते तो हैं बहुत.... व्यवहार पहला चाहिए। यह पंचास्तिकाय में कहा है, (व्यवहार) साधन है, निश्चय साध्य है। अमृतचन्द्राचार्य स्वयं कहते हैं। यह ४१वीं (गाथा) हुई। क्षयोपशम नहीं, उदय नहीं, उपशम नहीं, क्षायिक नहीं—कुछ नहीं, जाओ। ५९, दूसरा कलश।

(मालिनी)

सुकृत-मपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं
त्यजतु परम-तत्त्वाभ्यास-निष्णातचित्तः।
उभय-समय-सारं सार-तत्त्व-स्वरूपं,
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः ॥५९॥

श्लोकार्थः—समस्त सुकृत (शुभकर्म)... जो पुण्य परिणाम और पुण्य परिणाम का बन्धन, वह **भोगियों के भोग का मूल है।** तेरा काम नहीं, कहते हैं। शुभभाव से तो पुण्य बँधता है और संयोग मिलेंगे। वह भोगियों के भोग का मूल है, योगियों के भोग का मूल वह नहीं। आहाहा! समस्त ही सुकृत, हों। '**सुकृतमति**' ऐसा। 'अपि' का अर्थ नहीं आया। '**सुकृतमपि**' ऐसा। अशुभ की तो क्या बात करना? ऐसा। '**सुकृतमपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं**' ....समस्त ही... समस्त ही... लो। **समस्त ही सुकृत....** वहाँ

और यह कहते हैं कि सुकृत अर्थात् शुभकर्म। यहाँ 'सुकृत' शब्द है। समस्त ही शुभभाव, आहाहा! असंख्य प्रकार के दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, भगवान का स्मरण इत्यादि... इत्यादि... आहाहा! **सुकृत भोगियों के भोग का मूल है।** धर्मी के भोग का वह मूल नहीं। धर्मी को भोग होता ही नहीं। पुण्य और पुण्य के भोग धर्मियों को होते ही नहीं। धर्मी तो व्यवहार से मुक्त है। आहाहा! व्यवहार ऐसा राग, उससे मुक्त है। उसमें एकत्व होना, यह भोगियों के भोग का मूल है। आहाहा!

समस्त सुकृत भोगियों के भोग का मूल है। परमतत्त्व के अभ्यास में निष्णात चित्तवाले मुनीश्वर,... जिसे परम तत्त्व भगवान शुद्ध आनन्द, उसमें जिसका अभ्यास... देखो! यह अभ्यास। **परमतत्त्व के अभ्यास में निष्णात...** शास्त्र अभ्यास, यह बात यहाँ नहीं ली। वह तो विकल्प है। परम तत्त्व भगवान आत्मा, पूर्ण स्वरूप ध्रुवस्वरूप के अभ्यास में निष्णात चित्तवाला... उसके अभ्यास में निपुण-विचिक्षण चित्तवाला पुरुष... आहाहा! परमस्वभावभाव... वहाँ वे ऐसा कहते हैं कि यह तो मुनियों की बात है यह। मुनिश्वर, ऐसा कहा है न? ऐसे **निष्णात चित्तवाले...** निष्णात-प्रवीण-पावरधा-विचिक्षण... निज परमस्वरूप ध्रुव के अभ्यास में निष्णात है, ऐसे चित्तवाले मुनिश्वर **भव से विमुक्त होने हेतु...** लो, भव से विमुक्त होने के लिये **उस समस्त शुभकर्म को छोड़ो...** शुभकर्म को छोड़ो। छोड़कर क्या अशुभ करने निकलना है? छोड़कर स्थिर हो अन्दर। इसका अर्थ क्या है?

समस्त शुभ कर्म को छोड़ो... आचरण करना है और यह आचरण ऐसा है और यह समय है न... छोड़ (और) यहाँ अन्दर स्थिर हो। चिदानन्द भगवान जिसमें अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान की खान है। अनन्त आनन्द पूर्ण एक समय में निकले, ऐसे अनन्त-अनन्त निकले, ऐसी बड़ी खान है, केवली को पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान है, ऐसे तो अनन्त-अनन्त आनन्द और.... जिसकी खान में पड़ी है। अनन्तानन्त... ओहोहो! ऐसा जो निजस्वरूप अपना पूर्णरूप, उसके **निष्णात चित्तवाले मुनीश्वर, भव से विमुक्त होने हेतु उस समस्त शुभकर्म को छोड़ो...** जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव अच्छा है। (यहाँ कहते हैं कि) समस्त शुभकर्म को छोड़ो। कहो, प्रकाशदासजी! क्या आया? यह तो पंच महाव्रत को छोड़ो, यहाँ तो ऐसा कहते हैं।

पहले लिया था, तब अब छोड़ते हैं। लिया था शुद्ध उपयोग। ... अरिहन्त... 'गृहस्थाश्रम छोड़कर, मुनिधर्म अंगीकार करके...' पाँच टुकड़े किये हैं। आहाहा! अरिहन्त का स्वरूप है न? गृहस्थपना छोड़कर... 'गृहस्थाश्रम छोड़कर...' हुकमचन्दजी (अलग-अलग अर्थ करते हैं।) 'मुनिधर्म अंगीकार करके...' उसको छोड़कर, इसे अंगीकार करके... 'निजस्वभाव साधन द्वारा...' आहाहा! यह साधन। 'निजस्वभाव साधन द्वारा...' एक-एक टुकड़े में भाव... भेद पाड़कर वापस बहुत स्पष्ट करते हैं। बहुत बुद्धिवाला, बहुत बुद्धिवाला। कोई भी बात लो। अध्यात्मरूप से सिखाने की रीति कैसे... पहले यह, बाद में यह, हेतु क्यों, उद्देश्य क्यों... बहुत सरस बनाया है। 'निजस्वभाव साधन द्वारा, चार घातिकर्मों का क्षय करके, अनन्त चतुष्टयरूप विराजमान हुए।' लो! अनन्त चतुष्टय से विराजमान हुए। इतने शब्द.....

यहाँ कहते हैं, **और सारतत्त्वस्वरूप ऐसे उभय समयसार को भजो।** लो, ठीक। .... प्रगट करनेयोग्य कार्यसमयसार और ऐसे कारणसमयसार त्रिकाली। सार ऐसे उभय समयसार को भजो। **इसमें क्या दोष है ?** ऐसा कि छोड़ना अर्थात् कुछ दोष है? शुभ छोड़ना और इसे भजना, ऐसा। **उभय समयसार को भजो।** त्रिकाल कारणसमयसार को भजो। मोक्ष का मार्ग, उसे भी भजो और मोक्ष को भी भजो—तीनों आ गये। **इसमें क्या दोष है ?** वस्तु का स्वरूप ही यह है। ऐसा कि भगवान का स्मरण छोड़ना, भक्ति छोड़ना, पंच महाव्रत छोड़ना—इसमें दोष है? इसमें क्या दोष है? इसमें दोष टलते हैं। स्वरूप में स्थिरता होने से दोनों समयसार का भजन होता है—कारणसमयसार का और कार्यसमयसार का। वह आदरणीय है। त्रिकाली स्वभाव आदरणीय है, उसमें से केवलज्ञान की पर्याय, सिद्धपर्याय प्रगट होती है, लो।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण ४, शनिवार, दिनांक - १२-६-१९७१
गाथा - ४२, प्रवचन-३९

यह शुद्धभाव अधिकार, नियमसार, ४२ गाथा। ४१ पूरी हुई।

चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोगसोगा य।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति॥४२॥

चतु-गति भ्रमण नहिं, जन्म-मृत्यु न, रोग, शोक, जरा नहीं।
कुल योनि नहिं, नहिं जीवस्थान, रु मार्गणा के स्थान नहिं॥४२॥

आहाहा! जीव को नहीं, तब जड़ को है? इसका अर्थ यह कि आत्मा ध्रुव जो नित्य शुद्ध ध्रुव, उसे यहाँ आत्मा कहा है। यहाँ जीव कहा है, फिर आत्मा भी कहेंगे... **अप्पा...** (शुद्धभाव अधिकार के) पहले श्लोक में आ गया है। आत्मा उसे कहते हैं कि जो शुद्ध चैतन्य ध्रुव एकरूप स्वभाव, वह वास्तव में आत्मा। यहाँ शुद्धभाव अधिकार है। शुद्धभाव कहो, ध्रुव आत्मा कहो, ज्ञायकभाव कहो, पारिणामिकस्वभावभाव कहो—वह जीव। और उस जीव की दृष्टि करना, इसका नाम जीव को माना (अथवा) सम्यग्दर्शन कहने में आता है। ऐसे जीव को मानने से सम्यग्दर्शन कहलाता है। यह वर्णन ३८ में से चला आता है। समझ में आया? ऐसे जीव को मानने से जीव माना कहलाता है। 'ऐवा' समझे न? ऐसा। ऐसे जीव को माना, (तब) जीव माना कहलाये। नव तत्त्व में... एक समय में ध्रुव नित्य परमस्वभाव सहजभाव, वह शुद्धजीव और शुद्धभाव, वह कारणपरमात्मा और कारणजीव, उसे वास्तविक जीव कहा जाता है। आहाहा! यह टीका।

टीका:—शुद्ध निश्चयनय से... अर्थात् कि वस्तु की शुद्ध ध्रुवता की दृष्टि से देखें तो **शुद्ध जीव को...** अर्थात् कि शुद्ध चैतन्य ध्रुव को **समस्त संसार विकारों का समुदाय नहीं है...** आहाहा! यह शुद्धभाव अधिकार है। शुद्धभाव, वह पर्याय नहीं। शुभभाव-अशुभभाव दोनों होकर अशुद्धभाव और सामने शुद्धोपयोग, वह शुद्धभाव।—वह यहाँ नहीं। यहाँ तो जो शुद्ध उपयोगरूपी शुद्धपर्याय भी ध्रुव में नहीं, ऐसा जीव वर्णन करना—कहना है। आहाहा! शुद्ध एक समय का सत् ध्रुव... एक समय की जो

पर्याय है, वह सब व्यवहार आत्मा है। व्यवहार अर्थात् असत्य त्रिकाली की अपेक्षा से। अपनी पर्याय की अपेक्षा से व्यवहार, व्यवहाररूप से भूतार्थ है। यह सब विवाद भूतार्थ के आये हैं न कल? जैनगजट में आये हैं। आहाहा! स्वयं पर्याय की अपेक्षा से व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार है, भूतार्थ है। भूतार्थ अर्थात् है, अभाव नहीं। परन्तु त्रिकाली ध्रुव की अपेक्षा से वह नहीं।

दृष्टान्त दिया है न वह? क्या कुछ आता था, नहीं? जयपुर। क्या अधिकार था? समयसार, ११वीं गाथा, ११। जैसे स्वद्रव्य की अपेक्षा से स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, वह स्वद्रव्य है, पर से भिन्न है। अपना द्रव्यपना—गुण-पर्याय का पिण्ड; क्षेत्र—असंख्य प्रदेशी; काल—एक समय की अवस्था और भाव—शक्ति, वह स्वपने है और परपने नहीं। परन्तु अपनी अपेक्षा से परवस्तु तो अवस्तु है। अपने जीव के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, उसकी अपेक्षा से पूरी दुनिया—सिद्ध, संसारी या पुद्गल, वह सब अद्रव्य है, अवस्तु है। उसकी (स्व की) अपेक्षा से वह (पर) अवस्तु है, उसकी (स्वयं की) अपेक्षा से भले वह वस्तु हो। आहाहा! इसी प्रकार त्रिकाली ध्रुव की अपेक्षा से एक समय की पर्याय वह अवस्तु है। कहा था वहाँ। आया था अधिकार ११ (वीं गाथा)। वहाँ तो सब वाँचते। यहाँ का अनुकूलता का था न।

एक समय में जिसका अपना तत्त्व तत्-पने है, इस अपेक्षा से तो पर तत्त्व नहीं, अर्थात् कि अद्रव्य है। इस द्रव्य की अपेक्षा से दूसरे द्रव्य अद्रव्य हैं। बराबर है? यह तो सप्तभंगी की मूल चीज़ है। अब यहाँ त्रिकाली जब लें, एक समय का नित्य प्रभु, वह सत्य है तो उसकी अपेक्षा से वह पर्याय असत्य है। समझ में आया? बात यह है कि शुद्ध चैतन्यद्रव्य ध्रुव में नजर करनी है। 'लाख बात की बात निश्चय उर आणो' आता है न छहढाला में? आहाहा! भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में ज्ञायकभाव शुद्ध चैतन्य महाप्रभु कारणस्वरूप सत् बस वही एक जीव और उसकी दृष्टि करना, वहाँ वह दृष्टि में ऐसा जीव मान्य हो, तब उसने आत्मा माना कहा जाता है। कहो, समझ में आया? बात तो बहुत सीधी-सादी है, परन्तु है तो ऊँची। आहाहा! जगत-बगत तो है ही नहीं मुझमें, परन्तु मुझमें पर्याय भी नहीं, ऐसा यहाँ तो सिद्ध करना है। समझ में आया?

शुद्धनिश्चय के बल से, ऐसा। यहाँ 'बल से' शब्द नहीं, परन्तु 'बळे' प्रयोग किया है। **शुद्ध जीव को...** मूल तो ध्रुव की दृष्टि करने से उस ध्रुव में **समस्त संसार विकारों का समुदाय नहीं है...** ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अरे! यह धर्म भारी कठिन। वह तो बात करे कि बस, धुन चढ़ाओ। परन्तु किसमें धुन चढ़ानी है? अस्तितत्त्व ध्रुव जीवतत्त्व ऐसा पूर्ण है, ऐसा पहले नय-निक्षेप-प्रमाण से, विकल्प से वास्तविक जैसा तत्त्व है, वैसा निर्णय किया हुआ हो... ऐई पण्डितजी! किसमें आया...? जहाज का आया, नहीं? ....शीघ्र वमन कर देता है... वह जहाज।

वहाँ (समयसार गाथा) ७३ में आता है न कि ऐसे विकल्पों से निर्णय किया... अब जैसे समुद्र में जहाज भँवर में आया है, वह भँवर छोड़ता है... भँवर छोड़े, तब जाहज छूटता है। यहाँ ऐसी ध्वनि आयी कि जिसने ऐसा आत्मा अखण्ड एक अभेद शुद्ध ज्ञान-दर्शन परिपूर्ण आनन्द... भाषा है न सब? वह तो सब यही चीज़ है। ऐसा जिसने पहले विकल्प द्वारा, वस्तुस्थिति से जैसा है, वैसा राग मिश्रित विकल्प द्वारा निर्णय किया। अब, वहाँ तो ऐसा कहा है... 'शीघ्र वमन कर देता है' (ऐसा) है न शब्द? अन्तिम दिन न? भाई! अन्तिम दिन थे। ....शीघ्र वमन कर देता है अर्थात् क्या कहते हैं? जैसे ऋषभदेव भगवान आदि के जीव जुगलिया में थे। आती है न कथा? ऐ हरिभाई! हरिभाई ने कथा लिखी है। ....जुगलिया की.... बासठ पृष्ठ। मुनि ऊपर से उतरते हैं और उसे—जुगलिया को कहते हैं कि तुम्हारे समकित की काललब्धि पकी है। समकित ग्रहण करो। इसी प्रकार यहाँ जिसने विकल्प से ऐसा निर्णय किया है, उसे जल्दी विकल्प तोड़ने का ही भाव है। कल थे या नहीं तुम? भावनगर थे। समझ में आया? यहाँ पड़े या जाये, यह प्रश्न ही नहीं यहाँ तो।

जिसने ऐसा भगवान आत्मा सर्वज्ञ ने देखा, कहा ऐसा नय-निक्षेप-प्रमाण द्वारा विकल्प से जिसने 'ऐसा आत्मा है'.... (समयसार) १३ (गाथा) में यह आता है न? '**भूदत्थेणाभिगदा...**' नय-निक्षेप-प्रमाण... इसका अर्थ कि जैसा वस्तु का स्वरूप है... अज्ञानी मानते हैं और दूसरे कहते हैं, ऐसा नहीं। सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव देखा हुआ एक-एक आत्मा... ऐसे आत्मा को नय-निक्षेप-प्रमाण द्वारा विकल्प से... वहाँ नय-निक्षेप-प्रमाण कहा, यहाँ ७३ में विकल्प से निर्णय किया (ऐसा कहा)—सब बात तो

एक ही है। दूसरे ढंग से बात है। ऐसा जिसने वास्तविक निर्णय किया आत्मा का (कि) ध्रुव अखण्ड, अभेद, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ, रागादि का पुद्गल स्वामी है। वह मेरे स्वामीरूप से (रहा हुआ) मैं (पररूप से) सदा नहीं परिणमता ऐसा हूँ। रागरूप से, व्यवहाररूप से (उसके) स्वामीपने न परिणमुँ, ऐसा मैं हूँ, ऐसा जिसने निर्णय किया... यह आता है न? आहाहा! सदा नहीं परिणमता... राग के-विकल्प के स्वामीपने सदा नहीं परिणमता... चेतनजी नहीं होंगे तब? एक दिन पहले चले गये होंगे। कहो, समझ में आया? वह शीघ्र वमन कर देता है। बस, उसकी काललब्धि पक गयी है। भाई थे तब। समझ में आया या नहीं? ऐई मनसुख! आहाहा!

इतने आँगन में आया और यह किया, वह अब आँगन छोड़कर अन्दर जानेवाला ही है। ऐसी शैली वहाँ है। यहाँ भी कहते हैं, आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य की कथन पद्धति अलौकिक है! लोग भ्रमणा में जहाँ-तहाँ भ्रमते हैं न! आत्मा ऐसे मिले और आत्मा ऐसे मिले। मर जानेवाले हैं बेचारे, जिन्दगी चली जानेवाली है। आहाहा! ऐसा अवतार मनुष्यदेह... आहाहा! जीव में संसार नहीं। उसे संसार रहित करने का यह काल है। आहाहा! यह संसार कहते हैं न? आहाहा! भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु, जिसमें संसार की कोई विकल्प की जाल है नहीं। यह सब कहेंगे। अर्थात् वह संसार रहित होने का ही ध्रुव काल है। ध्रुव को जिसने पकड़ा, उसे संसार रहित होने का ही काल है, क्योंकि ध्रुव में संसार नहीं। आहाहा! समझ में आया या नहीं? ऐई हसमुख! इसे नहीं, इसे अभी देरी है थोड़ी। धन्धे में... करे न? .... आहाहा!

कहते हैं, **शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव को...** यहाँ तो वहाँ आगे... है। वास्तविक ध्रुव तत्त्व की दृष्टि के बल से उस ध्रुव में संसार-फंसार कुछ है ही नहीं। समझ में आया? अर्थात् कि जिसने वर्तमान पर्याय, राग और निमित्त की रुचि छोड़ दी है और ध्रुव की रुचि जिसने की है, उसमें संसार नहीं और अब उसे करना भी नहीं है और उसे संसार रहनेवाला भी नहीं है। आहाहा! कहो, छोटाभाई! समझ में आया या नहीं? यह समझनेयोग्य है, हों! बाहर का तुम्हारा... होशियार... धूल में भी कुछ नहीं। हैरान होने का रास्ता है। आहाहा! **शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव...** अर्थात् कि शुद्धभाव, उसे

समस्त संसार विकारों का समुदाय... ध्रुव समुदाय में संसार का समुदाय नहीं है। आहाहा! यह पहली जीव को मानने की बात है। जीव कितना और कैसा है—यह मानने की बात है। अब उसे ऊँची या पहली या अन्तिम कहे, जो कहो, यह है। आत्मा जहाँ ऐसा है, उसे मानना, उसमें प्रश्न क्या है कि ऊँची है और.... वस्तु ही यह पहली है। जीव कहो या आत्मा कहो... यहाँ तो दो-दो शब्द प्रयोग किये हैं। जीव शब्द प्रयोग किया है और अप्पा शब्द प्रयोग किया है। पहली गाथा में '**अप्पा**' शब्द प्रयोग किया है ३८ में। क्योंकि कोई फिर जीव और आत्मा दूसरा (अलग) न मान ले, इसलिए वहाँ भी '**अप्पा**' शब्द प्रयोग किया है। '**जीवादिबहिचतच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा**' और यहाँ सर्वत्र, जीव को नहीं... जीव को नहीं (ऐसा कहा है)। आहाहा! उसे फिर ४३ में कहेंगे। '**अप्पा**' अन्तिम शब्द है। '**णिब्भयो अप्पा...**' अर्थात् कोई जीव और आत्मा अलग है, ऐसा नहीं है। यह जीव कहो या आत्मा कहो—एक बात है। वेदान्त कहते हैं न? अन्तःकरण विशिष्ट जीव, वह जीव और उससे रहित अकेला आत्मा, वह शुद्धात्मा। खोटी बात है। आहाहा!

ऐसा यहाँ (इस गाथा में) कहा है। अब यह अर्थ। **द्रव्यकर्म...** आठ कर्म जड़, वे तो अजीव हैं। वे जीव में कहाँ हैं? **भावकर्म...** पुण्य और पाप का विकल्प, मिथ्यात्व और राग-द्वेष आदि। **स्वीकार न होने से,...** अर्थात् कि ध्रुव की दृष्टि होने पर उनका स्वीकार नहीं। **द्रव्यकर्म तथा भावकर्म का स्वीकार न होने से,...** जीव की अन्तर ध्रुवदृष्टि होने पर द्रव्य और भावकर्म का जहाँ स्वीकार नहीं, इसलिए उस **जीव को नारकत्व,...** नारकपना, **तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व और देवत्वस्वरूप चार गतियों का परिभ्रमण नहीं है।** चार गति जिसमें नहीं। आहाहा! व्यवहारदृष्टि में है, परन्तु वह हेय है। निश्चय की दृष्टि से देखने पर—ध्रुवस्वरूप आत्मा को देखने से—आत्मा वास्तविक अनादि-अनन्त नित्यानन्द शुद्ध ध्रुव देखने से—उसकी दृष्टि में द्रव्यकर्म, भावकर्म का स्वीकार नहीं; इसलिए उसे चार गति उसमें नहीं। यहाँ मनुष्यगति हो तो धर्म होता है, लाभ होता है, देवगति हो तो भगवान के पास जाया जाता है। यह भ्रमणा है। उसमें है नहीं, फिर उससे जाया जाता है, यह आया कहाँ से? समझ में आया? आहाहा!

चार गतियों का परिभ्रमण ही नहीं न? आहाहा! ये भटकते हैं न? भटके कौन?

वह तो पर्यायबुद्धिवाला भटकता है। पर्यायबुद्धि वह स्वयं भटकना है। जहाँ वस्तु बुद्धि हुई, है ही नहीं उसमें। भटकना है ही नहीं न! आहाहा! नित्यानन्द प्रभु ऐसा जीव जो परमार्थ वस्तु, उसका जहाँ स्वीकार हुआ, वहाँ चार गति के कारण(रूप) द्रव्यकर्म, भावकर्म का स्वीकार नहीं। इसलिए धर्मीजीव को ध्रुवधर्म को दृष्टि में लेने से उसे चार गति अब है ही नहीं। समझ में आया? आहाहा! फिर स्पष्टीकरण करते हैं जीव की व्याख्या करके।

नित्य-शुद्ध चिदानन्दरूप कारणपरमात्मस्वरूप जीव को... ऐसा। कैसा है भगवान आत्मा अन्दर? **नित्य शुद्ध...** वह तो त्रिकाल शुद्ध है। नित्य का हिस्सा... जीव के दो भाग—एक पर्याय का हिस्सा और एक ध्रुव का हिस्सा। उसमें वह ध्रुव का हिस्सा, वह आत्मा। समझ में आया या नहीं? छोटाभाई! ऐसा सब बारम्बार सुनने को मिले नहीं। वहाँ क्या चलता है? ऐसा मनुष्यदेह (मिला), उसमें उसका तत्त्व क्या है... और वह ऐसा है, सर्वज्ञ ने कहा है, शास्त्र में है, वस्तु में ऐसा है। समझ में आया? **नित्य शुद्ध....** यह तो साधारण नित्य शुद्ध शब्द प्रयोग किया है। अब, **चिदानन्दरूप कारणपरमात्मस्वरूप...** कैसा प्रभु आत्मा? जिसे नित्य वास्तव में आत्मा कहते हैं, ध्रुव आत्मा, नित्य आत्मा, शाश्वत् रहा हुआ भगवान आत्मा, वह चिदानन्दरूप-ज्ञानानन्दरूप है। ऐसा ज्ञानानन्दरूप कारणपरमात्मस्वरूप... कारणपरमात्मस्वरूप, वह स्वयं कारणपरमात्मा त्रिकाल है। आहाहा! ऐसा जीव... भाषा देखो!

नित्य-शुद्ध चिदानन्दरूप कारणपरमात्मस्वरूप... अन्दर में से एक विकल्प... यह दृष्टि जहाँ संयोग के ऊपर, यह शरीर, वाणी, मन, धूल-धाणी में है (और) वस्तु है, उसमें नहीं। उसमें दृष्टि (कर)। अब, उस दृष्टि को यह कैसे बैठे? इसलिए कहते हैं कि दृष्टि बदल। संयोग दिखते हैं, वह भूल जा; गति होती है, वह भूल जा। क्योंकि वह तो पर्याय में है। राग होता है, वह भूल जा। जहाँ तेरे संयोगीभाव और संयोगी चीज़ में जो दृष्टि है, इससे उस असंयोगी चीज़ में वह दृष्टि आती नहीं। कहो, प्रकाशदासजी! बराबर है? आहाहा!

यह शरीर, वाणी, यह सब धूलधाणी संयोगी चीज़ है। अब जहाँ उसमें दृष्टि है,

(इससे) स्वयं है, उसमें दृष्टि नहीं। जो इसमें नहीं, वहाँ इसकी दृष्टि है। अब पुण्य और पाप के विकल्प, वहाँ इसकी दृष्टि है। वे इसमें नहीं, वहाँ इसकी दृष्टि है। अब इसे यह कैसे बैठे? और आगे जाने पर एक समय की पर्याय—व्यवहारी जीव पर दृष्टि है कि जो इसमें नहीं। यहाँ (बाह्य) दृष्टि है, उसे यह (ध्रुवदृष्टि) नहीं (और) यहाँ (ध्रुव में) दृष्टि है, उसे यह (विकल्प) नहीं। बराबर है? आहाहा! जिसकी दृष्टि में अपना अस्तित्व संयोगी चीज़ से माना है अथवा यह संयोग है, उससे मुझे ठीक है और राग से जिसकी अस्ति मानी है अथवा उस समय की—एक समय की पर्याय प्रगट—व्यक्त अंश से अपनापन माना है, उसे इस ध्रुवपने का अभाव है। वह मिथ्यादृष्टि है। बराबर है? आहाहा! गजब भाई! विषयों में सुख है, ऐसी जहाँ बुद्धि है, उसे दृष्टि में आत्मा का अभाव है, नास्ति है। आहाहा! पाँच इन्द्रियाँ और उनके विषय और उसकी खण्ड-खण्ड इन्द्रियाँ और विकल्प—उसमें जिसे ठीक लगता है, उसे पूरा आत्मा अठीक है। जिसे पूरा आत्मा ध्रुव ठीक है और यह ही हूँ, ऐसा बैठा, उसे यह संसार, विकल्प, संयोग कुछ मुझमें है ही नहीं। आहाहा! बराबर है?

ऐसे जीव को... ऐसा जीव। कौन सा? **नित्य-शुद्ध चिदानन्दरूप कारणपरमात्मस्वरूप जीव को...** आहाहा! उसे ही जीव कहा। वह ध्रुव जीव और वही वास्तव में आत्मा है। वास्तव में आत्मा ही वह है। कहो, मनसुख! क्या यह सब दुकान की व्यवस्था और दुकान का फलाना... फलाना... सब। मौसम हो और पैसा सडसडाट आते हों उगाही के। पाँच लाख की उगाही डाली हो और उसमें प्रतिदिन पाँच-पाँच हजार, दस-दस हजार आवे। दस-दस हजार ले जाये... आहाहा! और अवसर हो तो दाने लेता आवे, ज्वार के दाने (सिंके हुए) लेता आवे सेठ के लिये। लो। .... ऐसा मजा कहाँ है? कहो। ऐसा मजा है कहीं आत्मा में? आत्मा में ऐसा मजा है? आत्मा में ऐसा मजा नहीं। वह मजा तो जड़ में माना है। कहो, हसमुख! दो आये हैं, एक को वहाँ रखा है। आहाहा!

गजब परन्तु! दिगम्बर सन्तों की कथनी आकाश को... आकाश को सहारा दे ऐसी है। आहाहा! मैं ऐसा नित्यानन्द प्रभु हूँ। आहाहा! नित्य शुद्ध चिदानन्द कारणपरमात्मा... चिदानन्दरूप कारणपरमात्मस्वरूप, ऐसा। ऐसा जीव... उसे जीव

कहते हैं। उसमें **द्रव्यकर्म...** नहीं, **भावकर्म के ग्रहण के योग्य विभावपरिणति का अभाव होने से...** लो। भगवान नित्य-शुद्ध चिदानन्दरूप कारणपरमात्मस्वरूप ध्रुव, ऐसी दृष्टि हुई , इससे उसे द्रव्यकर्म, भावकर्म को ग्रहणयोग्य विभाव परिणति का अभाव है। वस्तु में विकारी परिणति का अभाव है, इससे उसे जन्म नहीं। आहाहा! विभाव परिणति अस्तित्व से मुझमें है, ऐसा स्वीकार है, उसे जन्म-मरण है। **जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक...** उसे है। आहाहा! भाई! यह धर्म की ऐसी पद्धति... ? वे स्थानकवासी में कहते हैं, छह काय की दया पालना, सूर्यास्तपूर्व भोजन करना, कन्दमूल नहीं खाना, दीक्षा ले लो, झट मुँडा जाओ। मन्दिरमार्गी में कहे, भाई! यात्रा करो, क्या कहलाता है ? शान्तिविधान करो और दिगम्बर में ऐसा खाना और नहीं खाना और वस्त्र छोड़ो। यह करो और यह करो, धर्मपूजा और वीतरागी पूजा।

मुमुक्षु : वीतरागी पूजा करे तो पैसा मिले, पैसा मिले तो मन्दिर में खर्च हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : मन्दिर में खर्च हो। धूल में खर्च हो, सुन न अब! यहाँ तो कहते हैं, अरे! भगवान आत्मा में—जिसे नित्यानन्द शुद्ध जीव प्रभु कहते हैं, उसमें—तो द्रव्यकर्म और भावकर्म को ग्रहणयोग्य ऐसी विकारीदशा का तो अभाव है। उसके कारण—अभाव होने से, ऐसा कारण दिया। **भावकर्म के ग्रहण के योग्य विभावपरिणति का अभाव होने से...** जाति अर्थात् जन्म लेना। जाति है अर्थात् जन्म... जन्म नहीं। भगवान आत्मा को जन्म कैसा ? आहाहा! ऐसा आत्मा जिसे अन्तर्दृष्टि में बैठा, उसे जन्म नहीं, क्योंकि उसमें जन्म नहीं, इसलिए उसे जन्म (होता ही नहीं)। समझ में आया ?

जरा नहीं... ध्रुव चिदानन्द प्रभु में जरा नहीं, तो सम्यग्दृष्टि जीव को जरा नहीं। उसे **मरण...** नहीं। ध्रुव में मरण नहीं, क्योंकि विभावपरिणति के अभाव के कारण जहाँ ऐसा नहीं तो फिर यह (भी) नहीं। वह नहीं तो वस्तु में भी यह नहीं। वस्तु की दृष्टि हुई, उसे भी नहीं। वस्तु में नहीं, परन्तु वस्तु की दृष्टि हुई, उसे भी नहीं। ऐसा कहना है न यहाँ ? सूक्ष्म बात है... आहाहा! **रोग...** नहीं। द्रव्यकर्म और भावकर्म के ग्रहण योग्य विभावपरिणति, वह तो जिसे नहीं, इससे विभावपरिणति के अभाव के कारण रोग नहीं। आहाहा! आत्मा में रोग नहीं, इसलिए सम्यग्दृष्टि के ध्येय में ध्रुव आया, इसलिए

उसे भी रोग नहीं। धर्मी को रोग ही नहीं। आहाहा! गजब भाई! **शोक नहीं...** वस्तु में द्रव्यकर्म, भावकर्म के ग्रहणयोग्य विभावपरिणति नहीं, उसे वस्तु में शोक नहीं, तो वस्तुदृष्टिवन्त को भी शोक नहीं। आहाहा! धर्मी ऐसा आत्मा ध्रुव, उसमें यह नहीं, तो धर्मी ऐसा आत्मा, उसका जिसे भान हुआ, वह (भी) धर्मी है—वह पर्याय में धर्मी हुआ। वस्तु तो त्रिकाल धर्मी है। उसे भी, वह धर्मी हुआ, इसलिए यह कुछ नहीं—ऐसा कहते हैं।

चतुर्गति (चार गति के) जीवों के कुल... लो। तथा **योनि के भेद,...** उत्पन्न (होने की) योनि (उसके) ८४ लाख योनि है न, वह **जीव में नहीं।** आहाहा! नित्यानन्दप्रभु निज आत्मा कारणपरमात्मा, ऐसा जो जीव, उसे कुल और योनि नहीं। आहाहा! उत्पत्तिस्थान को योनि कहते हैं और उत्पन्न होनेवाले शरीरादि के भाव को—प्रकार को कुल कहते हैं। दोनों भेद नहीं है। **ऐसा (अब) कहा जाता है।** लो। **पृथ्वीकायिक जीवों में बाईस लाख करोड़ कुल हैं;...** उनके शरीर उत्पन्न हो न... शरीर के प्रकार वर्ण, गन्ध, रस, गन्ध, स्पर्श में वह ...और ठिकाने करोड़ लेना पृथ्वीकायिक (जीवों के) बाईस लाख करोड़ कुल हैं, वे जीव में नहीं—प्रभु ध्रुव आत्मा में नहीं और ध्रुव की दृष्टि हुई, उसे भी अब पृथ्वी में उपजना नहीं है। संसार ही नहीं, फिर प्रश्न ही (कहाँ है) ? आहाहा!

अपकायिक जीवों के... यह पृथ्वी है, पृथ्वी, कण-टुकड़ा यह नीचे देखो न पत्थर, संगमरमर के पत्थर, एक-एक कणी में असंख्य जीव हैं। दिखता है शरीर, अन्दर अरूपी जीव है। उसके (पृथ्वीकाय) शरीर की जाति के प्रकार बाईस लाख करोड़ है। ऐसे पानी की बूँद—पानी का बिन्दु... बिन्दु का छोटा भाग... उन जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं। पानी के जीव के जो शरीर, उन शरीरों की जाति इतनी है। आहाहा! वह ध्रुव भगवान आत्मा में नहीं है। पर्यायबुद्धिवाले को वह है। वस्तुबुद्धि हुई... वस्तु में नहीं, इसलिए वस्तुबुद्धि हुई, उसे वह है नहीं। आहाहा! वह जीव ध्रुव, ऐसे जीव की दया पालनेवाला है, ऐसा नहीं—ऐसा कहा है। उस जीव के शरीर जो उत्पन्न होते हैं, वे वस्तु में ही नहीं, फिर पालना या टालना, यह रहता नहीं। आहाहा!

और भगवान ने छह काय के जीव की दया पालने का (कहा है)... आता है न ?

छह काय जीव... तेरापंथी और स्थानकवासी दोनों को यह चर्चा चली महीना-सवा महीना, इस एक शब्द पर। छह काय के जीव के रक्षण के लिये भगवान ने प्रवचन किये। ऐसा एक शब्द प्रश्नव्याकरण में है, श्वेताम्बर में। भगवन्त... भगवान ने प्रवचन किसलिए किये कि छह काय के जीवों की रक्षा के लिये—ऐसा एक शब्द है। उसमें दोनों का विवाद (हुआ) बाईसटोला... और तेरापंथी में। बाईस... वाले कहे छह काय की रक्षा के लिये भगवान ने कहा, तेरापंथी कहते हैं कि रक्षा अर्थात् नहीं मारने के लिये कहा। यहाँ कहते हैं, दोनों खोटे हैं। आहाहा! भगवान ने प्रवचन किये (कि) आत्मा में वह कुछ है ही नहीं। ऐ प्रकाशदासजी! दोनों के पक्षवाले यहाँ... बाईसटोला... और तेरापंथी। यह चर्चा हुई थी, बहुत वर्ष पहले। ६७ के वर्ष पहले। संवत् १९६७। तुम्हारा जन्म भी नहीं होगा। यह बड़ी चर्चा... लीलाधरजी कहते। हमारे साथ रहे थे। यहाँ आये हैं। लीलाधरजी साधु थे, आचार्य होनेवाले थे। ...फिर छोड़ा... श्रावक हुए... यहाँ आये थे। आहाहा!

इन पानी के जीवों के सात (लाख) करोड़ कुल, वे धर्मी के जीव में नहीं, इससे धर्मी की दृष्टि में वह कुल उसके नहीं। वह कुल जो जगत के शरीर हैं, वे परज्ञेयरूप से ज्ञान में सहज ज्ञात हो जाते हैं, बस। समझ में आया? **तेजकायिक जीवों के तीन लाख करोड़ कुल हैं;...** अग्नि... अग्नि... बीड़ी पीते हैं न यह...? एक अग्नि की चिंगारी में असंख्य जीव हैं। यह शरीर उसके उत्पन्न होने के। छाण होती है न छाण? छाण समझते हो? गोबर। उस गोबर की रंग, गन्ध, रस, स्पर्श की स्थिति गोबर की, उसे योनि कहते हैं और उसमें शरीर जो उत्पन्न हों, उसमें वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श की स्थिति का फेरफार हो, उसे कुल कहते हैं। समझ में आया?

यह घी बिगड़ा हुआ हो और उसमें जीव उत्पन्न हों और फिर विशेष बिगड़ा हुआ उत्पन्न हो तो योनि बदल गयी। ऐसी-ऐसी योनियों के उत्पत्ति के भेद चौरासी लाख हैं। उसमें शरीर उत्पन्न होता है, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श की शरीर की तारतम्यता के अन्तर से उसे कुल कहते हैं। यह कुल नहीं ब्राह्मण का कुल और बनिया का कुल... यह बात नहीं। समझ में आया? यह आत्मा में नहीं। आहाहा! नहीं, उसे पालना या टालना रहता नहीं।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा में है ही नहीं। अग्नि के जीवों के—उनके शरीर के तीन लाख करोड़ कुल हैं, वे जीव को नहीं हैं।

वायुकायिक जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं;... वायु-पवन.... वह जीव में नहीं। **वनस्पतिकायिक जीवों के अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं;...** निगोद और (प्रत्येक) दोनों—सब आ गया इसमें। **अट्ठाईस लाख करोड़ कुल हैं;...** निगोद, साधारण और तीन—दोनों... **द्वीन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं;...** दो इन्द्रिय, लट है लट, उस लट के शरीर का फेरफार... रंग है, गन्ध है, रस है, स्पर्श है, उन सब **द्वीन्द्रिय जीवों के सात लाख करोड़ कुल हैं; त्रीन्द्रिय जीवों के आठ लाख करोड़ कुल हैं; चतुरिन्द्रिय जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं; पंचेन्द्रिय जीवों में जलचर जीवों के साढ़े बारह लाख करोड़ कुल हैं;...** जलचर में उपजें वे। आहाहा! **खेचर जीवों के बारह लाख करोड़ कुल हैं;...** खेचर ऊपर... खे (अर्थात्) आकाश। चलनेवाले पक्षी आदि। **चार पैर वाले जीवों के दस लाख करोड़ कुल हैं;...** भूमि पर चले। **सर्पादिक पेट से चलनेवाले जीवों के नौ लाख करोड़ कुल हैं; नारकियों के पच्चीस लाख करोड़ कुल हैं;...** नारकी हैं असंख्य, परन्तु उनके शरीर के वर्ण, गन्ध, रस (आदि) उत्पत्ति के प्रकार इतने। **मनुष्यों के बारह लाख करोड़ कुल हैं...** लो ठीक। **और देवों के छब्बीस लाख करोड़ कुल हैं। कुल मिलाकर एक सौ साढ़े सत्तानवे लाख करोड़ (१९७५०००,०००,०००,००) कुल हैं।** वे जीव में नहीं हैं। वेदान्त कहता है कि नहीं... नहीं। परन्तु नहीं... नहीं... करके व्यवहार भी नहीं, ऐसा कहे—वह खोटा है। वह वस्तु में नहीं, (परन्तु) उसमें है। नहीं तो चौरासी लाख योनि... पर्याय माने नहीं। यह बातें करे धर्म की... कल्पना।

पृथ्वीकायिक जीवों के सात लाख योनि मुख हैं;... इस पृथ्वी के जीव जिस स्थान में उपजते हैं, उनके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श की न्यूनाधिक तारतम्यता के इतने प्रकार है। योनिमुख अर्थात् जिसमें पृथ्वीकाय के जीव उपजें। **अप्कायिक जीवों के सात लाख योनि मुख हैं;...** आत्मा में—ध्रुव में नहीं। **तेजकायिक जीवों के सात लाख योनि मुख हैं;...** अग्नि... अग्नि... उपजने के स्थान। वे कुल के और ये उपजने के।

वायुकायिक जीवों के सात लाख योनि मुख हैं;... यह तो आता है, उसमें—खामणा में आता है। **नित्य निगोदी जीवों के सात लाख योनि मुख हैं;...** लो। यह और अलग। नित्यनिगोद के जीव के सात लाख उत्पन्न स्थान। आहाहा! है तो अनन्त जीव, (परन्तु) शरीर की उत्पत्ति के प्रकार इतने हैं।

चतुर्गति (चार गति में परिभ्रमण करनेवाले, अर्थात् इतर) निगोदी जीवों के सात लाख योनि मुख हैं;... वे नित्यनिगोद थे। इतर निगोद के सात लाख... कायम निगोद में पड़े हैं, उसमें पहले लिये और फिर बाहर निकले, इतर निगोद—व्यवहारनिगोद के सात लाख। **वनस्पतिकायिक जीवों के दस लाख योनि मुख हैं;...** यह प्रत्येक। **द्वीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनि मुख हैं;...** दो इन्द्रिय जीव जिसमें उपजते हैं। घी बिगड़ा हुआ हो, छाछ बिगड़ी हुई हो, सड़ी हुई... लकड़ियाँ... यह लड़कियों में उपजते हैं न? पत्थर बहुत सड़ गया, उसमें भी उपजे। चूरा हो गया हो। **त्रीन्द्रिय जीवों के दो लाख योनि मुख हैं; चतुरिन्द्रिय जीवों के दो लाख योनि मुख हैं; देवों के चार लाख योनि मुख हैं; नारकों के चार लाख योनि मुख हैं; तिर्यंच जीवों के चार लाख योनि मुख हैं; मनुष्यों के चौदह लाख योनि मुख हैं।** लो **(कुल मिलाकर ८४,००,००० योनि मुख हैं।)**

आत्मा ध्रुव में यह नहीं। जिसे ध्रुव की दृष्टि हुई, वह ८४ में उपजनेवाला नहीं है। वह सिद्ध में उपजनेवाला है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! नित्यानन्द प्रभु ऐसा महाप्रभु का स्वीकार (हुआ और) एक पर्याय का जहाँ स्वीकार छूट गया... आहाहा! एक-एक समय की पर्याय और एक समय का राग... वह पूरी वृत्ति छूट गयी और ध्रुव नित्यानन्द भगवान अपना निज स्वरूप, उसकी दृष्टि हुई, वह वस्तु में नहीं तो उस दृष्टिवन्त को भी नहीं। तब कहे, उपजते हैं न देवलोकादि में? वह स्वयं नहीं, उसकी पर्याय में जो ज्ञान का ज्ञेयपना था, वह वहाँ उपजने का कारण होकर उपजता है, उसे ज्ञान में जानता है।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त;... वह जीव में नहीं। यह जीव के भेद जीव में नहीं। **स्थूल एकेन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त; द्वीन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त; त्रीन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त; चतुरिन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त; असंज्ञी पंचेन्द्रिय,**

पर्याप्त और अपर्याप्त; संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त—ऐसे भेदोंवाले चौदह जीवस्थान हैं। है, हों! देखो! चौदह जीवस्थान पर्याय में जीव को है, ध्रुव में नहीं। यहाँ है, उसमें नहीं। वेदान्त की भाँति नहीं कि वह कुछ नहीं। नास्ति, ऐसा नहीं। उसमें वह है, उसकी अपेक्षा से उसमें है, वस्तु की अपेक्षा से उसमें नहीं। आहाहा!

गति... यह मार्गणाभेद भगवान आत्मा में नहीं। देखो! चार गति नहीं, पाँच इन्द्रियाँ नहीं, एक, दो, तीन, चार, पाँच। **काय...** पृथ्वीकाय आदि। **योग...** कम्पन आदि। **वेद...** विषयवासना आदि। **कषाय...** विकार। **ज्ञान** के भेद... ज्ञान के भेद, वे ध्रुव में नहीं। केवलज्ञान का भेद भी ध्रुव में नहीं। **संयम** के भेद ध्रुव में नहीं। कहो, प्रकाशदासजी! महाव्रत के विकल्प तो नहीं, परन्तु यह संयम की पर्याय जो है, वह ध्रुव में नहीं। आहाहा!

संयम के भेद सामायिक, छेदोपस्थान... यह सब भेद जीव—ध्रुव में नहीं, पर्याय में है। मार्गणास्थान हैं, यह तो कहा कि है (परन्तु) उसमें (—ध्रुव में) नहीं, लो। **दर्शन...** चक्षु, अचक्षु आदि अवधिदर्शन, केवलदर्शन, यह भेद नहीं। **लेश्या...** छह नहीं। यह भव्य और अभव्य (पना) नहीं। ध्रुव में भव्यपना, अभव्यपना—दोनों नहीं। **समकित...** क्षायिक समकित, उपशम समकित, क्षयोपशम समकित—ये सब भेद ध्रुव में नहीं, पर्याय में है। आहाहा! वस्तु की स्थिति पर्याय को पर्यायरूप से सिद्ध करके, यह सर्वज्ञ ने देखा और ऐसा है। सिद्ध करके, उसमें नहीं ऐसा कहते हैं। नहीं ही वह वस्तु जगत में, तो ध्रुव में नहीं, ऐसा कहने का अवसर नहीं रहता। समझ में आया? पर्यायदृष्टि से वह भेद है, वस्तु में नहीं। अभेद वस्तु भगवान आत्मा, वह दृष्टि का विषय और दृष्टि में वह है ही नहीं। संज्ञी और असंज्ञीपना नहीं, लो। मनवाला प्राणी हो, क्षयोपशम हो, उसे धर्म... परन्तु वह संज्ञीपना ही जीव में नहीं। आहाहा! **आहार...** आहारक और अनाहारक....

ऐसे भेदस्वरूप (चौदह) मार्गणास्थान हैं। पर्याय में वर्तमान में व्यवहार में वर्तमान में वे हैं। वे सब... **यह सब, उस भगवान परमात्मा को...** कौन-सा भगवान परमात्मा? यह (त्रिकाली)। शरीर, वाणी, मन तो नहीं, राग-द्वेष नहीं, एक समय की

पर्याय (नहीं)। भगवान आत्मा त्रिकाली एक ध्रुव **शुद्धनिश्चयनय के बल से...** लो, आया। शुद्धनिश्चयनय के बल से अर्थात् पर्यायदृष्टि छोड़कर ध्रुवदृष्टि की, उसके बल से... एक समय की पर्याय में राग में, निमित्त में दृष्टि थी, उसे (छोड़कर) यहाँ के बल से—शुद्धनिश्चयनय के बल से अर्थात् **(—शुद्धनिश्चयनय से),...** ऐसा। ....व्यवहार का बल आता है न? व्यंजनपर्याय के बल से... निश्चयनय के बल से नहीं। आहाहा! अर्थात् शुद्ध निश्चयनय से उसमें—वस्तु के स्वरूप में नहीं अर्थात् दृष्टि का विषय जो है, उसमें नहीं अर्थात् सम्यग्दृष्टि को सब व्यवहार-फ्यवहार कुछ है ही नहीं। आहाहा! गजब बात है!

ऐसा भगवान सूत्रकर्ता का (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव का) अभिप्राय है। लो। (ऐसा) अर्थकर्ता पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं। **भगवान सूत्रकर्ता का (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव का) अभिप्राय यह है।** अन्तर के ध्रुव के बल से—निश्चय के बल—जोर से देखने पर उस ध्रुव में यह कुछ है नहीं। ऐसा ज्ञानी को अन्तर में भान—भास होता है, ऐसा कहते हैं। लो, इसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शन का यह विषय।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण ५, रविवार, दिनांक - १३-६-१९७१
श्लोक-६०, प्रवचन-४०

यह नियमसार, शुद्धभाव अधिकार है। ४२ गाथा हो गयी। समयसार का आधार है।

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में ३५-३६ वें (दो) श्लोकों द्वारा) कहा है कि —

'सकलमपि विहायाह्राय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवग्राह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम्॥'

यह सब बोल आ गये हैं इसमें। जीवस्थान, मार्गणास्थान (आदि) वे सब जीवस्वरूप में नहीं। जीव का स्वरूप तो ध्रुव नित्य ज्ञायक परमस्वभाव, वह उसका स्वरूप है। उसमें यह सब बोल नहीं हैं, ऐसा पाठ में लिया। गुणस्थान नहीं, यह नहीं लिया उसमें। गुणस्थान... गुणस्थान वहाँ (समयसार ५१ गाथा में) लिये हैं, यहाँ भाव लिये हैं न, क्षायिकभाव, क्षयोपशमादि नहीं, उदयभाव नहीं—उसमें गुणस्थान समाहित कर दिये। गुणस्थान इसमें अलग नहीं लिये। अमृतचन्द्राचार्य के श्लोक का आधार देते हैं।

श्लोकार्थ :— चित्शक्ति से रहित... शुद्धभाव। शुद्धभाव कहो, ध्रुव कहो, कारणपरमात्मा कहो या कारणजीव कहो। वह चित्शक्तिवाला तत्त्व है। अकेली ज्ञानशक्ति। मुख्यरूप से ज्ञान जिसका अकेला ध्रुवस्वभाव है, उससे जो रहित **अन्य सकलभाव...** निमित्त, पुण्य-पाप और एक समय की पर्याय, उसे भी मूल से छोड़कर.... **सकल भावों को मूल से छोड़कर...** उसमें कोई परद्रव्य का अंश या राग या कुछ भी, (उसे) सर्वथा छोड़कर, ऐसा कहा है। 'सकल छोड़कर' कहा है न? सकलभावों को छोड़कर... अन्तर वस्तु जो ज्ञायक चिदानन्द प्रभु, उसे अवगाहे अर्थात् अनुभव करने पर... **शक्तिमात्र ऐसे निज आत्मा का अति स्फुटरूप से अवगाहन करके,...** है न? छोड़कर, यह तो

एक व्यवहार की बात की। ज्ञायकभाव अकेला नित्यभाव, उससे अन्य जितने भाव—सकल भाव **मूल से छोड़कर...** यह नास्ति से बात की।

चित्शक्तिमात्र ऐसे निज आत्मा... कैसा है निज-अपना आत्मा? अकेला ज्ञान जिसका स्वरूप है, उसे **अति स्फुटरूप से...** प्रत्यक्षरूप से **अवगाहन...** अर्थात् वेदकर... आत्मा के आनन्द को प्रत्यक्षरूप से अवगाहन करके—वेदकर... देखो! यह धर्म। चित्शक्ति, वह तो वस्तु है। उसे अति स्फुटरूप से—प्रत्यक्षरूप से अवगाहन करके—यह पर्याय है। निजस्वभाव शुद्ध निज आत्मा... कैसा है आत्मा? चित्शक्तिमात्र। वह तो ज्ञानस्वभावमात्र आत्मा है। उसमें कोई शरीर, कर्म, राग, व्यवहार, विकल्प (नहीं है)। ऐसा जो चित्शक्तिमात्र ध्रुव निज आत्मा... चित्शक्तिमात्र ऐसा निज आत्मा, वापस ऐसा। भगवान का आत्मा है, वह नहीं। अपना आत्मा अति स्फुटरूप से अर्थात् कि अति प्रत्यक्षरूप से राग और पर का लक्ष्य छोड़कर, ध्रुव को प्रत्यक्ष करके—मति और श्रुतज्ञान द्वारा वस्तु को प्रत्यक्ष करके अवगाहन करे (अर्थात् कि) प्रत्यक्षपने से वेदन करे, ऐसा कहते हैं। अवगाह... बहुत सूक्ष्म। पहला श्लोक ऐसा आया। भगवान चैतन्यस्वभाव का समुद्र अकेला ध्रुव, उसे प्रत्यक्षरूप से करके और पर को छोड़कर अर्थात् लक्ष्य छोड़कर, ऐसा। व्यवहार... लक्ष्य छोड़कर, सम्यक् चित्शक्ति ऐसा जो भगवान आत्मा को प्रत्यक्षरूप से वेदता है। आत्मा के आनन्द का स्वाद लेता है, उसका नाम आत्मा जाना, उसका नाम आत्मज्ञान, उसका नाम आत्म सम्यग्दर्शन, उसका नाम स्वरूपाचरण का वेदन है। देवचन्दजी! आहाहा!

आत्मा समस्त विश्व के ऊपर प्रवर्तमान,... पूरी दुनिया—संयोगी चीज़, संयोगी भाव, एक समय की पर्याय पर तैरता—भिन्न-भिन्न रहता; तैरता अर्थात् भिन्न रहता हुआ... समस्त विश्व... समस्त विश्व पर **प्रवर्तमान, ऐसे इस केवल (एक) अविनाशी आत्मा को...** अविनाशी ध्रुव आत्मा को **आत्मा में...** अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द में रहकर **साक्षात् अनुभव करो।** आहाहा! लो, इसका नाम सम्यग्दर्शन। इसका नाम आत्मा का वास्तविक ज्ञान अथवा आत्मा का जो स्वभाव है, ऐसा स्वीकार। यह लोगों को कठिन पड़े न! एक अविनाशी आत्मा, ऐसा। उसे आत्मा में साक्षात्—प्रत्यक्ष अनुभव करो। साक्षात् अर्थात् कहनेमात्र नहीं, ऐसा कहते हैं। विकल्प से ऐसा आत्मा है, ऐसा भी नहीं,

ऐसा। इसका नाम अभी तो सम्यग्दर्शन। चारित्र और मुनिपना तो कहीं रह गया अब। समझ में आया?

कैसी शब्द / भाषा है, देखो! आत्मा को (अर्थात्) केवल एक अविनाशी प्रभु ध्रुव को, आत्मा में अर्थात् अतीन्द्रियदशा में, साक्षात् (अर्थात्) विकल्प और कथन और धारणामात्र से नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? लो, यह चैतन्यस्वभावी वस्तु को साक्षात्—पर की अपेक्षा रखे बिना सीधे वस्तु का वेदन करना, इसका नाम आत्मा को जाना और इसका नाम शुद्धभाव को उसने स्वीकार किया। शुद्धभाव अधिकार है न? आहाहा! उसने शुद्धभाव का स्वीकार किया। शुद्धभाव, वह तो त्रिकाल ध्रुव है। परन्तु प्रत्यक्ष होकर जो वेदन किया, उसने शुद्धभाव को स्वीकार किया। वरना शुद्धभाव को स्वीकार नहीं किया था, ऐसा कहते हैं। आहाहा! एक समय की पर्याय में खड़े रहकर और धारणा करके कि ऐसा आत्मा है और यह आत्मा है—ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। आत्मा को आत्मा में सीधा—साक्षात् अनुभव करता है। आहाहा!

यह श्लोक है ३५वाँ, समयसार का ३५वाँ। इसका आधार लिया। बात तो थोड़े शब्दों में आयी परन्तु... कहो, प्रकाशदासजी! यह मार्ग है। आहाहा! प्रकाश का पूर जो है... चैतन्यशक्ति, ऐसा कहा न? दूसरे को छोड़कर अर्थात् दूसरे का लक्ष्य छोड़कर, ऐसा। उसमें व्यवहार को छोड़कर (ऐसा) आया। व्यवहार को छोड़कर आत्मा का अनुभव होता है, ऐसा आया, (परन्तु) व्यवहार से होता है, ऐसा नहीं आया। है न बड़ा विवाद? जैनगजट में बहुत आया है। एक साधु लिखता है। व्यवहार साधन है, वह हो तो निश्चय होता है। बीज बिना सीधे वृक्ष उग गये, ऐसा कोई कहे, ऐसे व्यवहार बिना निश्चय हो, ऐसा कोई कहे, तो बीज बिना वृक्ष जैसा है, ऐसा (वे) कहते हैं। अरेरे! उसे यह दृष्टान्त लागू नहीं पड़ता। उदाहरण (लागू नहीं पड़ता)। झूठा है, पंचाध्यायी में कहा है। यह सब जो खोटे उदाहरण, वे उसे लागू नहीं पड़ते। पंचाध्यायी में यह श्लोक है। .... उसे लागू पड़े उदाहरण जो... बहुत शब्द ऊँचे प्रयोग किये हैं। वह शब्दों की बात नहीं, वाच्य की बात है। आहाहा!

समस्त विश्व के ऊपर... भिन्न... तैरता अर्थात् भिन्न। आत्मद्रव्य। यह छह द्रव्य

माना, परन्तु एक ओर यह पड़ा (रहा) न! उसकी एक समय की पर्याय में छह द्रव्य ज्ञात हो जाते हैं, एक समय की पर्याय में। ऐसी अनन्त पर्याय का एकरूप वस्तु... वे गये लगते हैं .... अहमदाबादवाले आये थे न? यात्रा में गये पालीताण। वाँचन लोगों को बहुतों को हुआ है अब। एक डॉक्टर आये थे। अहमदाबाद के हैं। है खत्री मूली के। खत्री... खत्री... है अजैन, परन्तु उन्हें यह वाँचन है। अब प्रश्न सब जगह खड़े होते हैं कि अनुभव कैसे हो? यह प्रश्न खड़ा होता है। बहुत ऐसा वातावरण आ गया न बाहर। वहाँ क्या कहलाता है? जयपुर और सर्वत्र। सवेरे मनु कामदार... बहुत अभ्यास बहुत। .... बहुत अभ्यास। पच्चीस-पच्चीस... अवस्था छोटी है। ....बहुत अभ्यास है।

अब कहाँ अटकते हैं? ऐसा कहते हैं। आत्मज्ञान करते हैं, तथापि अनुभव नहीं होता। कहते हैं कि उसे स्वयं को खोजना चाहिए न? यहाँ तो कहा कि ऐसा जो भगवान, उसकी दृष्टि में जो ले (तो) उसे प्रत्यक्ष वेदन हुए बिना रहे नहीं, ऐसा उसका स्वरूप है। अपने स्वभाव से प्रत्यक्ष ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वरूप है। परोक्ष और मन और राग और व्यवहार से वह ज्ञात हो, ऐसी वह वस्तु ही नहीं। उस मोक्षमार्ग (प्रकाशक) में आया है न? तत्त्व का निर्णय, नहीं? समकित सन्मुख... तत्त्व का निर्णय करना। उसमें और पीछे लिया है। तथापि कोई विशेष कारण आ पड़े तो, ऐसा लिखा है वापस। निर्णय करते हुए वह आड़ा-टेढ़ा चला जाये तो पड़ा रहे वापस। ऐसा वह डाला है। समझ में आया? सवेरे बात की थी रास्ते में। मोक्षमार्गप्रकाशक में... तत्त्व का निर्णयवाला गिर जाये और आगे न बढ़े, ऐसा नहीं, परन्तु तत्त्वनिर्णय करते-करते दूसरे रास्ते चढ़ जाये और कहीं, ऐसा। ऐसा है सम्यक्त्व सन्मुख मिथ्यादृष्टि उसमें। तत्त्व का निर्णय... वह विकल्प से निर्णय पहले करे, उसे निर्विकल्प होने का अवसर ही है। यहाँ तो यही सिद्धान्त है। समझ में आया?

आत्मा में साक्षात् अनुभव करो। ऐसा कहते हैं, आहाहा! स्वरूप के लक्ष्य से जिसने विकल्प से भी निर्णय किया है, वह अब साक्षात् अनुभव करो, ऐसा कहते हैं। लो, वहाँ कहा था न ७६वीं (गाथा)। ७६ में आता है न? कल बात हुई थी। ऐसा निर्णय करके फिर... वह जहाज समुद्र में से छूटता है, शीघ्र वमन कर डालता है। उसमें से निकाला था कि जिसने ऐसा निर्णय किया है, उसे अनुभव का अब काल ही है। शीघ्र

वमन कर डालता है, ऐसा कहा न? शीघ्र अर्थात् तुरन्त ही छूट जायेगा उसे। भँवर में से जैसे जहाज छूटेगा, वैसे यह तुरन्त विकल्प में से छूट ही जायेगा। ....भाई! आया था या नहीं? ७३ गाथा। 'शीघ्र वमन कर देता है', ऐसा शब्द है न? जहाज...

यहाँ तो कहते हैं कि भाई! ....आहाहा! समस्त विश्व के ऊपर प्रवर्तता... उसमें ऐसा कहा कि सकल भाव को छोड़कर... ऐसा आया न पहले? सकल भाव को छोड़कर... समस्त विश्व के ऊपर तैरता अर्थात् उस भाव से भिन्न रहता हुआ, ऐसा। ऐसे एक अविनाशी ध्रुव... केवल शब्द का अर्थ 'एक' किया। केवल अविनाशी, ऐसा। अकेला आत्मा... उसे—**आत्मा को आत्मा में साक्षात्...** धारणा और विकल्प से निर्णय किया था, उसे छोड़ दिया। यह है। दूसरा श्लोक, यह भी समयसार का है।

चिच्छक्ति-व्याप्त-सर्वस्व-सारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी॥

श्लोकार्थः—चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व-सार है... भगवान आत्मा जाननशक्ति से व्याप्त है और जिसमें सर्व अर्थात् अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि गुणों का वह सार है—उसका वह अन्तर भाग है। **चैतन्यशक्ति से व्याप्त...** अन्दर ज्ञानभाव से व्याप्त **जिसका सर्वस्व-सार है....** जिसमें वह सब चैतन्य के साथ अविनाभावी दर्शन-ज्ञान-सुख-शान्ति-स्वच्छता, ये अनन्त गुण जिसका सर्वस्व अन्तर भाग है। क्या चलता है यह? यह शुद्धभाव अधिकार चलता है। शुद्धभाव अर्थात् कि ध्रुवभाव, नित्यभाव, ज्ञायकभाव, उसे यहाँ चैतन्यशक्ति कहा है। उससे व्याप्त है अनन्त गुण सर्वस्व... सर्व-स्व—सार अर्थात् अपना जो अन्दर अनन्त ज्ञान, आनन्द, शान्ति आदि अनन्त गुण हैं, सर्व-स्व—पूरा अन्तर भाग है उसका.... आहाहा!

ऐसा यह जीव.... लो। कहो, यह तो समयसार का श्लोक है। हेमचन्दजी! समयसार नाटक के थोड़े-थोड़े शब्द... यह तो समयसार आया न? आहाहा! समयसार नाटक में तो अमुक आवे न? भाई! उसमें शब्द-शब्द में बहुत विस्तार न हो... सार कहा न? यह तो पूरा भाव भरा है। उसमें सार स्वयं ने रखा है शब्द-शब्द में। आहाहा! चैतन्यशक्ति से पसरा हुआ—व्याप्त अर्थात् कि एकमेक रहा हुआ... ऐसा जिसका सर्व

सार है ऐसा, ऐसे। **चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व...** अपना अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य—ऐसे अनन्त गुण... अनन्त गुणों का स्व-सार अन्तर्भाव है, बहिर्भाव भिन्न रह गया।

ऐसा यह जीव इतना ही मात्र है;... ऐसा यह जीव इतना ही मात्र है। अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि सर्वस्व-सार जो है, वह इतना जीव है। कहो, समझ में आया? ध्रुव, इतना वह जीव है। आहाहा! यह निर्णय भले करे पर्याय, परन्तु वस्तु इतनी है उसकी। वास्तव में आत्मा इतना और ऐसा है, बस। चैतन्यशक्ति से व्याप्त सर्वस्व जिसका सार—अन्तर्भाव... सार नहीं कहते? लकड़ी के अन्दर सार। ....अन्दर का... अन्दर का लकड़ी के अन्दर का भाग होता है न, उसे सार कहा जाता है। इस शीशम का सार। अन्दर का चिकना भाग होता है न अन्दर का, उसे सार कहते हैं। वह साधारण भाग नहीं। नहीं, उसे कहते हैं। शीशम की लकड़ी। शीशम की लकड़ी का अन्दर का चिकना भाग होता है न, अन्दर बहुत चिकना हो, उसकी जाति ही अलग होती है। ऊपर... लकड़ी हो, वह अन्दर भाग जो है, अकेला चिकना, उसे शीशम का सार कहते हैं।

यह भगवान आत्मा, ऊपर के जितने विकल्प और पर्याय, उसके अतिरिक्त अकेला पूरा चैतन्यसार है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा यह जीव... ऐसा। चैतन्यशक्ति से प्रसरा हुआ जिसका सर्वस्व सार है। देखा! वापस सब चैतन्यशक्ति से व्याप्त है। अनन्त ज्ञान-दर्शन, शान्ति, सुख आदि का एकरूप है। **ऐसा यह जीव इतना ही मात्र है;...** ऐसी दृष्टि करके उसे प्रत्यक्ष वेदन करना, वह उसका अनुभव है, वह मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया?

इस चित्शक्ति से शून्य... लो, ठीक! इस चित्शक्ति से एकदम खाली जो भाव—विकल्प **वे सब पौद्गलिक हैं।** दया, दान, व्रत, भक्ति विकल्प सब पुद्गल है। पुद्गलाः—पुद्गलते भवः पुद्गलाः। पुद्गल से हुए वे पुद्गल हैं। पुद्गल के निमित्त से हुए न, वे पुद्गल। आहाहा! यह देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा और भक्ति का राग, वह पुद्गल है, ऐसा कहते हैं। व्यवहारमोक्षमार्ग पुद्गल है, विकल्प है, अचेतन है, वह चेतन नहीं। आहाहा! वे सब। यहाँ कहा नहीं पुद्गल? वह पुद्गल कहे हैं, इसका अर्थ, पर्याय का

आश्रय होकर विकल्प उठे, इसलिए सब पुद्गल, ऐसा। पर्याय है, वह अपनी है। पर्याय का आश्रय होता है और विकल्प उठता है, इसलिए पुद्गल, ऐसा। चार भाव पुद्गल है न? चार भाव हैं, वे द्रव्य में नहीं। समझ में आया? ...परन्तु किसके आश्रय से? मार्गणा में कहा न? ज्ञान के पाँच भेद करना, वह मार्गणा, वह पुद्गल है। क्योंकि भेद करना, उसमें विकल्प उठे, इसलिए पुद्गल है, ऐसा। इस प्रकार मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय, यह भेद पाड़ना, कहते हैं, वह मार्गणा पुद्गल है। नय का आश्रय होने से विकल्प उठते हैं, इसलिए उन सबको पुद्गल गिनने में आया है।

यह अभी प्रश्न बहुत उठे थे वहाँ। वर्णीजी आये थे, गणेशप्रसादजी (वर्णी) के शिष्य मनोहरलालजी वर्णी। आये थे खास मिलने... वे क्षुल्लक हैं। ... इन सबको पुद्गल क्यों कहा? २९ बोल सब पुद्गल क्यों कहा? कहा, वे सब पुद्गल हैं। अकेला चैतन्यघन प्रभु अखण्ड के आश्रय की अपेक्षा से, पर्याय का आश्रय ले तो विकल्प उठते हैं, इस अपेक्षा से पुद्गल कहे हैं। भेद करना, वह पुद्गल है। ... पुद्गल कहा। '**पुद्गल परिणामः**' यहाँ तो अकेला प्रभु... चार भाव में उदय तो पुद्गल परिणाम है, परन्तु उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक का आश्रय लेने जाये, वहाँ उसे विकल्प उठते हैं, इस अपेक्षा से भेद का आश्रय छुड़ाने के लिये, सब आत्मा से भिन्न है, (ऐसा कहा)। क्षायिकभाव पर्याय भी आत्मा से (पृथक् है) अथवा पर्याय से द्रव्य भिन्न है। ऐसा है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे पुद्गल नहीं कहा। ऐसा नहीं। ऐसे पुद्गल है? तो अनुभूति से भिन्न है कहाँ है वहाँ? सूक्ष्म है या नहीं? अनुभूति, वह पर्याय है, अन्दर अभेद होकर उससे भिन्न है, ऐसा कहा। २९ बोल। आत्मा से भिन्न है, वह तो अनुभूति से भिन्न है, ऐसा लिया है वहाँ। भाई! क्योंकि इस ओर ढली है दशा, अभेद हुई, उससे सब भिन्न है, इसलिए पुद्गल है, ऐसा वहाँ कहा। वहाँ वस्तु की अपेक्षा जाननी चाहिए न! उलझन हो... अनुभव की पर्याय होती है, वह तो अभेद होती है। अभेद अर्थात् इस ओर के झुकाववाली नहीं, ऐसा। अभेद अर्थात् कहीं पर्याय और द्रव्य एक नहीं हो जाते। परन्तु ऐसे ढली थी, वह ऐसे ढलती है, इसलिए अनुभूति से सबको भिन्न कहकर

पुद्गल परिणाम कहा है। २९ बोल है न? आहाहा! मार्गणा, भव्य-अभव्य वह पुद्गल परिणाम कहा। ऐसा भेद का आश्रय लेने जाता है, तब विकल्प उठते हैं, इसलिए स्वयं अनुभूति से भिन्न है, इसलिए पुद्गल कहा गया है। ऐसा है। गम्भीर बात है।

चित्शक्ति से शून्य... इसका श्लोक है न यह? यह २९ बोल का है न? ....इसका ही अर्थ किया है। यह कहना है। **इस चित्शक्ति से शून्य जो यह भाव....** भगवान आत्मा अकेला ज्ञानरस, उसके साथ सुख आदि अनन्त (गुण) सब अभेद एकाकार, उससे जितना भिन्न, वे सब पुद्गल हैं। लो, सभी पुद्गल हैं। वे महाव्रत के परिणाम पुद्गल! पाँच महाव्रत लो, वह चारित्र। अन्तर कितना? पूर्व-पश्चिम का है। क्या? अणुव्रत और महाव्रत, उसका आन्दोलन कराओ, जड़ का (आन्दोलन)।

मुमुक्षु : श्रावक का और मुनि का धर्म....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह धर्म-बर्म नहीं। धर्म कैसा? वह तो निमित्त का कथन है। उपचारिक धर्म है, वास्तविक धर्म कहाँ है? यहाँ धर्म की दृष्टि—अनुभव प्रगटी है, इसलिए राग को व्यवहार से धर्म कहा। निश्चय से तो अधर्म है। व्यवहारनय अन्यथा कहता है। किसी अपेक्षा से अन्यथा कहे, ऐसा होगा? मोक्षमार्गप्रकाशक। किसी अपेक्षा से—निमित्त आदि की अपेक्षा से अन्यथा कहा है। विवाद करे तो फिर दिक्कत.... वाद-विवाद... नहीं, ऐसा नहीं होता। तो हो गया।

और (४२ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज दो श्लोक कहते हैं —)

अनवरतमखण्डज्ञानसद्भावनात्मा,
व्रजति न च विकल्पं सन्सृतेर्घोररूपम्।
अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः,
पर-परिणति-दूरं याति चिन्मात्र-मेषः ॥६०॥

आहाहा! यह अमृतचन्द्राचार्य के कलश... उनका अनुसरण कलश में स्वयं ने किया है।

श्लोकार्थ :— सतत्रूप से अखण्डज्ञान की सद्भावनावाला आत्मा... लो,

क्या कहते हैं ? अखण्ड ज्ञान जो अभेदस्वरूप ध्रुव, उसे सततरूप से सद्भावनावाला... भावनावाला... सत् अर्थात् सच्ची। सच्ची भावना अर्थात् द्रव्य के ओर की झुकाव की परिणति। सतत्रूप से—निरन्तर... है न, शब्द है न '**अनवरत**' ? अखण्ड ज्ञान... वस्तु जो अन्तर ज्ञानस्वरूप भगवान अखण्ड एकरूप अभेद ध्रुव है, उसकी अखण्ड ज्ञान की सद्भावना अर्थात् सच्ची भावना... वह पर्याय है। देखो! यहाँ भावना कही है, सद्भावना। वह कहीं कल्पना नहीं। जो विचार करता है यह... यहाँ तो सद्भावना—सच्ची भावना... अन्तर ज्ञायकभाव सन्मुख की एकाग्रता, वह सद्भावना **जिसे निरन्तर वर्तती है...** भगवान आत्मा अन्दर नित्य प्रभु अखण्ड ज्ञान का रूप, उसकी जिसे निरन्तर भावना अर्थात् अन्तर सन्मुखता—एकाग्रता वर्तती है... देखो! पुरुषार्थ से जिसने यह सद्भावना प्रगट की है। ऐसे राग और विकल्प की भावना थी, वह मिथ्यात्वभावना थी। ओहोहो! यह सम्यक् भावना।

ऐसा जो आत्मा **संसार के घोर विकल्प को नहीं पाता,...** लो, क्या कहते हैं ? नित्यानन्द भगवान के प्रति सच्ची एकाग्रता की भावनावाला जीव परसन्मुख के झुकाववाले विकल्प (कि जो) संसार का घोर मूल है, उसे नहीं पाता। **संसार के घोर विकल्प को...** देखो! शुभविकल्प भी संसार का घोर विकल्प है। अन्तर्मुख स्वभाव की सद्भावना द्वारा निरन्तर वर्तता हुआ, नित्यानन्द प्रभु ध्रुव शुद्ध की एकाग्रता की सच्ची भावनावाला वर्तता हुआ, उसे विकल्प का अंश उत्पन्न नहीं होता। ऐसा है यह। आहाहा!

किन्तु निर्विकल्पसमाधि को प्राप्त करता हुआ,... ऐसा। द्रव्य-वस्तु जो अखण्ड ज्ञायक ज्ञान उसकी एकाग्रता में ऐसा निरन्तर स्वभाव-सन्मुख वर्तता है (कि) उसे संसार का घोर विकल्प उत्पन्न नहीं होता और निर्विकल्प समाधि उत्पन्न होती है। वह सद्भावना कही, वह निर्विकल्प समाधि, ऐसा कहते हैं। वस्तु चैतन्य महाप्रभु ध्रुव है, उसकी सद्भावनावाला... सच्ची भावना अर्थात् वास्तव में एकाग्रता, ऐसा। कल्पना से या धारणा से, ऐसा नहीं। ऐसा जीव... संसार का मूल ऐसा जो विकल्प—घोर विकल्प, उसे होता नहीं, परन्तु इस ओर ढला है, इसलिए उसे निर्विकल्प समाधि होती है। गजब! बड़ी-बड़ी बात करे... वह लिखा है न यशोविजय ने ? यह रास्ता है, दूसरा कौन-सा रास्ता है ? टीका की है। कितने बोल हैं ? दिगम्बर की ८४... ८४ बोल की

टीका की है। लम्बा लिखा है। बड़ी-बड़ी दिगम्बर की बातें। आगे कोई रास्ता—यह प्राप्त करने की विधि, वह तो बताई नहीं। यह कुछ करना... यह कुछ करना... परन्तु वह विधि ही नहीं है। आहाहा! सीधा भगवान आत्मा अपनी पर्याय से उसमें एकाग्र हो, उसे विकल्प उत्पन्न नहीं हो और निर्विकल्प शान्ति होती है।

निर्विकल्पसमाधि को प्राप्त करता हुआ, पर-परिणति से दूर;... लो, विकार की अवस्था से न्यारा। यह तो सार में सार बात है न? शुद्धभाव अधिकार है न? जिसने शुद्धभाव को ध्येय बनाया है, शुद्धभाव में जिसने अवगाहन किया है... अवगाहन का अर्थ, परसन्मुख का झुकाव छोड़कर स्वसन्मुख के झुकाव में—एकाग्रता में आया है, उसे निर्विकल्प शान्ति होती है। उसे विकल्प उत्पन्न नहीं होता। लो, अस्ति-नास्ति की। इसलिए **परपरिणति से दूर...** अन्तर के अकेले आनन्द स्वभाव के भाववाला ऐसा जो आत्मा राग की अवस्था से दूर **अनुपम**—जिसे उपमा नहीं और **अनघ**—दोषरहित, निष्पाप, मलरहित है ऐसे **चिन्मात्र को (चैतन्यमात्र आत्मा को) प्राप्त होता है।** वह पूर्णानन्द की प्राप्ति की पर्याय को प्राप्त करता है। आहाहा!

है या नहीं? सामने पुस्तक है। उसका शब्दार्थ क्या होता है? उसमें भरे हुए भाव हैं। उसके भाव-शब्द के जो भाव हैं कहने के भाव उसमें भरे हुए हैं। शब्द में स्व-पर कहने की शक्ति है या नहीं? स्व-पर कहने की शक्ति भरी हुई है, हों! पहले ऐसा लिया कि अखण्ड ज्ञान की जिसे सद्भावना निरन्तर वर्तती है, द्रव्यस्वभाव के प्रति एकाग्रता जिसे निरन्तर वर्तती है, वह सच्ची भावनावाला है, इसलिए उसे विकल्प उत्पन्न नहीं होता। अन्दर निर्विकल्प शान्ति होती है, इसलिए परपरिणति से दूर है। विभाव की दशा उसे नहीं होती। यह तो तेरहवें गुणस्थान की बात है, ऐसा कहे। यह तो चौथे की बात है, ध्यान में आवे उसकी बात है। उसका जहाँ अन्दर लागू पड़ा, तब। दूर, परपरिणति से दूर.... उसमें विनाशीकभाव से दूर, ऐसा कहा ३८वीं गाथा में। चार भाव हैं, वे विनाशीक हैं—उद, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक। विलय पानेयोग्य है। चार भाव विलय पानेयोग्य होने से (उनसे) दूर ध्रुव है और ध्रुव की दृष्टिवाला परपरिणति से दूर है। यह श्लोक स्वयं ने—मुनि ने कहा। समझ में आया?

यह भगवान आत्मा अखण्ड ज्ञान की मूर्ति है आत्मा अन्दर, ऐसा। आत्मा अकेला ज्ञान और अनन्त गुणवाला एक विज्ञानघन चैतन्य ध्रुव ऐसा तत्त्व आत्मा, उसकी जिसे सद्भावना (अर्थात्) उसकी ओर की जिसे अन्तर की एकाग्रता वर्तती है, उसका नाम धर्म। समझ में आया? सर्वज्ञ भगवान ने देखा एक समय में ध्रुव आत्मा, अखण्ड ज्ञान की मूर्ति, नित्य शाश्वत्दल (कि जो) एक समय की पर्याय से भी दूर है, ऐसा जो आत्मतत्त्व ध्रुव ज्ञायकतत्त्व, उसमें जिसकी सद्भावना है—जिसमें उसकी सच्ची एकाग्रता है... जो राग में एकाग्रता है, वह तो अनादि का अधर्म है। आहाहा! परन्तु जिसे ऐसा भगवान अन्दर सर्वज्ञस्वभावी प्रभु.... नियतस्वभाव कहा न? सतत् अखण्ड ज्ञान लिया न यहाँ? अखण्ड ज्ञान का अर्थ—सर्वज्ञ स्वभाव। आहाहा! ऐसा भगवान अन्दर ध्रुव नित्य अखण्ड ज्ञान की मूर्ति अरूपी, उसकी एकाग्रता जिसे वर्तती है, उसे सद्भावना कहने में आता है, उसे भगवान सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

और जिसे सच्ची अन्तर में भाव की भावना... ऐसा कहा न? त्रिकाली ज्ञायकभाव... सर्वज्ञ का वीतरागमार्ग सूक्ष्म है, अलौकिक है, दुनिया के साथ कुछ मिलान खाये ऐसा नहीं है। आहाहा! यह देह-हड्डियाँ तो जड़, मिट्टी, धूल है। आहाहा! यह तो एक ओर रह गयी चीज़। कर्म भी एक ओर रह गयी चीज़। यह पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प भी एक ओर रह गये, क्योंकि वह विकार है। उसके पीछे एक समय की जो अवस्था है, उसके पीछे जो अखण्ड स्वतः ज्ञान है, उसमें एकाग्र होना, वह उसकी पर्याय है। पर्याय से दूर, परन्तु ध्रुव में एकाग्र हुआ, वह पर्याय है। आहाहा! वीतराग का स्वरूप ऐसा है। भगवान आत्मा अन्तर शाश्वत् वस्तु है, अनादि-अनन्त—जिसकी आदि नहीं, जिसका अन्त नहीं—ऐसा अन्तर शाश्वत् चैतन्यदल, उसकी जिसे अन्तर सच्ची एकाग्रता है, अन्तर स्वभाव सन्मुख..., स्वभाव+सत्+मुख... सच्चा तत्त्व, उसके सन्मुख जो हुआ है अन्तर में... अन्तर का भाग शाश्वत् है, उसमें जो एकाग्र हुआ है, वह अन्तरात्मा। उसे निर्विकल्प शान्ति वर्तती है, निर्विकल्प समाधि। '**समाहिवरमुत्तमं दिंतु...**' आता है न? यह समाधि दुनिया कहे, वह नहीं, यह तो अन्तर की बात है। आहाहा! जिसे, अन्तर भगवान अविनाशी तत्त्व महासत्तावाला—महा अस्तित्ववाला है,

उसकी अन्तर की सन्मुख की एकाग्रता की भावना है, उसे संसार का घोर विकल्प उत्पन्न नहीं होता। आहाहा!

चाहे तो पुण्य-पाप का विकल्प हो, वह संसार का मूल है। समझ में आया? वह संसार ही है। पुण्य-पाप के... आहाहा! उदयभाव, वह संसार है, वह घोर संसार है, दुःखरूप है, ऐसा। आहाहा! भगवान आत्मा पूर्णानन्द का स्वरूप नित्यानन्दस्वरूप शाश्वत् उसकी एकाग्रता, वह मोक्ष का मार्ग है। और उसकी एकाग्रता हुई, इसलिए विकल्प की उत्पत्ति नहीं हुई, वह संसार के मार्ग की उत्पत्ति नहीं हुई। आहाहा! ग्राह्य होना कठिन। यह क्या कहते हैं? और इसलिए उसे.... ऐसा कहा न? विकल्प उत्पन्न नहीं होता, परन्तु **निर्विकल्पसमाधि को प्राप्त करता हुआ,...** आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द की शान्ति को धर्मी प्राप्त करता हुआ... अन्तर भगवान आत्मा, सर्वज्ञ वीतराग ने कहा, वह आत्मा.... जिसने सर्वज्ञपर्याय और वीतरागदशा प्रगट की, वह सब कहाँ से आयी? कहीं बाहर से आती है? वह सर्वज्ञ और वीतरागपर्याय ऐसी अनन्त पर्याय का एकरूप अखण्ड ज्ञानानन्द भगवान वस्तु... वस्तु, उसकी जिसे अन्तर सन्मुख की एकाग्रता है, उसे मोक्ष का मार्ग हुआ है। उसे संसार का विकल्प उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! गजब!

इसलिए वह निर्विकल्प शान्ति, समाधि... समाधि अर्थात् आधि-व्याधि-उपाधि रहित आत्मा की शान्ति। आधि अर्थात् संकल्प-विकल्प दया, दान, व्रत आदि सब पुण्य-पाप के (भाव), वे आधि हैं; व्याधि अर्थात् शरीर का रोग और उपाधि अर्थात् यह बाहर की संयोगीचीज़। उपाधि, व्याधि, आधि से रहित, वह समाधि। यह समाधि, वह धर्म है। अखण्ड आनन्दस्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का रस प्रभु, जिसमें अकेला सुख का पूर, सुख का सागर आत्मा है। ऐसे सागर में डुबकी लगाने से जो सद्भावना प्रगट हुई, उसे धर्म कहते हैं और ऐसी धर्मदशावन्त को अधर्म ऐसा विकल्प उत्पन्न नहीं होता। वह (उत्पन्न) नहीं होता, इसलिए निर्विकल्प समाधि को प्राप्त होता है। इसलिए वह **परपरिणति से दूर...** है। राग के विकल्प की दशा से धर्मी का आत्मा, स्वभाव से सन्मुख होकर धर्म की परिणति अन्दर वीतराग हुई, वह परपरिणति जो व्यवहार के विकल्प हैं, उनसे तो दूर है। आहाहा! भारी सूक्ष्म!

ऐसा क्या होता होगा यह वह? ऐसा वीतराग का मार्ग ऐसा होगा? मनसुख! उसमें ऐसा कि दया पालना, व्रत करो, तपस्या करो, रात्रिभोजन न करो, कन्दमूल नहीं खाना। यह तो विकल्प की बात है। वह विकल्प हो तब ऐसा नहीं होता। ऐसा नहीं होता, वह विकल्प है। परन्तु ऐसी निर्विकल्प दृष्टि और अनुभव हुए बिना उसे विकल्प सच्चा होता नहीं। समझ में आया? **अनुपम...** भगवान आत्मा, वह राग से भिन्न अन्तर में वर्ते, तब तो **अनुपम अनघ...** महाप्रभु, पाप के और पुण्य के मैल बिना की चीज़ जो प्रभु चैतन्य भगवान, ऐसा **चिन्मात्र**—आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूप भगवान को **प्राप्त करता है।** अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है। समझ में आया? आहा! एक श्लोक में कितना कहा! वस्तु कही, वस्तु की भावना कही, भावना (अर्थात्) अन्तर एकाग्रता की रमणता। उसे विकल्प आता नहीं, तब निर्विकल्प समाधि होकर, परपरिणति से दूर वर्तता, अनुपम, अनघ ऐसी पूर्ण दशा चैतन्य की प्राप्त हो उसे। आहाहा! जिसे कोई उपमा नहीं, ऐसा निर्मल प्रभु आत्मा, उसकी उसे प्राप्ति होती है, उसे अनुभव में आत्मा प्राप्त होता है, उसे धर्म कहा जाता है। वीतराग का धर्म यह है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर का कहा हुआ तत्त्व यह है। इससे विपरीत, वह वीतराग का मार्ग नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण ६, सोमवार, दिनांक - १४-६-१९७१
गाथा-४३, श्लोक-६१, प्रवचन-४१

शुद्धभाव अधिकार। अर्थात् क्या? त्रिकाली जो आत्मा ध्रुववस्तु जो नित्य है, उसका यह अधिकार है। एक समय में ध्रुववस्तु नित्य शाश्वत् आत्मा, रागादि चीज़ से रहित है, परन्तु एक समय की पर्याय-अवस्था है, उससे रहित ऐसा जो तत्त्व, वह शरणभूत है, वह आश्रय करनेयोग्य है, ऐसा यहाँ कहते.... ४२ (गाथा) का ६१ वाँ कलश है। ४२ गाथा।

इत्थं बुद्ध्वोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं,
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्रत्नमालार्चिताङ्घ्रेः।
वीरात्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वान्तविध्वन्सदक्षं,
एतो सन्तो भवाब्धेरपरतटममी यान्ति सच्छीलपोताः ॥६१॥

यह उपदेश किसने किया, उसकी व्याख्या करते हैं। ऐसा स्वरूप का वर्णन भगवान महावीर परमात्मा ने किया है, ऐसा सिद्ध करते हैं। कैसे हैं भगवान महावीर? **भक्ति से नमित देवेन्द्र,...** देव के इन्द्र भी जिन्हें भक्ति से नमते हैं, ऐसा कहते हैं। किसी की शर्म से या किसी के दबाव से या शिष्टाचार से (नमते हैं)—ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। इन्द्र जो बड़े शकेन्द्र, ईशान इन्द्र आदि भक्ति से नमित... भगवान महावीर परमात्मा, उनके कहे हुए उपदेश कैसे हैं? कि उन्हें इन्द्र भक्ति से नमते हैं, ऐसा कहते हैं। **मुकुट की सुन्दर रत्नमाला द्वारा...** उनका जो मुकुट, उसकी सुन्दर रत्न की माला **जिनके चरणों को प्रगटरूप से पूजते हैं...** अर्थात् रत्नमाला, उनके चरण में नमे, तब पैर के निकट रत्नमाला जाती है। ऐसे नमते हुए चरण को मुकुट की रत्नमाला उन्हें पूजती है, ऐसा कहते हैं। **प्रगटरूप से पूजते हैं...** ऐसा।

ऐसे महावीर तीर्थाधिनाथ द्वारा... ऐसे महावीर तीर्थाधिनाथ द्वारा **यह सन्त—** यह मुनि **जन्म-जरा-मृत्यु का नाशक...** यह उपदेश भगवान का... चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा ध्रुव शरणभूत है, ऐसा उपदेश भगवान ने किया, वह कैसा है? कि सन्तों ने (जन्म), जरा, मृत्यु का नाशक है। जन्म, वृद्धावस्था और मृत्यु तथा दुष्ट पापसमूहरूप

अंधकार का ध्वंस करने में चतुर,... भगवान का उपदेश वस्तु का—द्रव्य का आश्रय करने का जो उपदेश... भगवान आत्मा ध्रुव शुद्धभाव, उसका आश्रय करने का भगवान का जो उपदेश, वह जन्म-जरा-मृत्यु का नाशक है।

दुष्ट पापसमूहरूपी अंधकार का ध्वंस करने में चतुर, ऐसा इस प्रकार का (पूर्वोक्त) उपदेश समझकर,... ऐसा भगवान का उपदेश है, (उसे) समझकर... आहाहा! भगवान के उपदेश में तो, जिससे जन्म-मरण का नाश हो और पुण्य-पापरूपी अन्धकार का ध्वंस हो जाये, ऐसा भगवान का उपदेश है। पुण्य-पाप को रखना और उनके फल को भोगना—ऐसा भगवान का उपदेश नहीं है। आहाहा! ऐसा **उपदेश समझकर...** भगवान का उपदेश ही ऐसा है, कहते हैं। तीर्थंकर, उनमें अन्तिम भगवान महावीर का शासन चलता है, इसलिए भगवान को स्मरण कर... परमात्मा तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव जिन्हें इन्द्रों के मुकुट की रत्नमाला से जिनके चरण पूजे जाते हैं, ऐसे भगवान का कहा हुआ उपदेश समझकर...

सत्शीलरूपी नौका द्वारा,... अन्तर का—स्वरूप का भान करके सत्शीलरूपी नौका-स्वरूप की रमणतारूपी नाव—समझण और सत्शीलरूपी नाव... अन्तर भगवान आत्मा अतीन्द्रियस्वरूप का ज्ञान और उसमें सत्शीलरूपी नौका... स्वरूप की सत्शील... भगवान शुद्ध चैतन्य, उसका चित्स्वभाव—चित्स्वरूप अन्दर, उसके द्वारा **भवाब्धि के सामने किनारे...** परमात्मा भगवान ने ऐसा जो उपदेश किया... वस्तु आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, उसका आश्रय ले—ऐसा उपदेश समझकर अन्तर में सत्शीलरूपी—स्वरूप में रमणतारूपी—स्वभाव का आश्रय करके, स्वभाव को प्रगट करके भवाब्धि—भवरूपी समुद्र... ओहोहो! चौरासी के अवताररूपी भवाब्धि के सामने किनारे अर्थात् उसका अन्त लाता है। आहाहा!

सामने किनारे पहुँच जाते हैं। अर्थात् मोक्ष की दशा को प्राप्त करता है। संसार का अन्त आ जाता है और मोक्ष की प्राप्ति होती है। कैसा उपदेश और क्या? ४२ में कहा न! उसमें यह नहीं... यह नहीं... (ऐसा) आया न? '**चउगइभवसंभमणं जाइजरामरण-रोगसोगा य**' अकेला भगवान नित्य ध्रुव... अन्तरभाव, ध्रुवभाव, आत्मा की शरण लेना,

वह त्रिलोकनाथ परमात्मा भगवान का उपदेश है। यह बात स्पष्ट है। तथापि व्यवहार विकल्प से यह होता है और व्यवहार से निश्चय होता है, निश्चय से मुक्ति होती है... आवे वह... वह बन्धन का कारण है, मोक्ष का कारण है वह? कहो, प्रकाशदासजी! बीच में व्यवहार आता है न, पंच महाव्रत का विकल्प वह तो बन्ध का कारण है। उससे भवाब्धि के किनारे पहुँचा जाता है? वह विकल्प स्वयं संसार है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भगवान! आहाहा!

उसका महातत्त्वप्रभु चैतन्य आत्मा के दो भाग—एक आत्मा की अवस्था और एक त्रिकाली दल ध्रुव। आत्मा में दो भाग। बाकी यह सब पर। शरीर, वाणी, मन, वह तो पर... पर और पर। विकार सब पर... आहाहा! भगवान आत्मा में दो भाग—एक उसकी दशा का—हालत का और एक उसके ध्रुवदल का। उसमें ध्रुववस्तु जो नित्य है, उसका आश्रय करनेयोग्य है, और उसकी शरण में जाने से भवाब्धि का किनारा पार होता है। आहाहा! परन्तु जिसे भवाब्धि... भवाब्धि में शुभराग... चौरासी के अवतार में अवतरित होना, यह सेठाई, स्वर्गाई, धूल मिले उसमें सुख लगता हो, उसे पार कैसे पावे? कहते हैं कि जिसे यह सब दुःखरूप लगे और आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु नित्यानन्द का आनन्द का यह बड़ा चौसल है पूरा। यह आत्मा, हों! उसकी जो शरण ले, आश्रय ले, उसे समझे और सत्शीलरूपी नौका—स्वरूप की रमणतारूपी नाव... उस द्वारा भवरूपी समुद्र के सामने किनारे पहुँच जाता है। आहाहा! संसार के परिभ्रमण का अन्त... भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु की शरण में भवाब्धि का अन्त आता है। दूसरा कोई शरण है नहीं। कहो, समझ में आया? यह ४२ (गाथा) हुई। ४३।

इसमें शुद्धभाव अधिकार... शुद्ध... शुद्ध... त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु शाश्वत् आत्मा का भाव... आहाहा! क्या कहते हैं, यह पकड़ना कठिन पड़े। प्रकाशदासजी! यह महाव्रत पालो, अणुव्रत ले लो। मर गये लेकर, सुन न! यह तो सब संसार है, विकल्प है, राग है। आहाहा! क्या हो? अरे! यह चीज़ जिसे सुनने को मिले नहीं (कि) मार्ग क्या है प्रभु का। प्रभु अर्थात् इस आत्मा का। सुने बिना इसे समझ में नहीं आये और समझे बिना उसमें आगे उतरे नहीं और उतरे बिना उसमें स्थिर नहीं हो और

स्थिर हुए बिना उसे मुक्ति नहीं हो। आहाहा! ४३। कैसा है शुद्धभाव? ध्रुव... ध्रुव... भगवान आत्मा ध्रुवभाव, सामान्य स्वभाव, नित्यभाव, आहाहा!

णिद्दंडो णिद्दंद्वो णिम्ममओ णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा॥४३॥

देखो! यहाँ आत्मा आया। पहले जीव कहा था, अब आत्मा कहा। वह का वही है, जीव और आत्मा एक ही है। नीचे इसका हरिगीत।

निर्दंड अरु निर्द्वंद्व निर्मम निःशरीर निराग है।
निर्मूढ़ निर्भय, निरवलंबन आत्मा निर्दोष है॥४३॥

आहाहा! यह उसमें अप्पा कहा था, यहाँ आत्मा कहा। भगवान ध्रुव आत्मा, कहते हैं, उसे दण्ड नहीं। दण्ड, है न नीचे? (निर्दण्ड अर्थात्) **दण्डरहित। जिस मन-वचन-कायाश्रित प्रवर्तन से आत्मा दण्डित होता है, उस प्रवर्तन को दण्ड कहा जाता है।** मन-वचन-कायाश्रित शुभाशुभभाव से आत्मा दण्डित होता है—घात होता है—दण्ड होता है उसे, नुकसान होता है, उस प्रवर्तन को दण्ड कहा जाता है। इस दण्ड से रहित भगवान आत्मा है।

टीका:—यहाँ (इस गाथा में) वास्तव में शुद्ध आत्मा को... ऊपर शुद्धभाव कहा है न, वही शुद्धात्मा अर्थात् त्रिकाली ज्ञायकभाव, निजपद... निज—अपना शुद्ध ध्रुवपद, उसे **समस्त विभाव का अभाव है...** उसे समस्त विभाव का अभाव है, **ऐसा कहा है।**

मनदण्ड... मन से शुभाशुभभाव हों, उसमें दण्ड होता है। आहाहा! **वचनदण्ड...** वचन में शुभाशुभभाव से आत्मा दण्डित होता है। **और कायदण्ड के योग्य द्रव्यकर्मों तथा भावकर्मों...** जड़कर्म और विकारीभाव, उनका **अभाव होने से...** क्योंकि दण्ड के योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्म हैं, उनका भी भगवान आत्मा में अभाव है। आहाहा! अभाव है, ऐसा कैसे बैठे इसे? यह तो अभाव है, ऐसा कहा। कब बैठे इसे? कि दण्ड के भाव से रहित ज्ञायकभाव दृष्टि में ले, तब निर्दण्ड है, ऐसा इसे ख्याल में आवे। समझ में आया?

आत्मा निर्दण्ड है। भगवानस्वरूप प्रभु शुद्ध चैतन्यधातु ध्रुवधातु नित्यानन्द का भावस्वभाव भगवान आत्मा, वह तो निर्दण्ड है। उसमें तो दण्ड-बण्ड है नहीं। आहाहा! तो उसका अर्थ यह कि मन-वचन-काया में दण्डित होता है, तो उससे आत्मा को लाभ हो, ऐसा है नहीं। वह तो नुकसान करनेवाला है। वह उसमें नहीं। ओहोहो! अधिकार भी शुद्धभाव अधिकार है न! उस शुद्धभाव का अधिकार। उसके (शुद्ध) भाव में ऐसे भाव का अधिकार है ही नहीं। वहाँ इसे दृष्टि देनेयोग्य नहीं है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

आत्मा निर्दण्ड है। भगवान आत्मा वस्तुरूप से स्वभाव का पूर, अकेला तेज का नूर, सुख का सागर, ऐसा जो भगवान आत्मा, उसमें दण्ड है ही नहीं। आहाहा! दण्डरहित ही वस्तु है। रहित है तो उसका आश्रय करके रहित हो जाता है। समझ में आया? मन-वचन-काया का आश्रय करे, वह तो दण्ड है। ऐसी बात है। **निर्द्वंद्व...** भगवान आत्मा शुद्धभाव त्रिकाली नित्य ध्रुव दल, वह द्वैत रहित है—अद्वैत है। आहाहा! जिसमें एक समय की पर्याय का द्वैतपना नहीं। रागपना तो नहीं, संसारपना तो नहीं। प्रभु अन्तर आत्मा ध्रुव में वास्तव में **परमपदार्थ के अतिरिक्त...** स्वयं परमपदार्थ प्रभु है। भगवान आत्मा परमपदार्थ, इसके **अतिरिक्त समस्त पदार्थ समूह का (आत्मा में) अभाव होने से...** समस्त पदार्थ समूह... यह चार—उदय, उपशम, क्षयोपशम (क्षायिक) आदि जो पर्याय—पदार्थ है, इसका भी उसमें अभाव है। चार भाव की पर्याय का भी उसमें अभाव है। परम पदार्थ में सब पदार्थ का अभाव है। आहाहा! बात यह। ऐसा भगवान आत्मा परम पदार्थ अपना निजपद ध्रुवपद, इसके अतिरिक्त समस्त पदार्थ समूह... एक समय की पर्याय भी पदार्थ है, राग पदार्थ है—इन सबका भगवान आत्मा में अभाव है।

आत्मा, निर्द्वन्द्व है। अद्वैत है, परन्तु इस प्रकार से अद्वैत है। वे वेदान्त कहते हैं कि सब होकर एक आत्मा, ऐसा नहीं। वेदान्त कहते हैं न एक है सर्वव्यापक? '**एकोऽहं ब्रह्मं द्वितीयो नास्ति... एकोडहं बहुश्यामी**' एक हूँ, वह ध्वंस होता हूँ—ऐसा नहीं है। भगवान आत्मा शाश्वत् सत् दल, उसमें पर्याय का भी अभाव है, इसलिए उसे अद्वैत कहा जाता है। पर्याय, पर्याय में है, दूसरे पदार्थ—ऐसा कहा न? इसके अतिरिक्त

पदार्थसमूह है, (परन्तु) उसमें नहीं। दो बातें सिद्ध कीं। परम पदार्थ के अतिरिक्त के पदार्थों का समूह... है तो सही या नहीं? आहाहा! गजब धर्म का ऐसा रूप! अभी लोगों को तो... वह तो व्रत पालते हों, तपस्या करते हों, सूझे कि कुछ कर रहे हैं। इसमें क्या कहते हैं, अता-पता नहीं। अपवास करना, हरितकाय नहीं खाना, उपदेश देना दुनिया को, तो दुनिया को उपदेश देनेवाले को भी लाभ हो। धूल भी नहीं होता। उपदेश वाणी तो जड़ है। आहाहा! उसमें विकल्प उठे, वह राग है।

ओहो! एक ओर भगवान राम और एक ओर गाँव। एक समय में आत्माराम ध्रुव नित्यानन्द प्रभु... पुण्य-पाप, संसार, शरीर, वाणी, कुटुम्ब, देश, पाँच परमेष्ठी—ये सब पदार्थ हैं, एक समय की पर्याय भी पदार्थ है। पदार्थ है न? नव तत्त्व—नव पदार्थ कहे हैं न? संवर, निर्जरा, मोक्ष भी पदार्थ है। है या नहीं? आस्रव, पुण्य-पाप, वह पदार्थ है। परन्तु वह भगवान आत्मा शुद्धभाव का जो चौसला ध्रुव शाश्वत्, उसमें इन सब पदार्थों का अभाव है। इसलिए उसे निर्द्वंद्व (कहा जाता है।) इसलिए द्वन्द्व अर्थात् दूसरी चीज़ जिसमें नहीं। पर्यायरूपी द्वन्द्व भी जिसमें नहीं। ऐसा वह अद्वैत तत्त्व भगवान आत्मा है, उसकी शरण लेने से धर्म होता है।

ऐसे 'अरिहंता शरणं, सिद्धा शरणं, साहु शरणं...' नहीं आता? यह तो सब निमित्त के कथन हैं। अरिहन्त ने कहा यह जो उपदेश, उसमें आत्मा जो कहा, उसका शरण, वह स्वयं अरिहन्त है, उसका यह शरण है; स्वयं सिद्ध है, उसका वह शरण है। कहो, समझ में आया? आचार्य, उपाध्याय, साधु की निर्मलता, वह सब भगवान आत्मा में भरी हुई है, ऐसा जो भगवान, भेदरहित अभेद ऐसी चीज़, उसे यहाँ द्वन्द्वरहित कहा है। आहाहा! राग-द्वेष और पुण्य-पाप, वह द्वन्द्व—दोपना, वह तो नहीं, परन्तु द्रव्य में पर्याय का द्वन्द्वपना—दूसरापना उसमें नहीं। ऐसा भगवान आत्मा अन्तर शरणभूत है। वहाँ आश्रय करनेयोग्य है, वहाँ दृष्टि देनेयोग्य है, बस।

निर्मम। **प्रशस्त-अप्रशस्त, समस्त मोह, राग, द्वेष का अभाव होने से...** शुभाशुभभाव कि प्रशस्त पुण्यभाव और अप्रशस्त पापभाव—ऐसा मोह, राग-द्वेष सबका अभाव होने से **आत्मा, निर्मम (ममतारहित) है।** प्रशस्त-अप्रशस्तभावों का जिसमें

अभाव होने से अर्थात् कि समस्त शुभ-अशुभभाव या मोह-राग-द्वेष का प्रभु आत्मा में—ध्रुवस्वरूप में—नित्य शाश्वत् चैतन्यदल में उसका अभाव होने से, उस पर के प्रति ममत्व रहित है। आहाहा! ऐसा शुद्धभाव है। शुद्धभाव कहो या ध्रुवभाव कहो। क्या कहना इसमें भी? मन्दिर बनाना हो, पूजा करना, आठ प्रकार की पूजा करना, सामायिक ३२ दोष टालकर करना—ऐसा समझ में आये कथन बाहर का। यहाँ समझ में नहीं आये, यहाँ समझण में है सब। आहाहा! सामायिक (अर्थात्) अन्दर ध्रुवस्वरूप को पकड़कर स्थिर हो, उसका नाम सामायिक। ऐसा भगवान निर्द्वंद्व, निर्मम... निर्दण्ड, निर्द्वंद्व, निर्मम है। आहाहा!

जब ताड़पात्र में श्लोक लिखा जाता होगा, ताड़पत्र में लिखे हैं न दो हजार वर्ष पहले? आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य महाराज दिगम्बर सन्त जंगलवासी... जंगल में ताड़पत्र में... **'णिद्दंडो णिद्दंदो णिम्ममो'** आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा तू है। जिसमें यह (पर्याय, राग-द्वेष) नहीं है, उसमें दृष्टि देनेयोग्य है। जो (पर्याय, राग-द्वेष है), उसमें से दृष्टि उठानी है। पर्याय, राग-द्वेष उनमें से दृष्टि उठानी है (और) यहाँ दृष्टि देनी है। ऐसा धर्म बहुत सूक्ष्म। स्त्री-पुत्र छोड़ दो, संसार छोड़ दो, ...जाओ अब मुँडकर आओ। तो समझ में भी आये, कि लाओ मुँडे चलो। यहाँ तो कहते हैं कि द्रव्य मुँडा हुआ ही है। द्रव्य में कुछ है, उसकी शरण ले तो धर्म होता है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। मनमुण्डन करे तो होता है, ऐसा कहते हैं, परन्तु वह मुण्डन कब होता है? अन्तर का भगवान आत्मा नित्य शुद्धभाव यह जो ध्रुव कहा, उसकी शरण ले तो (मन) मुण्डन हो जाये और मन का नाश हो जाये, उसमें नहीं तो नाश हो जाये। अविनाशी के आश्रय से नाशवान वस्तु का नाश होता है। आहाहा! यह तो निश्चयधर्म की बात है। परन्तु व्यवहार? भगवान ने दो नय कहे हैं न? दो नय को जानने की बात है, ग्रहण करने की बात नहीं। ग्रहण तो एक ही नय का विषय यही ग्रहण करना है। समझ में आया? भारी कठिन लगे।

कितने ही कहते हैं कि यह (बात) सोनगढ़वाली हो गयी। परन्तु यहाँ कहाँ पुस्तक सोनगढ़ की है? यह पुस्तक अभी की है? २००० वर्ष पहले की पुस्तक है। टीका १००० वर्ष (पहले) की है। अरे! उसमें नहीं, ऐसी नजर तो करे। आहाहा!

जिसमें अकेला भगवान ध्रुव है और यह सब उसमें नहीं। अस्ति यह और यह उसमें नास्ति। आहाहा! देखो न! यह अनेकान्त। महापुरुषार्थ चाहिए इसमें तो अनन्त। अभी साधारण में ठिकाना नहीं, उसका अर्थ ऐसा कर सके? इसकी हैसियत ही नहीं। साधारण में... साधारण झूठा बोला जहाँ सच्चे का ठिकाना नहीं, नीति का ठिकाना नहीं, ऐसों को यह कॉपी करने जाये, परन्तु हो नहीं उसमें से। ऐसी बात है। अजर प्याला की बातें हैं। आहा! कहो, ऐसी पुस्तक एक है या दो है? कितनी रखी हैं? ऐई मनसुख! एक ही रखी है न? भाई तीन और (पुस्तक) एक? मँगाया और नहीं मिला। यह बचाव करता है।

कहते हैं, आहाहा! यह भागवत शास्त्र है। है न पीछे कहा न? भगवान आत्मा की कथा कहनेवाला यह है। भागवत शास्त्र। भागवत कथा नहीं बैठाते? यहाँ तो सदा ही भागवतशास्त्र का सप्ताह है। आहाहा! **निश्चय से औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, और कार्मण नामक पाँच शरीरों के समूह का अभाव होने से...** लो। यह कार्मण-बार्मण शरीर उसमें (आत्मा में) नहीं है, लो कर्म नहीं, ऐसा कहते हैं। यह औदारिकशरीर, वैक्रियिकशरीर देवों का और नारकी का, आहारकशरीर मुनि को होता है, तैजसशरीर यह ..., कार्मण—नामक पाँच शरीरों के समूह का अभाव है। कब? अभी। आहाहा!

जिसके ज्ञानशरीर में पाँच शरीरों का अभाव है, (इसलिए) **आत्मा निःशरीर है**—इसलिए आत्मा शरीररहित है। पाँच शरीरसहित है न? परन्तु कौन कहता है? सुन न! शरीरसहित उसे (-आत्मा को) मानना, वह तो मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! पाँच शरीर ही जिसमें नहीं भगवान आत्मा में। कार्मण की १४८ प्रकृति। कोठा में है न उसके पेट में? उन सबका भगवान आत्मा में अभाव है, इसलिए वह निःशरीर है। निःशरीर है, इसलिए उसकी शरण में जाने से सम्बन्ध जो दिखता है, वह छूट जायेगा, सम्बन्धरहित हो जायेगा। सम्बन्ध से रहित है, ऐसा जो जानेगा, वह परिणति द्वारा निमित्त का सम्बन्ध है, वह छूट जायेगा। आहाहा! गजब बात! इन कर्मों में... निरालम्ब है। भगवान आत्मा अन्दर पूर्णानन्द का नाथ प्रभु, पर का जिसका आलम्बन है नहीं, (ऐसा) निरालम्बी प्रभु है। आकाश को जैसे आलम्बन नहीं, वैसे भगवान आत्मा को कोई आलम्बन नहीं।

निश्चय से परमात्मा को... देखो! यहाँ परमात्मा शब्द रखा। निश्चय से परमात्मा अर्थात् यह आत्मा, ऐसा। परम आत्मा अर्थात् परमस्वभाव शुद्धभाव। जिसे ऊपर शुद्धभाव कहा है, उसे यहाँ परमात्मा कहा है। त्रिकाली ध्रुवस्वभाव नित्यस्वभाव अविनाशी वह है... है... है... है... है... अनादि का है... है... है... है... अनन्त काल ऐसा का ऐसा है... है... है। ऐसा जो शाश्वत् चैतन्यभाव, ऐसा जो परमात्मा, ऐसा जो शुद्धभाव, उसे परद्रव्य का आलम्बन नहीं होने से निरालम्ब है। आलम्बन की बड़ी चर्चा चले स्थानकवासी-मन्दिरमार्गी में। देरासर—मन्दिर, प्रतिमा का आलम्बन चाहिए। स्थानकवासी कहे, नहीं। यह कहे, होता है। दोनों समझ बिना के हैं।

वह तो शुभभाव हो तब सामने है, परन्तु वह शुभभाव और दोनों चीज़ का तो स्वरूप में अभाव है। आहाहा! जिनप्रतिमा और जिनागम... ...आधार पंचम काल में, लो। यहाँ कहते हैं कि कुछ आलम्बन है ही नहीं आत्मा को। ऐई चैतन्यजी! पाँचवाँ काल है न? ... भगवान हो तब तो ठीक। न हो, तब मूर्ति और आगम है। यहाँ तो कहते हैं, तीनों काल में आत्मा को किसी का आलम्बन है ही नहीं। वस्तु ऐसी है। उसका तो अधिकार चलता है। आहाहा! यह तो शुभभाव आवे असंख्य प्रकार के, परन्तु उसका तो यहाँ वस्तु में अभाव है। जाननेयोग्य आवे। जाननेयोग्य, यह शुभभाव और यह निमित्त जाननेयोग्य है। समझ में आया?

निश्चय से—वास्तव में, ऐसा। निश्चय से अर्थात् वास्तव में। वापस व्यवहार से कहते हैं, ऐसा नहीं। भगवान परमस्वरूप प्रभु, शाश्वत् रहनेवाली शक्ति का तत्त्व, एक समय की पर्याय—अवस्था रहित, उसे कोई आलम्बन (है ही नहीं)। उसे पर्याय का आलम्बन नहीं (कि) पर्याय है तो द्रव्य टिकता है। तो और भगवान की मूर्ति और सब हो तो आत्मा को आलम्बन हो और लाभ हो (ऐसा नहीं है)। अरे गजब बात भाई! एक ओर बड़ी प्रतिमा, मन्दिर बनावे, और कहे कि आलम्बन नहीं। कौन बनाता है? वह तो उसके काल में वहाँ होता है। भाई! उसमें प्रभावना होती है, वह धर्म का बड़ा आधार है। यहाँ कहते हैं, आधार... आधार आत्मा है। जो आत्मा निरालम्बन है, किसी पर्याय के आधार से प्रगट हो, ऐसा नहीं। आहाहा! उसके गीत सुने नहीं इसने (कि) उसकी जाति में क्या है। कहते हैं, परमात्मा को परद्रव्य का आलम्बन नहीं है। वे सब परद्रव्य

हैं। एक समय की पर्याय परद्रव्य है। ऐसा निरालम्बी प्रभु ध्रुव शुद्धभाव त्रिकाली, उसे यहाँ आत्मा कहा जाता है। वह आत्मा स्वयं परमात्मा है। थोड़ा-थोड़ा वाँचने का रखना है या नहीं हसमुख? या मनसुख वाँचे? नहीं वाँचे... यह बड़ा... पाप की बहियाँ तो वाँचता है न? कितनी उगाही कहाँ आयी? आहाहा!

अब, **निराग...** है आत्मा। आत्मा में राग नहीं अर्थात् मिथ्यात्व—विपरीत मान्यता, वह आत्मा में नहीं। आहाहा! वह पर्याय में है, पर्याय वस्तु में नहीं। आहाहा! **मिथ्यात्व, वेद...** तीन—स्त्री, पुरुष, नपुंसक वेद की वासना, उस वेद का जिसमें अभाव है। भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु में वेद का अभाव है। **राग** का अभाव है, शुभ-अशुभराग। **द्वेष** का अभाव है, **हास्य** का अभाव है। सुख-दुःख अवस्था जिसमें नहीं, ऐसा जो नित्यानन्द प्रभु, उसे यहाँ आत्मा कहा गया है। वह आत्मा अपनी पर्याय को शरणभूत है। **रति-अरति...** उसमें नहीं है। प्रसन्न हो जाना, खेदखिन्न हो जाना। भगवान वस्तु में कहाँ है? आनन्दधाम, नित्यानन्द प्रभु आत्मा में उसका अभाव है। **शोक और भय...** का अभाव है, **जुगुप्सा**—ग्लानि का अभाव है।

क्रोध, मान, माया, और लोभ नामक चौदह अभ्यन्तर परिग्रहों का... लो, यह अभ्यन्तर परिग्रह, इनका भगवान आत्मा में **अभाव...** वर्तता है। **अभाव होने से आत्मा, निराग है।** ज्ञायक सहजात्मस्वरूप नित्य परम-स्वभाव सहजभाव प्रभु आत्मा का, उसमें यह चौदह प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह का त्रिकाल अभाव है। तीन काल में वह चीज़ है नहीं। **निर्दोष...** है। वास्तव में—**निश्चय से समस्त पापमलकलंकरूपी कीचड़ को धो डालने में समर्थ,...** अर्थात् कि पुण्य-पाप का मैल उसकी चीज़ में नहीं, ऐसा। अर्थात् कि उस चीज़ का आश्रय ले तो पुण्य-पाप धुल ही जाते हैं, ऐसा। इसलिए पुण्य-पापरहित आत्मा है। **समस्त पापमल...** यह पाप-पुण्य सब पाप। ऐसा जो कादव, उसे धो डालने में समर्थ है। वह वस्तु में नहीं, परन्तु वस्तु का आश्रय लेने से वे सब नाश हो जाते हैं, ऐसा उसका स्वभाव है।

सहज, परमवीतराग-सुखसमुद्र में मग्न (डूबी हुई लीन) प्रगट सहजावस्था-स्वरूप... आहाहा! कैसा है प्रभु? स्वाभाविक परम वीतराग सुखसमुद्र में वह डूबा

हुआ तत्त्व है, पड़ा हुआ—रहा हुआ वह है। आहाहा! स्वाभाविक परमवीतराग सुखसमुद्र, ऐसा। वापस यह दुनिया मानती है न कि यह सुख है। धूल में, विषय में, भोग में, इज्जत में होली-अंगारा है। उसमें सुख कहाँ था? वहाँ तो कषाय अग्नि सुलगती है। कहो, समझ में आया? स्वाभाविक परमवीतराग सुखसमुद्र में मग्न है वस्तु, ऐसा कहते हैं, देखो! सुखसमुद्र में तो त्रिकाली आत्मा मग्न ही है। अतीन्द्रिय आनन्द में लीन है प्रभु आत्मा। ... आहाहा! **प्रगट सहजावस्थारूप...** सहज अवस्था... स्वाभाविक स्थिर ऐसा तत्त्व है। सुखसमुद्र में मग्न ऐसी सहजस्वभावी चीज़ है। यह सहज अवस्था... अव-निश्चय+स्थ। स्वाभाविक—निश्चय स्थ। अपने आनन्द में निश्चय से स्थित है। कहो, समझ में आया?

किसकी बात चलती है यह? किसकी बात चलती है यह? कौन-सा आत्मा? सिद्ध भगवान का? यह (निज) आत्मा की बात चलती है। अन्तर भगवान निजानन्द प्रभु, निजपद सुखसमुद्र में डूबा हुआ वह तत्त्व है। आहाहा! सहज अवस्था (अर्थात्) स्वाभाविक—निश्चय+स्थ—रहा हुआ है। उसे कोई आश्रय नहीं, किसी से उत्पन्न हुआ नहीं, किसी के आधार से है नहीं। अकेला आनन्द में मग्न स्वरूप है भगवान आत्मा। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द में मग्न। **जो सहजज्ञानशरीर...** देखो! उसका स्वाभाविक ज्ञानशरीर है। भगवान आत्मा का तो स्वाभाविक ज्ञानशरीर—जानना, आनन्दवाला... आनन्द और ज्ञान दोनों लेना है न? आनन्द और ज्ञान जिसका शरीर है। आहाहा! नित्य वस्तु ध्रुव आत्मा शाश्वत् आदि-अन्त रहित चीज़ वह है। ऐसा जो आत्मा, वह सुखसमुद्र में डूबा हुआ है और सहजज्ञान जिसका शरीर है। स्वाभाविक ज्ञान ध्रुव। पर्याय की बात नहीं। **सहजज्ञान-शरीर, उसके द्वारा पवित्र होने के कारण...** स्वाभाविक आनन्द और स्वाभाविक ज्ञानरूपी जिसका शरीर... शरीर अर्थात् जिसका स्वरूप, ऐसा। आहाहा! ऐसे आत्मा के गीत भी सुने नहीं हों। सुने नहीं... ...से भी सुने नहीं। सुने हों यथार्थ तो अन्दर में गये बिना रहे नहीं। समझ में आया?

'श्रुत परिचित' कहा न? सुना नहीं। पर से विभक्त और स्व से एकत्व सुना नहीं इसने। ऐसा भगवान आत्मा शान्ति का दल, सुख का पूर, चैतन्य के नूर का शरीर, चैतन्य के नूर का शरीर है उसका। आहाहा! शरीर अर्थात् उसका स्वरूप है, ऐसा। ज्ञानशरीर

जिसे है, ऐसा। यह धूलशरीर नहीं, रागशरीर उसमें नहीं। ऐसी बात है न, भगवान! मार्ग तो ऐसा वस्तु का स्वरूप है यह। यह अनादि का है, परन्तु लोगों को (सुनने) मिलता नहीं, सुनने को मिलता नहीं, वह समझे कब और अन्तर में उतरे कब? आहाहा! वस्तु पदार्थ है न भगवान आत्मा? वह कहीं अवस्तु है? अरूपी अर्थात् वह कहीं वस्तु नहीं? अरूपीवस्तु है। जैसे यह रूपीवस्तु है, वैसे अरूपीवस्तु है। उस वस्तु में तो अनन्त गुण सुख और ज्ञानादि भरे हुए हैं। उसमें एकाकार—लीन अभेद है, ऐसा कहते हैं मूल तो। आहाहा! ऐसे स्वाभाविक आनन्द और स्वाभाविक ज्ञानशरीर द्वारा प्रभु तो त्रिकाल पवित्र है, उसे निर्दोष कहा जाता है। उस निर्दोष भगवान पर नजर कर। वहाँ नजर करने से, निधान दिखने से समकित होगा, बाकी कोई दूसरी पद्धति है नहीं। आहाहा!

यह कहे कि अणुव्रत ले लो। फिर महाव्रत का आन्दोलन करो। यह अणुव्रत-महाव्रत लो, फिर उपदेश करो, ऐसा। लोगों को ऐसा लगे कि यह कितना करते हैं... आहाहा! वह तुलसी नहीं कहते? अणुव्रत... क्या कहलाता है? गजब ऐसा... अरे! सुन न अब! अणुव्रत, महाव्रत आदि समकिती को होते नहीं और समकित किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती। ऐई! ऐसा है। इसने... आहाहा! यह तो सहज वहाँ होता है। वहाँ करने कौन जाता है? आहाहा!

भगवान आत्मा स्वाभाविक आनन्द और स्वाभाविक ज्ञानरूपी जैसा सत्त्व... सत्त्व—शरीर है, इससे वह निर्दोष है। ऐसी पवित्रता के कारण से वह निर्दोष है। वस्तु त्रिकाली निर्दोष है। निर्दोष '**णिद्दोसो...**' आहाहा! कैसा है भगवान? स्वाभाविक निश्चयनय से... स्वाभाविक निश्चय से—वस्तु से स्वाभाविक—**(सहज) ज्ञान...** स्वाभाविक—**(सहज) दर्शन,** स्वाभाविक—**(सहज) चारित्र** त्रिकाली, स्वाभाविक **परमवीतराग सुख आदि अनेक परमधर्मों के आधारभूत...** धर्मों के **आधारभूत निज परमतत्त्व को जानने में समर्थ...** अपने तत्त्व को जानने में समर्थ... आहाहा! स्वयं, अपना ऐसा तत्त्व है, ऐसा **जानने में समर्थ होने से आत्मा निर्मूढ़ है;...** आहाहा!

एक तो ऐसी बात की है कि स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक चारित्र, स्वाभाविक परम वीतरागसुख, (ऐसे) अनेक धर्म सिद्ध किये। उनका आधार

द्रव्य, ऐसा निज परम तत्त्व, उसे जानने में... आहाहा! उसे जानने में समर्थ है अर्थात् इसका अर्थ हुआ कि उसकी जो दृष्टि करे, वह अपने ज्ञान से ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वरूप है। समझ में आया? **निर्मूढ है।** यह तो स्वयं अपने को त्रिकाल जाने, ऐसा ही उसका स्वरूप है। त्रिकाल उसका स्वरूप है कि स्वयं अपने को जानता है। ऐसा जहाँ स्वीकार हुआ (कि) स्वयं अपने को सीधे जाने, ऐसा उसका स्वरूप है, इसलिए उसे निर्मूढ कहा जाता है। ऐसा शुद्धभाव वह शरणभूत और आश्रय करनेयोग्य है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण ७, मंगलवार, दिनांक - १५-६-१९७१
गाथा-४३, श्लोक-६२, प्रवचन-४२

यह नियमसार, शुद्धभाव अधिकार है। शुद्धभाव अर्थात् यह आत्मा जो नित्य ध्रुव है, शरीर-वाणी-मन से तो रहित, कर्म से रहित और पुण्य-पाप के विकल्प से भी रहित और एक समय की अवस्था है, उससे रहित है। आहाहा! ऐसा आत्मा, उसे 'आत्मा' कहा जाता है। ऐसे आत्मा पर दृष्टि देने से उसे सम्यग्दर्शन और धर्म होता है। इसके बिना धर्म की पद्धति दूसरी कोई है नहीं। यह कहते हैं, देखो! अन्तिम शब्द फिर से लेते हैं, निर्मूढ।

सहज निश्चयनय से... कैसा है भगवान आत्मा अन्दर? शुद्ध आनन्दघन। पाँचवीं लाईन है न? **सहजज्ञान...** अन्तर में स्वाभाविक पूर्ण ज्ञान भरा है। **सहज दर्शन...** स्वाभाविक दृष्टिपने का स्वभाव सहज अन्दर ध्रुव में स्वाभाविक पड़ा है। **सहज चारित्र...** स्वाभाविक वीतरागता अन्तर में—अन्तरभाग में—ध्रुवभाग में एक समय की अवस्था के अतिरिक्त शाश्वत् जो चैतन्य हिस्सा—चैतन्य का अन्तर भाग जो हिस्सा, उसमें वीतरागता पूरी पड़ी हुई है। **सहज परमवीतराग सुख...** स्वाभाविक वीतरागी आनन्द से भरपूर वह तत्त्व है। आहाहा!

भगवान आत्मा परम सुख का सागर है। वह **अनेक परम धर्मों के आधार...** ऐसे अनेक धर्म अर्थात् आत्मा का स्वभाव, उसका आधार **निज परम तत्त्व...** अपना निज परम तत्त्व उत्कृष्ट स्वभाव ऐसे को जानने में समर्थ... ऐसे **निज तत्त्व को जानने में समर्थ...** ऐसा आत्मा है, उसे यहाँ निर्मूढ कहा जाता है। देवचन्दजी! यह बात कही जाती है न? अन्दर वस्तु जो है आत्मा... पहले कहा कि आत्मा यहाँ किसे कहते हैं? नित्यानन्द का जो भाग—ध्रुवभाग, उसे आत्मा कहते हैं। एक समय की पर्याय के साथ। एक समय की जो अवस्था है, एक हिस्सा छोटा अलग और उसके अतिरिक्त शाश्वत् भाग है, वह बड़ा अन्तर भाग, उसका हिस्सा अलग। मणिभाई! ऐसी चीज़ है। अरेरे! जगत को अन्तर वस्तु क्या है, उसका सामर्थ्य क्या है, उसकी नित्यता का शाश्वत् स्वभाव क्या है—इसकी खबर नहीं और इस खबर बिना चौरासी के अवतार किया करता है।....

भगवान अन्दर आत्मा परमेश्वर केवली, तीर्थंकरदेव ने जो देखा—सर्वज्ञ केवली तीर्थंकर परमात्मा ने इस आत्मा को देखा, वह कैसा है ? वह तो अनन्त आनन्द, शान्ति, वीतराग, सुख के सागर से भरपूर ऐसा आत्मा प्रभु ने देखा। ऐसा जो ध्रुवतत्त्व है... उस आत्मा में दो भाग हैं। शरीर, वाणी, मन, यह सब पर। यह तो कहीं उसके है नहीं। उसमें है नहीं, उसके हैं नहीं, उसके होकर रहे नहीं। शरीर, वाणी, स्त्री-कुटुम्ब ये कहीं आत्मा के होकर रहे नहीं। ये तो उनके (स्वयं के) होकर रहे हैं। मुफ्त में मूढ 'मेरे हैं', ऐसा मानता है।

अब, यहाँ तो दो बात हैं। अन्दर पुण्य-पाप के विकल्प भी विकार होकर रहे हुए हैं। वे आत्मा के होकर रहे नहीं। आस्रव है न वे ? पुण्य और पाप हो, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव, हिंसा, झूठ, चोरी के भाव—वे सब विकार होकर रहे हुए हैं। विभाव और राग होकर रहे हुए हैं। वे आस्रवतत्त्व होकर रहे हैं। आत्मा के होकर रहे नहीं हैं। अब, आत्मा के होकर दो (अंश) रहे हुए हैं। एक उसकी वर्तमान अवस्था और एक उसकी ध्रौव्यशक्ति। अब अवस्था है, वह भी उसकी होकर नहीं रही।...भाई! यह सूक्ष्म तत्त्व है। आहाहा! सम्प्रदाय में तो यह है ही नहीं। यह तो उसे खबर है न! कहते हैं कि भगवान आत्मा जिसे आत्मा परमेश्वर नित्य आत्मा, वास्तविक आत्मा, शुद्ध आत्मा (कहा है)... यह शुद्धभाव (अधिकार) है न ? यह शुद्धभाव ध्रुव को लागू पड़ता है। पुण्य-पाप रहित शुद्धपरिणति, निर्मल शुद्धभाव, वह यहाँ नहीं। यहाँ तो त्रिकाली शाश्वत् वस्तु वह शुद्ध है। क्यों ? कि उसमें परवस्तु तो नहीं, पुण्य-पाप के विकल्प तो नहीं, परन्तु एक समय की हालत—दशा, वह भी उसमें नहीं। इसलिए उसे—ध्रुव को शुद्ध कहा जाता है। आहाहा!

शाश्वत् है... है... है... है... अनादि और अनन्त ऐसा का ऐसा है। ऐसा जो तत्त्व, उसमें अनन्त गुण अर्थात् धर्म रहे हैं। धर्म अर्थात् स्वभाव, उस स्वभाव का आधार निज परमतत्त्व, उसे जानने में वह समर्थ है। स्व को जानने में समर्थ है, ऐसा वह तत्त्व है। ध्रुवरूप से जानने में समर्थ, हों! भाई! उसकी बात चलती है न ? .... आहाहा! उसका स्वरूप ही निज अनन्त धर्मों का आधार ऐसा जो निजतत्त्व है, उसे जानने में समर्थ ऐसा उसका त्रिकाली स्वभाव है। आहाहा! ऐसे तत्त्व की दृष्टि करना, उसका नाम प्रथम में

प्रथम सम्यग्दर्शन और धर्म है। इसके बिना सब व्यर्थ है। उसके व्रत, तप और सभी क्रियाकाण्ड सब एक बिना के शून्य हैं। समझ में आया?

ऐसा जो भगवान, आहाहा! जिसने—परमेश्वर ने तो पर्याय में—अवस्था में प्रगट किया। वह प्रगट करने की बात अभी आयेगी। परन्तु प्रगट न हो तो भी वस्तु तो प्रगट ध्रुव है। अनादि-अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप सिद्धस्वरूप समान अपना स्वरूप है, वह स्वयं अपने को जानने को अनादि-अनन्त समर्थ है। यह नित्य की बात की है। भारी सूक्ष्म बातें! ऐसा हो कि व्रत पालना, अपवास कर डालना, दया पालना... यह तो करता है, अनादि से अज्ञानी करता है और ऐसा का ऐसा करता-करता चार गति में भटकता है। आहाहा! परन्तु वस्तु वह राग से भिन्न, क्रिया के राग से भिन्न है। एक समय की राग को जानने की जो दशा, उससे भी भिन्न—पृथक् चीज़ है। कहाँ इसे पहुँचना है और कहाँ जाये तो इसे आत्मा प्राप्त हो—उसकी बात है। निमित्त से दृष्टि उठा दे, राग से दृष्टि उठा दे, एक समय की पर्याय से दृष्टि उठा दे। आहाहा!

त्रिकाली भगवान स्वयं निजात्म ध्रुव शुद्ध शाश्वत्, उसमें दृष्टि लगावे, तब उसे तत्त्व का स्वीकार होता है, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है, तब उसकी धर्म की पहली शुरुआत होती है। आहाहा! इसके बिना अनन्त काल में भटका करे, एक भव से दूसरे में, भव से भव, मरकर अनन्त अवतार किये। यह अवतार और अवतार का कारण जिसके स्वभाव में नहीं। एक बात कल हो गयी थी यह तो। **अथवा...** अब वर्तमान ऐसी उसकी दशा का सामर्थ्य है। अब यह पर्याय। **सादि-अनन्त...** केवलज्ञान सर्वज्ञपद परमेश्वर जो हो, वह नया होता है। सर्वज्ञ, वह पर्यायरूप से होना, ऐसा उसका स्वभाव है। जैसे त्रिकाली में, तीनों काल के त्रिकाली तत्त्व को जानने का त्रिकाल में स्वभाव है, वैसे एक समय की पर्याय में त्रिकाल जानने का स्वभाव, ऐसी पर्याय प्रगट हो, तब जीव को निर्मूढ कहा जाता है। मूढ नहीं, अब वह विचिक्षण हो गया, ऐसा। आहाहा!

सादि... जब से सर्वज्ञ होता है केवलज्ञान, उसकी आदि है, केवलज्ञान कहीं अनादि का नहीं है। अनादि की शक्तियाँ—गुण हैं, परन्तु जो केवल (ज्ञान) हो, सर्वज्ञ-अरिहन्तपद, सर्वज्ञ, वह नयी दशा होती है, वह शुरुआत होती है। शुरुआत हो, वह अनन्त काल रहती है केवलज्ञान। **सादि-अनन्त...** शुरुआत-अनन्त... **अमूर्त** है। केवलज्ञान

की दशा अमूर्त है। जिसमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श है नहीं। **अतीन्द्रिय स्वभाववाला...** वह तो अतीन्द्रिय स्वभाव का ज्ञान है। आहा! केवलज्ञान अतीन्द्रिय स्वभाववाला ज्ञान है। **शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय से...** एक अंश है न वर्तमान? केवलज्ञान भी एक अंश है, त्रिकाली चीज़ नहीं। इसलिए उसे व्यवहारनय कहा है। मणिभाई! इस संसार के व्यवहार-फ्यवहार की बात नहीं यहाँ। धर्मी जीव को अन्दर में दया, दान के परिणाम—विकल्प होते हैं, वह व्यवहार, उसकी बात यहाँ नहीं। एक समय की दशा... त्रिकाली भगवान वस्तु ध्रुव चीज़ शाश्वत्, उसकी अपेक्षा से एक समय का केवलज्ञान, वह भी अंश है, भेद है, इसलिए उसे व्यवहार—सद्भूतव्यवहार कहा जाता है। अरे! गजब व्याख्या! वीतराग का तत्त्व ऐसा सूक्ष्म है। जगत को सुनने को मिलता नहीं। बाहर के थोथा-खोखा सुन-सुनकर जिन्दगी चली जाती है। मूल तत्त्व हाथ नहीं आता। कहते हैं कि **शुद्ध सद्भूत...** क्योंकि पर्याय अपनी है न ज्ञानगुण की? (परन्तु) अंश है, इसलिए व्यवहार।

तीन काल और तीन लोक के स्थावर-जंगमस्वरूप... केवलज्ञानरूपी दशा होने का ही आत्मा का स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। जैसे अन्तर में त्रिकाली को जानने का स्वभाव त्रिकाली में पड़ा है, वैसे एक समय की अवस्था केवलज्ञान की, तीन काल—तीन लोक को जानने का स्वभाव, ऐसी जिसकी अवस्था का स्वरूप है। आहा! वह अवस्था पूरी हो, तब निर्मूढ कहने में आता है। आहा! **तीन काल और तीन लोक के स्थावर-जंगमस्वरूप...** जैसे त्रस और स्थावर अथवा गति करते परमाणु या स्थिर रहे हुए परमाणु—सबके द्रव्य-गुण-पर्याय... भगवान आत्मा का ज्ञान एक समय में पूर्ण इतना हो तो तीन काल—तीन लोक के जगत के द्रव्यों—वस्तुओं की शक्ति और उनकी दशायें, उन्हें एक समय में जानने की सामर्थ्य है। आहाहा! इतना यह आत्मा है, ऐसा कहते हैं।

समर्थ सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञानरूप से अवस्थित होने से आत्मा, निर्मूढ़ है। आहाहा! देखो तो सही! कहते हैं कि निर्मूढ की दो व्याख्या। एक त्रिकाली तत्त्व शाश्वत्... वह शाश्वत् शाश्वत् को जाने, ऐसा उसका स्वभाव और एक प्रगट अवस्था केवलज्ञान हो, उसमें अवस्थित हो, उसे यहाँ निर्मूढ कहने में आता है।

चार ज्ञान तक अभी उसे पूर्ण निर्मूढ कहने में नहीं आता। आहाहा! ऐसा उसका स्वभाव है। आहा! केवलज्ञानरूप से परिणमे, ऐसा ही उसका स्वभाव है, ऐसा कहते हैं। रागरूप से परिणमे, वह तो उसका स्वरूप ही नहीं, परन्तु अल्पज्ञरूप से रहना, वह उसका स्वभाव नहीं, ऐसा कहते हैं। क्या कहा, समझ में आया? पुण्य-पाप के विकल्प—राग, वह तो विकार है, उसरूप होना तो उसका स्वरूप है ही नहीं, परन्तु पर को परिणमावे और पररूप हो, ऐसा उसका स्वरूप नहीं, परन्तु अल्पज्ञरूप से, अल्पदर्शीरूप से रहना, ऐसा भी उसका वास्तविक स्वरूप नहीं। आहाहा! यह अनन्त काल का भटकता कहीं के कहीं भव किये, इस वस्तु के भान बिना। बाकी सब इसका क्रियाकाण्ड अनन्त बार कर चुका है। व्रत, नियम और तप मर-मरकर... कोई मरकर बहुत ऐसा हो तो स्वर्ग में भूतड़ा-बूतड़ा हो। परन्तु वापस मिथ्यात्वसहित। आत्मा वस्तु क्या है, उसका तो अनुभव नहीं, उसका विश्वास, उसकी प्रतीति, उसका ज्ञान नहीं, इसलिए चौरासी के अवतार में फिर-फिरकर भटकनेवाला है यह। आहाहा!

कहते हैं, **केवलज्ञानरूप से अवस्थित होने से आत्मा, निर्मूढ़ है।** ऐसा। जब भगवान आत्मा, अपने में सर्वज्ञस्वभाव है, ध्रुव सर्वज्ञस्वभाव है, नित्यस्वभाव, नित्य सर्वज्ञस्वभाव जीव का है, वह जब केवलज्ञानरूप से—पूर्णदशारूप से होकर रहे—अवस्थित होकर रहे, तब उस जीव को निर्मूढ कहने में आता है। आहाहा! राग में उलझना और पर में उलझना, वह तो मूढ जीव है, परन्तु एक समय की अपूर्ण अवस्था में रहे तो उसकी निर्मूढ़ता पूर्ण नहीं हुई, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह तो वीतराग के घर की बातें हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव समवसरण में इन्द्रों और गणधरों के समक्ष में यह प्रसिद्ध करते थे। परमात्मा इस बात को प्रसिद्ध करते थे। आहा! भगवान! तू कितना? कि अनन्त-अनन्त गुण का धारक इतना, शाश्वत् रहनेवाला इतना, उसे यहाँ वास्तव में आत्मा कहते हैं। और उस आत्मा की दृष्टि करे, उसे सम्यग्दृष्टि और धर्मी कहते हैं। और उस आत्मा में एक समय की अवस्था ज्ञान की पूर्ण होकर रहे, उसे निर्मूढ़ परमात्मा कहते हैं। कहो, समझ में आया?

यह शरीर मेरा, स्त्री-पुत्र मेरे, पुण्य-पाप मेरे—(ऐसा माने), वह तो मूढ़ में मूढ़ मिथ्यादृष्टि मूढ़ प्राणी है, ऐसा कहते हैं, चार गति में भटकनेवाला मूढ़ जीव है। परन्तु

यहाँ तो कहते हैं कि एक समय की पर्याय जितना मैं हूँ (—ऐसा माननेवाला), वह भी मूढ़ प्राणी है। आहाहा! यहाँ तो आत्मा त्रिकाली आनन्दकन्द प्रभु का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा धर्म की हो, परन्तु वह पूर्णदशा न हो, तब तक उसकी मूढ़ता पूर्ण टली नहीं और निर्मूढ़ता पूर्ण हुई नहीं। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य की शैली कोई अलौकिक है! केवलियों का पेट (अभिप्राय) खोलकर रखा है। अरे! जगत को शरण... शरण हो वह नित्यानन्द ध्रुव आत्मा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! 'अरिहंता शरणं, सिद्धा शरणं...' कोई शरण दे, ऐसा नहीं है। आत्मा को उसकी एक समय की अवस्था का भी शरण नहीं। शरण तो वह लेनेवाला त्रिकाली का है। त्रिकाली भगवान आत्मा शाश्वत् चैतन्यदल, शाश्वत् त्रिकाली रहनेवाला, उसका हिस्सा, उस आत्मा की वर्तमानदशा को शरणभूत है। वाडीभाई! यह सब ऐसा सुना भी न हो। ऐसा शरणभूत वह है।

यहाँ तो 'चार शरण और मांगलिक' ऐसा कहते हो, लो। इस मांगलिक का अर्थ क्या? भाई! नहीं कहा था उस फौजदार को? जैचन्दभाई एक थे न? राजकोट में एक फौजदार थे। ...वे जेतपुर के हैं। जैचन्दभाई फौजदार थे, बहुत होशियार थे। अपने वीसाश्रीमाली फौजदार थे। फिर (संवत्) १९९० का चातुर्मास था वहाँ सदर में, तब उसकी बेचारे की अन्तिम स्थिति हो गयी। रक्त सब सूख गया। बहुत होशियार व्यक्ति। गौशाला में रहते वहाँ सदर में गौशाला में। महाराज! मुझे मांगलिक सुनाओ न! व्यक्ति लेने आया। अन्तिम स्थिति थी। एक-दो दिन निभे ऐसा था। वैसे तो बैठे थे, कुछ नहीं था। मांगलिक सुनाओ। फौजदार व्यक्ति को मांगलिक सुनाया। वापस पूछा कि महाराज! यह मांगलिक अर्थात् आपने क्या कहा? होशियार व्यक्ति।

ऐसे चाहे जो वह रक्त... क्या कहते हैं? खून सूख जाता है न? एनिमिया। एनिमिया। हाँ... बैठे थे बराबर... स्त्री थी, सब बैठे थे। परन्तु (मरने की) तैयारी है एक-दो दिन में। मांगलिक सुनाओ। होशियार व्यक्ति। महाराज! यह क्या कहा आपने मांगलिक में? बापू! ऐसा कहा कि 'अरिहंता मंगलं' (अर्थात्) अरिहन्त ने जो आत्मा का स्वभाव कहा, उसकी शरण में जाना, वह मांगलिक है, ऐसा कहा। होशियार व्यक्ति था। कुछ परिचय नहीं था। पहला-पहला ही हमारा मांगलिक सुना और बेचारे को ऐसा

हो गया कि हाय... हाय! अब यह देह समाप्त हो जायेगी। अब जाओ दूसरे अवतार में। महाराज! यह क्या कहा आपने? मुझे समझण नहीं पड़ी। भाई! हमने ऐसा कहा... ९० के वर्ष की बात है। सम्प्रदाय का चातुर्मास था न सदर में।

सदर में चातुर्मास ९० में था, तब तुम्हारे कानजीभाई ने एक वह दिया था। क्या कहलाता है? ऐरण्डी (शॉल)। ऐरण्डी आती थी वह भागलपुर की आती थी... वह अभी तक थी चार-छह वर्ष पहले। कानजीभाई ने तब दी थी ९० में। छोटी ऐसी थी। तब तो १०-१२ रुपये की कीमत की होगी ९० के वर्ष में। अभी २०० रुपये की मिलती है ऐसी। तब ९० के वर्ष में। अपने कानजीभाई ने दी थी। तब यह जयचन्दभाई... उसे बेचारे को ऐसा हुआ कि .... चला जाना है। हो गया, एक-दो दिन... जाना कहाँ?

बापू! अन्तर आत्मा भगवान शरण है। भाई! अरिहन्त कहीं शरण देने नहीं आते, सिद्ध भगवान कहीं शरण देने नहीं आते, परन्तु उन्होंने कहा हुआ 'केवली पण्णत्तो धम्मो शरणं...' चार में आता है न? 'केवली पण्णत्तो धम्मो शरणं' भगवान का कहा हुआ आत्मा आनन्दमूर्ति प्रभु है, उसकी शरण में जा तो तुझे शान्ति होगी, वह शरण है। बाकी शरण-फरण कुछ नहीं। (वह) होशियार व्यक्ति न... आहाहा! बहुत... एक-दो दिन रहे। ऐसे तो कुछ नहीं था, बैठे थे। चाहे वह सूख गया... दो दिन वहाँ ही थे, वहाँ देह छूट गया। छूट ही जाये न, परन्तु यह कहाँ उसकी चीज़ थी? आहाहा! वह दूसरा अवतार वापस। आहाहा! कहा, ऐसे भव कर-करके मर गया। भगवान आत्मा अन्दर नित्य वस्तु ध्रुव जो है, आत्मा का अपना ध्रुवस्वरूप जो है, उसकी दृष्टि करे और शरण ले तो उसे निर्विकल्प शान्ति और आनन्द मिले। बाकी कहीं शरण है नहीं। वह यहाँ कहते हैं। आहाहा! अन्तिम बोल है। निर्भय है भगवान। अन्तर वस्तु निर्भय है। निर्भय की व्याख्या क्या करते हैं?

समस्त पापरूपी शूरवीर शत्रुओं की सेना जिसमें प्रवेश नहीं कर सकती... कैसा है आत्मा? ध्रुव नित्यानन्द भगवान? कि जिसमें कर्मरूपी बैरी-शत्रु प्रवेश नहीं कर सकते। नित्यानन्दस्वभाव में प्रवेश कौन करे? आहाहा! शाश्वत् वस्तु स्वयं है, उसमें कर्म बैरी के भाव अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते। **पापरूपी शूरवीर शत्रुओं...** आहा! पुण्य और पाप भाव, दोनों पाप हैं। शूरवीर **सेना जिसमें प्रवेश नहीं कर सकती...**

नित्यानन्द प्रभु जिसमें एक समय की पर्याय—अवस्था प्रवेश नहीं करती, पाप और पुण्यरूपी शत्रुओं की सेना अन्तर ध्रुव में प्रवेश नहीं कर सकती। ऐसा भगवान ध्रुव आत्मा है। आहा! नित्य... नित्य... नित्य... ध्रुव शाश्वत्, जिसमें कर्मरूपी बैरी-शत्रु की सेनायें अन्तर ध्रुव किले में प्रवेश नहीं कर सकती, ऐसा आत्मा ध्रुवतत्त्व है। आहाहा!

ऐसे निज शुद्ध अन्तःतत्त्वरूप... भगवान अपना शुद्ध प्रभु, अनन्त ज्ञान और आनन्द का सागर, चैतन्य का नूर—तेज और आनन्द का पूर, ऐसा उसका ध्रुव नित्य स्वभाव है। उसमें **महा दुर्ग में...** महा किला है, कहते हैं। **बसता होने से...** उसमें आत्मा बसता है। आहाहा! अनन्त शुद्ध अन्तःतत्त्व परमात्मस्वरूप ध्रुव, वह आत्मा उसमें रहा हुआ है। ऐसे आत्मा में कर्मरूपी शत्रु अन्दर प्रवेश कर सकें, ऐसी उसमें ताकत है नहीं। आहाहा! समझ में आया? बात सब... शूरवीर शत्रु चाहे जैसे बैरी हों, परन्तु अन्दर प्रवेश नहीं कर सकते। भगवान नित्यानन्द प्रभु... और नित्यानन्द की जहाँ दृष्टि हुई, भार नहीं कि विकल्प आ सके—अन्दर प्रवेश कर सके, ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म तत्त्व है न, भाई! ऐसा वह किला है। नित्य प्रभु कि जिसमें पुण्य-पाप के विकल्प शूरवीर हों, वे अन्दर में प्रवेश (नहीं कर सकते)। ध्रुव में क्या करे? नित्यानन्द में प्रवेश किसका हो? वह तो नित्यानन्द सहजानन्द ध्रुवतत्त्व है। ऐसे तत्त्व की शरण में जाना, उसका आश्रय लेना, उसे मांगलिक मानना, उसे उत्तम मानना, इसका नाम शरण और धर्म कहा जाता है। आहाहा! **निर्भय है।** भगवान निर्भय है। आहाहा! जिसमें राग और द्वेष के विकल्प प्रवेश नहीं करे, ऐसी नित्यानन्द प्रभु अपनी चीज़ है, वह निर्भय है—भय है नहीं। आहाहा!

ऐसा यह आत्मा वास्तव में उपादेय है। लो, सारांश। ऐसा भगवान तत्त्व जो है, अपना ध्रुव नित्यानन्द नाथ, ऐसा आत्मा वास्तव में अपने को आदरणीय और अंगीकार करनेयोग्य है, बाकी कोई अंगीकार करनेयोग्य नहीं है। एक समय की पर्याय भी उपादेय नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! तेरे दया-दान और व्रत के परिणाम की बात क्या करना? वह तो विकार और दुःख है। आहा! परन्तु यह एक समय की जो उघाड़-विकास (रूप) पर्याय, वह भी शरणरूप उपादेय नहीं, आहाहा! आदरणीय नहीं। नित्यानन्द भगवान... एक समय की अवस्था के पीछे शाश्वत् स्वयं वस्तु है, वही

आदरणीय, वही उपादेय, वही आचरणीय, वही आश्रय और उसमें रहनेयोग्य वह यह है। कहो, वाडीभाई! यह दूसरे प्रकार की बात है यह सब। अब मुम्बई आ गये, वहाँ अधिक... कलकत्ता। वहाँ सेठाई न.... यहाँ दिक्कत नहीं। ...विचार आया कि ठीक किया यह। आहाहा! अरे भगवान! ऐसा अवसर मिला भाई! आँखें मींचकर विचार... आहाहा! चैतन्यतत्त्व महाप्रभु स्वयं अन्दर अनन्त आनन्द की खान है, उसकी यदि नजर न की, उस निज निधान को नजर में नहीं लिया, तो उसे भटकने का अवसर है। भगवान को नजर में ले तो पुण्य परिणाम है, वह कहीं धर्म नहीं, ऐसा कहते हैं। 'णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं' यह भी विकल्प है, राग है, पुण्य है; धर्म नहीं, शरण नहीं। आहाहा!

अरे! राग को जाननेवाली वर्तमान ज्ञान की अवस्था, वह भी शरण नहीं, उपादेय नहीं। आहाहा! एक आदरणीय त्रिकाली भगवान नित्यानन्द प्रभु अपना—निज स्वभाव ध्रुव, बस, वह एक उपादेय और आचरणीय और आदरणीय है। धर्मी को तो वह आदरणीय है। आहा! कहो, दीपचन्दजी! यह तो प्रोफेसर भगवान हैं बड़े। आहाहा! यह वस्तु है ऐसी, भाई! आहाहा! अरे! इसे विश्वास नहीं आता। मैं इतना बड़ा हूँ, उसका विश्वास नहीं आता। अनन्त सिद्ध और अनन्त केवलज्ञान, ऐसी अनन्त दशा जिसमें—आत्मा के पेट में पड़ी है। वह केवलज्ञान आता है, वह कहाँ से? कहीं अध्धर से आता है? अन्तर की धारा में से आता है। अन्तर में केवलज्ञान की शक्तियाँ अनन्त पड़ी हैं। अनन्त सिद्ध को गर्भ में रखकर स्थित है आत्मा। आहाहा!

इतना बड़ा कैसे बैठे? पामर होकर घूमता है, उसे प्रभुता कैसे बैठे? आहाहा! एक जरा अनुकूलता थोड़ी मिले, वहाँ प्रसन्न... प्रसन्न... अरे! परन्तु क्या है यह? पागल! क्या हो गया है तेरा यह? जरा प्रतिकूलता आवे तो खेदखिन्न हो जाता है, खींझ जाता है। भगवान! यह अनुकूलता-प्रतिकूलता कोई चीज़ ही तुझमें नहीं। यह तो जगत की चीज़ है। इससे उठे वह विकल्प भी तुझमें नहीं। आहाहा! अरे! इस राग को जाननेवाली वर्तमान ज्ञान की प्रगट दशा, वह अंश है, उसका भी त्रिकाली भगवान में अभाव है, ऐसा 'आत्मा' आत्मा को उपादेय है। यह शब्द ही किसी समय सुनायी देते हैं। वाडीभाई! वहाँ सेठ होकर घूमते हैं न! ...बैठना पड़े सामने। आहाहा! तीन लोक

का नाथ अनन्त लोकालोक को समेटकर ज्ञान में जानकर पड़ा है अन्दर। अपना मानकर नहीं, (परन्तु) जानकर। ऐसा जो चैतन्यतत्त्व, उसे यहाँ उपादेय, आदरणीय उसे कहा गया है, वह आदर करनेयोग्य है। आहाहा! यह श्लोक (गाथा) पूरा हुआ। अब इसके अर्थ (रूप से) जरा दूसरा श्लोक कहते हैं।

इसी प्रकार (श्री योगीन्द्रदेवकृत) अमृताशीति में (५७ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि—

क्षितिपवनसखाणुस्थूल... सखाणु... अणु... ...

स्वरनिकरविसर्गव्यञ्जनाद्यक्षरैर्यद्,
रहितमहितहीनं शाश्वतं मुक्तसङ्ख्यम्।
अरसतिमिररूपस्पर्शगन्धाम्बुवायु-
क्षितिपवनसखाणुस्थूल दिक्चक्रवालम्॥

यह सखा, क्या कहा? यह शब्द कहीं आया नहीं। पवन का मित्र अग्नि...

कैसा है यह भगवान अन्दर आत्मा? सच्चिदानन्द प्रभु सिद्धस्वरूपी स्वयं भगवान आत्मा है अन्दर। आहाहा! वह **आत्मतत्त्व स्वरसमूह...** यह आवाज का समूह उसमें नहीं। यह आवाज निकलती है—स्वर क, ख, ग आदि, **विसर्ग...** विसर्ग हो न शून्य और वह... विसर्ग-फिसर्ग आत्मा में नहीं। **व्यंजन...** अक्षर, अ, आ, इ आदि आत्मा में नहीं। आहाहा! **संख्या रहित है...** भगवान को संख्या कैसी? कि आत्मा दो है, पाँच है, दस है। वह एक है, ऐसी संख्या (भी) कहाँ है वहाँ? है वह है। आहाहा! नित्यं... अनादि-अनन्त शाश्वत्, एक समय की अवस्था के अतिरिक्त का तत्त्व, वह संख्या रहित है। संख्या सहित(पना) उसमें नहीं है। आहाहा!

(अर्थात्, अक्षर और अंक का आत्मतत्त्व में प्रवेश नहीं है)... यह अक्षर जो उठते हैं अ-क्षर, उनका चैतन्य में प्रवेश नहीं, वे तो जड़ हैं, अक्षर तो जड़ हैं। विकल्प उठे, वह जड़ है। आहाहा! इस चैतन्य के तेज में उनका प्रवेश नहीं। भगवान का तेज तो उसमें उसके सामने देखे तो रागादि मर जाये, कहते हैं। ऐसा चैतन्य का तेज अन्दर में है। आहाहा! कहते हैं, **अहित रहित है....** कैसा तत्त्व है? उसमें अहित है ही नहीं।

यह संसार के अहितभाव उसमें है नहीं। आहाहा! नित्यानन्द प्रभु आत्मा शाश्वत् रहनेवाला वह का वह... वह का वह... अनन्त भव में, वह चीज़ जो शाश्वत् है, उसमें अहित है नहीं। अहित का वह स्थान ही नहीं। आहाहा! **शाश्वत् है...** है... है और है। अनादि है, अनन्त रहेगा, ऐसा का ऐसा रहेगा। आहाहा! ऐसा शाश्वत् तत्त्व, वही आत्मा को अन्तर में आदरणीय और सेवा करनेयोग्य है। वह शाश्वत् तत्त्व आत्मा है, उसकी सेवा कर, कहते हैं। धूल में भी पर का करता नहीं। नौकर भी करता नहीं। कौन करता है? आहाहा!

सब २५-५०, सौ मनुष्य ऐसे इकट्ठे हुए हों, आहाहा! क्या करे? ....अमुलख न? अमुलखभाई नहीं थे एक? जसाणी थे। अमुलखभाई। उन अमुलखभाई की स्थिति अन्तिम थी वहाँ सब... पूरा कुटुम्ब एकत्रित हुआ। मोहनलाल, बेचरभाई, नानालालभाई, बहुएँ। खचाखच लोग। सदर में... परा में, हाँ, परा में। वहाँ अन्तिम स्थिति यह डबल निमोनिया। बेचरभाई के साथ मोहनभाई, नानालालभाई, सारा परिवार इकट्ठा हुआ था। महाराज का मांगलिक सुनना है, दर्शन करना है। हाथ में दी एक, क्या कहलाती है? प्लेट। मौसम्बी देने के लिये, हाथ ऐसे-ऐसे काँपे। देह छूटने की तैयारी। अमुलखभाई एक थे राजकोट, नानालालभाई के कुटुम्बी। पुंजाभाई उनके काका थे न। यह तो ९० के वर्ष की... ९९, ९९। ९९ की बात है। आहाहा! आँख में से आँसू बहते जा रहे थे। बेचारभाई की आँख में से आँसू। सगे होते हैं न? बेचरभाई की आँख में से आँसू। नानालालभाई, मोहनभाई सब परिवार इकट्ठा हुआ था। मौसम्बी दी प्लेट में। ऐसे जरा दो महाराज को तो इतने परिणाम तो अच्छे हों न? मुश्किल... मुश्किल से... ...लिये जाये। डबल निमोनिया। श्वास लिया ... दर्द चढ़े। आहाहा!

अरे प्रभु! तू कहाँ है? उस कुल में है आत्मा? इसमें (शरीर में) है? इसके ऊपर लक्ष्य करे, वह राग, उसमें आत्मा है? भगवान! तू तो राग के पीछे सच्चिदानन्द निर्मलानन्द सिद्ध समान तेरा तत्त्व है। आहाहा! यह नजर वहाँ करने की खबर नहीं होती और बाहर नजरें फिरा करती हैं, वह मरकर बाहर में जाये। आहाहा! कहते हैं, भगवान आत्मा अहित रहित तत्त्व है, **शाश्वत् है, अन्धकार...** उसमें अन्धकार नहीं। चैतन्य के तेज का सागर है आत्मा, उसमें अन्धकार कैसा? आहाहा! चैतन्य के प्रकाश

का पूर, वह तो आत्मा है। सूर्य के प्रकाश में अन्धकार—कोयला होगा? इसी प्रकार चैतन्य के प्रकाश में अन्धकार रागादि कुछ नहीं। आहाहा! ऐसी अन्तर चीज़ तू है, प्रभु!

तथा स्पर्श, रस, गंध और रूपरहित है;... उसमें स्पर्श नहीं, गन्ध नहीं, रस नहीं। आत्मा में है? वह तो जड़ में है। स्पर्शरहित, गन्धरहित, रसरहित प्रभु अन्दर है। आहाहा! **पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के...** लो, यह अग्नि आयी सखा। मैंने कहा, यह क्या आया? समझ में नहीं आता था। सखा कहाँ से आया? इसका क्या मेल है? यह पृथ्वी उसमें नहीं... पृथ्वी आत्मा में है? पानी आत्मा में है? अग्नि, वायु... **अणुओं...** और उनके परमाणु यह रजकण, वे कहाँ आत्मा में हैं? वे तो जड़ में हैं। प्रभु अरूपी चैतन्यघन अन्दर है। आहाहा! **तथा स्थूल दिक्चक्र (दिशाओं के समूह)...** यह पूर्व, पश्चिम, उत्तर (दक्षिण आदि) दिशा, वह दिशा-फिशा अन्दर में नहीं। **रहित है।**

अब टीकाकार सात श्लोक कहते हैं, भाई! देखो! यह अच्छा लगा श्लोक (-गाथा), उसमें से सात श्लोक रखे। बोल कितने हैं? एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ। नौ बोल हैं। आहाहा!

दुरघ-वन-कुठारः प्राप्त-दुःकर्म-पारः,
पर-परिणति-दूरः प्रास्त-रागाब्धि-पूरः।
हतविविधविकारः सत्यशर्माब्धिनीरः,
सपदि समयसारः पातु मामस्त-मारः॥६२॥

आहाहा! अकेले अध्यात्म के मन्त्र हैं। भगवान आत्मा... **जो समयसार** अर्थात् यह आत्मा अन्दर नित्यानन्द प्रभु **दुष्ट पापों के वन को छेदने का कुठार है,...** यह पुण्य और पाप के वन, उन्हें छेदने का भगवान कुठार है। आहाहा! आत्मा समयसार चैतन्य ध्रुव का शरण ले तो पुण्य और पाप का नाश हो जाता है अथवा वह वस्तु स्वयं चैतन्यघन ध्रुव है, उसमें वह पुण्य-पाप है ही नहीं। आहाहा! वह पुण्य-पापरूपी दुष्ट जो वन, उसे छेदने का... ओहोहो! नित्यानन्द भगवान प्रभु स्वयं, उसका शरण लेने से, आहाहा! पुण्य-पाप के विकल्प उत्पन्न होते ही नहीं। जिसमें नहीं, उसमें से कैसे हो? ऐसा भगवान शरणभूत प्रभु, उसकी शरण में जाने से पुण्य-पाप के समूह का नाश हो

जाता है। कहाँ जाना, (इसकी) पहले खबर नहीं होती, पहिचान नहीं होती कि चीज़ क्या है अन्दर।

जो दुष्ट कर्मों के पार को प्राप्त हुआ है... कहते हैं कि अष्टकर्म का उसमें अन्त है। है ही नहीं। भगवान आत्मा में कर्म कैसे? वह तो शुद्ध चैतन्यघन है। कर्म का जड़पना और राग का निमित्तपना, उसके साथ सम्बन्ध है, वस्तु में है ही नहीं। आहाहा! आठ कर्म के पार पहुँचा है प्रभु। वह वस्तु अन्दर चिद्घन नित्यानन्द शाश्वत् प्रभु आत्मा स्वयं है, आठ कर्म के अन्त को पहुँचा है। उसमें आठ कर्म है नहीं। अथवा उसका शरण ले, उसे आठ कर्म का अभाव हो जाता है। आहाहा! **जो परपरिणति से दूर है,...** कैसा है नित्यानन्द प्रभु अपना—निज भगवान? परपरिणति अर्थात् विकारी पुण्य-पाप के विकल्प—भाव उनसे दूर है। **जो परपरिणति से दूर है,...** आहाहा!

जिसने रागरूपी समुद्र के पूर को नष्ट किया है,... विकल्प की—राग की जाल ऐसा जो दुष्ट वन-समुद्र, उसके पूर का नाश किया है। आनन्द का नाथ भगवान, उसकी शरण में जाने से राग का समूह उत्पन्न नहीं होता। आहाहा! कहो, इसमें समझ में आता है या नहीं? ऐ मनसुख! ऐसा वाँचते भी न हो, समय मिलता नहीं। उसे समझ में कैसे आये? सूक्ष्म... सूक्ष्म वाँचना ऐसा कठिन... उसमें सूक्ष्म... सूक्ष्म करने जाते नहीं। पैसा तो बहुत आवे। .... **रागरूपी समुद्र के पूर को नष्ट किया है,...** आहाहा! वस्तु जो भगवान आत्मा है, वह तो वीतरागी मूर्ति है। उसमें राग कैसा? अन्तरतत्त्व में राग कैसा? अर्थात् अन्तरतत्त्व राग के समूह को नाश करनेवाला है अर्थात् कि राग उसमें नहीं और दूसरे प्रकार से वह चैतन्य भगवान स्वयं की शरण में जाये, पर्याय उसकी शरण में, उसे राग की उत्पत्ति होती नहीं। वहाँ से तो वीतराग की धारा ही बहे। आहाहा! समझ में आया? ऐसा आत्मा (इसने) सुना नहीं कभी। ऐसा तू अन्दर है, ऐसा कहते हैं। शाश्वत् रहनेवाली चीज़ है तू। एक समय की अवस्था बदलती है। बदलती है, वह उसके स्वरूप में नहीं है। आहाहा!

नित्यानन्द का चौसला शाश्वत् प्रभु, कहते हैं, रागरूपी समुद्र के पूर को नाश करता है। अकेला वीतरागी मूर्ति प्रभु आत्मा... 'जिन सो ही आत्मा... जिन सो ही आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, यही वचन से समझ ले जिनप्रवचन का मर्म।' श्रीमद्

राजचन्द्र का है। 'जिन सो ही आत्मा...' वीतराग की मूर्ति प्रभु आत्मा स्वरूप अकेला, उसका नाम आत्मा। राग, दया, दान, विकल्प सब पर है, आत्मा में है नहीं। ऐसे आत्मा की श्रद्धा और अनुभव करना, इसका नाम धर्म है। भारी कठिन काम! आहाहा! प्रतिकूलता थोड़ी-बहुत आवे, वहाँ कायर हो जाता है। अब झट छूटें। वहाँ कहाँ वापस मौसीबा बैठी है? शरीर में अधिक वह (प्रतिकूलता) आवे, उसकी अपेक्षा छूट जायें। परन्तु छूटकर वहाँ कहाँ मौसीबा थी? कि आओ भानेज! वहाँ वह का वह है वापस। वह शरीर और वह दुःख और वह व्याधि और वह जरा और वह रोग। आहाहा! बापू! तेरी चीज़ अखण्डानन्द प्रभु अन्दर, जिसमें विविध विकारों को घात डाला है। आहाहा! आचार्य मुनि आत्मा का वर्णन करते हुए उन्हें शब्द कम पड़ते हैं। नित्यानन्द का नाथ सहजानन्द की मूर्ति ध्रुव आत्मा **जिसने विविध विकारों का हनन कर दिया है,...** अर्थात् कि विकार उसमें है ही नहीं। आहाहा! और उसकी शरण ले, उसे विकार उत्पन्न नहीं होते—ऐसी दोनों बातें हैं। इसके बिना यह करे और अमुक करे, विकार टले—ऐसा है नहीं।

जो सच्चे सुखसागर का नीर है... आहाहा! यह सच्चे सुख-सागर का पानी आत्मा। सत् सुख-सागर के पूर का नूर है। आहाहा! **सच्चे सुखसागर का नीर है...** जैसे निर्मल पानी बहे न? उसी प्रकार अन्तर में—आत्मा के अन्तर में—स्वभाव में सच्चे सुख-सागर का वह पानी है। आहाहा! दुःख की गन्ध नहीं उसमें। ऐसा भगवान आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने देखा और कहा। ऐसा आत्मा तू है, भाई! इस आत्मा की दृष्टि किये बिना तुझे धर्म तीन काल में हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! गजब! कहते हैं, सच्चा सुखसागर... यह दुनिया मानती है धूल में दो-पाँच करोड़ रुपये हों और सुखी हैं, बादशाही है। होली है, कषाय के अंगारे हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं वहाँ, वहाँ कषाय की अग्नि सुलगती है। इस लक्ष्मी पर नजर जाये, वह राग है, कषाय है, कषाय की अग्नि सुलगती है। ऐई!

भगवान ने कहा कि स्वर्ग के देवों को... पुण्य किया हो, व्रत आदि किये हों तो जाये स्वर्ग में, अंगारे में सिकेगा वहाँ। विषय के भाव का विकल्प उठे, वह अंगारा है।

स्वर्ग में कषाय के अंगारे का दुःख है, धूल भी सुख नहीं। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, सच्चे सुखसागर का पानी है आत्मा। आहाहा! अन्दर नित्यानन्द प्रभु सत् सुख से भरपूर पूर है। आहाहा! अरे! नजर कर वहाँ, कहते हैं। नजर करना वह साधारण की बात नहीं है। जिसका अनन्त पुरुषार्थ है। ऐसी जो बुद्धि है, उसे गुलाँट खाकर अन्दर में झुकाना, ऐसा जो सत्यस्वरूप भगवान आत्मा (उसमें) सच्चे सुखसागर का पानी भरा हुआ है। आहाहा! जैसे मोती में पानी होता है न? मोती पानी हो न ऐसे तेज... तेज... तेज... तेज... तेज... मोती होता है न? तुम्हारे आभ कहते हैं? आभ अर्थात् पानी—तेज। मोती की मूर्ति है न? मोती की मूर्ति है इतनी वहाँ। कहाँ? मोरबी में। २०-२० हजार का मोती हो, २०-२० हजार का एक मोती। उस मोती में तेज हो—पानी हो ऐसे। वह तो जड़ है। यह तो चैतन्य का मोती... आहाहा! नित्यानन्द का नाथ सुखसागर का पूर अन्दर सागर के तेज से पानी भरा हुआ है, ऐसा कहते हैं। कैसे बैठे?

और जिसने काम को अस्त किया है,... भगवान आत्मा पूर्णानन्द प्रभु नित्य शाश्वत्, जिसमें काम की वासना की गन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसा जो वस्तुतत्त्व भगवान अपना, उसकी शरण में जाने से कामवासना की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए उसे कामवासना स्वरूप में भी नहीं। समझ में आया? कहो, छोटाभाई! यह पूना-बूना में सुनने का कुछ है वहाँ? अरे, मरा डाला है। बाहर का पैसा यह धूल, इज्जत, शरीर, स्त्री-पुत्र। कुछ व्यवस्थितता बाहर की देखे दुश्मनों की। वे सब हैं दुश्मन। ठगों की टोली मिली है अजीविका के लिये। नियमसार में है, लो। आहाहा! प्रभु! तू लुट जाता है वहाँ, मेरे मान-मानकर। नहीं कोई वहाँ शरण तेरा। अन्दर भगवान स्वयं नित्यानन्द का नाथ सुखसागर का पानी भरा है उसमें, आहाहा! एकाग्र होकर निकाल, उतना निकले। आहाहा! अनन्त आनन्द प्रगट हो, तो भी नया-नया अनन्त आनन्द प्रगट हो, ऐसी वह खान आत्मा है। ऐसा तू है पूरा आत्मा। आहाहा!

वह समयसार मेरी शीघ्र रक्षा करो। मुनिराज कहते हैं, अहो! ऐसा मेरा आत्मा, वह मेरा रक्षण करे, बस। मेरा रक्षण करनेवाला दूसरा कोई है नहीं। पाठ है न, देखो! है न? '**पातु मामस्तमारः**' पातु (अर्थात्) रक्षण करता है न? वह भी '**सपदि...**' ओहोहो! शीघ्र... मेरा भगवान निर्मलानन्द प्रभु अन्दर, वह मुझे शीघ्ररूप से वह मेरा

रक्षण है। वह आत्मा चिदानन्द प्रभु, तू मेरा रक्षण कर, आहाहा! ऐसा कहते हैं। अपने नित्यानन्द भगवान को कहते हैं। आहाहा! वह समयसार मेरा शीघ्र रक्षण करो। एक क्षण में पूर्णता प्राप्ति करूँ, ऐसा मेरा तत्त्व है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अरे! ऐसा आत्मा अन्तर के अनन्त आनन्द से भरपूर भगवान, जिसमें दु:ख की गन्ध नहीं, सुख की अपूर्णता नहीं, आहा! अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर—छलाछल भरपूर भगवान.... आहाहा! कहाँ होगा? तू है भगवान ऐसा, सुन न! ऐसा नाथ चैतन्यप्रभु **मेरी शीघ्र रक्षा करो।** अर्थात् वही मेरा पूर्ण दशा को प्राप्त करने का कारण है, दूसरी कोई कारणदशा है नहीं। आहाहा!

आत्मा की बात कहते-कहते मुनि को शब्द कम पड़ते हैं, ऐसा भगवान अन्दर है। है न? भाषा क्या की है? ऐसा मेरा सत्त्व है, वह मुझे अनुभव में है। ऐसा मेरा आत्मा है, वह मुझे विश्वास-दृष्टि में है। बस, वह आतमा ही मेरा रक्षण करो। मेरी निर्मलदशा को प्राप्त होओ; निर्मल हुई, उसे रखो और पूर्ण हो, उसे प्राप्त करो। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई शरण है नहीं। आहाहा! ऐसी बात भी सुनना... **शीघ्र रक्षण करो।** आहाहा!-मुनि को भी प्रमोद हो गया है। मैं स्वयं भगवान पूर्णानन्द प्रभु वस्तुस्वरूप... मेरा द्रव्य अर्थात् वस्तु ऐसे स्वभाव से भरपूर है, बस उस पर मेरी नजर जाने से वही मेरा रक्षण करती है। अब जल्दी करो, कहते हैं। अल्प काल में मेरी पूर्ण दशा होओ। अपूर्णता टल जाओ और पूर्णता होओ। वह स्वरूप की शरण में होती है, इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण ९, गुरुवार, दिनांक - १७-६-१९७१
श्लोक-६३ से ६८, प्रवचन-४३

६३वाँ कलश, नियमसार, शुद्धभाव अधिकार।

जयति परमतत्त्वं तत्त्वनिष्णातपद्म-
प्रभमुनिहृदयाब्जे सन्स्थितं निर्विकारम्।
हतविविधविकल्पं कल्पनामात्ररम्याद्,
भव-भव-सुख-दुःखान्मुक्त-मुक्तं बुधैर्यत्॥६३॥

भगवान आत्मा जिसका नित्य ध्रुवस्वरूप है, वह कैसा है? कि,

श्लोकार्थः—जो तत्त्वनिष्णात (वस्तुस्वरूप में निपुण) पद्मप्रभमुनि के हृदयकमल में सुस्थित है,... जिसने अपने ज्ञान से उस शुद्ध ध्रुवतत्त्व का स्वरूप जाना है, उसके ज्ञान में वह आत्मा स्थिर है। तत्त्वनिष्णात... वस्तुस्वरूप जो नित्य प्रभु ध्रुव अनन्त-अनन्त गुणों का एकरूप, उसमें जो निष्णात है, अर्थात् कि वर्तमान ज्ञान में उस चीज़ को लिया है (अर्थात्) उस वस्तु को वर्तमान ज्ञान की पर्याय में ज्ञेय करके उसे जाना है। बहुत अध्यात्म के संक्षिप्त शब्द हैं। ऐसे पद्मप्रभ मुनि... वे स्वयं कहते हैं। अपने ज्ञान की पर्याय में ध्रुव को जाना है—ध्रुव को पकड़ा है, इससे ज्ञान की पर्याय में—हृदयकमल में वह आत्मा स्थित है। क्या कहा, समझ में आया?

वह तत्त्व निष्णात है (अर्थात्) वस्तु का भान हुआ है, कहते हैं। वस्तु जो नित्य प्रभु ब्रह्मानन्द आत्मा समयसार कारणप्रभु, उसमें जिसकी निपुणता है अर्थात् ज्ञान में वह चीज़ आयी है, ऐसा है। वर्तमान ज्ञान की दशा में, उस वस्तु के स्वरूप के भान में पर्याय निष्णात है। आहाहा! श्रीचन्दजी! यह क्या कहते हैं? सम्यग्दर्शन में और सम्यग्ज्ञान में पहली चीज़ (यह कि) पूरी चीज़ है, ऐसा अन्दर उसे भान होता है। प्रथम में प्रथम ऐसा जो तत्त्वस्वभाव, उसमें जो भान हुआ है... पद्मप्रभ मुनि अर्थात् मेरे ज्ञानकमल में वह वस्तु स्थित है कि यह चीज़ है, ऐसा। इस प्रकार धर्मी को, आहाहा! धर्म की वर्तमान पर्याय में उस पूरे तत्त्व का भान है, ऐसा कहते हैं। इसलिए ज्ञानकमल में वह आत्मा स्थित है, ऐसा।

जो निर्विकार है... प्रथम ही आत्मा की प्राप्ति की बात है। मुनि को है, वह तो मुनि से बात करते हैं। मुनि अपनी बात करते हैं, परन्तु प्रथम सम्यग्दर्शन से लेकर बात है। मुनि तो चारित्रवन्त हैं। इसलिए उनकी 'सुस्थित' कहा है न? अधिक स्थित है। लीनता, ध्रुव चैतन्य कारणपरमात्मा स्वयं वस्तु में जिनकी स्थिति विशेष है, ऐसे मुनि के ज्ञानकमल में आत्मा बसता है अर्थात् भान में क्या है, यह कहते हैं। यह ध्रुव चीज़ है, ऐसा उसे भान वर्तता है। इसका नाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। आहाहा! **जो निर्विकार है...** अस्ति से बात करते हैं। है कैसा वह आत्मा? निर्विकार। ध्रुव नित्यानन्द प्रभु निर्विकार—विकार रहित है।

जिसने विविध विकल्पों का हनन कर दिया है... इससे स्वरूप की दृष्टि में भान होने से जिसे विविध विकल्प नहीं रहते। वस्तु है, उसने विविध विकल्पों को हनन कर दिया है अर्थात् कि वस्तु में विविध विकल्प (तो) नहीं, परन्तु वस्तु की दृष्टि-अनुभव होने पर उसकी पर्याय में भी विकल्प विविध प्रकार के हैं नहीं। आहाहा! गजब धर्म का रूप ऐसा! वह तो कहे, व्रत पालो, दया पालो। देखो! यह जगत का धर्म अज्ञानी का। आहाहा! जिसकी दृष्टि में और जिसकी ज्ञानदशा में पूरा आत्मा भान में आया है, निष्णात हो गया है, इसलिए उसे ज्ञान, उसकी स्थिरता वस्तु में जम गयी है, इसलिए वह निर्विकार है, विविध वृत्तियाँ—विकल्पों को जिसने... उत्पन्न होते नहीं जिसे, वस्तु में नहीं, इसलिए उसमें (जो) स्थिर हुआ उसे विविध प्रकार के विकल्प नहीं होते। होते नहीं उसे 'हनन कर दिया' ऐसा कहा जाता है।

और जिसे बुधपुरुषों ने कल्पनामात्र-रम्य—ऐसे भव-भव के सुखों से तथा दुःखों से मुक्त (रहित) कहा है,... कैसा है भगवान आत्मा? संसार के देवों के सुखों की जो कल्पना या नारकी के दुःखों की जो कल्पना—इस सुख-दुःख की कल्पना से वस्तु रहित है। चैतन्य भगवान वह सुख-दुःख की कल्पना से रहित है, इसलिए वह सुख-दुःख की कल्पना रहित ऐसा जो भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान में आया, उसकी पर्याय में वह सुख-दुःख की कल्पना नहीं है, ऐसा कहते हैं। क्या होगा ऐसा धर्म? धर्म की यह व्याख्या होती है यहाँ। धर्मदशा प्रगट होने पर उसकी दशा में पूरा तत्त्व भगवान कारणप्रभु उसके ज्ञान में आ जाता है, श्रद्धा में आ जाता है, उसमें स्थिरता

भी विशेष हुई है। मुनि है न? और इसलिए वह वस्तु जो नित्यानन्द द्रव्यस्वभाव उसमें संसारी सुख-दुःख की कल्पना.... 'भवभव के सुख-दुःख' है न? भवोभव अर्थात् नारकी या देवादि, उसमें सुख-दुःख की कल्पना से वस्तु रहित है और धर्मी को, ऐसी चीज़ की दृष्टि करने से उसकी पर्याय में भी सुख-दुःख की कल्पना का अभाव है। आहाहा!

वह परमतत्त्व जयवन्त है। पर्याय में भान हुआ, वह ऐसा कहता है कि यह तत्त्व जयवन्त वर्तता है—ऐसा कहते हैं। पर्याय में वस्तु को अनुभव में लिया है, इसलिए कहते हैं कि यह तत्त्व (जयवन्त वर्तता है), पर्याय में भान होने पर 'यह तत्त्व जयवन्त वर्तता है।' समझ में आता है? आहाहा! पहला शब्द है न? '**जयति परमतत्त्वं।**' (श्लोक में) पहला शब्द है, फिर ऐसा कहकर उसमें (अर्थ में) अन्त में शब्द डाला। '**जयति परमतत्त्वं।**' अहो! ऐसा तत्त्व पर्याय में भान में वर्ता, श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता में दिखाई दिया, ऐसा तत्त्व जयवन्त वर्तता है—ऐसा पर्याय पुकार करती है। कहो, समझ में आया? ऐसी बात दिगम्बर सन्तों—मुनियों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं है नहीं। 'वह परमतत्त्व' ऐसा है न? '**जयति परमतत्त्वं।**' अर्थात् 'वह परमतत्त्व' ऐसा ऊपर कहा वैसा। अन्तर निर्विकल्प सम्यग्दर्शन, निर्विकल्प सम्यक् स्वसंवेदन में वर्तता तत्त्व, यह पर्याय कहती है, वह तत्त्व जयवन्त ऐसा का ऐसा त्रिकाल वर्तता है। कहो, समझ में आया इसमें?

ऐसी धर्म की व्याख्या जैन में? कन्दमूल न खाना, हरितकाय न खाना—यह सब कहाँ आया इसमें? कौन खाये? सुन न! छोड़े कौन और खाये कौन? वह तो परचीज़ है। उसका आत्मा की पर्याय में ज्ञान वर्तता है कि यह चीज़ें जगत में हैं, इतना। वह भी है तो नहीं, (परन्तु) अपने ज्ञान के सामर्थ्य से इतना ज्ञात होता है। ऐसी-ऐसी अनन्त पर्याय का सागर प्रभु, वह सम्यग्दर्शन और ज्ञान में जहाँ आवे, तो उसे निर्विकार है—विकल्प है नहीं, सुख-दुःख की कल्पना संसार की भी जिसमें नहीं। ऐसा आत्मा ज्ञाता-दृष्टा के भानरूप से वर्ता, तो कहते हैं कि वह तत्त्व जयवन्त वर्तो। समझ में आया? वह परमतत्त्व जयवन्त है। 'है' ऐसा कहते हैं। कहो, कनुभाई! ऐसा सूक्ष्म है। ६३ (हुआ), लो। ६४।

अनिशमतुलबोधाधीनमात्मानमात्मा,
सहज-गुण-मणीना-माकरं तत्त्वसारम्।
निजपरिणतिशर्माम्भोधिमज्जन्तमेनं,
भजतु भव-विमुक्त्यै भव्यताप्रेरितो यः ॥६४॥

आहाहा! **श्लोकार्थः—जो आत्मा...** अपनी **भव्यता...** अर्थात् स्वभाव को प्राप्त होने की योग्यता से परिणमा है (अर्थात् कि) उससे **प्रेरित...** है, ऐसा कहते हैं। अपनी दशा में योग्यता जो स्वभाव को प्राप्त करने की है... जिसे भव्यता द्वारा प्रेरित है (अर्थात्) योग्यता द्वारा जो प्रेरित है। स्वभाव को पकड़ने की जिसे योग्यता द्वारा जिसे प्रेरणा है अन्दर। कहते हैं न? भव्य का विपाक। अपना आत्मा मुक्त होने के योग्य स्वभाव है, ऐसी पर्याय में उस जाति की योग्यता प्रगट हुई है, इसलिए भव्यता द्वारा प्रेरित है। अल्प काल में पूर्ण पद को प्राप्त हो, ऐसी योग्यता, अनुभव में आत्मा को पकड़ने की जिसे प्रगट हुई है। आहाहा!

यह आत्मा, भव से विमुक्त होने के हेतु... नास्ति से उठाया। भव का भाव और भव चार गति से छूटने **हेतु निरन्तर इस आत्मा को भजो...** निरन्तर यह भगवान शुद्ध आनन्द प्रभु में एकाग्रता करो, उसका भजन करो। **भव्यता द्वारा प्रेरित...** (अर्थात् कि) जीव की योग्यतावाला **आत्मा, भव से विमुक्त होने के हेतु निरन्तर इस आत्मा को भजो...** सदा—सतत... सतत ध्रुव का भजन करो, ध्रुव की एकाग्रता करो कि जो मोक्ष का मार्ग है।

कि जो (आत्मा) अनुपम ज्ञान के आधीन है,... वह तो निर्मल ज्ञान के आधीन है। अनुपम (अर्थात्) जिसकी उपमा नहीं, ऐसा ज्ञान। आहाहा! सहजात्मस्वरूप ऐसा जो पकड़ने का ज्ञान... अनुपम ज्ञान के आधीन है। विकल्प-फिकल्प के आधीन वह वस्तु है नहीं। व्यवहार के आधीन, वह आत्मा प्रगट हो, ऐसा वह आत्मा ही नहीं है। उपमा रहित ज्ञान की दशा—सहजस्वभाव में से प्रगट हुई ज्ञानदशा—उस द्वारा वह प्राप्त है। उसके आधीन है आत्मा। **जो सहजगुणमणि की खान है,...** गुणमणि की खान है। भगवान आत्मा नित्यानन्द ध्रुव निधान वस्तु है। स्वाभाविक गुणमणि... गुणरूपी मणिरत्न की वह खान है। आहाहा! स्वाभाविक गुण, जो अनादि-अनन्त आत्मा के अनन्त गुण,

ऐसा स्वाभाविक गुणमणि, उसकी तो वह प्रभु खान है। नित्यानन्द भगवान ध्रुव का भजन कर। भगवान का भजन छोड़ दे, ऐसा यहाँ कहते हैं। भगवान ऐसा कहते हैं कि मेरा भजन छोड़ दे, तेरा भजन कर। समझ में आया?

हम भी हमारे आत्मा को भजकर भगवान हुए हैं, दूसरे भगवान को भजकर भगवान नहीं हुए। इसलिए कहते हैं, स्वाभाविक गुणमणि की खान और जो तत्त्व में सार... ५४ में यह आया था 'सर्व तत्त्वों में सार।' ६४ में आया, सब तत्त्वों में सारतत्त्व है। पुण्य-पापतत्त्व, आस्रव-बन्धतत्त्व, संवर-निर्जरा-मोक्षतत्त्व—इन सब तत्त्वों में भी सारतत्त्व ज्ञायकभाव ध्रुव, वह सारतत्त्व है। मोक्ष और संवर, निर्जरातत्त्व में सारतत्त्व यह ध्रुव आत्मा है। वह तो पर्याय है एक समय की। सिद्ध की, संवर, निर्जरा की, मोक्ष के मार्ग की एक समय की पर्याय है। ५४ में है। '**जयति समयसारः सर्वतत्त्वैकसारः**' जो सभी पर्यायोंरूपी तत्त्वों—धर्म की पर्यायरूप तत्त्व क्षायिक निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र... निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह भी पर्यायतत्त्व है। उन तत्त्वों में सारतत्त्व तो ध्रुव है। आहा! पर्याय का भजन न कर, ध्रुव का कर, ऐसा कहते हैं।

और जो निजपरिणति के सुखसागर में मग्न होता है। लो। यह वस्तु ऐसी है कि जिस वस्तु का जहाँ भान हुआ, इससे निज परिणति—अपनी सुखसागर ऐसी शुद्धदशा—अवस्था, उसमें वह तत्त्व मग्न होता है—लीन होता है। कहते हैं कि ऐसा ध्रुव भगवान जिसमें दृष्टि में और ज्ञान में लिया, उसकी शुद्ध निजपरिणति सुखसागर की दशा में लीन है। उस परिणति में सुख प्रगट हुआ है। पूर्णानन्द प्रभु तो सुखस्वरूप है, परन्तु जिसकी परिणति में उसका स्वीकार हुआ, वहाँ उसकी दशा में सहजसुखसागर प्रगट हुआ है, वह पर्याय उसमें—निर्मलानन्द में लीन है। यह किस प्रकार का धर्म, कुछ समझ में आता है? इसमें तो छह द्रव्य, नौ तत्त्व और सब जानना, ऐसा तो कुछ आया नहीं। ऐई!

नौ तत्त्व में सारतत्त्व भगवान ज्ञायकतत्त्व है। छह द्रव्य में वह निजतत्त्व—द्रव्य स्वयं ज्ञायकतत्त्व, वह निजद्रव्य, वह सार है। आहाहा! पंचास्तिकाय में भी निज ज्ञायकभाव ध्रुव अस्तिकाय, वह स्वयं सार है। वहाँ नजर कर और उस नजर में सुख की परिणति प्रगटे, उसमें जो लीन रहे, ऐसा ही उसका स्वभाव है। यह राग में आवे

और निमित्त में आवे, (ऐसा) उसका स्वभाव नहीं। क्या कहा जाता है यह? यह शुद्धभाव अधिकार चलता है। है न ऊपर? क्या? शुद्धभाव। शुद्धभाव अर्थात् यह ध्रुवभाव। संवर-निर्जरा-मोक्ष, पुण्य-पाप, आस्रवतत्त्व से भी भिन्न त्रिकाली भाव, वह शुद्धभाव, वह ध्रुवभाव, वह सर्व तत्त्व में सार तत्त्व है। ऐसे तत्त्व का तो ज्ञान नहीं, फिर दूसरे तत्त्व का जानपना कि यह ज्ञान है और यह है और धूल है—उसे ज्ञान ही नहीं कहते। वस्तु ज्ञानस्वभाव और सुखसागर से भरपूर है। ऐसा जो तत्त्व, उसे जिसने दृष्टि-ज्ञान में लिया, उसे सुख की और ज्ञान की परिणति प्रगट हुई, उसे ज्ञान कहा जाता है। ६४ (हुआ)। ६५।

भवजभोगपराङ्मुख हे यते पदमिदं भवहेतुविनाशनम्।
भज निजात्मनिमग्नमते पुनस्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया॥६५॥

श्लोकार्थः—निज आत्मा में लीन बुद्धिवाले... धर्मी, यति... मुनि को लक्ष्यकर बात करते हैं। **निज आत्मा में लीन...** वापस भाषा यह है न? भगवान पंच परमेष्ठी और सम्मेदशिखर, शत्रुंजय और सिद्धगिरि... सिद्धगिरि के समीप रहे तो सिद्ध हो, अपने को सिद्धगिरि में मरना, जिससे मरण सुधरे। ऐई चेतनजी!

मुमुक्षु : सिद्धगिरि में वास होओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वास होओ। लो! परन्तु कौन-सी सिद्धगिरि? यह सिद्धगिरि है यहाँ तो। अनन्त गुण से भरपूर तत्त्व सिद्धस्वरूप ऐसा अपना निज भगवान आत्मा... उसमें—**निज आत्मा में...** ऐसा शब्द प्रयोग किया है न? भगवान का आत्मा, तीर्थंकर का आत्मा, सिद्ध का आत्मा—(उसमें) वहाँ लीन हो, ऐसा नहीं। वे तो परद्रव्य हैं। **निज आत्मा में लीन बुद्धिवाले...** स्वरूप-सन्मुख की ढली हुई बुद्धिवाले, परसन्मुख से हटी हुई बुद्धिवाले... आहाहा!

तथा भव से और भोग से... जो धर्मात्मा भव से और भोग से **पराङ्मुख हुए...** आहाहा! भव का और भोग का उदयभाव—दोनों से जो पराङ्मुख है। सम्यग्दृष्टि भव और भोग से पराङ्मुख है। समझ में आया? भव—चार गति, वह उदयभाव, भोग—उसका / उदय का भोगना... उदय का करना और उदय का भोगना, इससे जो पराङ्मुख है।

वह सम्यग्दृष्टि तो उनसे पराङ्मुख है। स्वभाव के सन्मुख और विभाव से पराङ्मुख है।

हे यति! तू भवहेतु का विनाश करनेवाले,... भव के कारणों का नाश करनेवाले... अथवा भव के कारण जिसमें नहीं, ऐसा जो ध्रुव भगवान, और जिसका आश्रय लेने से भव के कारण उत्पन्न नहीं होते। जिसमें भव के कारण नहीं, ऐसा यह भव के कारण रहित तत्त्व, ऐसा जहाँ दृष्टि में लिया, उस दृष्टि और ज्ञान में भी भव के कारण नहीं। द्रव्य में (तो) भव के कारण नहीं, परन्तु द्रव्यदृष्टिवन्त को भव के कारण का अभाव है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसे ऐसा नहीं होता कि मुझे कितने भव करने पड़ेंगे? भव ही नहीं न, करना क्या पड़े? यहाँ ऐसा कहते हैं। हाँ, वस्तु में भव ही नहीं। वस्तु में भव नहीं तो वस्तुदृष्टिवन्त को भी भव नहीं। समझ में आया? ऐसा सम्यग्दर्शन का माहात्म्य है। आहाहा! अभी तो चौथे गुणस्थान की बात चलती है। आहाहा!

इसके भान बिना सीधे महाव्रत ले लो, चारित्र ले लो। कहाँ थे? शून्य थे। भटकने के रास्ते हैं सब। आहाहा! दीक्षा बहुत होती है न अभी। मुँडाते हैं। दीक्षा तो आत्मा है। नहीं आया प्रव्रज्या में? सर्वविशुद्ध में। प्रव्रज्या पाठ है। अपने दीक्षा के लिये... पाठ में प्रव्रज्या है। संयम और प्रव्रज्या—ऐसे दो। यह आत्मा स्वयं है, संयम और प्रव्रज्या। यह क्रिया ऐसे ली और हाथ जोड़े—वह प्रव्रज्या है? भगवान पूर्णानन्द का नाथ ध्रुव के समीप में स्थिर हुआ, वीतरागीभाव से स्थिर हुआ, उसका नाम संयम और उसका नाम प्रव्रज्या अथवा दीक्षा है। अब इस बात का भान नहीं होता और दीक्षा...? अभी हवा चली है, मान मिले... मान मिले उसमें। बैठावे सामने पाठ में पाट पर, वाँचन हो, सुन तो (कहे), ओहो! वाह! महाराज भी। याद किया और आता है गजब, हों! व्याख्या करना बहुत अच्छा आता है। वह चले अब भटकने। आहाहा!

भव के हेतु का विनाश करनेवाले ऐसे **इस (ध्रुव) पद को भज;...** नित्यानन्द भगवान आत्मा को भज... उसे भज। उसके भजन में भगवान होने का है। आहाहा! **अध्रुववस्तु की चिन्ता से तुझे क्या प्रयोजन है?** लो, ठीक! निमित्त, राग-द्वेष, एक समय की पर्याय—यह सब अध्रुव है। **अध्रुववस्तु की चिन्ता से तुझे क्या प्रयोजन है?** काम क्या है? ध्रुव को भज और अध्रुव की चिन्ता छोड़, ऐसा कहते हैं। अकेला

मक्खन है। नौ तो श्लोक रखे। नौ न? कितने? सात... सात। शब्द (बोल) नौ है, नहीं? '**णिद्दंडो णिद्दंद्दो...**' (आदि)। नौ (बोलों) में सात कलश। ऐसा आत्मा भगवान ने जाना, ऐसा है, उसमें ऐसा ही उसका वर्णन—अधिक स्पष्टीकरण हुआ। वह ६५ हुआ। ६५वाँ श्लोक हुआ। ६६।

समयसारमनाकुलमच्युतं जननमृत्युरुजादिविवर्जितम्।
सहज-निर्मल-शर्म-सुधामयं समरसेन सदा परिपूजये॥६६॥

आहाहा! साथ की साथ पर्याय लेते हैं। इस प्रकार से... **श्लोकार्थः—जो अनाकुल है,...** ६६ (कलश) भगवान आत्मा का स्वभाव नित्यानन्द ध्रुव अनाकुल है। अकेला आनन्दस्वभाव भरा है। उसमें आकुलता की गन्ध नहीं। **अच्युत है...** निज स्वरूप से हटता नहीं। ध्रुव च्युत होकर कहीं पर्याय में आता नहीं। आहाहा! नित्यानन्द भगवान सामान्य ध्रुवस्वभाव छोड़कर स्वयं च्युत हो जाये ध्रुव में से और एक समय की पर्याय में आ जाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! यह सब निश्चय की बातें हैं। सच्ची बातें हैं, परन्तु व्यवहार की बातें? खोटी बातें कब आयेगी अब? निश्चय अर्थात् सच्चा, नितरता सत्य। आहाहा! जो भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय ध्रुव भगवान अनाकुल है। जो अच्युत अर्थात् अपने ध्रुवपद से कभी हटता नहीं। ऐसा का ऐसा अनादि-अनन्त... आहाहा! आदि नहीं... आदि नहीं... आदि नहीं। ऐसा का ऐसा है... है... है...

जन्म-मृत्यु-रोगादिरहित है,... जिसे जन्म भी नहीं, मृत्यु नहीं, **रुज...** रुज—रोग। रोगादि रहित है। भगवान आत्मा जन्म, मृत्यु, रोगादि रहित है। अर्थात् जिसे ऐसा तत्त्व—अस्तित्व का स्वीकार हुआ, निर्विकल्प सम्यग्दर्शन और ज्ञान में, वह अनाकुल तत्त्व तो है, (परन्तु) पर्याय में अनाकुलता आयी है। वह अच्युत है, तो पर्याय भी वापस फिरे नहीं, ऐसी अच्युत पर्याय है। **जन्म-मृत्यु-रोगादिरहित है,...** वस्तु स्वयं ध्रुव जन्म-मृत्यु-रोगादि रहित है तो उसका स्वीकार करनेवाले दृष्टि और ज्ञान में भी अब जन्म-मृत्यु और रोग है नहीं। समझ में आया? धर्मी को जन्म-मृत्यु-रोग है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। वह जड़ की दशा पर है, वस्तु में है ही नहीं। **जन्म-मृत्यु-रोगादिरहित है,...**

सहज निर्मल सुखामृतमय है,... स्वाभाविक निर्मल सुख का अमृत है। निर्मल

सहज सुख अमृतमय है आत्मा। आहाहा! ऐसा भान होने पर दशा में भी स्वाभाविक निर्मल सुख अमृतमय की परिणति होती है। उसे राग और व्यवहार की परिणति नहीं होती, ऐसा कहते हैं। राग तो बारहवें गुणस्थान तक होता है। ... आता है न? उसमें कहे, छठवें तक होता है। अपरमभाव आता है न उसमें दो अर्थ किये हैं। अपरमभाव। १२वीं (गाथा समयसार)। अपरमभाव, वह कौन सा? बारहवें में, वहाँ तक व्यवहार होता है। वे कहते हैं, सातवाँ न हो तब तक होता है। सातवें निर्विकल्प हुआ इसलिए फिर ऐसा... जयसेनाचार्य ने यह कहा है। अमृतचन्द्राचार्य की शैली ठेठ की है। सोलहवाँ न हो तब तक—तेरहवाँ न हो तब तक, ऐसा।

उस समयसार को... देखो! अब पाठ। ऐसा जो भगवान ध्रुवस्वरूप नित्यानन्द स्वाभाविक निर्मल सुखामृतमय वस्तु, उसे **मैं समरस (समताभाव) द्वारा सदा पूजता हूँ।** लो, जैसा सुखामृतभाव है, वैसी समता द्वारा उसका मैं आदर करता हूँ, ऐसा। लोग कहे, परन्तु वह दिखता नहीं...? परन्तु दिखता नहीं क्या? क्या नहीं दिखता? वह अर्थात् मैं। नित्यानन्द प्रभु यह... वह यह है, ऐसा निर्णय किया, हो गया, बस। यह आत्मा दिखता नहीं अर्थात् क्या? यहाँ क्या कहा है? यह आत्मा दिखता नहीं। आत्मा दिखता नहीं। 'आत्मा है' ऐसा तो हुआ तेरे भासन में। और यह आत्मा... यह आत्मा हुआ। वह तो है। 'है' तो आया। 'है' इतना तो आया। यह आत्मा—ऐसा आत्मा, कैसा? कि ध्रुव। ध्रुव है, वह तो दृष्टि में, ज्ञान में आया। यह आत्मा ऐसा ध्रुव दिखता नहीं, वही दिखता है। यह तो धीर का काम है। उतावल से आम नहीं पकते। गुठली बोये और तुरन्त आम हो जाता होगा तुरन्त? उसमें धीरज करके देखना चाहिए। बहुत धीरज से... कलश कैसे अमृत के कलश भरे हैं!

ऐसा **समयसार को...** ऐसा जो मेरा नाथ प्रभु समयसार कारणप्रभु, सहजगुणमणि की खान प्रभु, उसे मैं वर्तमान विचारकभाव द्वारा उसका आदर करता हूँ, ऐसा कहते हैं। समताभाव से पूजता हूँ, ऐसा कहा न? विकल्प द्वारा, व्यवहार द्वारा नहीं। आहाहा! उसे मैं समरस... '**समरसेन सदा परिपूजये**' वापस सदा, ऐसा। सदा पूजता हूँ। अर्थात्? धर्मी की वीतरागधारा द्रव्यस्वभाव के आश्रय से सदा वर्तती होती है। शुद्ध

वीतरागपरिणति—रागरहित दशा सदा—नित्य उस परिणति द्वारा पूजता अर्थात् आदर करता हूँ। आहाहा! अपने समझ में नहीं आये न, (इसलिए कहे), यह बराबर टीका व्यवस्थित नहीं हुई, लो। वे रतनचन्दजी कहते हैं न? आहाहा! तेरा करने जाये तो कुछ रहता नहीं, इसलिए (टीका को) खोटी ठहराते हैं।

यह वस्तु की स्थिति है। सत्स्वरूप त्रिकाली आनन्द ऐसा जो भगवान यह है, यह 'है' वह स्वीकार दृष्टि में आये बिना 'है' यह आया कहाँ से? वर्तमान ज्ञान की दशा में 'यह है' ऐसा ज्ञान न हो और श्रद्धा हो, वह 'है' कैसे हुई? जाने बिना की श्रद्धा कैसी? जिसने वर्तमान ज्ञान में वस्तु को ज्ञेय करके जाना है, उसे 'यह है' ऐसी श्रद्धा और प्रतीति वर्तती है और श्रद्धा-प्रतीति और शान्ति द्वारा उसका आदर है। कहो, चेतनजी! यहाँ तो समरस कहा है, फिर इन्होंने 'समता' (अर्थ) किया, वीतराग स्वयं समरस का सागर है न? अकेला समतारस का वीतराग सागर आत्मा। परन्तु उसमें से परिणति निकली, वह वीतराग समरस आयी, उस समरस द्वारा उसे पूजा, समरस द्वारा उसका आदर किया, ऐसा। यह पूजा की भगवान की। अपने समता द्वारा उस भगवान को पूजा, वह पूजन। आहाहा! तो फिर यह क्या सब यह? मन्दिर की मूर्ति, वह क्या है? यह विवाद आता है। वह तो जहाँ (तक) अन्दर स्थिर न हो सके, तब ऐसा व्यवहारभाव बीच में आता है, परन्तु वह हेय है; उपादेय नहीं। निश्चय से तो आदरणीय नहीं, परन्तु हुए बिना रहता नहीं। व्यवहार आता है, तब उसका लक्ष्य पर के ऊपर भक्ति आदि का होता है। है सही व्यवहार, परन्तु आदरणीय नहीं, तथा उस व्यवहार द्वारा निश्चय को प्राप्त किया जा सकता है, ऐसा नहीं। समता द्वारा पूजा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

अरे! इसके घर की बातें, कितना है कहते हैं, कितना है, कैसे है—इसकी खबर नहीं होती। घर की खबर नहीं होती और ... फिर भगवान की भक्ति, शत्रुंजय यात्रा, केसरियाजी... केसरियाजी अभी मन्दिर बनाया, नहीं? यह अभी बनाया उसका नाम केसरियाजी रखा। हम खड़े हुए तब कहे, यहाँ केसरियाजी है, आओ... आओ महाराज! देखा, कहा। आहाहा! जिसके ऊपर केसर चढ़े, वह वीतरागभाव का केसर चढ़े, वह केसरिया। यह तो और वीतरागभाव, आहाहा! जिसमें विषमता का अभाव और समता

का भाव—ऐसे भाव द्वारा आत्मा को पूजता हूँ। आहाहा! वस्तु की स्थिति तो सबके लिये ऐसी है। ६७ (श्लोक)।

इत्थं निजज्ञेन निजात्म-तत्त्व-मुक्तं पुरा सूत्रकृता विशुद्धम्।
बुद्ध्वा च यन्मुक्तिमुपैति भव्यस्तद्भावयाम्युत्तशर्मणेऽहम्॥६७॥

श्लोकार्थः—इस प्रकार पहले निजज्ञ सूत्रकार ने... पद्मप्रभमलधारिदेव, कुन्दकुन्दाचार्यदेव के लिये यह शब्द सीधा प्रयोग करते हैं। कैसे थे मुनि भगवान कुन्दकुन्दाचार्य? निजज्ञ—निज के जाननेवाले। ओहो! पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि ९०० वर्ष—हजार वर्ष बाद हुए। वे कुन्दकुन्दाचार्य के (लिये) कहते हैं, **निजज्ञ सूत्रकार ने...** निज भगवान आत्मा के जाननेवाले ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य ने... कहो! निजज्ञ.... '**सूत्रकृता**' है न? सूत्र किसे कहते हैं, यह सब विवाद उठा है न? दश पूर्व (वाले) का कहा हुआ हो, वह सूत्र होता है, अमुक सूत्र होता है... साधारण का कहा हुआ सूत्र कैसे होगा? यहाँ तो बहुत जगह सूत्र अवतार (शब्द) यह डालते हैं, भाई! सूत्र अवतार... भले ही पूर्वधारी का (न) हो, सूत्र ही हैं इनके। पाठ में डाला न इन्होंने? सूत्रकर्ता निजज्ञ कुन्दकुन्दाचार्य भगवान। कहो! **(आत्मज्ञानी सूत्रकर्ता श्रीमद्-भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने) जिस निजात्मतत्त्व का वर्णन किया...** मूल श्लोकों में किया न, उसका पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं।

विशुद्ध निजात्मा... अपना-निज... देखो! यहाँ 'विशुद्ध' शब्द प्रयोग किया है। 'विशुद्ध' शब्द निर्मलता के अर्थ में है। किसी समय शुभभाव के अर्थ में विशुद्ध होता है, किसी समय शुद्धपरिणति के अर्थ में विशुद्ध होता है, यहाँ त्रिकाल के अर्थ में विशुद्ध है। समझ में आया? विशुद्ध तीन जगह प्रयोग होता है। शुभभाव को भी विशुद्ध कहा जाता है, अशुभ की अपेक्षा से। शुद्धपरिणति को विशुद्ध कहा जाता है, शुभ की अपेक्षा से। परन्तु त्रिकाल को भी विशुद्ध कहा जाता है। यहाँ त्रिकाली को विशुद्ध कहा है। द्रव्य त्रिकाली विशुद्ध है। आहाहा! दिगम्बर सन्तों के अतिरिक्त इस बात की कहीं गन्ध नहीं होती। सर्वज्ञ के पथानुगामी, सर्वज्ञ के पुत्र थे वे सब कुन्दकुन्दाचार्य मुनि (आदि)। ऐसा नहीं कहा कि भगवान ने ऐसा कहा है, भगवान ने ऐसा कहा है। यह तो कहे,

अपने आत्मा के जाननेवाले थे, उन्होंने विशुद्ध निजात्मतत्त्व का वर्णन किया, ऐसा। आत्मज्ञानी ने विशुद्ध इस निजात्मतत्त्व का कथन किया, ऐसा कहते हैं। पाठ में कहा न? '**णिद्दंडो...**'

और जिसे जानकर भव्य जीव, मुक्ति को प्राप्त करते हैं,... कुन्दकुन्दाचार्य ने जो विशुद्ध निजात्मतत्त्व का वर्णन किया। ३८ (गाथा) में से चला आता है न? ३८, ३९, ४०। उसे जानकर... कुन्दकुन्दाचार्य आत्मज्ञ, उन्होंने जो शुद्धतत्त्व का वर्णन किया, ऐसा। वे दूसरे अज्ञानी कहे आत्मा की बातें, वे नहीं। ऐसे **जिसे जानकर...** ऐसे आत्मतत्त्व को जानकर सम्यग्ज्ञान में भव्य जीव मुक्ति को पाता है। यहाँ तो इतना ही लिया। जिसे जानकर भव्यजीव मुक्ति को पाता है। ऐसा विशुद्ध ध्रुवतत्त्व, उसका जहाँ ज्ञान हुआ, वह तो मुक्ति को ही पाता है। अब उसे संसार नहीं रहता। **भव्य जीव, मुक्ति को प्राप्त करते हैं,...** भव्य की बात है न यहाँ? भव्य शब्द प्रयोग किया है न? सेठी!

भव्य... '**मुक्तिम् उपैति भव्य**' **उस निजात्मतत्त्व को उत्तमसुख की प्राप्ति के हेतु...** भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने जो आत्मा का विशुद्ध अर्थ का वर्णन किया, जिसे जानकर मुक्ति प्राप्त करे, उस निजात्मतत्त्व को मैं... ऐसा कहते हैं। **उत्तमसुख की प्राप्ति के हेतु...** पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिये **मैं भाता हूँ।** लो, 'भाता हूँ', यह कल्पना नहीं। मेरी उसमें एकाग्रता—भावना है। ऐसे भाव के प्रति मेरी एकाग्रता की भावना है, ऐसा। आहाहा! **निजात्मतत्त्व को उत्तमसुख की प्राप्ति...** उत्तम सुख अर्थात् वह संसार का सुख नहीं, परन्तु आत्मा के आनन्द का पूर्ण सुख के लिये मैं... मैं स्वयं पृथक् पड़ा हुआ आत्मा, ऐसा कहते हैं। **भाता हूँ।** मेरे शुद्ध ध्रुवतत्त्व की एकाग्रता द्वारा मेरी भावना करता हूँ। आहाहा! एक-एक- कलश से बारह अंग का सार भर दिया है। सीख-सीखकर मर जाये, छह काय के बोल, नौ तत्त्व के बोल और लघुदण्डक और गति-आगति। धूल में भी कुछ हाथ आवे नहीं। क्या कहलाता है तुम्हारे? जीवतत्त्वविचार। क्या कहा जाता है उसे? जीवविचार? जागविचार। आत्मा और नौ तत्त्व, आता है। ज्ञानार्णव में आता है न? ज्ञानसागर। जामनगर से ज्ञानसागर आता है न? उसमें सब यह है। छहकाय और नौ तत्त्व और ९८ बोल का... बासठिया न? सीख-सीखकर मरे, उसमें कुछ हाथ आवे नहीं। यह और अलग। ६७वाँ हुआ। ६८।

आद्यन्त-मुक्त-मनघं परमात्म-तत्त्वं,
निर्द्वन्द्वमक्षयविशालवरप्रबोधम्।
तद्भावना-परिणतो भुवि भव्य-लोकः,
सिद्धिं प्रयाति भवसम्भवदुःखदूराम्॥६८॥

आहाहा! ऐसा **परमात्मतत्त्व...** अब अन्तिम शब्द बड़ा कठोर लिया। ऐसा परमात्मतत्त्व जो ध्रुव... ध्रुव को कहा था सर्व तत्त्व में, उसे यहाँ स्पष्ट किया। ऐसा परमात्मतत्त्व मेरा अपना शुद्ध... परमात्मतत्त्व—परम-आत्म-तत्त्व ध्रुव... **आदि-अन्तरहित है,...** वस्तु परमात्मस्वरूप है, उसे आदि क्या? अन्त क्या? है... है और है। **दोष रहित है...** उसमें कुछ दोष है नहीं। **निर्द्वंद्व है...** द्वैतपना जिसमें नहीं। एकपना अभेद अखण्डानन्द है। **निर्द्वन्द्व है और अक्षय विशाल उत्तम ज्ञानस्वरूप है।** वह ज्ञान कैसा है? अक्षय है, विशाल है और उत्तम है। आहाहा! जो ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा अक्षय है—नाश न हो वैसा, **विशाल उत्तम ज्ञानस्वरूप...** भगवान... **जगत में जो भव्यजन उसकी भावनारूप परिणमित होते हैं,...** 'भावनारूप से परिणमते हैं' ऐसी भाषा है। भावना... भावना करे न? भावना अर्थात् विकल्प, चिन्ता, ऐसा कहे। ...यहाँ तो जिसकी भावनारूप से अन्तर परिणमता है, **वे...** देखो! परिणमता है पर्यायरूप से। **वे भवजनित दुःखों से दूर ऐसी सिद्धि को प्राप्त करते हैं।** लो, भवजनित चार गति के दुःख से दूर वह मुक्ति को पाता है। परन्तु ऐसा जो परमात्मतत्त्व अन्दर ध्रुव, उसमें एकाग्रता की परिणति द्वारा मुक्ति को पाता है। व्यवहार और निमित्त से प्राप्त नहीं करता।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण १०, शुक्रवार, दिनांक - १८-६-१९७१
गाथा-४४, प्रवचन-४४

नियमसार, शुद्धभाव अधिकार, ४४वीं गाथा।

णिग्गंथो णीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा॥४४॥

निर्ग्रन्थ है, निराग है, निःशल्य, जीव अमान है।
सब दोष रहित, अक्रोध, निर्मद जीव यह निष्काम है॥४४॥

आड़े-टेढ़े करके (शब्द) डाले हैं, उस पद को मिलाने के लिये।

टीकाः—यहाँ (इस गाथा में) भी शुद्धजीव का स्वरूप कहा है। शुद्ध जीव अर्थात् द्रव्यस्वभाव अथवा शुद्धभाव। **शुद्ध जीवास्तिकाय...** अस्तिकाय डाला (अर्थात्) प्रदेशसहित। शुद्ध जीव अस्ति अर्थात् है, और काय अर्थात् असंख्यप्रदेशी है। ऐसा जो जीवस्वरूप शुद्धभावरूप ध्रुव... **बाह्य-अभ्यंतर चौबीस परिग्रह के परित्यागस्वरूप होने से...** बाह्य दस प्रकार का परिग्रह और अभ्यन्तर चौदह प्रकार का परिग्रह—उसके **परित्यागस्वरूप...** (अर्थात्) समस्त प्रकार से अभाव है। इससे उसे **निर्ग्रन्थ...** कहा जाता है। वस्तु स्वयं निर्ग्रन्थ है, ऐसा कहते हैं। वस्तु... द्रव्य-वस्तु चैतन्यपदार्थ वह निर्ग्रन्थ है। बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह का उसमें सर्वथा अभाव है, इसलिए वह निर्ग्रन्थस्वरूप है। ग्रन्थ अर्थात् गाँठ। अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह की (गाँठ) उसमें नहीं। ऐसा जीवतत्त्व दृष्टि में लेना, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। उसने शुद्ध जीव अस्तिकाय का स्वीकार किया... दृष्टि में स्वीकार किया, तब यह जीवास्तिकाय है, ऐसा कहा न? अर्थात् पर्याय में रागरहित दृष्टि, वह द्रव्यस्वभाव पर लगायी तो उसे, निर्ग्रन्थस्वरूप है, ऐसी पर्याय भी निर्ग्रन्थपर्याय प्रगट हुई। निर्ग्रन्थपर्याय में पूरा तत्त्व निर्ग्रन्थ है, ऐसा अनुभव में आया। समझ में आया?

शुद्धजीवास्तिकाय अर्थात् वापस असंख्य प्रदेश लिये। शुद्ध ध्रुव असंख्य प्रदेश। उसमें दस प्रकार के बाह्य और चौदह प्रकार अभ्यन्तर (परिग्रह)... **क्षेत्र, मकान, चाँदी, सोना, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र और बर्तन — ऐसा दस प्रकार का**

बाह्यपरिग्रह है;... वे वस्तु में नहीं, वस्तु की दृष्टि करनेवाले को भी नहीं। **एक मिथ्यात्व, चार कषाय (पाँच) और नौ नोकषाय — ऐसा चौदह प्रकार का अभ्यन्तरपरिग्रह है।** यह वस्तु में नहीं, इसका अर्थ कि जो यह सब पर्याय में दिखता है, उसे उल्लंघकर द्रव्यस्वभाव का अनुभव करे, उसे यह सब भाव वस्तु में नहीं, तथा उसकी पर्याय में भी नहीं। सूक्ष्म... सूक्ष्म बहुत। वस्तु स्वयं चैतन्य भगवान आत्मा वस्तु शुद्धभाव ध्रुवभाव में चौबीस प्रकार का परिग्रह नहीं। ऐसी दृष्टि जब द्रव्य पर (जाये कि) निर्ग्रन्थ द्रव्य है, ऐसी दृष्टि हुई तो दृष्टि भी निर्ग्रन्थ है। राग बिना की वह दृष्टि है। इसलिए उस दृष्टि के विषय में भी चौबीस परिग्रह नहीं हैं, इसी प्रकार उसकी पर्याय में भी यह चौबीस प्रकार का परिग्रह नहीं है। समझ में आया? तब उसने 'आत्मा है', ऐसा जाना, अनुभव किया और वह निर्ग्रन्थरूप से स्वीकार किया तो पर्याय में निर्ग्रन्थता हुई, तब निर्ग्रन्थ वस्तु है, ऐसा स्वीकार किया। कहो, ऐसा तत्त्व है।

'**णीरागो**' भगवान आत्मा में राग नहीं। **सकल मोह-राग-द्वेषात्मक...** मिथ्यात्वभाव, राग-द्वेषरूप चैतन्य का कर्म... कर्म... यहाँ चैतन्य का कर्म लिया है। चेतन का विकारीभाव—मोह, राग, दया-दान-व्रत परिणाम उन सब चैतन्य के कर्म का वस्तु में अभाव (होने) के कारण, वस्तु-द्रव्य है उसमें उनका अभाव है, इसलिए उस वस्तु को निराग कहा जाता है। और राग बिना की दृष्टि से ऐसे निरागतत्त्व का स्वीकार किया, तब उसे पर्याय में भी निरागता प्रगट हुई। तब धर्मी को राग होता ही नहीं। द्रव्य में राग होता नहीं, गुण में होता नहीं और निरोगी पर्याय में निरागी का स्वीकार किया उस पर्याय में भी राग होता नहीं। आहाहा! निराग। भाषा ऐसी ली न 'चैतन्यकर्म'? चैतन्य का आभास दिखाई दे उसमें—विकार में। उसका तो स्वरूप में अभाव है। इसलिए दृष्टि जो है, उसके ध्येय में तो अभाव है, परन्तु उसकी पर्याय में भी उसका अभाव है। समझ में आया? भारी सूक्ष्म। यह तो धीर का मार्ग है।

'**णिस्सल्लो**' कैसा है भगवान? जिसमें शल्य नहीं। **निदान...** क्रिया करके कुछ फल इच्छना, वह निदान। **माया**—कपट, दम्भ और कुटिलता **और मिथ्यात्व—इन तीन शल्यों के अभाव के कारण...** वस्तु स्वयं **निःशल्य है...** और निःशल्य परिणति हो

उसे '**णिस्सल्लो**' आत्मा स्वीकार में आता है। जिसकी पर्याय में भी निःशल्यता होती है, उस पर्याय द्वारा 'यह निःशल्य पूर्ण है' ऐसा स्वीकार आया, इसलिए उसके द्रव्य-गुण-पर्याय में कुछ शल्य है नहीं। चौथे गुणस्थान से निःशल्य कहा, लो। ऐसा कहा कि निःशल्यव्रती। कहा है न? व्रतधारी हो वह निःशल्य होता है। उसे सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ होता है, शुद्ध आत्मा आनन्द का स्वीकार होकर, उसे निदान-रागादि के फल की इच्छा नहीं होती, ऐसी दशा उसे प्रगट हो। निदान और माया-कपटता ऐसी उसे नहीं होती, ऐसे जीव को '**णिस्सल्लो**'—शल्यरहित, व्रती को पर्याय में निःशल्य कहा है।

यहाँ तो सम्यग्दृष्टि को निःशल्य कहा है। पाँचवें गुणस्थान में, छठवें में विशेष है स्वरूप का आनन्द का भान होकर निःशल्यस्वभाव को स्वीकार कर निःशल्यदृष्टि हुई, ऐसी निःशल्य परिणति भी थोड़ी हुई, उसे यहाँ निःशल्यव्रती कहा जाता है। यहाँ तो मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, माया आदि पर्याय हो और कहे कि हम व्रती हैं, हम व्रतधारी हैं, महाव्रतधारी हैं, मिथ्यात्वभाव है, मिथ्यात्व का शल्य है वहाँ, कहते हैं। वस्तु निःशल्य है, उसका स्वीकार हुआ नहीं, इसलिए वहाँ राग का स्वीकार है। राग है, वह मैं, यह आचरण मेरा। ये तीनों ही शल्य इकट्ठे हैं उसमें। वस्तु निःशल्य है, उसका स्वीकार करनेवाले की परिणति भी निःशल्य है। कहो, छोटाभाई! समझ में आया इसमें? कहे, ऐसा चितळ में नहीं मिलता और पूना में नहीं मिलता। आहाहा! आत्मा में है यह। निःशल्य है। तीन शल्य के अभाव के कारण निःशल्य है।

शुद्ध निश्चयनय से... वस्तु के मूलस्वभाव से देखें तो, ऐसा। **शुद्ध जीवास्तिकाय को...** शुद्ध जीवास्तिकाय... **द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होने के कारण सर्वदोषविमुक्त है;...** शुद्ध जीव-अस्तिकाय भगवान पूर्ण असंख्य प्रदेशी, अनन्त गुण का एकरूप ऐसा जीवास्तिकाय अर्थात् ऐसा शुद्धभाव, उसमें द्रव्यकर्म नहीं (और) भावकर्म और नोकर्म का अभाव होने से सर्व दोषविमुक्त है। आहाहा! परिणति में सर्व दोषरहित परिणति हो, उसे यह सर्व दोषरहित है, ऐसा स्वीकार होता है। कहो, समझ में आया? शुद्धजीवास्तिकाय भगवान आत्मा पूर्ण ध्रुवस्वरूप उसे द्रव्यकर्म—जड़, भावकर्म—विकारी परिणाम, नोकर्म—वाणी, शरीर आदि का अभाव होने के कारण

सर्व दोषविमुक्त है। इसका अर्थ ऐसा कि सम्यग्दृष्टि—सच्ची दृष्टि सर्व दोषरहित ऐसे द्रव्य को स्वीकार करती है तो उसकी पर्याय में भी सर्व दोषरहित ही दशा हुई। एक अंश भी सदोषवाली दृष्टि नहीं अब। उसे दृष्टि में दोष ही नहीं। दृष्टि के विषय में नहीं, तो दृष्टि की वर्तमान पर्याय में भी दोष बिल्कुल नहीं। आहाहा! गजब!

व्यवहार से मुक्त है। और कहे कि राग की परिणति अपने में है, ऐसा ज्ञान जानता है। क्या कहा? सर्व दोषमुक्त है, वस्तु—पदार्थ सर्व दोषमुक्त है और दृष्टि हुई, ज्ञान हुआ और आंशिक स्थिरता हुई, वह भी सर्व दोषरहित ही है। तब इसका अर्थ हुआ कि सम्यग्दृष्टि—ज्ञानी—सर्व दोषरहित चीज़ का स्वीकार करनेवाला—उसकी पर्याय में भी सर्व दोषरहितपना है। कहो, समझ में आया? व्यवहार, वह दोष है। द्रव्य तो दोष से मुक्त है, पर्याय भी दोष से मुक्त है। गजब अटपटी बात सब! व्यवहार पाले, व्यवहार करे... 'करे' वह तो व्यवहारनय के कथन हैं। इस प्रकार से माने तो मिथ्याचारित्र नहीं? व्यवहारनय एक द्रव्य (में) दूसरे द्रव्य को मिलाकर, कारण-कार्य को मिलाकर, भाव को मिलाकर बात करता है। कठिन बात। आहाहा! कथन आवे व्यवहार का। कथन, परन्तु व्यवहार का कथन अन्यथा है। पाले, ऐसा कहे, तो (कहते हैं कि) नहीं, परन्तु होता है बस इतना। व्यवहार और निश्चय के झगड़े हैं न बड़े।

यहाँ तो कहते हैं, '**सयलदोषणिम्मुक्को**' भगवान आत्मा बिल्कुल—अंश (भी) दोष, इस बात से रहित है। बिल्कुल वस्तु में दोष है नहीं। इसका अर्थ कि निर्दोष दृष्टि—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान में ऐसा सर्व दोषरहित स्वीकार हुआ, तो उसकी पर्याय भी दोषरहित ही पर्याय है। समझ में आया? दोष दूर रह गये। जानने में आ जाये, वह वस्तु अलग। यह तो छह द्रव्य जानने में आते हैं न? आ जाये। ओहोहो! शुद्धभाव अधिकार।

अब कहते हैं कि '**णिक्कामो**' **शुद्ध निश्चयनय से...** देखो तो **निज परमतत्त्व की भी वांछा न होने से...** ऐसा हूँ, ऐसी वाँछा भी वस्तु में नहीं। **निज परमतत्त्व की भी...** ऐसा वस्तु में। वस्तु ऐसी है स्वयं कि मैं अपनी वाँछा करूँ, यह तत्त्व ऐसा हो, ऐसी वाँछा करूँ—ऐसा स्वरूप में नहीं है। यह दृष्टिवन्त को भी 'इस तत्त्व को वाँछूं'

ऐसी इच्छा नहीं। निज परमतत्त्व, हों! भगवान का तत्त्व उनके पास रहा। अपना वह परमतत्त्व पूर्णानन्दस्वरूप ध्रुव, उसे यहाँ शुद्धभाव, शुद्धजीवास्तिकाय है। उसकी इच्छा वस्तु में कहाँ है? तो वस्तु की दृष्टि और ज्ञान हुआ, उसे भी तत्त्व की इच्छा कहाँ रही अब? वह तत्त्व तो प्राप्त हुआ। समझ में आया?

शुद्धजीवास्तिकाय ऐसा जो शुद्धभाव, उसे उसकी इच्छा नहीं, ऐसा कहते हैं। परन्तु उसे उसकी इच्छा क्या हो? परमतत्त्व को परमतत्त्व की इच्छा नहीं। है उसे और इच्छा क्या? है। ऐसा स्वीकार हुआ दृष्टि में, उसे परमतत्त्व की इच्छा कहाँ रही? ऐसा मार्ग है। लोगों ने बाह्य व्यवहार में ऐसा फँसा डाला है कि जिसमें मात्र मिथ्या अभिप्राय का पोषण हो और माने कि हम कुछ धर्म करते हैं। यह राग की क्रिया, यह क्रिया जिसमें है नहीं, ऐसा कहना है। यह पालन करूँ, ऐसा वस्तु में कहाँ है? यह इच्छायें कि यह करूँ, यह पालन करूँ, यह... यह... ऐसा फँसा मारा है। वह तो मिथ्यात्व का पोषण है। आहाहा!

कष्ट सहन करना पड़े अथवा अनशनादिक तपस्या की, देखो, व्रतादिक किये तो देखो! उसमें कितना सहन करना है? कहते हैं, यह वस्तु ही खोटी है। वस्तु में इच्छा भी नहीं और सहन करना, ऐसा खेद भी नहीं। वस्तु की इच्छा... वस्तु, वस्तु की इच्छा करे? वस्तु निज परमतत्त्व, वह परमतत्त्व की इच्छा करे? तब दृष्टि में प्राप्त तत्त्व, वह किसकी करे? वह तत्त्व मुझे प्राप्त होओ... प्राप्त होओ... ऐसी इच्छा हो? न्याय टूट जाये न्याय सत्य। शुद्धनिश्चय से... ऐसा है न? शुद्धनिश्चयनय से... तब कहे, भाई निश्चयनय से भी वस्तु ऐसी होगी? क्यों पोपटभाई? ... परन्तु यह वस्तु ही ऐसी है।

जो परमतत्त्व है, उसे मैं इच्छूँ, ऐसा वस्तु में कहाँ है? ऐसे दृष्टिप्राप्त को निज परमतत्त्व की वाँछा नहीं, ऐसा परिणति में आया, इच्छा नहीं—ऐसी वीतरागी परिणति हुई, उसमें इस निजतत्त्व की इच्छा नहीं, ऐसे निजतत्त्व का भान आया। उस परिणति में भी इच्छा और निजतत्त्व को प्राप्त करूँ, ऐसा है नहीं। आहाहा! परिणति हो तो स्वीकार किया कहलाये, ऐसा। या उसके बिना? यह है, परन्तु 'यह है' ऐसा जाने बिना किस प्रकार स्वीकार किया? 'यह है' यह अन्धी दौड़ से माना, वह माना है कहाँ? जाने बिना

की श्रद्धा खरगोश के सींग जैसी है। कहा न १७-१८ गाथा में? वस्तु जहाँ ज्ञान में आयी नहीं कि यह चीज़ ऐसी है, उसके बिना उसका स्वीकार कहाँ से आया? यह वस्तु ही ऐसी है कि जिसे इच्छा नहीं अपने तत्त्व को प्राप्त करने की—ऐसा जो तत्त्व है। ऐसी परिणति में उसी प्रकार की परिणति हुए बिना, उस तत्त्व और तत्त्व की इच्छा नहीं, ऐसा इसे कैसे बैठे? समझ में आया? यहाँ तो इच्छामात्र दोष है और वस्तु में नहीं और उसकी—समकिती की भावना में भी नहीं, ऐसा। आहाहा!

निष्काम है... वह वस्तु निष्काम है, वैसे उसकी परिणति भी निष्काम है। आहाहा! ऐसा परिणमना, वह तो परिणमन चलता है, अब ऐसा परिणमना, ऐसा भी वहाँ कहाँ है? निजतत्त्व अखण्ड ध्रुव शुद्ध (है)—ऐसा जहाँ भान हुआ, प्रतीति और ज्ञान हुआ, अब उस प्रतीति में तो आया है कि यह द्रव्य परिणमता है, परिणमता है (उसमें) परिणमना, वह भी कहाँ है अब? समझ में आया? जैसे निजतत्त्व में इच्छा नहीं, वैसे उसके परिणमन करनेवाले को परिणमने की इच्छा नहीं। परिणमन बहता है, परिणमता है, उसे परिणमना कहाँ आया? ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : सूक्ष्म बात कही।

पूज्य गुरुदेवश्री : सूक्ष्म बात कही। परन्तु स्वयं सूक्ष्म है न! आहाहा!

शुद्ध निश्चयनय से निष्काम है। ऐसी भाषा है न? आचार्य का हृदय कैसा है! वस्तु निष्काम... निष्काम परिणति में निष्काम का स्वीकार हुआ, (तो वह) परिणति भी निष्काम है। आहाहा! ऐसी शैली का कथन निर्ग्रन्थ सन्तों ने किया है। बाकी श्वेताम्बर में यह बात हो सकती ही नहीं। यह तो वस्तु और वस्तु की धारा आयी।

वस्तु को वस्तु की इच्छा नहीं, ऐसा कहते हैं, ऐसे वस्तु के स्वीकार करनेवाले को परिणमन की इच्छा नहीं। परमभाव को परमभाव की इच्छा नहीं, ऐसा परमभाव स्वीकार को परिणति की इच्छा नहीं। इच्छा है ही कहाँ? फिर 'नहीं' ऐसा यहाँ तो कहना है। इच्छामात्र विकार है, वह तो स्वरूप में नहीं (और) परिणति में भी नहीं, ऐसा कहते हैं। तो यह द्रव्य, द्रव्य को इच्छे नहीं, तो परिणति, परिणति को इच्छे नहीं। समझ में आया? आहाहा! यह तो अकेला मक्खन है। वस्तुस्थिति—वस्तु का स्वरूप

ऐसा है। यह कहीं... निश्चय से ऐसा हो और व्यवहार से ऐसा हो... उसमें नहीं लिखा? मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखा है न? निश्चय से आत्मा ऐसा, व्यवहार से ऐसा। भाई! आत्मा तो है, वैसा है। नहीं लिखा? निश्चय से ऐसा है, व्यवहार से ऐसा है। अर्थात् क्या? निश्चय से रागरहित है और व्यवहार से रागसहित है—ऐसा है? निश्चय से द्रव्य-वस्तु जो है, वह इच्छारहित—दोषरहित चीज़ है, वह ऐसी ही है। व्यवहार से ऐसा जाने कि रागादि का परिणमन है। वह तो जानता है कि यह है, इतना बस। ४७ नय में आता है न? ज्ञान की, दृष्टि की अपेक्षा से। आहाहा!

परिणमन राग का है पर्याय में, हों! वास्तव में तो अशुद्ध परिणमन ही उसमें नहीं, दृष्टि से देखो तो। द्रव्य शुद्ध है, वैसा परिणमन शुद्ध का हुआ, इसलिए अशुद्ध परिणमन रहा कहाँ वहाँ? वह परिणमन तो पर में गया, अपने में नहीं। क्योंकि विकल्पसहित स्वीकार करना, वह भी मिथ्यात्व है, भाई! आहा! व्यवहारसहित आत्मा है, ऐसा स्वीकार करना, वह मिथ्यात्व है। त्रिकाल विकार दोषसहित जीव है (ऐसी मान्यता) का अर्थ हुआ कि यह मिथ्यात्वभाव है। वस्तु दोषरहित है। दोषसहित... निरागीतत्त्व है उसे रागवाला माना अर्थात् कि आस्रवतत्त्ववाला यह जीवतत्त्व, ऐसा (माना), वह तो मिथ्याभ्रम है।

शुद्ध निश्चय से—निश्चयनय से निज परमतत्त्व भगवान पूर्णस्वरूप की भी उसे वाँछा नहीं। उसकी भी उसे वाँछा नहीं। देखो! है, उसे वाँछा क्या हो? ऐसा स्वीकार हुआ जहाँ परमतत्त्व का, स्वीकार हुआ फिर परिणति है, उस परिणति की इच्छा भी कहाँ है? ऐसा कहना चाहते हैं, हों! आहाहा! परिणमना तो उसका स्वरूप ही है। द्रव्य इच्छारहित है, ऐसा जो भान हुआ तो परिणमन... परिणमन... निरन्तर बहता ही है। जैसे यह निरन्तर द्रव्य है तो द्रव्य को द्रव्य की इच्छा नहीं है। तो परिणमन निरन्तर बहता ही है, फिर परिणमन को परिणमन की इच्छा कहाँ से (होगी)? इच्छा से तो मुक्त ही है परिणति और द्रव्य।

निज परमतत्त्व की भी वांछा... नहीं, ऐसा। दूसरी वाँछा किसकी हो? वाँछा वस्तु में भी कहाँ है? और परिणति में भी वाँछा नहीं। अज्ञानी को इच्छा है। अज्ञानी को

इच्छा हो कि ऐसा होओ... ऐसा होओ। होता है, उसे 'होओ' इसका अर्थ क्या? कान्तिभाई! ऐसा सूक्ष्म है। साधारण लोगों को अन्दर ऐसा लगे। अध्यात्म का निश्चय चला है अभी, ऐसा लिखा है। .... एकान्त हो गया है, ऐसा। आहाहा! भाई! ऐसा सम्यक् एकान्त स्वीकार किये बिना उसे राग और पर्याय का अनेकान्त ज्ञान सच्चा होता ही नहीं। भगवान आत्मा निर्ग्रन्थ, निराग, निःशल्य, सर्व दोषरहित, निष्काम है। आहाहा! क्रम भी व्यवस्थित है न देखो! सर्व दोषरहित ही है। है उसे सर्व दोषरहित होऊँ, ऐसा कहाँ आया? अथवा निर्दोष पूर्णस्वरूप है; है, अब निर्दोष पूर्ण स्वरूप होऊँ, यह कहाँ रहा? 'ऐसा मार्ग वीतराग का, कहा श्री भगवान...' ऐसा मार्ग है न! ऐसा मार्ग क्या...? यह तो फिर कहा। पहला मार्ग कहा। 'ऐसा मार्ग वीतराग का... ऐसा मार्ग वीतराग का...' भाषा तो ऐसी है। आहाहा!

निश्चयनय से प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त परद्रव्यपरिणति का अभाव होने के कारण.... लो, ठीक! वस्तु... वस्तु से देखो तो वस्तु स्वयं, प्रशस्त-अप्रशस्त रागादि परद्रव्यपरिणति का उसमें अभाव है। इससे **निःक्रोध है...** निश्चयनय से वस्तु शुद्धभाव, ध्रुवभाव, शुद्ध जीवास्तिकाय, उसमें शुभ और अशुभ **समस्त परद्रव्यपरिणति का अभाव होने के कारण निःक्रोध है;...** आहा! (शुभाशुभ) परिणमे तो क्रोध है, ऐसा उसका अर्थ हुआ। स्वभाव से विरुद्ध है न? ऐसा। शुभाशुभ परिणमन करे तो क्रोध है, स्वभाव से विरुद्ध है। स्वभाव से विरुद्ध विभावरूप परिणमे तो, कहते हैं, क्रोध है। डाला, थोड़ा डाला। यहाँ कहते हैं, निःक्रोध है। शुभाशुभ परिणति का अभाव है, इसलिए निःक्रोध है, लो। परद्रव्यपरिणति का अभाव (होने से), ऐसी वस्तु है, दृष्टि और ज्ञान में परिणम गया, उस परिणमन में भी परद्रव्य की परिणति का अभाव है। समझ में आया?

ऐसा सब मुम्बई में नहीं चलता वहाँ। सूक्ष्म पड़े। परन्तु ऐसी बात तो यहाँ चले धीरे-धीरे। धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा चलता है। हाँ, हाँ, ग्यारहवीं... छठवीं और ग्यारहवीं दोनों चलीं। ....एक-एक में एक-एक बोल में... कितने बोले हैं? आठ हैं, नहीं? पहले में नौ थे। ४३ (गाथा) में नौ थे, और ४४ में आठ हैं। ओहोहो! भगवान आत्मा वस्तुरूप से निःक्रोध है, क्योंकि शुभ-अशुभ परिणति—अवस्था का उसमें अभाव है। जो शुभ-अशुभ परिणति होती है, तब तो स्वभाव के प्रति विरुद्धभाव हुआ, क्रोध हुआ।

जिसे राग का प्रेम है, उसे स्वभाव के प्रति क्रोध हुआ। राग की परिणति का जिसे प्रेम है, व्यवहार परिणति—राग की व्यवहार परिणति का जिसे प्रेम है, उसे स्वभाव के प्रति द्वेष है। द्वेष कहो या क्रोध कहो। द्वेष के दो भाग—क्रोध और मान। राग के दो भाग—माया और लोभ। चार है न?

ओहोहो! सूक्ष्म डालते हैं इसमें, हों! **निःक्रोध है।** शुद्धपरिणति ही है अब, ऐसा। वस्तु जिसकी निःक्रोध है, ऐसे उसके स्वीकार को भी शुद्धपरिणति ही है। समझ में आया? कितना सूक्ष्म है, भैया! सुना ही नहीं इतने वर्ष... छह काय सीखो, छह काय की दया पालो। छह काय की दया पालो, वह भाव मिथ्यात्व है। पर की दया पालो। आहाहा! उसने टीका की है न? सुना न? भगवान ने यज्ञ का विरोध किया था। वह कहे, विरोध-बिरोध कुछ किया नहीं था। उन्होंने तो वीतराग... ...दास कहते हैं कि नहीं, यह सब उपदेश, व्याख्यान करे, उसमें तुम मजाक उड़ाते हो। ऐसा व्यक्तिगत उपदेश था वहाँ भगवान के पास? यह यज्ञ करे उसमें... वह तो उपदेश जो चला था, वह चलता था, उसमें से उसकी योग्यता से... वर्णन कर दिया। कठोर काम। सर्वत्र एक ही बोले। यज्ञ की बहुत हिंसा थी, भगवान ने ऐसा कि... श्रीमद् में एक जगह आता है—उपदेशछाया में। जिनकी हृदय में दया, अहिंसा की गन्ध नहीं... एकेन्द्रिय को भी जीव मनवाकर...

निश्चयनय से सदा परमसमरसीभावस्वरूप होने के कारण निर्मान है;... लो, मान की व्याख्या करते हैं। आहाहा! निश्चय से भगवान आत्मा सदा... त्रिकाल है न? **परमसमरसीभावस्वरूप...** वह तो परमवीतरागस्वरूप स्वयं त्रिकाल है। आहाहा! उसके कारण **निर्मान है।** इसका अर्थ यह हुआ कि परम समरसीभावरूप परिणति में सदा परमसमरसीभाव का जहाँ स्वीकार हुआ तो पर्याय में निर्मानता (आयी)। आहाहा! **निश्चयनय से सदा परमसमरसीभाव...** —वीतरागभाव... परम समरसीभावस्वरूप त्रिकाल ध्रुव... इस कारण से परमसमरसी... वहाँ मान कैसा? कहते हैं। यही निर्मान है। ऐसे निर्मान स्वभाव परमसमरसीभाव का जहाँ स्वीकार (हुआ), उसकी परिणति में भी समरसभाव आया है। उस समरसभाव में मान कैसा? कहते हैं। निर्मानदशा है। आहाहा! एक-एक बोल में आत्मा को उठाया है पूरा। शुद्धभाव अधिकार है न?

मुमुक्षु : सिद्ध में सीधा चला जाये ऐसा....

पूज्य गुरुदेवश्री : सिद्ध ही है, उसमें चला कहाँ जाये? सिद्धस्वरूप है। परमसमरसी कहा न? उसका जहाँ स्वीकार हुआ, सिद्धरूप की परिणति चालू ही है, ऐसी की ऐसी। वह पूर्ण हो जायेगा। आहाहा! यह कहाँ? वह परिणति तो चालू ही है। सिद्धस्वरूपी ही आत्मा त्रिकाल है। ऐसा जहाँ परिणमन में सिद्धपने का स्वीकार आया, वह भी सिद्ध के अंश की परिणति हुई। सिद्ध के अंश की परिणति से पूरे आत्मा को सिद्ध स्वीकार किया। वह परिणति ऐसी की ऐसी चलती आती है, पूर्ण हो जायेगी (पश्चात्) ऐसी की ऐसी अनन्त काल रहेगी। द्रव्य है, वहाँ रहेगी। आहाहा! कनुभाई! यह ऐसा मार्ग है। लोगों ने बाहर से... ऐसा करना, व्रत पालना, अपवास करना, ऐसे दया पालना, देखकर चलना—उसमें धर्म मनवा लिया सब। आवे, वह तो व्यवहार का राग है। टिका हुआ हो, उसकी कैसी क्रिया होती है, यह बताते हैं। वह तो कर्ता होकर—स्वामी होकर करे। वस्तु का स्वभाव ही उसे खबर नहीं, परिणति की उसे खबर नहीं। अशुद्ध परिणति होती है, उसे यह 'धर्म होता है' ऐसा मानता है, उसकी भी उसे खबर नहीं। आहाहा!

जहर करते-करते... जहर उसमें नहीं, उसे करते-करते वह होगा? अशुद्धता द्रव्य में नहीं। वह अशुद्धता करते-करते द्रव्य की शुद्धि प्रगटे, (ऐसा) बहुत चला है। यह तो जिसे मुक्ति का प्रयाण करना हो, उसे ऐसा द्रव्यस्वभाव बैठे—उसके लिये यह सब बात है। बन्धन के परिणाम में पड़ा है, वह तो पड़ा ही है अब। यहाँ तो कहते हैं कि बद्धवाला स्वीकार करना, वह मिथ्यात्व है। व्यवहार से है, उस व्यवहार का स्वीकार मिथ्यात्व है। आहाहा! 'असंख्यात प्रमाण लोकव्यवहार मिथ्यात्वभाव उकत है' आता है न? आत्मा कर्मसहित है, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। ले! वह कर्मरहित है, रागरहित है, पूर्णानन्द है—उसका स्वीकार, वह सम्यक् है। अन्तिम निर्मद। निर्मान और निर्मद, जरा सा अन्तर डाला है मान और मद के बीच।

निश्चयनय से... समस्त प्रकार से—**निःशेषरूप से अन्तर्मुख होने के कारण...** वस्तु अन्तर्मुख है। आहाहा! वस्तु अन्तर्मुख है, ऐसा कहते हैं। निश्चय से निःशेषरूप से अन्तर्मुख होने के कारण... वस्तु **निर्मद है।** बहिर्मुख का भाव, वह मदवाला है। वह

मैं नि:शेषरूप से अन्तर्मुख होने के कारण वस्तु स्वयं निर्मद है। वस्तु ध्रुव अन्तर्मुख है, वह निर्मद है। उस अन्तर्मुख की दृष्टि होने से परिणति भी निर्मद है। वस्तु निर्मद है। निर्मद है क्योंकि अन्तर्मुख है। बहिर्मुख हो... मद जिसमें नहीं, ऐसा माना—स्वीकार किया। निश्चय से—सच्ची दृष्टि से सत्य ऐसा है कि नि:शेषरूप से—समस्त प्रकार से अन्तर्मुख होने के कारण निर्मद है। और उसका स्वीकार करनेवाला भी, अन्तर्मुख के स्वीकार की परिणति अन्तर्मुख से हुई है, (इसलिए) वह भी निर्मद है। उसे व्यवहार का मद नहीं। यह व्यवहार मेरा है, ऐसा (नहीं), अन्तर्मुख का जो स्वीकार है। बहिर्मुख का स्वीकार, धर्मी को बहिर्मुख के परिणाम का स्वीकार ही नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

उक्त प्रकार का... यह इतने बोल में कहा, वह आठ बोलवाला... **उक्त प्रकार का (ऊपर कहे हुए प्रकार का), विशुद्ध सहजसिद्ध...** देखो! विशुद्ध शब्द आया। वह द्रव्य को लागू पड़ता है। किसी जगह शुभपरिणाम को लागू पड़ता है, किसी जगह शुद्धपर्याय को लागू पड़ता है, यहाँ द्रव्य को लागू पड़ता है। पहले आ गया है कल। **विशुद्ध सहजसिद्ध...** भगवान आत्मा विशेष शुद्ध है। यह शुद्धभाव जो है, उसे यहाँ विशुद्धभाव कहा है पहले पाठ में। अधिकार शुद्धभाव है न? उसे यहाँ विशुद्ध कहा है। सहजसिद्ध—स्वाभाविक सिद्ध है वस्तु। **नित्य-निरावरण...** है। वह वस्तु तो त्रिकाल निरावरण ही है।

निज कारणसमयसार का... ऐसा जो निज कारणसमयसार ध्रुवस्वरूप, वह उपादेय है, वही आदरणीय है, बाकी कोई आदरणीय है नहीं। आहाहा! उन नौ तत्त्व में कहते हैं न? सवंर उपादेय है, निर्जरा हितकर है, लो मोक्ष... वह तो ऐसी पर्याय होती है। उत्पाद की अपेक्षा से... उसका व्यय... **सहजसिद्ध नित्य-निरावरण निज कारणसमयसार का स्वरूप उपादेय है।** लो, उसमें यह आया था न? ऐसा आत्मा वास्तव में उपादेय है। ४३ गाथा की टीका पूरी करते हुए। निर्भय है और ऐसा है, सब कहा न? ऐसा आत्मा वास्तव में उपादेय है, ऐसा कहा था। यहाँ यह कहा कि ऐसा निज कारणसमयसारस्वरूप, वह उपादेय है। दृष्टि और ज्ञान की पर्याय में उसका आदर चाहिए।

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री प्रवचनसार की टीका में ८वें श्लोक द्वारा) कहा है कि—

इत्युच्छेदात्पर-परिणतेः कर्तृ-कर्मादि-भेद-
भ्रान्तिध्वन्सादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः।
संचिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽयं,
स्थास्यत्युद्यत्सहज-महिमा सर्वदा मुक्त एव॥

लो! मुक्त ही है। प्रवचनसार की बात है। उस श्लोक में 'मुक्त है' ऐसा आता है न समयसार में?

इस प्रकार परपरिणति के उच्छेद द्वारा (अर्थात् परद्रव्यरूप परिणमन के नाश द्वारा)... विकार के व्यय द्वारा **तथा कर्ता, कर्म आदि भेद होने की जो भ्रान्ति...** भेद ही नहीं जिसमें—पर्याय में कर्ता और कर्म। ऐसी जो भ्रमणा **उसके भी नाश द्वारा अन्त में जिसने शुद्ध आत्मतत्त्व को उपलब्ध किया है...** लो। रागरहित और भेदरहित, ऐसा। अभेदतत्त्व जो आत्मा, उसे जिसने प्राप्त किया है— **ऐसा यह आत्मा, चैतन्यमात्ररूप विशद (निर्मल) तेज में लीन रहता हुआ,...** चैतन्यमात्र निर्मल चीज़ में लीन—अन्तर्मुख **अपनी सहज (स्वाभाविक) महिमा के प्रकाशमानरूप से सर्वदा मुक्त ही रहेगा।** वस्तु तो मुक्त है, अब परिणति भी मुक्त ही रहेगी। अपनी निर्मल परिणति हुई, मुक्त का आश्रय लेकर मुक्त पर्याय हुई, सदा मुक्त ही रहेगी। उसे फिर परिभ्रमण के अवतार होंगे नहीं। आहाहा! टीकाकार कहेंगे गाथा का कलश।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण ११, शनिवार, दिनांक - १९-६-१९७१
गाथा-४५-४६, श्लोक-६९, प्रवचन-४५

यह नियमसार, शुद्धभाव अधिकार, ६९वाँ कलश है। पृष्ठ ९६।

ज्ञानज्योतिः प्रहतदुरितध्वान्तसङ्घातकात्मा,
नित्यानन्दाद्यतुलमहिमा सर्वदा मूर्तिमुक्तः।
स्वस्मिन्नुच्चैरविचलतया जातशीलस्य मूलं,
यस्तं वन्दे भवभयहरं मोक्षलक्ष्मीशमीशम्॥६९॥

यह शुद्धभाव का अधिकार है। शुद्धभाव अर्थात् ध्रुव नित्य ज्ञायकभाव, उसे यहाँ वन्दन करते हैं। कैसा है वह भाव? **श्लोकार्थः—जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापरूपी अन्धकारसमूह का नाश किया है,...** अर्थात् कि वस्तु के स्वरूप में पाप और पुण्य है नहीं। वस्तु ध्रुव चैतन्य कारणपरमात्मा ऐसा जो आत्मा, उसमें पुण्य-पाप संसार का भाव नहीं अथवा उसका आश्रय करने से उसे संसार का नाश हो जाता है। उसमें नहीं, इसलिए उसका आश्रय करे, उसे पुण्य-पाप ऐसा संसार नाश हो जाता है।

जो नित्य आनन्द आदि अतुल महिमा का धारण करनेवाला है,... कैसा है आत्मा? सत्ता—अस्तित्व ध्रुवपना नित्य आनन्द आदि अतुल महिमा का धारक है। अतीन्द्रिय नित्य आनन्द का धारक वह आत्मा है। उस आत्मा को आत्मा कहा जाता है। उस आत्मा की शरण लेना, वह धर्म है। **जो सर्वदा अमूर्त है,...** वस्तु त्रिकाल अमूर्त है। त्रिकाल रंग, रस, स्पर्शरहित अमूर्त चीज़ है। **जो अपने में अत्यन्त अविचलपने द्वारा...** अपने में अत्यन्त चलित नहीं, इससे **उत्तमशील का मूल है,...** उत्तम स्वभाव अविचलरूप से है, इसलिए वह उत्तम स्वभाव का मूल है। वस्तु स्वयं उत्तम शीलस्वभाव का मूल है। उसका आश्रय लेनेवाले को भी अत्यन्त अविचलरूप से उत्तम शील की प्राप्ति होती है। है, उसकी प्राप्ति होती है—ऐसा कहते हैं। अपने अत्यन्त अविचलरूप से—चलित नहीं, इस प्रकार से उत्तम शील का मूल ध्रुव ही है।

उस भव-भय को हरनेवाले... ऐसा जो आत्मा कारणप्रभु, वह भवभय को हरनेवाला है अर्थात् कि उसमें भवभय नहीं। और उसका आश्रय करे, उसे भवभय

रहता नहीं। ऐसे **मोक्षलक्ष्मी के ऐश्वर्यवान...** है तो त्रिकाली वस्तु। मोक्षलक्ष्मी है, मुक्त लक्ष्मी पड़ी है अन्दर में, अनन्त आनन्द और अनन्त शान्ति इत्यादि। ऐसा ऐश्वर्यवान स्वामी ऐसा आत्मा, उसे **मैं वन्दन करता हूँ।** उपादेय, ऐसा कहते हुए यहाँ 'वन्दन करता हूँ' ऐसा कहा। कहो! नित्यानन्द प्रभु ध्रुव, उसे मैं वन्दन करता हूँ अर्थात् उसका मैं आदर करता हूँ। मुझे आदर करनेयोग्य वस्तु हो तो वह है। जिसकी भूमिका में आचरण करना है, वह आचरण जिसके आश्रय से प्रगट हो, ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे मैं वन्दन करता हूँ। मुनि स्वयं... यह ४४ की टीका का श्लोक हुआ।

(गाथा) ४५ और ४६। यह भी शुद्धभावस्वरूप कारणपरमात्मा का ही स्वरूप है। भिन्न-भिन्न प्रकार से कहते हैं, परन्तु है तो शुद्धभाव की सब व्याख्या।

वण्णरसगंधफासा थीपुंसणउंसयादिपज्जाया।
संठाणा संहणणा सव्वे जीवस्स णो संति॥४५॥

अरस-मरूव-मगंधं अव्वत्तं चेदणा-गुण-मसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीव-मणिद्दिट्ठ-संठाणं॥४६॥

नीचे हरिगीत।

नहिं स्पर्श-रस-अरु-गंध-वर्ण न, क्लीव, नर-नारी नहीं।
संस्थान संहनन सर्व ही ये भाव सब जीव को नहीं॥४५॥

रस, रूप, गंध न, व्यक्त नहिं, नहिं शब्द, चेतनगुणमयी।
निर्दिष्ट नहिं संस्थान, होता जीवलिंग-ग्रहण नहीं॥४६॥

इस शुद्धभाव अधिकार में कारणपरमात्मा उसे कहा गया है। ध्रुवस्वरूप नित्यानन्द, एक समय की अनित्य पर्यायरहित है, पुण्य-पाप संसाररहित तो सही, परन्तु एक समय की दशारहित त्रिकाली शुद्धभाव, उसे यहाँ कारणपरमात्मा (कहा गया है), जिसमें से कार्यपरमात्मा प्रगट हो। कारणपरमात्मा अर्थात् त्रिकाली वस्तु, वह कारणरूप परमात्मा, उसका आश्रय करने से उसे कार्यपरमात्मा अर्थात् सिद्ध भगवान दशा प्रगट होती है।

टीका:—यहाँ (इन दो गाथाओं में) परमस्वभावभूत ऐसा... परमस्वभावभूत ऐसा, ऐसे। उस स्वभाव की व्याख्या करते हैं। परमस्वभाव जिसका त्रिकाल... एक

समय की पर्याय का परमस्वभाव नहीं। आहाहा! त्रिकाल चैतन्यदल, ध्रुव नित्य, वह परमस्वभावभूत ऐसा... वह **परमस्वभावभूत ऐसा जो कारणपरमात्मा का स्वरूप,...** लो। उसका परमस्वभाव है, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त स्वच्छता इत्यादि **परमस्वभावभूत ऐसा जो कारणपरमात्मा का स्वरूप, उसे समस्त पौद्गलिक विकारसमूह नहीं है...** उसे विकार नहीं है। पौद्गलिक विकार द्रव्यस्वभाव में नहीं है, वह तो पुद्गल की सब रचनायें हैं।

निश्चय से पाँच वर्ण,... आत्मा में नहीं, **पाँच रस...** नहीं, **दो गन्ध...** स्वरूप में नहीं। **आठ स्पर्श, स्त्री-पुरुष-नपुंसकादि विजातीय विभावव्यंजनपर्यायें,...** अर्थात् जड़ की, हों! पुद्गल की। यह स्त्री-पुरुष के शरीर की जो अवस्थायें पुद्गल की—जड़ की हैं। स्त्री का शरीर, पुरुष का शरीर, नपुंसकादि विजातीय (अर्थात्) आत्मा से जिसकी जाति अलग है, ऐसी विभावव्यंजनपर्याय, वह पुद्गल... वह विभाविक व्यंजनपर्याय है, उससे आत्मा रहित है। आत्मा में वह है नहीं। यह शरीर के अवयव आदि सब पुद्गल के हैं। स्त्री, पुरुष, नपुंसक के अवयव, वे सब जड़ के हैं। भगवान आत्मा में वे नहीं। विभावव्यंजनपर्याय... प्रगट आकृति है न बाहर की जड़ की? वह स्वरूप परमस्वभावभूत कारणपरमात्मारूप स्वयं त्रिकाली ध्रुव सत् स्वयं, उसमें वह चीज़ है नहीं।

कुब्जादि संस्थान... नहीं। अन्तिम से लिया है। समचतुरस्रसंस्थान... अन्तिम से लिया है। संस्थान नहीं। पाठ में इतना है न? यह कुब्जादि संस्थान नहीं। संहनन में व्रजनाराच, वहाँ से लिया, पहले से लिया। वह अन्तिम से लिया। कुब्जादि संस्थान (आदि) आकार तो पुद्गल के हैं। नाक और आँख आदि आकार (रूप) शरीर, वह तो सब मिट्टी का आकार है। स्त्री-पुरुष-नपुंसक आदि शरीर के अवयवों का आकार सब मिट्टी का, जड़ का, अजीव का, पुद्गल का है। वह जीवस्वरूप भगवान ध्रुवतत्त्व... क्योंकि वह तो उसकी पर्याय में आयी नहीं। वह तो पुद्गल है न? जीव की पर्याय में भी वह नहीं, तो द्रव्य में तो वह हो ही कैसे?

पुद्गलों को ही है... है? वज्रनाराचसंहनन आदि पुद्गलों को ही है, जड़ को ही

है यह सब आकार। जड़ में जड़ के... जड़ में जड़ के हैं। भगवान आत्मा चैतन्यद्रव्य में, वे कुछ है ही नहीं। वे पुद्गलों को ही है, **जीवों को नहीं...** ऐसा कहा। अस्ति-नास्ति की। यह सब आकार जड़ के हैं, जड़ में हैं, आत्मा को नहीं। ऐसा भगवान आत्मा नित्य आनन्दस्वरूप आत्मा, उसका आश्रय करनेयोग्य है। आहाहा! उसका आश्रय करे, उसे धर्म होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो (निश्चय) मोक्ष का मार्ग, निश्चय अर्थात् सच्चा, वह त्रिकाली भगवान ध्रुव नित्यानन्द प्रभु का अन्तर आश्रय करने से उसे मोक्षमार्ग हो। मोक्षमार्ग कहीं निमित्त के आश्रय से, पर के आश्रय से नहीं होता।

संसार अवस्था में... चेतना की व्याख्या करते हैं, **स्थावरनामकर्मयुक्त संसारी जीव को...** यह एकेन्द्रिय जीव। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति। **स्थावरनामकर्मयुक्त...** (अर्थात्) स्थावरनामकर्मसहित—वाले जीव। **संसारी जीव को कर्मफलचेतना होती है,...** पंचास्तिकाय में.... पंचास्तिकाय की व्याख्या में है। स्थावरनामकर्म (वाले) संसारी जीव को कर्मफलचेतना... उसे तो हर्ष और शोक अर्थात् उसे दुःख का ही वेदन है, ऐसा कहते हैं। कर्मफलचेतना है। एकेन्द्रिय को दुःख का ही अनुभव है, दुःख की चेतना है। आहाहा! एकेन्द्रिय जीव पृथ्वी के, पानी के, अग्नि के, वायु के, वनस्पति के—उन्हें अकेला दुःख का ही अनुभव—चेतना है। आहाहा!

त्रसनामकर्मयुक्त संसारी जीव को... त्रस जीव हैं—दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। **त्रसनामकर्मयुक्त संसारी जीव को कार्यसहित...** कार्यसहित अर्थात् कर्मचेतनासहित—राग-द्वेष के कार्यसहित **कर्मफलचेतना होती है।** आहाहा! त्रस जीव को मिथ्यात्व—भ्रान्ति और राग-द्वेषरूपी कार्यसहित जिसे कर्मफलचेतना, दुःख का अनुभव है। त्रस जीव को कार्यफलचेतनासहित दुःख का अनुभव है। स्वर्ग के देवों को भी मिथ्यात्व और राग-द्वेष... अज्ञानी लेना है न? ऐसे कार्यसहित दुःख के फल को वेदते हैं। आहाहा! देखो! यह स्वर्ग के देव भी दुःख के फल को वेदते हैं, कहते हैं। राग-द्वेष और मिथ्यात्व के कर्म... कर्म अर्थात् भावकर्म। भावकर्म कहो या कार्य कहो। त्रस जीव दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय, नारकी, मनुष्य, देव, पशु—वे सब विकारी परिणाम के कर्ता कार्यरूप से होकर और उसके फलरूप से दुःख को अनुभव करते हैं। आहाहा!

देखो! यह सब अरबोंपति और करोड़ोंपति और स्वर्ग के देव, कहते हैं, दुःख के फल को भोगते हैं, ऐसा कहते हैं। विभाविक विकारी परिणाम, उसे कर्ता, कार्यरूप से—मेरा कार्य है ऐसा करता हुआ, कर्मचेतनारूप से परिणमता हुआ, विकार के भावरूप से परिणमता हुआ विकार के भाव के दुःख को अनुभव करता है। आहा! देखो! यह कहते हैं न? कि यह पैसेवाले सुखी हैं, बादशाही है। यहाँ तो कहते हैं कि अज्ञानी प्राणी अनादि के दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय (जिन्हें) स्वरूप के आनन्द के भाव की और आनन्द के फल की खबर नहीं, वे जीव तो अकेले... आहाहा! द्रव्यलिंगी मुनि नौवें ग्रैवेयक में जानेवाला ऐसा मुनि भी कार्यसहित होकर कर्मफल को भोगता है, ऐसा कहते हैं, लो! आहाहा! दिगम्बर मुनि हो, वस्त्र का धागा न हो, जंगल में रहता हो, परन्तु अन्दर में राग के कार्यसहित, मिथ्यात्व के कार्यसहित वह कर्मफल अर्थात् दुःख के फल को वेदता है। आहाहा! संयोग को वेदता है और करता है, ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? बड़े धनाढ्य, ...वाले स्वर्ग के देव संयोग को करते हैं और संयोग को भोगते हैं, ऐसा नहीं, परन्तु संयोगी विकारीभाव को करते हैं और उसके फल को-दुःख को भोगते हैं।

त्रसनामकर्मयुक्त संसारी जीव को... पंचेन्द्रिय मनुष्य और पंचेन्द्रिय देव... ...आया न? कार्यसहित... अहो! स्वभाव के भानरहित प्राणी, वे पुण्य-पाप के भाव, मिथ्यात्वभाव, राग-द्वेष के भाव उसका कर्म—उसका कार्य करता हुआ उसमें उस दुःख को अनुभव करते हैं। समझ में आया? पंचेन्द्रिय दिगम्बर मुनि, वे भी कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि हैं, राग के विकल्प को अपना कार्य मानते हैं, ऐसे जीव... क्योंकि रागरहित स्वभाव की तो खबर नहीं। इसलिए बाहर के पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण पालता हुआ, वह प्राणी विकार के भाव का कार्य करता है और उसके फल में उसे दुःख का वेदन है। ओहोहो! कहो, कान्तिभाई! स्पष्ट बात। हजारों स्त्री-पुत्र छोड़े, रानियाँ छोड़े, राज छोड़े, जंगल में रहे, मौन रहे, शरीर से ब्रह्मचर्य पालन करे—आचरण (करे), तथापि भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप कारणपरमात्मा स्वयं है, उसकी उसे खबर नहीं, इसलिए उसके कार्य में विकारी परिणाम का कार्य करे और उसके दुःख के फल को भोगता है। आहाहा! चार गति के जीव दुःखी हैं, कहते हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द

का नाथ, ऐसा जो आत्मा, उसका जिसे अन्तर भान नहीं, आश्रय नहीं, उसका आधार लिया नहीं, वह तो मात्र पुण्य के परिणाम का कर्ता (होकर) आधार लेकर दुःख को भोगता है। आहाहा!

त्रसनामकर्मयुक्त संसारी जीव को कार्यसहित... उस एकेन्द्रिय को कार्य नहीं गिना है। है तो सही परन्तु बहुत गौण है। कर्मचेतना एकेन्द्रिय को है तो सही, परन्तु दुःख के फल की विशेषता—अधिकता में उसे गिना नहीं है। और यह त्रस जीव ऐसे संसारी कार्यसहित... कार्यसहित अर्थात् विकारी परिणाम के कर्मोंसहित, ऐसा। विकारी परिणाम वह मेरा कर्तव्य है—वह मेरा कार्य है, ऐसे भाववाला जीव कर्मफलचेतना को भोगता है। वह तो दुःख के फल को भोगता है। विकारीभाव का फल दुःख। कहो, पंच महाव्रत का फल... पंच महाव्रत का कर्म, वह विकार है और उसका फल दुःख है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! चिल्लाहट मचा जायें न लोग। यहाँ कहे कि पंच महाव्रत वह धर्म। पाँच महाव्रत ले लो, वह चारित्र। यहाँ तो अनादि की बात है न त्रस जीवों की। अनादि से इसने ऐसे पंच महाव्रत भी अनन्त बार लिये—किये, वह तो राग का कार्य है। आहाहा! और उस दुःख को भोगता है—अधर्मभाव को भोगता है, ऐसा कहते हैं। पंच महाव्रत के परिणाम, वे अधर्म हैं, कर्म है, विकार है, विभाव है। उसे करे और उसके फल में उसे (दुःख को) भोगे। आहाहा! कहो, ऐसी बात कहाँ गयी चेतनजी? यह श्वेताम्बर में नहीं सुना? यहाँ देखो न! क्या कहते हैं?

भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा सत्-शाश्वत् अतीन्द्रिय आनन्द का खजाना प्रभु है। आहाहा! उसकी अनादि की अज्ञानी को खबर नहीं। इसलिए वह अज्ञानी शुभ-अशुभभाव को करता हुआ उसके दुःख के फल को भोगता हुआ भटक रहा है। आहाहा! देखो! यह मिथ्यादृष्टि चक्रवर्ती छह खण्ड के राज को भोगता है। वह राज को नहीं भोगता, उस समय का राग (कि) यह राज मेरा और यह स्त्रियाँ मेरी—ऐसा जो राग मिथ्यात्वसहित का, उसे वह करता और उसके दुःख के फल को भोगता है और मानता है कि हम सुखी हैं, हमें सुख मिलता है। धूल में भी सुख नहीं। आहाहा!

पाँच-पच्चीस लाख, पाँच-पच्चीस करोड़ रुपये हों, उसका जिसे लक्ष्य जाता है और उसमें जो राग होता है, वह अज्ञानी राग का कर्ता है। लक्ष्मी का कर्ता नहीं, लक्ष्मी

लाता नहीं, लक्ष्मी छोड़ता नहीं। उस समय का राग जो विकार, उसे करता है और ऐसा मानता है कि मैंने लक्ष्मी प्राप्त की और उस राग के फल को—दुःख को भोगता है और मानता है कि मैं लक्ष्मी के फल को सुखी होकर भोगता हूँ। मूढ़ है। छोटाभाई! क्या होगा यह? पूरी दुनिया से बात ही अलग है। आहाहा! फर्नीचर, पाँच-पच्चीस लाख का बँगला हो और बैठा हो बीच में, शरीर ठीक हो, श्रीखण्ड-पूड़ी, अरबी के पत्ते के भुजिया ताजा गर्म कड़क खाता हो। उसे नहीं खाता, वह तो जड़ की क्रिया पुद्गल की है। उसमें मानता है कि मैं खाता हूँ और यह भोगता हूँ, ऐसा जो मिथ्यात्वभाव, उसे करता हुआ दुःख के फल को उस क्षण में भोगता है। आहाहा! दृष्टि में एकदम अन्तर है।

मुमुक्षु : ऐसे पुरुष.... यदि ऐसे दुःख को भोगते हैं, तो गरीब मनुष्य...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह गरीब कहाँ था? वह तो दुःखी है। गरीब भी दुःखी और (धनवान दुःखी)। गरीब है कहाँ? मोहनभाई! गरीब तो बाह्य चीज़ की अपेक्षा से कहा, परन्तु बाह्य की चीज़ तो उसमें है नहीं। पैसे अधिक हों या न हों, वह तो बाहर की चीज़ है। उसमें तो है ही नहीं। इसलिए उसे गरीब और सधन कहना, यह बात तो मूर्खता से भरपूर है। यहाँ तो अन्दर मान्यता इसकी जो है कि अरे! मैं गरीब, मुझे दुःख, ऐसा जो विकारीभाव, उसे करे और विकार के फल को—दुःख को भोगे। इसी प्रकार पैसेवाले अरबोंपति या चक्रवर्ती, 'यह मुझे राज, यह मेरे पैसे', ऐसी ममता को करते हैं और ममता के फल को—दुःख को भोगते हैं। कहो, उसमें दोनों समान हैं। आहाहा!

भगवान अपने आनन्दस्वभाव से हटकर जितना विकार अकेला करे पुण्य और पाप का, उतना उसे फल उस क्षण में दुःख का वेदन आता है। आहाहा! वह कर्मफलचेतना। यह देखो न! बात कैसी की है! ऐसे ज्ञानस्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप अपना अस्तित्व, उसका तो अन्तर्मुख होकर स्वीकार नहीं और यह विकल्प पुण्य-पाप के होते हैं, उनका स्वीकार है, इसका अर्थ यह कि वे कार्य मेरे, इसका अर्थ यह कि उनका मैं कर्ता अथवा उनरूप होनेवाला मैं विकाररूप से, ऐसा। उस विकाररूप से होनेवाला मैं। आहाहा! वस्तु तो निर्विकारी शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसे विकाररूप होनेवाला मैं और उसके दुःख के फल को भोगनेवाला, वह वास्तव में

तो दु:ख नहीं मानता, सुखी (मानता है), सुखी हूँ, ऐसी मिथ्यादृष्टि की मान्यता ही दु:खरूप है।

कार्यपरमात्मा और कारणपरमात्मा को... दो बातें की। एकेन्द्रियजीव को अकेला कर्मफल—दु:ख का ही भोगना है और त्रस जीव—दो इन्द्रिय ईयल से लेकर पंचेन्द्रिय नौवें ग्रैवेयक तक जानेवाले—सब अज्ञानी, वे सब राग के कर्ता (होते हैं), कर्म उसका वह और उसका फल दु:ख, उसे भोगते हैं। ईयल भोगे और पंचेन्द्रिय भोगे। आहाहा! दो इन्द्रिय ईयल... ईयल... वह भी त्रस है। उसे इन्द्रिय का उघाड़ है न? इसलिए उसे राग का करना, पुण्य का करना, पाप के भाव का करना—ऐसी कर्मचेतनासहित कार्य, उस चेतनासहित कहा, कर्मचेतनासहित दु:ख को भोगती है ईयल। इसी प्रकार यह बड़ा मैल-महल में रहनेवाला... आहाहा! उसका—अज्ञानी का कर्तव्य तो विभाव के परिणाम का कर्तव्य है और उसके फल का—दु:ख का भोगना है। कहो, मोहनभाई! क्या होगा यह सब? लड़के-बड़के कमाते हैं, सुखी होते होंगे या नहीं? सुखी नहीं? किसके लड़के कहलाते हैं वे? आहा! उसके—अज्ञानी के लड़के तो विकारभाव हैं। उसकी—अज्ञानी की प्रजा, विकारभाव उसकी प्रजा है। आहाहा! प्रजा है न? विकारभाव उसकी प्रजा और उसके फल को—दु:ख को भोगे, वह प्रजा के दु:ख को भोगता है।

अब विचार आत्मा का। यह तो अनात्मा की बात की। **कार्यपरमात्मा को...** कार्यपरमात्मा अर्थात् सिद्ध भगवान, अशरीरी परमात्मा हुए, वे और **कारणपरमात्मा को...** कार्यपरमात्मा अर्थात् सिद्ध भगवान अशरीरी परमात्मा अथवा केवलज्ञानी और कारणपरमात्मा अर्थात् त्रिकाली ज्ञायक भगवान अपना त्रिकाली स्वभाव, वह कारणपरमात्मा—उसे **शुद्धज्ञानचेतना होती है।** उसे शुद्धज्ञानचेतना होती है। सर्वज्ञ परमात्मा को अकेला, ज्ञान ही अकेला रहा हुआ है कार्यरूप से और कारणपरमात्मा ध्रुव में भी अकेली शुद्धज्ञानचेतना ही है। आहाहा! अलग है। एकेन्द्रिय को दु:ख का फल (वह) कर्मफलचेतना; त्रस को कार्यसहित दु:खफल का भोगना। अब आत्मा कारण और कार्य-आत्मा... वह तो अनात्मा की बात की। भगवान आत्मा त्रिकाली प्रभु शुद्ध ध्रुव चैतन्य जिसमें शुद्धज्ञानचेतना होती है। उसमें अकेली शुद्धज्ञानचेतना—ज्ञानस्वरूप का चेतना है। और भगवान परमात्मा को—कार्यपरमात्मा को भी शुद्धज्ञान है।

इसलिए... शुद्धज्ञानचेतना होती है। इसी से कार्यसमयसार अथवा कारणसमयसार को.... अर्थात् परमात्मा को, सर्वज्ञ को और कारणसमयसार त्रिकाली को **सहजफलरूप शुद्धज्ञानचेतना होती है।** उसे फल में ज्ञानचेतना के आनन्द का फल है। आहाहा! कारणपरमात्मा को स्वभाव में तो शुद्धज्ञानचेतना का आनन्द है, परन्तु कार्यपरमात्मा को सहजस्वरूप शुद्धज्ञानचेतना होती है। यह उत्कृष्ट बात की। चौथे गुणस्थान में शुद्धज्ञानचेतना होती है, (परन्तु) पूर्ण नहीं, पूर्ण तेरहवें में होती है, इसलिए उसे यहाँ गिनने में आया है। इसलिए कितने ही निकालते हैं न? यह शास्त्र में उत्कृष्ट बातें हैं, ऐसा करके ऐसा निकाले। इसलिए हमार मध्यम या जघन्य परिणमन, जघन्य आचारादि हों तो भी साधु हैं, ऐसा। उत्कृष्ट हो वह भले... वह जाति चाहिए, वह वस्तु चाहिए, उस प्रकार की परिणति चाहिए न? अविकारी परिणति चाहिए न?

कहते हैं, त्रिकाली भगवान यह आत्मा, उसमें शुद्धज्ञानचेतना—अकेला ज्ञान का चेतना, ऐसा उसका स्वरूप है, बस। और कार्यपरमात्मा सर्वज्ञ प्रभु आत्मा हो, तब उसे भी शुद्धज्ञानचेतना होती है। **इसी से कार्यसमयसार को...** सर्वज्ञ परमात्मा को और इस **कारणसमयसार को...** यह कारणप्रभु भगवान आत्मा अपना—निज उसे—**सहजफलरूप शुद्धज्ञानचेतना होती है।** उसे तो शुद्धज्ञानचेतना के सुख का फल होता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! आत्मा में भी शुद्धज्ञानचेतना का फल आनन्दरूप है अन्तर ध्रुव में... आहाहा! भगवान आत्मा अन्दर में शुद्धज्ञानचेतना (स्वरूप) और ज्ञानचेतना के फलरूप अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव, ऐसा उसका वस्तुस्वरूप ही है। जब कार्यपरमात्मा सर्वज्ञ हो तो उसे शुद्धज्ञानचेतना और शुद्धज्ञानचेतना के फलरूप अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन है।

वह शुद्धज्ञानचेतना... **सहजफलरूप शुद्धज्ञानचेतना...** ऐसे। उसे कर्म... प्रवचनसार में कहा न? शुद्ध उपयोग को कर्मचेतना कहा है। उसका फल वास्तव में, केवलज्ञानरूपी कार्य है न, उसका फल अतीन्द्रिय आनन्द है। इसी प्रकार नीचे सम्यग्दर्शन में कारणपरमात्मा ऐसा ध्रुवस्वरूप उसे पकड़ा, उसका अनुभव करके प्रतीति की, कारणपरमात्मा अपना त्रिकालीस्वभाव का आश्रय किया, उसे सम्यग्दर्शनरूपी कार्य अर्थात् ज्ञानचेतना... उसे ज्ञानचेतनारूपी—थोड़ी ज्ञानचेतनारूपी कार्य (और) उसका थोड़ा अतीन्द्रिय आनन्दरूपी फल (होता है)। कहो, समझ में आया?

एकेन्द्रिय को पूर्ण दुःखरूप फल, त्रस को पूर्ण कार्यचेतनासहित का दुःखरूप फल, परमात्मा—कार्यपरमात्मा को पूर्ण शुद्धज्ञानचेतना, पूर्ण आनन्द का फल (और) कारणपरमात्मा को पूर्ण ज्ञानचेतनारूपी पूर्ण आनन्द का फल और कारणपरमात्मा का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन जिसने प्रगट किया, उसे अल्प ज्ञानचेतनासहित अल्प ज्ञानचेतना के आनन्द का फल। ... कहा है इतना। कर्मफल की बात उसमें आ जाती है। साधक हुए बिना वह किस प्रकार होगा? साधक हो, तब सिद्ध होगा न? कार्यसमयसार कब होता है? साधक हो तब न? साधक हो तब उसे क्या होता है? यह बात यहाँ गौण रखी है। समझ में आया?

भगवान त्रिकाली आत्मा जो शुद्धज्ञानचेतना और शुद्ध आनन्द के फलवाला स्वरूप उसका है। त्रिकाली आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है। अब उसकी जिसे परिपूर्णता पर्याय में हो गयी, उसे तो ज्ञानचेतना केवलज्ञान पूर्ण और अतीन्द्रिय आनन्द पूर्ण है। वह तो साधक होकर (पूर्ण) साध्यदशा प्रगट हो गयी। परन्तु साधक हो तब? वस्तुस्वरूप कारणभगवान कारणपरमात्मा अथवा कारणजीव स्वयं, उसका आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि अनन्त गुण की निर्मलपर्यायरूपी कर्म अर्थात् कार्य है, उस कार्यसहित अल्प आनन्द का वेदन—अनुभव, वह साधकजीव को होता है। समझ में आया?

उसमें पूर्ण लिया, उसके हिसाब से अपूर्णवाले को जरा कर्मचेतना, कर्मफलचेतना है, (उसे) गौण करके, अकेली शुद्धज्ञानचेतना और आनन्द फल है, ऐसा भी अध्यात्म की एकरूप दृष्टि से कहा जाता है। एक में उसके दो भाग नहीं पड़ते और जब उसे भाग करना हो तो, अपूर्णता है, ज्ञानचेतनास्वरूप में ज्ञान की एकाग्रता अल्प है, तब उसे आनन्द का फल भी अल्प है, तब उसे कुछ राग का भाग और दुःख का भाग है। उसे ज्ञेयरूप से गिनकर कहें तो उसमें नहीं और अस्थिरता के साधनरूप से बीच में गिने तो उसे थोड़ा कर्मचेतना, कर्मफलचेतना है, वह जाननेयोग्य है, जाननेयोग्य। समझ में आया? शास्त्र की शैली ऐसी है। तब वे कहते हैं कि देखो! इसमें तो केवली को ज्ञानचेतना कही है। तो छठवें, चौथे, पाँचवें में नहीं होती। अरे भगवान! मति और श्रुतज्ञान को तत्त्वार्थसूत्र में परोक्ष कहा है। स्व को पकड़ता है, तब परोक्ष कहाँ रहता है? अपने स्वभाव को जानता है, अपने स्वभाव को जानता है, वह तो प्रत्यक्षज्ञान है।

प्रत्यक्षज्ञान, वह परोक्ष होगा? गौणरूप से (बात) रही हुई हो, उसे समझनी चाहिए न! आहाहा!

इसलिए सहजशुद्ध-ज्ञानचेतनास्वरूप निज कारणपरमात्मा... सहजशुद्ध ज्ञानचेतना सहज (अर्थात्) स्वाभाविक त्रिकाल ऐसा। ऐसा निज कारणभगवान अपना आत्मा। **निज...** है न? अर्थात् अपना आत्मा, **संसारावस्था में या मुक्तावस्था में सर्वदा एकरूप होने से उपादेय है ऐसा, हे शिष्य! तू जान।** ऐसा निकाला है। '**जाण**' है न? '**अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं**' '**जाण अलिंगग्रहण जीवं**' '**जाण जीवं**' उसमें से निकाला है। अर्थ में '**जाण**' है, इसलिए सर्वत्र '**जाण**' होगा न? आहाहा! ऐसा जीव संसार अवस्था हो या मुक्त अवस्था हो, निज कारणस्वरूप भगवान त्रिकाली है, वह तो सर्वथा एकरूप होने से... उसमें तो संसार अवस्था, मोक्ष अवस्था के भेद नहीं। ध्रुव ज्ञायक भगवान... शुद्धभाव अधिकार है न यह? शुद्धभाव त्रिकाल, ध्रुव शुद्धभाव में बन्धभाव और मोक्षभाव की पर्याय का भी जिसमें अभाव है। एकरूप त्रिकालीभाव उपादेय है। वह धर्मी जीव को अन्तर आदरणीय है। त्रिकाली ज्ञायकध्रुवभाव, वह धर्मी को आदरणीय और उपादेय और आचरणीय है। आहाहा!

यह बात सुनते हुए कितनों को... जाता है, परन्तु यह तो सब बातें ऐसी हैं, अमुक है, ढींकणी है... उत्कृष्ट बात कही है। परन्तु उत्कृष्ट बात हो, वह कहे या न हो वह कहे? निचली बात उससे विपरीत कहे? उद्देशिक नहीं चलता (तथापि) साधारण के लिये उद्देशिक हो तो बाधा नहीं, ऐसा कहे? आहाहा! साधु के लिये चौका बनाकर किया हुआ आहार, वह तो बिल्कुल दोष है, पाप अकेला मिथ्यात्व का पाप है। उद्देशिक—किया हुआ यह ले और देने का भाव... वे मुनि नहीं, उसे मुनि (मानकर देते हैं) और यह मुनि नहीं, उसे मुनिपना मानकर स्वयं उद्देशिक लेते हैं—दोनों मिथ्याश्रद्धा करनेवाले हैं, कर्मचेतना करनेवाले हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह बात ऐसी, वस्तुस्थिति ऐसी है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है। उसमें किसी के घर के लिये दूसरा नया होगा?

देखो! भगवान आत्मा... संसारदशा हो विकारी या मोक्षदशा हो निर्विकारी—वह तो अवस्था है। त्रिकाल कारणपरमात्मा ध्रुवस्वरूप ऐसा दोनों अवस्था में सर्वदा एकरूप है। देखो! दोनों अवस्था में त्रिकाल एकरूप है। आहा! एकरूप होने से वह समकिती

को उपादेय है। ऐसा नित्यानन्द भगवान ही आदरणीय है। निमित्त नहीं, राग नहीं, पर्याय उपादेय नहीं। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, वह **उपादेय है ऐसा, हे शिष्य! तू जान।** ऐसा आया न उसमें? '**जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं**' ऐसा जो जीव है, उसे तू जान। उसका अर्थ यह कि ऐसा जीव जो है, वह तुझे उपादेय है। ऐसा ... है। उसमें भी आता है।

इस प्रकार एकत्वसप्तति में (श्री पद्मनन्दि-आचार्यदेवकृत पद्मनन्दिपंचविंशतिका नामक शास्त्र में... पद्मनन्दि आचार्य हुए दिगम्बर सन्त वनवासी मुनि। वनवासी शास्त्र पद्मनन्दि पंचविंशति। श्रीमद् उसे वनशास्त्र कहते हैं। वन में लिखा हुआ, इसलिए वनशास्त्र। पद्मनन्दि इत्यादि यह सब वनशास्त्र ही है। समयसार, प्रवचनसार जंगल में—वन में रहकर लिखे हुए हैं। वे तो यह भी वन में लिखे हुए हैं षट्खण्डागम। वहाँ है न अंकलेश्वर के पास? बहुत ताड़, ताड़। हजारों ताड़ हैं अभी। यह वापस कहते थे कि यह ताड़ समुद्र का पानी नजदीक था। अभी आगे चला गया। वहाँ ताड़ बहुत। ताड़ के पत्र लेकर उसमें लिखे हुए हैं यह षट्खण्डागम। अंकलेश्वर। वह किस गाँव में जाते, नहीं? सजोद। सजोद जाते हुए दिखता था। पुरानी प्रतिमा है न दो हजार वर्ष की। सजोद। अंकलेश्वर के पास सजोद है। एक ही दिगम्बर का घर है। भोंयरा में प्रतिमा है पुरानी दो हजार वर्ष की। एक अंकलेश्वर में है और एक सजोद में—दो है। अंकलेश्वर में तो खो गयी है ऐसे... पुरानी प्रतिमा। मुनि वहाँ रहते थे। यह पुष्पदन्त-भूतबलि ने वहाँ षट्खण्डागम रचे। ताड़पत्र बहुत हैं। वह 'वनशास्त्र' ऐसा कहना है। आहाहा! उसके अधिकार के ७९ श्लोक द्वारा, **एकत्वसप्तति नामक अधिकार में ७९वें श्लोक द्वारा) कहा है कि—**

आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्म भिन्नं तयोर्या,
प्रत्यासत्तेर्भवति विकृतिः साऽपि भिन्ना तथैव।
काल-क्षेत्र-प्रमुख-मपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे,
भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालङ्कृतं सर्वमेतत्॥

पद्मनन्दि आचार्य महाराज दिगम्बर सन्त वनवासी आनन्द में झूलनेवाले, अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र वेदन करनेवाले, वे कहते हैं कि **मेरा ऐसा मन्तव्य है...** मेरा ऐसा निर्णय

है कि **आत्मा पृथक् है और उसके पीछे-पीछे चलनेवाला कर्म पृथक् है;...** देखा! कर्म को आत्मा ले जाता है, ऐसा नहीं, तथा कर्म आत्मा को ले जाता है, ऐसा नहीं। आत्मा आत्मा के कारण से ऐसे जाता है परभव में और जड़कर्म उसके कारण से जाता है ऐसे। आत्मा कर्म को लेकर जाये और कर्म आत्मा को ले जाये—यह सब बातें (खोटी हैं)। अकेला स्वभाव बतलाना है... अकेला स्वभाव बतलाना हो तो ऐसे बताया जाता है। यहाँ तो द्रव्य को पर से अत्यन्त भिन्न बतलाना है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्याय से अलंकृत स्वतन्त्र विराजमान है। पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं। आहाहा!

भाषा कैसी की, देखा! **उसके पीछे-पीछे चलनेवाला...** ऐसा नहीं कि आत्मा ने राग (किया था) और बँधा (कर्म), उसके कारण कर्म को साथ में जाना पड़ता है। कर्म तो जड़ परद्रव्य है। परद्रव्य को आत्मा के कारण जाना पड़े, ऐसा नहीं, वह तो स्वयं के कारण से कर्मद्रव्य जाता है ऐसे। और आत्मा को—समकिती को कर्मद्रव्य नरक में ले जाये, ऐसा भी नहीं है। उसकी पर्याय की योग्यता से गति करके वहाँ जाता है। कर्म तो परद्रव्य है। परद्रव्य का तो उसमें अभाव है। अभाव है, उसका भाव चलाकर ले जाये, यह कैसे बने? समझ में आया?

ऐसा कहे, श्रेणिक राजा क्षायिक समकिती (थे)। तीर्थंकरपना बाँधा था, उसे कहीं नरक में जाना है? वह तो कर्म बाँधा, वह ले जाता है—ऐसा नहीं है। वह अपनी योग्यता से उस समय पर्याय गति करती है और कर्म भी कर्म के कारण से साथ में आते हैं। आत्मा ने निमित्तरूप से बाँधा हुआ था, इसलिए साथ आता है, ऐसा नहीं है। उसका रजकण का स्वभाव ही पीछे-पीछे अपने कारण से गति करने का है। आत्मा अन्दर गति करे तो शरीर के कारण करे, ऐसा नहीं और आत्मा है, इसलिए शरीर ऐसे गति करे, ऐसा नहीं। शरीर, शरीर के कारण से गति करे; आत्मा, आत्मा के कारण से गति करे, ऐसा कहते हैं। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्याय से अलंकृत है—उनसे सहित है। पर के पर्याय-गुणसहित नहीं। कर्म के उदय की पर्याय के कारण यहाँ गति करने की पर्याय होती है—ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आत्मा भिन्न और उसके पीछे-पीछे जानेवाला कर्म भिन्न है।

आत्मा और कर्म की अति निकटता से... निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध कहते हैं।

जो विकृति होती है,... कर्म का निमित्त और नैमित्तिक में जो राग-द्वेष होते हैं, वे भी उसी प्रकार से भिन्न हैं। आहाहा! जैसे कर्म भिन्न है, वैसे भगवान आत्मा से वह पुण्य-पाप का विभाव अत्यन्त भिन्न है। समझ में आया? ऐसा जो जीवस्वरूप, उसकी अन्तर्दृष्टि का अनुभव करना, उसका नाम समकित और ज्ञान है। **आत्मा और कर्म की अति निकटता से...** ऐसा। कायम रहनेवाला है न साथ का साथ? शरीर तो हो, न हो किसी समय। **जो विकृति होती है, वह भी उसी प्रकार...** जैसे कर्म से आत्मा भिन्न, वैसे विकार से भी भिन्न ही है। यह विकृति भी भिन्न ही है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

अब काल-क्षेत्रादि आया। द्रव्य भिन्न और भाव भिन्न। **काल-क्षेत्रादि जो हैं वे भी (आत्मा से) पृथक् हैं।** द्रव्य भिन्न और विकारीभाव भिन्न, जगत के काल और क्षेत्र भी अत्यन्त भिन्न हैं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव चारों अत्यन्त भिन्न हैं। **काल-क्षेत्रादि जो हैं वे भी (आत्मा से) पृथक् हैं।** काल नाम का द्रव्य, क्षेत्र—आकाश इत्यादि अत्यन्त भिन्न है। **निज-निज गुणकला से अलंकृत...** प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुणों और कला अर्थात् पर्याय—उससे शोभित—युक्त **यह सब पृथक्-पृथक् हैं।** आहाहा! किसी को कुछ सम्बन्ध है नहीं। यह निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध का अर्थ कि कुछ है नहीं। दुनिया में द्रव्य भिन्न, उसका क्षेत्र भिन्न, उसका काल भिन्न, उसका भाव (भिन्न)। आत्मा के अपने द्रव्य में से द्रव्य का आश्रय करने से पर्याय निर्मल हो (वह) इसकी है। विभाव उसका नहीं। ऐसा आत्मा शुद्ध चैतन्यवस्तु, पर से निराला, उसे पर्याय द्वारा द्रव्य को पकड़ना। परन्तु उसकी पर्यायसहित वह द्रव्य है ऐसा। उस पर्याय द्वारा द्रव्य को अनुभव करना, इसका नाम समकित और धर्म की पहली (सीढ़ी) कहा जाता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण १२, रविवार, दिनांक - २०-६-१९७१
गाथा-४७, श्लोक-७०-७१, प्रवचन-४६

नियमसार, शुद्धभाव अधिकार। नियमसार का अर्थ मोक्ष का मार्ग। शुद्ध वीतरागी पर्याय ध्रुवस्वभाव के आश्रय से प्रगट होती है... वह शुद्धभाव ध्रुव है, सामान्य है, त्रिकाल एकरूप है, उसके आश्रय से मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो, इसलिए उस मोक्षमार्ग का कारण ध्रुवस्वभाव है, उसका यह वर्णन है। ४६-४७ गाथा हो गयी।

और (इन दो गाथाओं की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं)—

असति च सति बन्धे शुद्धजीवस्य रूपाद्,
रहित-मखिलमूर्त-द्रव्यजालं विचित्रम्।
इति जिनपतिवाक्यं वक्ति शुद्धं बुधानां,
भुवनविदितमेतद्द्रव्य जानीहि नित्यम्॥७०॥

आत्मा में बन्ध की अवस्था हो या मुक्त अवस्था हो... यहाँ अवस्था की बात है, हों! आत्मा में विकार की पर्यायरूप बन्ध अवस्था हो या अविकारी अवस्थारूप मोक्ष अवस्था हो...

श्लोकार्थः—समस्त विचित्र मूर्तद्रव्यजाल (अनेकविध मूर्त द्रव्यों का समूह)... जड़कर्मों का यह **शुद्ध जीव के रूप से व्यतिरिक्त है...** भगवान शुद्ध जीवस्वरूप ध्रुव की भले, कहते हैं कि राग की-बन्ध की अवस्था हो (या) रागरहित निर्मल मोक्ष अवस्था हो, परन्तु शुद्ध जीवद्रव्यस्वभाव उससे यह आठ द्रव्यकर्म के रजकण अत्यन्त भिन्न हैं। शुद्धजीव के स्वरूप से व्यतिरिक्त हैं। वे रजकण जड़ मूर्तपदार्थ कर्म, उस आत्मपदार्थ से विकार अवस्था में और अविकार अवस्था में... ऐसा कहते हैं। वापस बन्ध हो (अर्थात्) कर्म का बन्ध हो, ऐसा नहीं। भगवान शुद्ध जीववस्तु को राग की भावबन्धन अवस्था हो या रागरहित निर्मल मोक्ष अवस्था हो, परन्तु जड़कर्म तो दोनों से भिन्न है, अर्थात् शुद्धजीव से भिन्न है। समझ में आया? वह अजीवद्रव्य है, मूर्तद्रव्य है।

यह प्रभु चैतन्य अरूपी सिद्धस्वरूप जीवद्रव्य है। उससे परमाणु जड़ मूर्त विचित्र जाल अत्यन्त भिन्न है। बन्ध अवस्था के समय भी कर्म जड़ भिन्न है, ऐसा कहते हैं और मोक्ष अवस्था के समय भी कर्म जड़ भिन्न हैं।

ऐसा जिनदेव का—ऐसा वीतरागदेव का **शुद्धवचन...** अर्थात् कि जड़कर्म और आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं, दोनों द्रव्य भिन्न हैं—ऐसा **शुद्धवचन बुधपुरुषों को**—चतुर पुरुषों को **कहते हैं,...** ऐसा कहते हैं। चतुर अर्थात् जिसे आत्मा में बन्धकाल में कर्म भिन्न है, ऐसा जानने का भाव है, उसे कहते हैं। समझ में आया? ऐसा वीतराग का शुद्ध वचन है। कर्म के मूर्तद्रव्यजाल से भगवान आत्मा अत्यन्त भिन्न है, भले बन्ध अवस्था राग की हो, परन्तु शुद्ध जीवद्रव्य से कर्मजाल तो भिन्न है। बाद में तो (कहेंगे कि) शुद्ध जीवद्रव्य में बन्ध अवस्था नहीं है, मोक्ष अवस्था भी उसमें नहीं है। आहाहा!

ऐसा, हे भव्य! **इस भुवनविदित को (इस जगतप्रसिद्ध सत्य को),...** जगत में प्रसिद्ध है, यह कहीं साधारण बात नहीं, यह तो प्रसिद्ध ही है। जड़ रजकण जीव की दशा से भिन्न है, वह तो प्रसिद्ध है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जगत में वह तो प्रसिद्ध है। ऐसे सत्य को **हे भव्य! तू सदा जान।** भगवान आत्मा इन रजकण के सम्बन्ध से बन्ध काल में भी भिन्न है, मोक्षदशा में भी भिन्न है—ऐसा वीतरागी का शुद्ध अर्थात् यथार्थ वचन, उसे तू जान। सदा जान, वापस ऐसा। कहो, यह कर्म... कर्म करते हैं न लोग? कर्म है, उसके कारण आत्मा को संसार अवस्था है। उससे यहाँ इनकार करते हैं। संसार अवस्था (हो या) कर्मरहित अवस्था हो, तथापि वह तो कर्मरहित ही है। समझ में आया? आहाहा! कितना पुरुषार्थ है इसमें!

कहते हैं, अबन्ध है और नहीं तथा राग में... राग में एकत्व (रूप) बन्ध अवस्था हो, तथापि कर्म के जाल से तो भगवान भिन्न है। अब उसे भिन्न करना किससे? उससे तो भिन्न ही है, ऐसा कहते हैं। बन्ध अवस्था से भिन्न शुद्ध जीव को करना, वह उसकी दृष्टि, ऐसा कहते हैं। समझ में आया इसमें? जयन्तीभाई! अरे, ऐसी बात... दया पालना, व्रत पालना, ऐसी बात तो इसमें कुछ आती नहीं। वह वस्तु है कहाँ इसमें? कहते हैं कि कर्म के रजकण भी जहाँ बन्धकाल की दशा में भिन्नरूप से जड़ वर्ते, फिर उसे पर का

करने का, वह तो कुछ है नहीं। आहाहा! उस बन्ध अवस्था के समय भी जड़ भिन्न है, तो उसे छोड़ना, यह रहता नहीं, ऐसा कहते हैं। मात्र बन्ध अवस्था छोड़ना, वह किस अपेक्षा से? कि शुद्ध जीवतत्त्व का आश्रय लेकर, बस। समझ में आया?

भगवान पूर्णानन्द अन्तर्मुख चीज़ शुद्ध जीवद्रव्यस्वभाव बस उसका आश्रय ले, उस बन्ध अवस्था से कर्म तो भिन्न थे ही, (अब) अवस्था में राग था, वह उत्पन्न नहीं होता। उस बन्ध का नाश करते हैं द्रव्य के आश्रय से, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? **हे भव्य!** देखो! शब्द पड़ा है न? '**भुवनविदितमेतद्द्रव्य जानीहि**' यह ४५-४६ की टीका की, उसका कलश कहा। अब ४७ (गाथा)।

जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय जीव तारिसा होंति।
जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण॥४७॥

देखो! आठ गुणसहित है शक्ति से। कहते हैं कि शुद्ध गुणपर्यायसहित ही है। संसारी भी शुद्ध गुणपर्यायसहित ही है। है अन्त में। पीछे है। शुद्ध गुणपर्यायसहित सिद्धभगवन्त समान ही है। ४९ में है न, ४९ में। **शुद्ध गुणपर्यायों द्वारा सिद्धभगवन्त -समान है।** संसारी... पाठ ऐसा है। संसारी भवलीन... शब्द 'भवलीन' है। '**जारिसिया सिद्धप्पा भवमल्लिय**' भव में लीन है अर्थात् भवदशा है, ऐसा कहते हैं, तथापि '**सिद्धप्पा जीव तारिसा होंति**' सिद्ध के जैसे वे संसारी हैं। '**जरमरणजम्ममुक्का अट्ठगुणालंकिया जेण**'

है सिद्ध जैसे जीव, त्यों भवलीन संसारी वही।
गुण आठ से जो है अलंकृत जन्म-मरण-जरा नहीं॥४७॥

टीकाकार ने बहुत स्पष्टीकरण किया है। यह किस अपेक्षा से है? पर्याय में है, उसे?—कि नहीं।

टीका:—शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से... समझ में आया? शुद्धद्रव्यार्थिक (नय से) शुद्धद्रव्य-वस्तु उसमें सिद्ध की पर्यायें भी अन्दर है। गुणों और पर्यायसहित पूरा द्रव्य त्रिकाल है। **शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से...** अर्थात् कि द्रव्य शुद्ध ध्रुव अनन्त गुण और ऐसी सिद्ध की पर्यायसहित का जो तत्त्व अन्दर, उसकी दृष्टि से देखने

पर **संसारी जीवों में और मुक्त जीवों में अन्तर न होने का कथन है।** संसारी और मुक्त में कुछ अन्तर नहीं है। संसारी का आत्मा भी अनन्त गुण और ऐसी सिद्ध की पर्यायसहित शक्ति से विराजमान है। कहो, समझ में आया? प्रगट नहीं, परन्तु अन्दर प्रगट है द्रव्य में—ध्रुव में शक्तिरूप से, ऐसा कहते हैं। कितनी ही सिद्ध की पर्याय है... यहाँ गुण कहे हैं। गुण अर्थात् पर्याय। वह सब अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन जो सिद्ध को हैं, ऐसा ही इस जीव में है, प्रत्येक जीव में है। शक्ति से उसके गुण और शक्ति से उसमें पर्याय—इस वाला पूरा तत्त्व शुद्धद्रव्यार्थिकनय से संसारी और मुक्त जीव में कुछ अन्तर नहीं है। आहाहा!

जो कोई अति-आसन्न-भव्यजीव हुए,... अब स्पष्टीकरण करते हैं। जो कोई अति-आसन्न भव्य जीव (अर्थात्) जिन्हें अल्प काल में मुक्ति होने की योग्यता है। अति-आसन्न—बहुत ही नजदीकपना, जिसे मोक्ष की पर्याय का प्रगटपने का नजदीकपना है। ऐसे **अति-आसन्न-भव्यजीव हुए, वे पहले संसारावस्था में...** पूर्व में संसारदशा में—बन्ध अवस्था में **संसार-क्लेश से थके चित्तवाले होते हुए...** वह संसारक्लेश... जो संसार अवस्था है, वह संसारक्लेश है। राग की एकता (रूप) बन्ध अवस्था, वह संसार अवस्था। विकार पुण्य-पाप का विकल्प, उसकी एकता, वह बन्ध अवस्था, वह संसार अवस्था।

संसारावस्था में संसार-क्लेश से थके... उस संसारदशा के दुःख से थके हुए **चित्तवाले होते हुए...** संसारक्लेश से थके हुए... पुण्य-पाप के विकल्प की जाल, वह संसारदशा, उससे जिसे थकान लगी है। थके, अब विश्राम ले चैतन्य का। ऐसे क्लेश से थके हुए चित्तवाले... वह संसार अवस्था। वही संसारक्लेश अवस्था है, ऐसा कहते हैं। संसार अवस्था जो उदयभाव, विकारभाव है, वही क्लेश है। चारों ही गति की अवस्था क्लेश है, दुःख है। उस दुःख से थके ऐसे चित्तवाले होते हुए... अरे! चार गति के—संसार के—क्लेशों से अब थकान लगी है। यह भटकना अब मुझे बन्द करना है।

ऐसा जिसका चित्त हुआ है, वह **सहजवैराग्यपरायण होने से...** स्वाभाविक... यह बन्ध अवस्था जो क्लेश है, उससे सहजवैराग्यपरायण होने से... चार गति के क्लेशों

से थके और उस संसार का क्लेश—पुण्य-पाप का रागादि का भाव उससे स्वाभाविक वैराग्यपरायण होने से... स्वाभाविक वैराग्यपरायण... वह स्वभाव-सन्मुख है यह... यह कहेंगे। **द्रव्य-भाव लिंग...** लिया। मुनि की उत्कृष्ट बात करनी है न? स्वाभाविक वैराग्यपरायण... संसार के क्लेश से सहज वैराग्य में तत्पर हुए, उससे (—क्लेश से) हटे। संसार जो उदयभाव, विकारभाव, क्लेशभाव, दुःखभाव से थके चित्त इससे, वह राग संसारभाव, बन्धभाव, उससे स्वाभाविक वैराग्यपरायण हुए, स्वाभाविक वैराग्य में तत्पर हुए। 'पर से हटकर' इसका अर्थ हुआ कि पर से हटकर सहज वैराग्यस्वभाव की ओर आये। यह तो अध्यात्म बात है। आहाहा! पुण्य-पाप के विकल्प, वह संसारदशा और संसारक्लेश है, उससे थके हुए चित्तवाले होते हुए... थके। उसमें आता है न? 'चार गति दुःख से डरि...' योगीन्द्रदेव... योगीन्द्रदेव के दोहा में आता है। 'चार गति दुःख से डरि...' चार गति दुःख से अर्थात् वह क्लेश है, उससे डरकर, ऐसा। योगीन्द्रदेव का दोहा है। योगसार।

द्रव्य-भावलिंग को धारण करके... लो, मुनि होता है, कहते हैं। राग से सहज वैराग्यरूप से परिणमित हुए हैं, ऐसे मुनि, द्रव्य से नग्नपना अथवा २८ मूलगुण विकल्प धारण करते हैं, भाव से अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का उछाल अन्दर में हो (ऐसे) भावलिंग को धारण करते हैं। देखो! यह मुनि होने की पद्धति। मुक्ति के मार्ग में जिसे जाना है और संसार के क्लेश से थके चित्तवाले हैं... उन पुण्य-पाप के विकल्प से वैराग्य हो गया है अब, ऐसा कहते हैं। उदयभाव से हट गये हैं। हटे हैं वे अब, **द्रव्य-भावलिंग को धारण करके...** द्रव्य अर्थात् नग्नपना और २८ मूलगुण, पंच महाव्रत आदि के विकल्प, वह द्रव्य(लिंग) है, उस द्रव्य(लिंग) को व्यवहार से 'धारण करते हैं' ऐसा कहा जाता है।

और भावलिंग, अन्तर में आनन्दस्वरूप भगवान का सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र जो आनन्द की दशा, उसे भावलिंग कहते हैं। अनाकुल आनन्द की दशा प्रगट की, वह भावलिंग मुनि का धारण करते हैं। आहाहा! यह तो वस्त्र बदले और वस्त्र छोड़े, लो, हो गये साधु। यह तो वस्त्र बदले हो और वस्त्र दूसरे रखे हों तो भी वह मिथ्यादृष्टि है। वस्त्र का धागा रखकर मुनिपना माने, मनावे, मानते को भला जाने, वह निगोदगामी

मिथ्यादृष्टि है। यहाँ तो द्रव्य और भाव—दो लिंग धारण किये, ऐसा कहते हैं। निश्चय और व्यवहार दो। निश्चय में तो भगवान आत्मा के अनुभवसहित विशेष स्वसंवेदन अतीन्द्रिय आनन्ददशा को धारण किया है, उसका नाम भावलिंग—साधु का भावचिह्न कहा जाता है।

शुद्ध उपयोग... शुद्ध उपयोग आया है न, प्रवचनसार में आया है। गाथा ५। परम शुद्ध उपयोग को ग्रहण करके... परम शुद्ध उपयोग... यह २८ मूलगुण वह विकल्प है—राग है, होते हैं, वह व्यवहार से होते हैं भले उसमें, परन्तु वापस यह (निश्चय) है, उसे ऐसा व्यवहार होता है, ऐसा। शुद्ध उपयोग... व्रत के परिणाम वे शुभ हैं। समकितसहित जीव की बात है, हों! और उन व्रत के परिणाम से रहित शुद्ध आनन्दघन भगवान में लपेटकर—एकाकार होकर जो शुद्ध उपयोग प्रगट हुआ, उसका नाम भावलिंग—साधु का भावचिह्न—सन्तों का वह भावचिह्न है। आहाहा!

और उसका द्रव्यचिह्न, पंच महाव्रत और २८ मूलगुण का विकल्प, वह उसका द्रव्यचिह्न है। नग्नपना, वह असद्भूत (उपचार) व्यवहारनय का द्रव्यचिह्न है, राग का चिह्न है, वह असद्भूत अनुपचार (व्यवहारनय से) चिह्न है। राग २८ मूलगुण का। भावलिंग है, वह सद्भूतव्यवहारनय का चिह्न है। त्रिकाली भगवान ध्रुवस्वरूप वह निश्चय का विषय है और उसके आश्रय से जो सम्यग्दर्शन अनुभव के आनन्द की दशा सम्यग्ज्ञान-चारित्र हुई—प्रगट हुई, वह सद्भूतव्यवहार है। २८ मूलगुण, वह तो असद्भूत (अनुपचार) व्यवहार है और नग्नपना तो अत्यन्त असद्भूत उपचारिक एकदम... आहाहा! ऐसा मुनिपना होता है, ऐसा बताते हैं और वह मुनिपना अंगीकार ऐसा करे, उसे मुक्ति होती है, ऐसा बताना है। आहाहा!

द्रव्य-भावलिंग को धारण करके... देखो! द्रव्य को धारण करके, (ऐसा) व्यवहार से शब्द आवे न? सद्भूतव्यवहार को धारण करता है, वह पर्याय है, परन्तु राग है, वह कहीं वास्तव में इसकी पर्याय नहीं, तथापि असद्भूतव्यवहारनय से, उस राग को—२८ मूलगुणादि विकल्प को आनन्द की दशा की भूमिका में आते हैं, उन्हें 'धारण करता है' ऐसा कहा जाता है। कहो, पण्डितजी! लम्बा-लम्बा ऐसा है। मार्ग ऐसा है,

इसकी खबर नहीं होती, इसके लिये तो कहते हैं। और वापस बात क्या करते हैं? **द्रव्य-भावलिंग को धारण करके परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त किए हुए...** परमगुरु के अभ्यास द्वारा... देखो! परमगुरु (अर्थात्) मुनि—अपने (गुरु) अथवा सर्वज्ञदेव से परम्परा से आये हुए (दूसरे मुनि) या सर्वज्ञदेव उनके प्रसाद से प्राप्त किये हुए... निमित्त है न?

परमागम के अभ्यास द्वारा सिद्धक्षेत्र को प्राप्त करके... वापस ऐसी भाषा है। परम आगम का अभ्यास अर्थात् परम आगम में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ऐसा कहा है, ऐसा उसका अभ्यास करके, ऐसा। **परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त किए हुए...** आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है न? 'हमारे गुरु ने हमको अनुग्रह—मेहरबानी करके... प्रसाद द्वारा शुद्ध आत्मा का उपदेश हमको दिया।' अन्दर परमात्मा स्वयं निर्मलानन्द शुद्ध का आश्रय करके प्रगट हुई निर्मलदशा, आनन्द का वीतरागी वेदन, ऐसा भावलिंग उसे, कहते हैं, परमागम के अभ्यास द्वारा... उस परमागम में यह कहा था। परमागम के भाव द्वारा... 'अभ्यास' तो शब्द है अभी, परन्तु परमागम में कहा हुआ जो यह भाव, उस द्वारा सिद्धक्षेत्र को पाकर—मुक्तिपद को प्राप्त हुए, लो। **सिद्धक्षेत्र को प्राप्त कर...** वापस भाषा ऐसी है, देखा? सिद्धक्षेत्र है वहाँ? भावसिद्धपना पाये हैं, इसलिए द्रव्यक्षेत्र में गये, ऐसा। भावसिद्धपना जहाँ यहाँ प्रगट हुआ तो द्रव्यक्षेत्र से जहाँ है, वहाँ जाते हैं, ऐसा यह सिद्ध किया।

अव्याबाध (बाधारहित) सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान... यह सिद्धपने की दशा हुई, ऐसा कहते हैं। सकल-विमल (सर्वथा निर्मल) और विघ्नरहित केवलज्ञान... ऐसे भावलिंग और द्रव्यलिंग के अभ्यास से... इकट्ठा लेते हैं न? व्यवहार-निश्चयमोक्षमार्ग आवे न व्यवहार? **केवलज्ञान को...** प्राप्त हुए, **केवलदर्शन को...** प्राप्त हुए, **केवलसुख**—आनन्द **और केवलवीर्ययुक्त सिद्धात्मा हो गये,...** लो। संसारक्लेश से थके हुए जीव... आहाहा! उदयभाव से थके हैं, ऐसा कहते हैं। भगवान परमानन्द परमस्वभाव पारिणामिकभाव, उसका आश्रय लेनेवाले, उदयभाव से थके, वैरागी हो गये, ऐसा कहते हैं। उसे जो अन्तर में परमागम का अभ्यास, इसका अर्थ कि परमागम में कहा हुआ जो भावलिंग, उसके अन्तर के अनुभव द्वारा अनन्त केवलज्ञान को प्राप्त होते हैं।

कि जो सिद्धात्मा कार्यसमसाररूप हैं,... सिद्ध भगवान हुए, वे कैसे हैं ? कार्यशुद्ध हैं। उनकी पर्याय पूर्ण प्रगट हो गयी है। पर्याय अर्थात् कार्य। सिद्ध की अवस्था कार्य है, वह उन्हें पूर्ण हो गया है, इसलिए उन्हें कार्यपरमात्मा कहते हैं। सिद्ध को कार्यसमयसार कहते हैं। लो, ऐसे **सिद्धात्मा कार्यसमसाररूप हैं,...** (अर्थात्) कार्य शुद्ध है, ऐसा। सिद्धभगवान पर्याय अपेक्षा से—कार्य अपेक्षा से अत्यन्त शुद्ध है। द्रव्य-गुण से तो शुद्ध है, परन्तु भगवान सिद्धात्मा पर्याय अपेक्षा से—कार्य अपेक्षा से—वर्तमान दशा अपेक्षा से भी शुद्ध हुए। वह भावलिंग और द्रव्यलिंग धारण करके.... होता है न द्रव्यलिंग उन्हें ? होता है। मुनि होते हैं, उन्हें २८ मूलगुण के विकल्प व्यवहार से होते हैं, निश्चय में तो आनन्द की दशा का परिणमन, वह उनका निश्चय—भावलिंग है और उस भावलिंग में २८ मूलगुण का ही विकल्प होता है। उन्हें वस्त्र लेने का विकल्प, पात्र रखने का विकल्प, वह नहीं होता, इतना सिद्ध करने के लिये द्रव्यलिंग को धारण करते हैं, ऐसा साबित किया है। समझ में आया ?

कोई कहे कि मुनि हुआ, भाव अन्दर प्रगट हुआ है, परन्तु उसे अभी वस्त्र-पात्र रखने का भाव भी है। तो (कहते हैं कि) वह मूढ़ है, उसे कुछ भान नहीं है। नहीं उसे भावलिंग के स्वरूप की खबर, जिसका आश्रय करना है, वह चीज़ क्या है, उसकी खबर नहीं, उसकी भूमिका में राग की मन्दता की हद कितनी होती है, उसकी उसे खबर नहीं और राग की मन्दता बहुत मन्द हो, तब उसका संयोग वस्त्रादि का नहीं होता, उसकी भी उसे खबर नहीं। कि जो अज्ञानी वस्त्र-पात्र रखने का भाव करके मुनिपना माने, उसे नौ तत्त्व की खबर, श्रद्धा नहीं। समझ में आया ? इतना सिद्ध करने के लिये यहाँ भाव और द्रव्यलिंग को धारण करके कहा गया है।

मुनि जो भगवान के कहे हुए सच्चे हों, उन्हें तो अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द का धाम भगवान का आश्रय करके अतीन्द्रिय आनन्द का उत्कृष्ट वेदन होता है, उसकी भूमिका प्रमाण। चौथे, पाँचवें की अपेक्षा अधिक, ऐसा। और उसकी भूमिका में विकल्प हों तो इतने ऐसे हों। २८ मूलगुण, इसके अतिरिक्त दूसरा विकल्प उन्हें नहीं होता। इतनी बात सिद्ध करने के लिये 'भाव और द्रव्य (लिंग) को धारण करके' (कहा है), और परमगुरु के प्रसाद से अर्थात् परमगुरु ने यह कहा हुआ... परमागम का

अभ्यास अर्थात् आगम में भी यह कहा है। गुरु ने यह कहा, आगम में भी यही कहा है। आहाहा! समझ में आया? परमागम में यह कहा, गुरु ने यह कहा और ऐसा उसे प्रगट हुआ। अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान का आश्रय लेकर और अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव की उग्र दशा प्रगट हुई, उसे २८ मूलगुण के विकल्प की व्यवहार जाति उत्पन्न होती है, बाह्य में नग्नदशा होती है, उसे यहाँ जैनदर्शन में भाव और द्रव्यलिंग को धारनेवाला मुनि कहा जाता है। देखो! यह पद्मप्रभमलधारिदेव टीका करते हैं। सिद्ध कैसे हुए? कि ऐसे, ऐसा।

कि **जो सिद्धात्मा कार्यसमसाररूप हैं,...** अहो! जिनका कार्य पूर्ण हो गया है। जिनकी दशा—पर्यायरूपी कार्य अत्यन्त शुद्ध पूर्ण हो गयी है, वे **कार्यशुद्ध हैं। जैसे वे सिद्धात्मा हैं...** अब कहते हैं, वे कार्यशुद्ध भगवान परमात्मा सिद्ध... **जैसे वे सिद्धात्मा हैं, वैसे ही...** पहला शुद्ध द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से कहा था, उसे (कहा कि) 'शुद्धनिश्चयनय से।' **भववाले (संसारी) जीव हैं... वैसे ही शुद्धनिश्चयनय से भववाले (संसारी) जीव हैं।** ऐसा। भले भावबन्धपर्याय है, तथापि शुद्धनिश्चय से तो वैसे ही हैं—सिद्धात्मा जैसे हैं। शुद्धनिश्चयनय के कारण से... उसमें शुद्धनिश्चय से कहा है न? 'बल से' कहेंगे आगे। यहाँ शुद्धनिश्चय से, ऐसा। आहाहा!

पर्यायदृष्टि उड़ गयी है और द्रव्यदृष्टि हुई है, इसलिए द्रव्यदृष्टि मात्र सिद्धभगवान जैसा ही आत्मा है।—ऐसा सम्यग्दृष्टि को भासित होता है, ऐसा कहते हैं। सम्यग्दृष्टि को, सिद्ध जैसा ही आत्मा द्रव्य से हूँ, ऐसा भासित होता है। कहो, समझ में आया? और ऐसे सम्यग्दर्शन के भासवाला स्वरूप की स्थिरता अंगीकार करता है आनन्द की, उसके द्वारा उसे मुक्तिपने की प्राप्ति होती है। वह कार्यसिद्ध जीव है। जैसे कार्य (जीव) शुद्ध है, वैसा कारणजीव शुद्ध है। वस्तु जो द्रव्य है, वह कारणशुद्ध है।

जिस कारण वे संसारी जीव सिद्धात्मा समान हैं,... जिस कारण से संसारी सिद्धात्मा जैसे हैं **उस कारण वे संसारी जीव जन्म-जरा-मरण से रहित...** है... वस्तु की दृष्टि से तो उसे जन्म-जरा-मरण है ही नहीं। ऐसा सम्यग्दर्शन में—वस्तु की दृष्टि होने पर—ऐसा भासित हुआ है पहले। **जन्म-जरा-मरण से रहित...** जन्मना नहीं, वृद्धावस्था

नहीं, मृत्यु नहीं। फिर किसकी मृत्यु? **और सम्यक्त्वादि आठ गुणों की पुष्टि से तुष्ट हैं...** अन्तर की शक्ति के बल में समकित आदि आठ गुण की जो पर्यायें हैं, उनकी पुष्टि—समृद्धि से तुष्ट है। तुष्ट अर्थात् आनन्दमय है, ऐसा। ऐसे आठ गुण की पुष्टि—समृद्धि से, वे सिद्ध जैसे हैं, वैसा आत्मा इन आठ गुणों की सम्पदा से आनन्दमय है। तुष्ट कहा है न? तुष्ट। पुष्टि—समृद्धि। आहाहा!

बात यह है कि शुद्धभाव पर दृष्टि कराने की बात है। त्रिकाली ज्ञायक ध्रुवभाव का अनुभव करने से जो दृष्टि द्रव्य के ऊपर पड़ी, वह द्रव्य जन्म-जरा-मरण रहित है और समकित आदि गुणों से वह आनन्दमय है। भले भवपर्याय होने पर भी, क्लेशपर्याय होने पर भी, स्वभाव में वह आठ गुण की पुष्टि से—समृद्धि से आनन्दमय है। वह क्लेश-ब्लेश उसे नहीं। गजब ऐसा यह धर्म... श्रीमद् ने कहा है एक जगह (कि) यह छह काय की दया पालना, छह काय का यह करना—यह बहुत तुमने कहा हों! और बहुत सुना, परन्तु इस सम्यक् दृष्टि की... क्या भाषा कही? व्यवस्थित कर दो। इस सम्यक् दृष्टि की व्यवस्था कर दो। दूसरी सभी बहुत बातें सुनीं। यह दया पालना, यह व्रत पालना, यह अपवास करना, सूर्यास्त पूर्व भोजन करना। कहो, शान्तिभाई! यह बात आती है श्रीमद् में। ऐसा कि यह बातें तो तुमने बहुत की, अब यह समकित की व्यवस्था कर दो। समकित कैसे प्राप्त हो और समकित का आश्रय क्या, समकित क्या चीज़ है—उसकी ही यह बात कर। वह बात तो बहुत सुनी। सूर्यास्त पूर्व भोजन करना, व्रत करना,... कन्दमूल नहीं खाना। उसमें कहीं समकित की बात आयी नहीं, ऐसा कहते हैं। यह समकित की व्यवस्था करना। अब उसे खबर न हो तो समकित की रचना कहाँ से हो?

पूरे दिन एकेन्द्रिय को मारना नहीं, यह फलाना खाना नहीं, तला हुआ खाना नहीं, फलाना करना नहीं। ऐ जयन्तीभाई! परन्तु खाने की क्रिया जड़ की है, आत्मा की है ही नहीं। आत्मा करे तो वहाँ मात्र राग करे, बस। राग को अनुभव करे और राग को खाये। आहाहा! उस राग से टलना कैसे और राग जिसमें नहीं, वह चीज़ क्या—उसे समकित कैसे हो—बात करो आज अब। आहाहा! ऐसा उपदेशछाया में लिखा है। २९वें वर्ष में है। उस समय सब घर के कहनेवाले थे न ऐसे। साधु लिख जाओ। प्रतिमा

लो, व्रत लो, पुस्तक का आदर करो, हमको गुरु मानो, जाओ। पुस्तक में लिखो कि यह मेरे गुरु। यह तुम्हारा समकित और यह व्रत लिये, वह चारित्र—दोनों बिना एक के शून्य है। जयन्तीभाई! ऐसा था या नहीं? अभी ऐसा है। आहाहा!

कहते हैं, अरे! तेरा स्वभाव तो देख। पहले सब छोड़ दे बात और पहली बात यह ले। तुझे सिद्ध होना है, वह मोक्ष का मार्ग कहाँ से आयेगा? समझ में आया? कहीं अद्धर से आयेगा? शुद्धनिश्चय से तो भगवान सब गुण और पर्याय से भरपूर पूरा तत्त्व है, ऐसा कहते हैं। जिसने अन्तरवस्तु को श्रद्धा द्वारा—सम्यग्दर्शन द्वारा पूर्ण कब्जे में कर लिया, उसे तो अनन्त सिद्धपर्याय अन्दर पड़ी है, उसे कब्जे में कर लिया है, वह तो अब प्रगट होकर ही रहेगी। समझ में आया? वस्तु में गुण-पर्यायसहित गुण... ऐसा लिखा है न? पर्यायसहित है। पर्याय अर्थात् अन्दर में शक्ति है न?

उसमें आया है कल प्रश्न कुछ। सन्मति सन्देश। यह केवलज्ञान की पर्याय पड़ी है या नहीं अन्दर? लो, प्रश्न उठे। अब चलता है न? सन्मति सन्देश, नहीं? उसमें पर्याय पड़ी है? कि, हाँ। शक्तिरूप सब है। ये प्रश्न चले हैं। चले... चले... अरे! ऐसा काल! आहाहा! लड़के तैयार हुए हैं। वह बालविभाग है न? उसमें अथवा दूसरे में कहीं है। शंका-समाधान में है। ऐसा कि आत्मा में यह सब सिद्ध की पर्याय पड़ी है अभी? कि, हाँ। वे सभी पर्यायें अन्दर पड़ी हैं। जितनी सिद्ध होने की पर्याय होगी, केवलज्ञान होनेवाला है, सिद्ध(दशा) होनेवाली है, वह सिद्ध होने की पर्यायें समय... समय...समय... नयी-नयी होगी।—वे सभी पर्यायें आत्मा में अभी पड़ी हैं। जयन्तीभाई! ऐसा पूरा द्रव्य जो वस्तु है, उसे जो प्रतीति-ज्ञान करके करे—भान करके प्रतीति करे, उसे सम्यग्दर्शन होता है और वह सम्यग्दृष्टि आगे बढ़कर चारित्रवन्त होता है और वह आगे बढ़कर मुक्ति को पाता है। कहो, समझ में आया?

संसारी जीव... **जिस कारण वे संसारी जीव सिद्धात्मा समान हैं, उस कारण वे संसारी जीव जन्म-जरा-मरण से रहित और सम्यक्त्वादि आठ गुणों की पुष्टि...** आठ गुणों की पुष्टि... मानो समृद्धि हो। समृद्धि ही है अन्दर में। आनन्दमय है वह आत्मा, वापस ऐसा कहते हैं। सिद्ध की आठ पर्यायें प्रगट हुई हैं, वे आनन्दमय हैं। इसी प्रकार

भगवान आत्मा में भी सभी पर्यायें पड़ी हैं, और आनन्दमय है। इस शुद्धभाव का आश्रय लेने के लिये यह बात है। अधिकार शुद्धभाव है न? शुद्धभाव अर्थात् ध्रुव अविचल स्थितिवाला तत्त्व, जिसमें जरा भी चलना नहीं, बदलना नहीं, परिणमना नहीं। आहाहा! वीतराग का मार्ग अलौकिक अचिन्त्य है, जगत में कहीं है नहीं। वाड़ा में पड़े सम्प्रदायवालों को खबर नहीं कि ऐसे वीतराग क्या कहते हैं और कैसा मार्ग है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, भगवान आत्मा... यहाँ शुद्धभावरूप बतलाना है न? वह शुद्धभाव सिद्ध के जो गुण प्रगट हुए हैं, ऐसा ही यह आत्मा शक्तिरूप से है, उसमें सभी पर्यायें उसके सामर्थ्यरूप से पड़ी हैं।

(अब ४७वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं)—

प्रागेव शुद्धता येषां सुधियां कुधियामपि।
नयेन केनचित्तेषां भिदां कामपि वेद्म्यहम्॥७१॥

श्लोकार्थः—जिन सुबुद्धिओं को तथा कुबुद्धिओं को... अर्थात् ज्ञान की दशावालों को और अज्ञानदशावालों को **पहले से ही शुद्धता है,...** पहले से ही शुद्धता अनादि की है। पहले संसार अवस्था और मोक्ष अवस्था कहा था। इन्होंने वापस निकाला, 'सुबुद्धि और कुबुद्धि' ऐसा निकाला। सम्यग्ज्ञानी दशा प्रगट हुई या अज्ञानदशा हो, वस्तु तो त्रिकाल शुद्ध है। **सुबुद्धिओं को तथा कुबुद्धिओं को पहले से ही...** ऐसा। सिद्ध हुआ इसलिए शुद्ध हुआ अब, ऐसा नहीं। शुद्ध ही है त्रिकाल। आहाहा! विद्यमान को अविद्यमान मानना (अर्थात्) अशुद्धता विद्यमान दिखाई दे, वह अशुद्धता नहीं और पर्याय में अविद्यमान द्रव्य है, उसे विद्यमान मानना (कि) यह ही है ऐसा और पर्याय अशुद्धता की है ही नहीं। समझ में आया? पर्याय अशुद्ध है, वह है ही नहीं और वस्तु पर्याय में आयी नहीं, तथापि वह है पूर्ण शुद्ध व्यक्त प्रगट ही है आत्मा। ऐसी दृष्टि करना, वह अनन्त पुरुषार्थ है। समझ में आया? उसमें अनन्त वीर्य है। वह कहीं साधारण बात नहीं है। बहिर्मुख की अवस्था होने पर भी वह नहीं और अन्तर्मुख की अवस्था (कि) वस्तु प्रगट नहीं, तथापि अन्तर्मुख की दृष्टि करने से (प्रतीति है कि) वह (शुद्ध) ही है,

यह ही है, यह (अशुद्धता) नहीं—ये अनन्त पुरुषार्थ है। यह बातें नहीं कहीं। समझ में आया? क्या कहते हैं?

अहो! बन्ध अवस्था हो या मोक्ष अवस्था हो, सुबुद्धि हो या कुबुद्धि अज्ञानी, प्रथम से ही भगवान (आत्मा) तो शुद्ध ही है त्रिकाल। वह पर्याय में अशुद्धता होने पर भी स्वयं वस्तु शुद्ध है। ऐसे त्रिकाली शुद्ध का स्वीकार और अशुद्धता का अस्वीकार, इसका नाम अन्तर सम्यग्दर्शन है। कहो, समझ में आया? गजब ऐसी बात! कहते हैं, **उनमें कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ?** व्यवहारनय अर्थात् मानो कुछ नहीं, ऐसा। भाई! किस नय से जानूँ अर्थात् व्यवहारनय अर्थात् कुछ नहीं, व्यवहारनय से भेद, वह कुछ नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहते हैं, शैली तो देखो एक! जो सुबुद्धि—सम्यग्ज्ञान में भान हुआ कि आत्मा शुद्ध है ऐसा; और अज्ञानी को भान नहीं ऐसे अज्ञानी को भी पहले से आत्मा शुद्ध है। अनादि-अनन्त शुद्ध की खान ही अकेली है। अब, **वास्तव में उनमें कुछ भी भेद...** यह बन्ध अवस्था है और यह मोक्ष अवस्था है, वह कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ? ऐसा कहकर व्यवहारनय को उड़ाया है। फिर कहेंगे कि वह व्यवहारनय वहाँ है। समझ में आया?

कहेंगे न, (गाथा) ४९ में कहेंगे। व्यवहारनय के कथन से विद्यमान है सब। ४९ में है। विभावपर्याय व्यवहारनय के कथन से विद्यमान है। वह व्यवहारनय अर्थात् क्या? ऐसा। कुछ नहीं, ऐसा करके (निकाल दिया)। त्रिकाल कारणशुद्ध है और कार्यशुद्ध है। अशुद्धता-फशुद्धता कुछ है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। दो भेद करना कि यह अशुद्ध और यह शुद्ध, यह भेद किस नय से कहूँ? कहते हैं। ऐसा करके व्यवहारनय की मश्करी की है, आलोचना की है। बात भी सच्ची है। अब तू भी कौन? ऐसे भेद पाड़कर जाननेवाला तू कौन? और वह नय क्या? वह नय कैसा?

उनमें कुछ भी भेद मैं किस नय से जानूँ ? ऐसा कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि व्यवहारनय से जानना, परन्तु... ओहोहो! सम्यग्ज्ञानी हो, गणधर चार ज्ञानवाले हों या अज्ञानी पूरे हो अभव्य मिथ्यादृष्टि या केवलज्ञानी हो—इन दो पर्यायों के भेद भले हों, परन्तु वस्तु की दृष्टि से वह भेद किस प्रकार कहूँ? कहते हैं। आहाहा! **उनमें कुछ भी**

भेद मैं किस नय से जानूँ ? भाषा ऐसी है न? '**नयेन केनचित्तेषां भिदां कामपि वेद्म्यहम्**' है या नहीं अन्दर? देखो! '**नयेन केनचित्तेषां**' किस नय से कहूँ इसे? मानो व्यवहारनय (नहीं)। अभूतार्थ है न वह? व्यवहारनय असत्यार्थ है, इसलिए ऐसा कहा।

मुमुक्षु : कुछ गिना ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : तेरी गिनती ही नहीं, तू झूठा है। व्यवहारनय झूठा है। आहाहा! देखो! यह दिगम्बर सन्तों का मजा। मस्ती प्रस्फुटित हुई है। आहाहा! **वास्तव में उनमें कुछ भी भेद अर्थात् अन्तर नहीं है।** लो। अब, ४८ (गाथा) कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

ज्येष्ठ कृष्ण १३, सोमवार, दिनांक - २१-६-१९७१
गाथा-४८-४९, श्लोक-७२, प्रवचन-४७

असरीरा अविणासा अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा तह जीवा संसिदी णेया॥४८॥

विन देह अविनाशी, अतीन्द्रिय, शुद्ध निर्मल सिद्ध ज्यों।
लोकाग्र में जैसे विराजे, जीव है भवलीन ज्यों॥४८॥

यह क्या कहना चाहते हैं? कि आत्मा जो है ध्रुव शुद्ध... संसारी प्राणी और सिद्ध... वह संसारी प्राणी भी अनादि से वस्तु से सिद्ध जैसे ही हैं। जिसे सुखी होना है, उसे तो यह ध्रुवस्वरूप शुद्ध सिद्ध समान है, उसका आश्रय लेना चाहिए। इसलिए कहते हैं कि जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसे ही यह सब संसारी आत्मायें हैं। संसार की दशा को गौण करके जो वस्तु है, वह तो शुद्ध चैतन्यधातु है, जिसने शुद्धपना धार रखा है। ऐसी चीज़ का आश्रय करने के लिये सिद्धसमान उसे कहा है और वे हैं ऐसे, ऐसा। यह कहते हैं, देखो!

टीका :— और यह, कार्यसमयसार में... अर्थात् सिद्ध परमात्मा... 'णमो लोए सव्व सिद्धाणं।' वे सिद्ध परमात्मा **और कारणसमयसार में...** अर्थात् वस्तु आत्मा का द्रव्यस्वरूप— **दोनों में अन्तर न होने का कथन है।** दोनों में अन्तर नहीं है। **जिस प्रकार लोकाग्र में...** लोक के अग्र में **सिद्धपरमेष्ठी भगवन्त...** सिद्ध भगवान... 'णमो लोए सव्व सिद्धाणं' आता है न? 'णमो सिद्धाणं' आता है, परन्तु उसमें 'णमो लोए सव्व सिद्धाणं' आ गया। 'णमो लोए सव्व साहूणं' है न अन्तिम, वह सबको लागू पड़ता है। 'णमो लोए सव्व सिद्धाणं।' यहाँ तो (कहते हैं कि) लोकाग्र में स्थित हैं सिद्ध।

लोक के अग्र में... परमात्मा—अरिहन्त हुए, फिर सिद्ध हुए, वे भगवन्त **निश्चय से पाँच शरीर के प्रपंच के अभाव के कारण...** सिद्ध भगवान को शरीर नहीं, पाँचों शरीर को प्रपंच (नहीं)। अशरीरी है, ऐसा यह आत्मा भी 'अशरीरी है' ऐसा कहना है। जैसे सिद्ध को शरीर नहीं, वैसे वस्तुस्वरूप आत्मा नित्य अनादि-अनन्त ऐसा ध्रुवतत्त्व, उसे भी शरीर नहीं। ऐसा अशरीरीरी आत्मा का आश्रय अथवा उसे देखना—अवलोकना

है। अपने को छोड़कर दूसरे को बहुत देखा। अपने को छोड़कर दूसरे को देखा, परन्तु देखनेवाले को देखा नहीं। देखनेवाला कौन है यह? यह सब देखा कि यह शरीर और यह... यह... धूलधाणी सब। अरे! पंच परमेष्ठी भी देखा, लो न, इस ज्ञान में। परन्तु देखनेवाला कौन है? और देखनेवाला सिद्ध भगवान जैसा है, ऐसा कहते हैं। अर्थात् उसे उपादेयरूप से आदरणीय हो तो वह शुद्ध ध्रुववस्तु है। क्योंकि वह सिद्ध भगवान जैसा है और उसे उपादेयरूप से आदर करने से पर्याय में सिद्धपना प्रगट होता है। समझ में आया?

अविनाशी है... भगवान सिद्ध। अविनाशी की व्याख्या? एक भव ग्रहण करो और एक भव छोड़ो—ऐसा उन्हें नहीं है। संसार में मनुष्यदेह छूटे और देवदेह मिले, देवदेह छूटे और फिर मनुष्य (देह) मिले। ऐसा जो चार गति में भव का ग्रहण और त्याग, वह सिद्ध को नहीं है। इसी प्रकार इस आत्मा को नहीं है, ऐसा कहते हैं। वस्तु जो आत्मा ध्रुव चैतन्यमूर्ति, उसे भव का अकेला ग्रहण और अकेला त्याग, ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं। ऐसा आत्मा, वह इसे आश्रय करनेयोग्य है, धर्म करनेवाले को वह धर्मी आधार है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जिसे जन्म-मरण वस्तु में है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। भव का ग्रहण करना और भव का छोड़ना, वह सिद्ध को नहीं है, इसी प्रकार आत्मा में भी नहीं है। ऐसी चीज़ वह स्वयं है पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञानस्वभावी वस्तु वह यह आत्मा। उसे भी भव का ग्रहण और त्याग है नहीं। इस अपेक्षा से आत्मा अविनाशी है। आहाहा! यह तो एक भव आवे, वह जहाँ जाये वहाँ दूसरा भव तैयार। वह जाये वहाँ तीसरा तैयार। आहाहा! ग्रहण करना और छोड़ना, ग्रहण करना और छोड़ना—ऐसी जो संसारदशा, वह सिद्ध को नहीं, इसी प्रकार इस आत्मा में भी नहीं। ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा में गति का ग्रहण और गति का छोड़ना वस्तु में नहीं। ऐसी वस्तु पर दृष्टि और आदर करनेयोग्य है। आहाहा!

और जो **अतीन्द्रिय है।** सिद्ध भगवान अतीन्द्रिय है, वैसा यह आत्मा भी अतीन्द्रिय है। ऐसा कहते हैं। **परमतत्त्व में स्थित...** सिद्ध भगवान परमतत्त्व जो शुद्ध द्रव्यस्वभाव ध्रुव आनन्दस्वभाव में स्थित अन्दर... **सहजदर्शनादिरूप कारणशुद्धस्वरूप को...** अन्तर में स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक ज्ञान... स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक आनन्द आदि

और स्वाभाविक ज्ञान अन्दर, ऐसे **कारणशुद्धस्वरूप को युगपत् जानने में समर्थ है।** अणीन्द्रिय लेना है न? इन्द्रिय में तो एक इन्द्रिय से जाने और दूसरी से जाने तो पहले का छूट जाये। उन सिद्ध को ऐसा नहीं। इसी प्रकार आत्मा को नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। एक इन्द्रिय से ग्रहण और दूसरी से छूट जाये, दूसरी से ग्रहे और पहली इन्द्रिय का ज्ञान छूट जाये—ऐसा इन्द्रियज्ञान सिद्ध को नहीं, तो इस आत्मा को भी नहीं, अन्दर वस्तुस्वरूप जो ध्रुव, (इसलिए) वह अणीन्द्रिय है। आहाहा! अभी, हों!

ऐसी सहज **युगपत् जानने में समर्थ...** अन्तर का जो पूर्ण स्वरूप उसे एक समय में, इन्द्रियों में एक समय में जानने की सामर्थ्य नहीं। इन्द्रियाँ तो एक समय में एक को जाने। यह तो पूर्ण भगवान आत्मा सिद्ध प्रभु कारणस्वरूप को—अन्तर के पूर्ण दर्शन-आनन्द आदि को—एक समय में युगपद जानने में समर्थ **सहजज्ञानज्योति द्वारा...** स्वाभाविक ज्ञानज्योति द्वारा... सिद्ध भगवान चैतन्य सूर्य द्वारा **जिसमें से समस्त संशय दूर कर दिये गये हैं...** इन्द्रियों में तो यह ऐसा होगा या नहीं, ऐसा ज्ञान होने पर संशय रहता है, वह सिद्ध को है नहीं। इसी तरह इस आत्मा में भी नहीं, ऐसा कहते हैं। बात तो यह सिद्ध करनी है न! आहाहा!

यह इन्द्रिय से जानना... एक इन्द्रिय से जाने और दूसरी का छूटे, दूसरे का जानना हो, तब पहले का (छूटे), ऐसा आत्मा वस्तु में नहीं। वह तो उसकी संसारपर्याय में यह प्रकार है। वस्तु के स्वरूप में यह नहीं। ऐसी चीज़ को अन्तर में पकड़नी है। ... उठे तो दुःख हो, ऐसा कहते हैं। इन्द्रियों से पर को देखने से राग उत्पन्न होता है, दुःख होता है। परन्तु भगवान आत्मा अणीन्द्रिय है, सिद्ध है, ऐसा ही यह आत्मा है। ऐसा आत्मा अणीन्द्रिय को अणीन्द्रिय द्वारा देखने से उसे ज्ञान होता है और आनन्द होता है, ऐसा वह आत्मा है। आहाहा! किसी बात चलती है यह? यह अन्दर आत्मा जो त्रिकाली आनन्दकन्द है, उसकी बात चलती है। विकल्प और उपाधि-उपाधि वस्तु में है नहीं। आहाहा!

समस्त संशय दूर कर दिये गये हैं — ऐसे स्वरूपवाले होने के कारण... सिद्ध भगवान '**अतीन्द्रिय**' **है।** ऐसे सभी आत्मायें वस्तुरूप से सिद्ध जैसे ही हैं। उन्हें इन्द्रियों

से ज्ञान हो और संशय हो, ऐसा उनके स्वरूप में नहीं है। आहाहा! ऐसा भगवान अणीन्द्रिय आत्मा, उसे अनुभव करना। ऐसा है—ऐसे विकल्प से धारणा करना, वह अलग चीज़ है। ऐसा है—ऐसा अनुभव करना कि जिसमें ऐसे अणीन्द्रिय आत्मा की प्रतीति होने से अणीन्द्रिय आनन्द का स्वाद साथ आवे, उसने आत्मा को अनुभव किया और जाना, ऐसा कहा जाता है। समझ में आया?

निःसंशय... स्वभाव संशय को दूर किया है, जैसे भगवान सिद्ध हैं, वैसा यह आत्मा है। और सिद्ध भगवान **मलजनक क्षायोपशमिकादि विभावस्वभावों के अभाव के कारण...** क्षयोपशम से लिया। क्षायिक तो है सिद्ध में। **मलजनक क्षायोपशमिकादि विभावस्वभावों के अभाव के कारण...** सिद्ध भगवान '**निर्मल**' **है।** वैसे भगवान आत्मा ध्रुव में भी क्षयोपशम, उपशम और उदय ऐसे मलजनकभाव (नहीं)। सिद्ध में नहीं, वैसे आत्मा में भी नहीं। यहाँ इतनी बात करनी है। समझ में आया? है न, टीका में है न? **मलजनक क्षायोपशमिकादि विभावस्वभावों...** उदय, उपशम और क्षयोपशम—तीन में मैल है। उदय तो मैलस्वरूप ही है, उपशम में भी ढँका हुआ मैल है, क्षयोपशम में भी किंचित् मैल और उघाड़ है। इसलिए तीनों भाव जैसे सिद्ध में नहीं, वैसे वस्तु भगवान आत्मा चैतन्यकन्द में वे नहीं। समझ में आया?

ऐसा आत्मा कहाँ गया? कहे। भाई कहते थे भगवानजीभाई। ऐसे आत्मा के गुणगान करते हो, वह धोया हुआ मूला जैसा गया कहाँ? वह है वहाँ है, परन्तु तेरी नजर नहीं, इसलिए गया कहाँ? (ऐसा लगता है)। आहाहा! जिसकी सत्ता में पूरा जगत ज्ञात हो, ऐसी सत्तावान चीज़ को देखने को निवृत्त नहीं होता, फिर कहाँ गया? कहे, लो। जहाँ है, वहाँ नजर करे नहीं, फिर कहे—गया कहाँ? कहाँ जाये? है, वह है अन्दर। आहाहा! कहते हैं, वे सिद्ध भगवान मल के उत्पन्न करानेवाले ऐसे क्षायोपशमिकादि विभावस्वभाव के अभाव से '**निर्मल**' **है।** वैसे यह भगवान आत्मा उदय, उपशम, क्षयोपशम आदि भाव का इसमें अभाव है।

अन्तिम '**विसुद्धप्पा।**' 'विशुद्ध' शब्द आया यहाँ। **और द्रव्यकर्मों...** सिद्ध भगवान को जड़कर्म भी नहीं, पुण्य-पाप के विकल्प—भावकर्म भी नहीं, उसके कारण

'विशुद्धात्मा' है। सिद्ध परमात्मा को जड़कर्म और विकारी पुण्य-पाप का मैल—दोनों नहीं हैं, इसलिए विशुद्धात्मा है। **उसी प्रकार संसार में भी यह संसारी जीव...** संसार की दशा के काल में भी उसका—जीव का स्वरूप **किसी नय के बल से...** स्पष्टीकरण किया है। उस बल की व्याख्या में उलझे नहीं इसलिए। **(किसी नय से)...** अर्थात् शुद्धनय से—निश्चयनय से वह संसारी भी **शुद्ध ही है।** भगवान आत्मा अन्दर... खबर भी नहीं होती, वाँचा न हो, सुना न हो। अन्ध दौड़ से ऐसी की ऐसी जिन्दगी जाये पशु की भाँति। देखो न! पशु पूरे दिन खाना... खाना... खाना... उसका मुख चला ही करता है। तृप्त जाय तो भी बैठ-बैठकर निकालकर जुगाली करे उसे एक ही बात। वह भी अनन्त संसार में एक ही बात विकल्प... विकल्प के ग्रास लेकर राग-विकल्प का निगलना।

भगवान अन्दर कौन है चिदानन्द प्रभु निधान? वह निश्चयनय वस्तु के सत् स्वभाव की दृष्टि से देखे तब तो भगवान आत्मा सब शुद्ध ही है। वह अभव्य का आत्मा हो तो भी शुद्ध ही है, ऐसा यहाँ कहते हैं। वस्तु तो सब, अभव्य का आत्मा और भव्य का, निगोद का और केवली का—वस्तुरूप से आत्मा तो सब समान है, ऐसा कहते हैं। शुद्ध है। यह ऊपर शुद्धभाव है न? शुद्धभाव अधिकार है न? वह यहाँ कहा अन्तिम अन्दर शुद्ध। त्रिकाल भगवान अपने स्वभाव से अस्तिरूप ध्रुव शुद्ध है, वह धर्मी को आश्रय करनेयोग्य है। ऐसी चीज़ को अन्तर्मुख देखनेयोग्य है, ऐसा कहते हैं। अन्तर्मुख होकर उसे देखना, अन्तर्मुख होकर उसकी श्रद्धा करना, अन्तर्मुख होकर उसकी आनन्द की दशा का वेदन करना। आहाहा!

यह संसारी जीव किसी नय के... कारण अर्थात् निश्चयनय से **शुद्ध है।** वस्तु तो वस्तु शुद्ध भगवान आत्मा, वह तो परमानन्द की मूर्ति शुद्ध है। उसमें यह सब संसारीभाव उसमें है नहीं। क्या कहते हैं यह? ऊपर यह शुद्धभाव अधिकार है न? कि यह आत्मा स्वयं ऐसा शुद्ध त्रिकाली ध्रुव शुद्ध है। इसलिए शुद्ध का आश्रय करने से शुद्धता प्रगट होती है, उसके द्वारा यह पूरा 'शुद्ध है' ऐसा प्रतीति में आता है। इसका नाम सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन अर्थात् यह कहीं देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करना, नौ तत्त्व की श्रद्धा करना—(यह नहीं)। अभी तो धर्म का पहला पाया... धर्म का पहला पाया है। गजब

धर्म, भाई! यह दया पालना, व्रत पालना, वह धर्म का पहला पाया—ऐसा नहीं होगा? वह तो संसार का पाया है विकार।

(अब ४८वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं—) लो!

शुद्धाशुद्धविकल्पना भवति सा मिथ्यादृशि प्रत्यहं,
शुद्धं कारण-कार्य-तत्त्वयुगलं सम्यग्दृशि प्रत्यहम्।
इत्थं यः परमागमार्थमतुलं जानाति सद्दृक् स्वयं,
सारासारविचारचारुधिषणा वन्दामहे तं वयम्॥७२॥

मुनि स्वयं आनन्द में आकर कहते हैं, ओहो! ऐसा आत्मा अभेद चिदानन्द है उसमें, यह अशुद्ध है, शुद्ध है—ऐसा भेद है नहीं। आहाहा!

श्लोकार्थः—शुद्ध-अशुद्ध की जो विकल्पना... वस्तु शुद्ध है, पर्याय अशुद्ध है—ऐसे भेद कहाँ पाड़ना? यह कहते हैं। वह विपरीत विकल्पना है। अशुद्ध-अशुद्ध है ही नहीं। शुद्ध-अशुद्ध की जो विकल्पना—विपरीत कल्पना—विपरीत मान्यता, अशुद्धपना वह आत्मा की खोटी मान्यता है। अनिश्चय है, भेद पाड़ना वह शंका है। भगवान अकेला शुद्ध ध्रुव त्रिकाली, उसे न मानकर, ऐसे भेद पाड़कर विकल्पना खड़ी करना, अनिश्चितभाव कि ऐसा होगा? शुद्ध भी है (और) अशुद्ध भी है, शुद्ध भी है और अशुद्ध भी है। उसमें तो ऐसा कहा कि शुद्धाशुद्ध पर्याय का पिण्ड, वह द्रव्य है। ऐई! कहा है या नहीं? कहाँ?

मुमुक्षु : मोक्षमार्गप्रकाशक में।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो अशुद्धता न हो, ऐसा जो मानते हों, उसे बतलाया है। बाकी वस्तु तो त्रिकाल शुद्ध ही है। ऐ चेतनजी! आता है न?

दो जगह आता है मोक्षमार्गप्रकाशक में, दो जगह। एक पहले सातवें (अधिकार) में आता है, एक पीछे कहीं आठवें में या नौवें में कहीं आता है। शुद्धाशुद्ध का पिण्ड है, ऐसा आता है। पीछे आता है, नौवें में आता है। इस ओर के पृष्ठ पर आता है। यह भी इस ओर के पृष्ठ पर है। सातवें में भी ऐसा है और नौवें में भी ऐसा है। वह तो एक

अशुद्धता पूर्व में थी, उसे 'बिल्कुल नहीं'—ऐसा जो मानता हो, उसे जरा बतलाया है। बाकी भगवान आत्मा में शुद्ध-अशुद्ध के भेद करे वह, कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि है। लो, ठीक! यह भेद करनेयोग्य... वस्तु ही ऐसी है। वस्तु में फिर शुद्ध और अशुद्ध कहाँ है? वह तो है, त्रिकाल शुद्ध है। यहाँ सिद्ध तो यह करना है न? कारणसमयसार और कार्यसमयसार दो की बात उठायी है न? दोनों शुद्ध हैं। यहाँ उसका कलश है न?

ऊपर उठाया न, **कार्यसमयसार तथा कारणसमयसार में अन्तर न होने का कथन है।** यह कहेंगे। विभाव है, ऐसा पहले ज्ञान करना। वह तो वस्तुरूप से... शुद्ध-अशुद्ध के भेद करना, वह मिथ्यादृष्टि को हमेशा होता है। भेद की दृष्टि मिथ्यादृष्टि को होती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **सम्यग्दृष्टि को तो सदा (ऐसी मान्यता होती है कि) कारणतत्त्व...** जो शुद्ध ध्रुवतत्त्व **और कार्यतत्त्व...** सिद्ध भगवान **दोनों शुद्ध हैं।**

मुमुक्षु : अकेला द्रव्य त्रिकाल शुद्ध है, ऐसा नहीं आया?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो आया न कारणतत्त्व। कारणतत्त्व आया न उसमें? कारण शुद्ध ही है और यह कार्य भी शुद्ध है। सिद्ध... सिद्ध जैसा यहाँ करना है न? कारणतत्त्व भी शुद्ध है और कार्यतत्त्व भी शुद्ध है। शुद्धाशुद्ध दो भाग है, ऐसा नहीं—ऐसा यहाँ कहना है। समझ में आया?

यहाँ तो सिद्ध को शुद्ध सिद्ध करना है न? सिद्ध हैं, वे शुद्ध हैं, ऐसा सिद्ध करना है, आगे लेंगे। चार विभावरूप से जब तक संसारी है... चार विभाव चारों ही—उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक, ऐसे चार भाववाले हैं, वे संसारी हैं। भले चौदहवें में हो, परन्तु उन्हें अभी उदय और क्षायिक दो है न? अपरिणामी तो त्रिकाल है। पर्याय में केवली को चौदहवें में दो भाग है उदय और क्षायिक, तब तक संसारी है। कहेंगे ४९ में। कहते हैं, शुद्ध तो कारणतत्त्व और कार्यतत्त्व दोनों शुद्ध हैं। उस द्रव्य में शुद्धाशुद्ध भेद डालना, ऐसा है नहीं। आहाहा! कथन का अर्थ यह है कि त्रिकाल शुद्ध है और कार्य जो हुआ, वह शुद्ध है। अशुद्धपना है ही नहीं। शुद्ध के भेद हैं। एक कारण और एक कार्य। परन्तु द्रव्य में दो भेद—शुद्धाशुद्ध है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? भगवान आत्मा त्रिकाल शुद्ध है, ध्रुव त्रिकाल शुद्ध है और सिद्ध भगवान कार्यशुद्ध हैं, पर्याय से

शुद्ध हैं। द्रव्य से तो वे शुद्ध हैं, परन्तु पर्याय से शुद्ध हैं। दोनों को शुद्ध कहा है।

इस प्रकार परमागम के अतुल अर्थ को सारासार के विचारवाली सुन्दर बुद्धि... देखो! भगवान के कहे हुए परमागम, उसके अतुल अर्थ—उपमारहित अर्थ निकालनेवाले... आहाहा! **सारासार के विचारवाली सुन्दर बुद्धि द्वारा...** सार और असार की विचारवाली—विवेकवाली सुन्दर बुद्धि द्वारा... देखो! **जो सम्यग्दृष्टि स्वयं जानता है,...** परमागम के परमार्थ का बल और आगम के बल में... परमागम को यह कहना है कि तेरी चीज़ अत्यन्त शुद्ध है। जैसे सिद्ध भगवान शुद्ध हैं, वैसा तू शुद्ध है। इस परमागम के अतुल अर्थ को विवेकवाली बुद्धि से निर्णय करे तो वह निकलेगा, कहते हैं। समझ में आया? गजब धर्म की ऐसी रीति। इसमें कहीं वह नहीं आया कि हरितकाय नहीं खाना, कन्दमूल नहीं खाना, फलाना नहीं खाना, व्रत ले लो व्रत झट। किसके व्रत तेरे मूढ़ को? मिथ्यादृष्टि को व्रत कैसे? आहाहा! अभी चीज़ क्या है? ध्येय करने(योग्य) चीज़ कैसी है? अकेला शुद्ध... अकेला शुद्ध... परम पवित्र धाम भगवान आत्मा... बस, जैसे सिद्ध हैं, वैसा यह आत्मा है। वे (सिद्ध) कार्यरूप से शुद्ध हैं, द्रव्यरूप से तो शुद्ध हैं, इस कारणरूप से त्रिकालरूप से शुद्ध हैं। बस इतना अन्तर है। ऐसा तत्त्व भगवान शुद्धभावरूप, उसे अन्तर्मुख से अवलोकन करने पर पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-शान्ति होती है, उसे धर्म कहते हैं... उसे धर्म कहते हैं।

ओहो! परमागम भगवान की वाणी का अतुल अर्थ, कहते हैं, उपमारहित भाव निकालने पर **सारासार के विचारवाली सुन्दर बुद्धि द्वारा...** मैं तो शुद्ध त्रिकाल ध्रुव शुद्ध (हूँ)। अशुद्धता की गन्ध स्वरूप में है नहीं। संसार की गन्ध वस्तु में नहीं, ऐसा कहते हैं। संसार उदयभाव, वह वस्तु में नहीं। उपशम, क्षयोपशम की बात एक ओर रही। यह कहेंगे। समझ में आया? अरे! यह बात इसके ज्ञान में आनी चाहिए, ऐसा कहते हैं। इसके ज्ञान में (आना चाहिए कि) परमागम को यह कहना है। सिद्धान्त को कहकर भी कहना यह है। चारों अनुयोगों में कहना यह है। त्रिकाल वस्तु वह शुद्ध है। बस, उसका आश्रय करे तो धर्म हो, यह उसमें आ जाता है। चारों अनुयोग में वीतरागता स्थापित की है न? पंचास्तिकाय में (१७२ गाथा में कहा है)। इसका अर्थ क्या हुआ? वीतरागता कब प्रगट होती है?-कि शुद्ध का आश्रय ले तब।

इसलिए कहते हैं, सम्यग्दृष्टि वापस **स्वयं जानता है,...** ऐसा। भगवान ने आगम में कहा, इसलिए जानता है, ऐसा नहीं, ऐसा। अन्दर में से निर्मल पर्याय द्वारा 'यह शुद्ध ध्रुव है' ऐसा उसने पकड़ा है, वेदन किया है, अनुभव किया है। वह सम्यग्दृष्टि त्रिकाल अपने स्वरूप को शुद्ध ही अनुभव करता है। शुद्ध ही है, ऐसा कहते हैं। यहाँ तो सम्यग्दृष्टि और स्वयं अपने से जाने। त्रिकाल वस्तु शुद्ध है। क्योंकि शुद्ध पर्याय द्वारा शुद्ध को पकड़ा, इसलिए शुद्धता का जो वेदन आया, उसमें पूरा तत्त्व ही शुद्ध है। त्रिकाल शुद्ध है, ऐसा सम्यग्दृष्टि अपने स्वभाव से जानता है, ऐसा कहते हैं। **उसे हम वन्दन करते हैं।**

पद्मप्रभ(मल)धारिदेव मुनि। यहाँ तो मुनि की प्रधानता का कथन है न! मुनि हैं वे कहीं चौथे गुणस्थानवाले को वन्दन नहीं करते। यहाँ तो मुनि की प्रधानता का कथन है। समझ में आया? बनारसीदासजी ने कहा है वहाँ कि सम्यग्दृष्टि को वन्दन है। आता है न? यह प्रश्न आया था कल उसमें—सन्मति सन्देश (में)। सम्यग्दृष्टि पूज्य है या नहीं? बनारसीदास ने वन्दन किया है। आता है न? यह हैं वे मुनि स्वयं हैं न! जो स्वयं सम्यक् दृष्टिसहित और चारित्रसहित हैं, जो इस आत्मा को शुद्ध स्वयं अनुभव करे और जाने और शास्त्र में से निकालकर सार अर्थ तो उसने यह निकाला... उसमें से निकाल-निकालकर (ऐसा निकाले कि) अशुद्ध भी हूँ और शुद्ध भी हूँ, द्रव्य अशुद्ध भी है और शुद्ध भी है, ऐसा नहीं। पर्याय में अशुद्धता है, उसे छोड़ दिया है। उसे छोड़ दिया है। नहीं, नहीं, वह नहीं, यह।

ऐसे मुनियों को **हम वन्दन करते हैं।** जिन्हें अन्तर में पूर्णानन्द प्रभु शुद्ध उसे स्वयं अपनी दृष्टि से जाना और अनुभव किया और यहाँ तो चारित्रवन्तसहित हैं (ऐसा कहा), स्वरूप में जिसकी रमणता जम गयी है, आनन्द की उग्र दशा जिसे पर्याय में आयी है, ऐसे धर्मात्मा को, मुनि स्वयं कहते हैं कि हम वन्दन करते हैं। कहो, समझ में आया?

अब ४९ (गाथा)। यह द्रव्य शुद्ध, अशुद्ध है, इसकी बात थी, हों! पर्याय में अशुद्धता है, यह बात तो यहाँ निकाल दी है। वह अब यहाँ स्थापित करते हैं। '**एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।**' किस नय से हम कहते हैं कि यह नय से अब।

पहले में आया था न कि किस नय से मैं जानूँ सुबुद्धि और कुबुद्धि का भेद? त्रिकाल ध्रुव शुद्ध है।

एदे सव्वे भावा ववहारणयं पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्ध-सहावा सुद्ध-णया संसिदी जीवा॥४९॥

व्यवहारनय से हैं कहे सब जीव के ही भाव ये।
है शुद्धनय से जीव सब भवलीन सिद्ध स्वभाव से॥४९॥

टीका:—यह, निश्चयनय और व्यवहारनय की उपादेयता का प्रकाशन (कथन) है। निश्चयनय भी जाननेयोग्य है और व्यवहारनय भी जाननेयोग्य है—उपादेय का अर्थ यह। व्यवहारनय का विषय है, वह जाननेयोग्य है। **उपादेयता का प्रकाशन...** उपादेय अर्थात् जानना। है न उसमें 'नय को ग्रहण (करना)' कहा है न? टोडरमलजी में कहा है। व्यवहारनय को ग्रहण करनेयोग्य कहा है न? ग्रहण करना अर्थात् जानना। ग्रहण करना अर्थात् आदरना नहीं। यह तो है, पर्याय में वे भाव हैं, बस। जाननेयोग्य है, आदरनेयोग्य नहीं। नीचे (फुट)नोट में स्पष्टीकरण।

प्रमाणभूत ज्ञान में... अर्थात् कि द्रव्य का ज्ञान और पर्याय का ज्ञान—दो के ज्ञान में... प्रमाणभूत अर्थात् निश्चय और व्यवहार दोनों का एकसाथ ज्ञान, उसे प्रमाणभूत ज्ञान कहते हैं। अकेला शुद्धद्रव्य का ज्ञान, वह निश्चय, पर्याय का—व्यवहार का ज्ञान, वह व्यवहार। दोनों का एक साथ ज्ञान, वह प्रमाणज्ञान। **प्रमाणभूत ज्ञान में शुद्धात्मद्रव्य का...** त्रिकाली शुद्ध वस्तु नित्यानन्द प्रभु का **तथा उसकी पर्यायों का...** उसकी दशा में रागादि हों उनका **दोनों का सम्यग्ज्ञान होना चाहिए।** दोनों का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। '**स्वयं को कथंचित् विभावपर्यायें विद्यमान हैं**'... जिसे पर्याय में विभाव नहीं, ऐसा माने, उसका तो एकान्तिक ज्ञान हुआ। अपने को कथंचित् अर्थात् पर्यायदृष्टि से वर्तमान में विभाव-विकार है। **ऐसा स्वीकार ही जिसके ज्ञान में न हो...** पर्याय की बात है, वह द्रव्य की थी। शुद्ध द्रव्य और अशुद्ध द्रव्य। द्रव्य के दो भाग। अशुद्धद्रव्यार्थिक, शुद्धद्रव्यार्थिक आता है या नहीं? वह अशुद्धद्रव्यार्थिक व्यवहार—पर्याय में जाता है। शुद्धद्रव्यार्थिक और अशुद्धद्रव्यार्थिकनय—ऐसे जो भेद करते हैं द्रव्य में, वह खोटी बात

है। अशुद्धद्रव्यार्थिक का अर्थ ही पर्याय है। द्रव्य अशुद्ध और द्रव्य शुद्ध—ऐसे भेद हैं नहीं। वह तो द्रव्य स्वयं अशुद्धरूप परिणमा पर्याय में, इतना बतावे, उसे अशुद्धद्रव्यार्थिकनय कहते हैं। बाकी वह तो व्यवहारनय ही है। आहाहा! नय के झगड़े।

मुमुक्षु : नासमझी के झगड़े न.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नासमझी के झगड़े। नय के झगड़े का अर्थ क्या ? उभयनय से जगत भरमाया है, ऐसा आता है न ? नय में भरमाया है ?

अपने को कथंचित् विभावपर्याय है। न हो तो वर्तमान आनन्द का—प्रत्यक्ष पूर्ण आनन्द का अनुभव होना चाहिए। पूर्ण आनन्द का अनुभव नहीं, इसका अर्थ कि पर्याय में विकार है। यह सब समझने में रुकना, इसकी अपेक्षा करने लगे तो ? यह व्रत, नियम, अपवास और तपस्या। रण में शोर मचाने जैसा हो सब तेरा। चार गति में भटकने का है यह। यह वस्तु है, उसमें गति और गति का भाव ही जहाँ नहीं। ऐसी चीज़ को अन्तर में अनुभव और दृष्टि बिना सब थोथा है। आहाहा!

धर्मी जीव अपने त्रिकाली द्रव्य को शुद्ध जानता है, वैसे पर्याय में कथंचित् रागादि विकल्प भी हैं। कथंचित् किसी अपेक्षा से विभाव पर्याय, पर्यायदृष्टि से है, ऐसा। यह स्वीकार ही जिसके (ज्ञान) में न हो, **उसे शुद्धात्मद्रव्य का भी सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता।** विभावपर्याय है, बस इतना। उसका भी जिसे स्वीकार न हो, तब तो उसे शुद्धात्मद्रव्य का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता। क्योंकि उसके अभावस्वभावस्वरूप शुद्धद्रव्य है। यह विभाव है, ऐसा भी जिसे ज्ञान नहीं, उसे विभावरहित शुद्धभाव की ओर के ढलने का ज्ञान उसे नहीं होता। ज्ञान ही नहीं, ऐसा कहते हैं। **शुद्धात्मद्रव्य का भी...** ऐसा। सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। पर्याय में अशुद्धता है न ? पुण्य-पाप नहीं ? वह कहीं गधे के सींग हैं ? (सर्वथा) नहीं, ऐसा है ? वस्तु में नहीं, गुण में नहीं, ध्रुव में नहीं। पर्याय में पर्याय विकारी है। द्रव्य स्वयं विकारवाला है, यह स्वीकार मिथ्या है। तथा पर्याय में विकार नहीं, यह भी स्वीकार झूठा है।

इसलिए 'व्यवहारनय के विषयों का भी ज्ञान तो ग्रहण करनेयोग्य है'... यह

ग्रहण करना अर्थात् जानना—ज्ञान ऐसा। **व्यवहारनय के विषयों का...** पुण्य-पाप के विभावभाव मलिन भाव हैं, ऐसा ज्ञान तो जानना चाहिए। उसे न जाने उसे शुद्धात्मद्रव्य का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। अशुद्धता की अपेक्षा से त्रिकाल शुद्ध है। अशुद्धता पर्याय में नहीं, तो त्रिकाल शुद्ध है, (ऐसा) आया कहाँ से? समझ में आया? **ऐसी विवक्षा से ही...** अर्थात् ऐसा कहना चाहते हैं, इसलिए **यहाँ व्यवहारनय को उपादेय कहा है,...** ऐसा कहना चाहते हैं कि व्यवहार है, ऐसा ज्ञान इसे करना चाहिए। इतना कहना चाहते हैं, इसलिए व्यवहारनय को यह उपादेय कहने में आया है।

मुमुक्षु : यह किसलिए डाला? मुश्किल-मुश्किल से उपादेय.... अब.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो करके रखा नहीं पहले से? मोक्षमार्गप्रकाशक में, 'ग्रहण करने को' कहा है न दोनों नयों को? इसका अर्थ ही कि 'जानना' ऐसा ग्रहण करने का अर्थ है। जाननेयोग्य है, इतना कहने को उपादेय कहा। ज्ञान में तो जानना चाहिए न? ज्ञान में विषय है। 'है' ऐसा विषय न आवे, तब तो वह ज्ञान खोटा हुआ। पर्याय में हो। अशुद्धता पर्याय में है, ऐसा स्वीकार न हो, तब तो एकान्त ज्ञान हो जाये। उसे शुद्धद्रव्य का भी सच्चा ज्ञान होता ही नहीं। यहाँ, उसे जाननेयोग्य है, इस अपेक्षा से व्यवहारनय को उपोदय कहा है। **'उनका आश्रय ग्रहण करनेयोग्य है' ऐसी विवक्षा से नहीं।** व्यवहारनय का आश्रय करनेयोग्य है... जहाँ भेद का आश्रय करनेयोग्य नहीं, वहाँ फिर राग का आश्रय करनेयोग्य, यह तो हो नहीं सकता। **'उनका आश्रय ग्रहण करनेयोग्य है' ऐसी विवक्षा से नहीं।** ऐसा कहना चाहते नहीं। **व्यवहारनय के विषयों का आश्रय...** जितना रागादि भाग व्यवहार... अरे! पर्याय पूरी, उसका **आश्रय (आलम्बन, झुकाव, सन्मुखता, भावना) तो छोड़नेयोग्य है ही...** उसे ज्ञान में जाननेयोग्य है। ...यह बात....

मुमुक्षु : यह सब भेद जानना? इस नय से ऐसा और इस नय से ऐसा....

पूज्य गुरुदेवश्री : है, ऐसा उसे जाने नहीं तो वह तो कुज्ञान है। विभाव नहीं तो फिर उसे विभाव टालना रहा नहीं और स्वभाव (-पर्याय) सुधारना रहा नहीं कुछ।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह किस अपेक्षा से? टल जाती है वह भी रहा नहीं तो।

स्वभाव का आश्रय करने से विभाव टल जाता है, यह रहा नहीं। विभाव तो नहीं तो टले क्या? क्यों चेतनजी?

'है', ऐसा जानना वह बराबर। पर्याय में, हों! यहाँ तो इनकार किया। द्रव्य में शुद्ध-अशुद्ध के भेद करे, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! ऐसा सब... शरीर के बलवान तप में भी उतर गये। बाहर के क्रियाकाण्ड में (उतर गये), धर्म रह गया। मन के तर्क के बलवान अकेले श्रुतज्ञान में उतर गये। बस, ... एक ही है, ऐसा है और वैसा है। परन्तु अनेकान्त (कि) वस्तु द्रव्य शुद्ध है और पर्याय अशुद्ध है, वह पर्याय द्रव्य में नहीं।—ऐसा विवेकी ज्ञान करने को अनन्त अन्दर अनेकान्त का आश्रय चाहिए। अनेकान्त बिना वस्तु साबित नहीं होती। 'व्यवहार के विषयों को ग्रहण करना' इसका अर्थ कि जानना। 'उसे ग्रहण' का (अर्थ) आलम्बन लेना, ऐसा नहीं। उसका झुकाव व्यवहार पर रखना, ऐसा नहीं। उसके सन्मुख रखना, ऐसा भी नहीं। उसकी—व्यवहार की भावना करना, ऐसा भी नहीं।

वह तो छोड़नेयोग्य ही है, लो। **ऐसा समझने के लिए ५०वीं गाथा में व्यवहारनय को स्पष्टरूप से हेय कहा जायेगा।** यहाँ उपादेय कहा, उसका अर्थ कि जाननेयोग्य है। उपादेय का अर्थ ग्रहण करनेयोग्य हो तो वहाँ वापस छोड़नेयोग्य कहेंगे। समझ में आया? यह उपादेय की व्याख्या आती है यह तो। **व्यवहारनय को स्पष्टरूप से हेय कहा जायेगा। जिस जीव के अभिप्राय में शुद्धात्मद्रव्य के आश्रय का ग्रहण...** शुद्ध चैतन्य भगवान पूर्ण आनन्द का ग्रहण **और पर्यायों के आश्रय का त्याग... आश्रय का त्याग हो, उसी जीव को द्रव्य तथा पर्यायों का ज्ञान सम्यक् है...** पर्याय भी ग्रहण करनेयोग्य, आदरनेयोग्य है, द्रव्य भी आदरनेयोग्य है (तो) दो भेद कैसे पड़े? रागादि भी आदरनेयोग्य और द्रव्य भी आदरनेयोग्य है, ऐसा है नहीं।

जिस जीव के अभिप्राय में शुद्धात्मद्रव्य के आश्रय का ग्रहण... (आलम्बन, झुकाव, सन्मुखता इत्यादि...) **पर्यायों के आश्रय का त्याग हो, उसी जीव को द्रव्य...** अर्थात् वस्तु का **तथा पर्यायों का ज्ञान सम्यक् है, ऐसा समझना, अन्य को नहीं।** जिसे पर्याय का, रागादि का भी आदरना है, ऐसा जो ज्ञान है, वह ज्ञान सच्चा नहीं हो सकता।

यह व्याख्या, उपादेयपने का प्रकाशन, उसकी व्याख्या की। उपादेय क्यों कहा? ग्रहण करनेयोग्य है, ऐसे अर्थ में उपादेय नहीं। जाननेयोग्य है, ऐसे अर्थ में उपादेय कहा है।

पहले जो विभावपर्यायें 'विद्यमान नहीं हैं' ऐसी प्रतिपादित की गई हैं, वे सब विभावपर्यायें वास्तव में व्यवहारनय के कथन से विद्यमान हैं। वस्तु में नहीं, ऐसा कहा था, द्रव्यस्वभाव में नहीं, ऐसा कहा था, परन्तु सब विभावपर्यायें वास्तव में व्यवहारनय के पर्याय के कथन से विद्यमान है। इनकार किया था, वे हैं। इनकार किया था द्रव्य में, (परन्तु) पर्याय में है।

मुमुक्षु : इनकार किया (वह) दूसरे प्रकार से।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे प्रकार से है। व्यवहारनय कहा न? **और जो (व्यवहारनय के कथन से) चार विभावभावरूप परिणत होने से...** संसारी से लेकर चौदहवें (गुणस्थान) तक... वहाँ क्षायिकभाव भी विभाव में डाल दिया। क्योंकि वहाँ सिद्ध को चौदहवें में क्षायिक के साथ उदय है न? अकेला क्षायिक नहीं, इसलिए। चार विभावभाव से परिणति होने से **संसार में भी विद्यमान हैं,...** ऐसा कहते हैं। **वे सब शुद्धनय के कथन से शुद्धगुणपर्यायों द्वारा सिद्धभगवन्त समान हैं।** लो। यह विशेष बात आयेगी....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल १, बुधवार, दिनांक - २३-६-१९७१
गाथा-४९-५०, श्लोक-७३, प्रवचन-४८

जो नहीं कहा वह है, ऐसा कहते हैं। नहीं किसमें? वस्तु में। त्रिकाल चैतन्यधातु आनन्द, उस वस्तु में वे चार (भाव) नहीं और उसे ही वास्तव में जीव कहा जाता है कि जिसमें यह चार भाव नहीं। उसे शुद्धभाव कहो या जीव कहो या आत्मा कहो—वह चीज़ उसमें चार (भाव) नहीं कहा था, वही पर्यायनय से—व्यवहारनय से वे चार (भाव) पर्याय में है। **वास्तव में व्यवहारनय के कथन से विद्यमान हैं। और...** इतनी बात की। इनकार किया था, वह इस प्रकार से हाँ—ऐसी दो बातें कीं। यह गाथायें ४९ और ५० तो अन्तिम में अन्तिम सार है।

और जो (व्यवहारनय के कथन से) चार विभावभावरूप परिणत होने से संसार में भी विद्यमान हैं,... चौदहवें गुणस्थान तक संसार कहा जाता है। चौदहवें गुणस्थान में भी उदयभाव है। क्षायिक है, उदय है, पारिणामिक तो त्रिकाल है। उसे व्यवहारनय के कथन से (अर्थात्) पर्यायदृष्टि से देखने पर चार विभावपर्यायरूप से परिणत होने से संसार में भी हैं पर्यायें। **वे सब...** और बदलते हैं वापस। पर्याय में वे चार होने पर भी **शुद्धनय के कथन से शुद्धगुणपर्यायों द्वारा सिद्धभगवन्त समान हैं।** वस्तु त्रिकाल द्रव्य तो सिद्ध भगवान जैसी है, उसमें ये चार भाव नहीं। आहाहा!

(अर्थात् जो जीव व्यवहारनय के कथन से औदयिकादि विभावभावोंवाले होने से संसारी... कहे पर्याय से, **वे सब शुद्धनय के कथन से... शुद्ध गुण तथा शुद्ध पर्यायोंवाले होने से सिद्ध...** समान **(सदृश)...** है। उसकी पर्याय भी शुद्ध है शक्तिरूप से, कहते हैं। उसके गुण और पर्यायें सब शुद्ध ही हैं। सिद्ध समान... सिद्ध को भले प्रगट है, यहाँ भी प्रगट है पर्याय अन्दर। ऐसा जो शुद्ध गुणपर्यायवाला तत्त्व, वह सिद्ध समान है और वही उपादेय है। कहो, समझ में आया? एक ओर कहा कि चार विभावरूप से संसार में रहे हैं। उन संसारी जीव को पर्यायों के प्रकार भले हों पहले (गुणस्थान) से चौदहवें तक, परन्तु अन्तर दृष्टि से देखने पर वह सिद्धसमान एकरूप शुद्ध ध्रुव जिसमें गुण और पर्यायें निर्मल त्रिकाल पड़ी हैं, वह सम्यग्दर्शन का विषय है।

इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में पाँचवें श्लोक द्वारा) कहा है कि — आधार देते हैं। पद्मप्रभमलधारिदेव आधार देते हैं।

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहित-पदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परम-मर्थं चिच्चमत्कार-मात्रं,
परविरहित-मन्तः पश्यतां नैष किंचित्॥

श्लोकार्थः—यद्यपि व्यवहारनय इस प्रथम भूमिका में जिन्होंने पैर रखा है... अर्थात् कि जो गुण-गुणी के भेद के विकल्प में—विचार में खड़ा होता है कि यह आत्मा ज्ञान है, आनन्द है—ऐसे भाव में खड़ा होता है। **ऐसे जीवों को, अरे रे! हस्तावलम्बनरूप भले हो,...** कहते हैं कि ऐसे ज्ञान का भेदवाला अंग जो बीच में आता है... दूसरा कोई उपाय नहीं, उसे समझाना हो और स्वयं को समझना हो तो भी। वस्तु स्वयं ध्रुव है गुणी, उसमें यह गुण है ज्ञान और आनन्द और... ऐसा भाव प्रथम आता है। अरेरे! हस्तावलम्ब कहा वापस। खेद होकर कहते हैं, ऐसा। अरेरे! क्या हो? वस्तु को समझने के लिये ऐसा पहले विकल्प गुण-गुणी के भेद का—ऐसी चीज़ अन्दर आती है पहले। **तथापि जो जीव चैतन्यचमत्कारमात्र, पर से रहित...** जो अन्तर निर्विकल्प अनुभव में स्थित होते हैं, जिन्हें भेद का लक्ष्य छूट गया है। अकेला चैतन्यचमत्कारमात्र **ऐसे परम पदार्थ को...** पर से विरहित को, भेद और विकल्प से रहित को... जो चैतन्यचमत्कारमात्र परम पदार्थ... पर से रहित ऐसा परमपदार्थ, ऐसा। सविकल्पदशा में उस प्रकार का भाव भले होता है, परन्तु वस्तु का अनुभव करने पर अन्तर में देखे, उसे व्यवहार कुछ नहीं—वस्तु ही नहीं। ओहोहो!

ऐसे झगड़े निश्चय-व्यवहार के बड़े, लो। व्यवहारनय का निभाव करना और आत्मा की शुद्धि करना। यहाँ तो व्यवहार अभी तो ऐसा लिया सविकल्पदशा में कि गुण-गुणी के भेद का विकल्प आता है। एकदम अनजाना तत्त्व है अनादि से, इसलिए उसे जानने में अथवा बतलाने में 'यह आत्मा ज्ञान है, आनन्द है, ज्ञान उसका लक्षण हैं' ... लो न, अन्तिम में अन्तिम यह एक ही। ज्ञानलक्षण है, उससे लक्ष्य (तक पहुँचना)

इतना भेद पड़ा न? इतना भेद आता है, तथापि वह कोई चीज़—वस्तु नहीं। अन्तर्मुख दृष्टि करने से वह चीज़—व्यवहार कुछ चीज़ नहीं। समझ में आया? अरे! धर्म की पद्धति ऐसी सूक्ष्म। लोगों को (ऐसा लगता है कि) व्यवहार से होता है, व्यवहार से कुछ होता है। यहाँ तो कहते हैं, गुण-गुणी के भेद का विकल्प, उससे नहीं होता। होता है इससे, कहते हैं, खेद वर्णन किया है, अरेरे! सीधे आत्मा अनुभव में आया नहीं इसलिए उसे बीच में ऐसा भेद आता है। आहाहा!

इस प्रकार का तत्त्व का यथार्थ ज्ञान करने के लिए 'यह आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है' ऐसा भेदरूप भाव-विकल्प व्यवहार आता है। अरेरे! क्या करें? खेद है कि बीच में यह आता है, ऐसा कहते हैं। व्याख्या में लिखा है न गजाधर ने? उन्होंने तो ऐसा लिखा है कि अरेरे! खेद है। हमारा चले तो इस व्यवहार का आश्रय ही न लें, परन्तु आता है, क्या हो? अनादि का अनजान तत्त्व है, इसलिए उसे पकड़ने में सीधे अभेद पकड़ सके, ऐसा उसे ज्ञान नहीं। इसलिए उसे ऐसा समझाते हैं और स्वयं भी ऐसे विकल्प से (समझे कि) यह आत्मा 'यह ज्ञान, वह आत्मा, लक्षण ज्ञान उस आत्मा का।'—ऐसा उसे प्रथम सविकल्पदशा में भाव होता है। आहाहा!

तो भी कहते हैं कि वह भेद है, उससे प्राप्त नहीं होता। वह तो सीधा निर्विकल्प चैतन्यमात्र आत्मा परम पदार्थ वस्तु भगवान आत्मा, उसे देखने से... **अन्तरंग में देखता है...** ऐसा कहा न? वस्तु अखण्ड अभेद पर जहाँ दृष्टि पड़ी, 'यह अखण्ड अभेद है' वह विकल्प नहीं, अन्तर में निर्विकल्पदशा द्वारा अभेद का आश्रय करके देखे और अनुभव करता है, **उन्हें यह व्यवहारनय कुछ नहीं है।** लो, व्यवहारनय प्रयोजवान है, इसका विवाद। प्रयोजनवान का कहाँ अर्थ था...? वस्तुस्वरूप अभेद का आश्रय किया और फिर पर्याय में रागादि है या शुद्धता के अंश कम हैं, वे शुद्धता के अंश बढ़ते हैं और रागादि अंश घटते हैं—ऐसे अनेक भावों को जानना, बस यह व्यवहार है। प्रयोजनवान की व्याख्या यह है। कार्यकारी है, दोनों नय कार्यकारी... आता है न वापस? लो। परन्तु इसका अर्थ क्या?

ओहोहो! चैतन्य भगवान, वह तो प्रत्यक्ष अपने स्वभाव से ज्ञात हो, ऐसी चीज़

है। उसे कोई भेद या विकल्प से ज्ञात हो, ऐसा स्वभाव नहीं, तथापि अनादि से वह वस्तु का स्वरूप क्या है, ऐसा लक्ष्य में लिया नहीं, इसलिए सर्वज्ञ परमात्मा ने संक्षिप्त में कहा कि ज्ञानलक्षण वह आत्मा, यह जाने, वह आत्मा। ऐसा व्यवहार बीच में होता है परन्तु वह अन्तर के स्वरूप की दृष्टि में, अनुभव में होता है, उसे व्यवहारनय कुछ नहीं। उपादेय तो वह (अभेद आत्मा) है। क्या कहते हैं यह? इसमें करना क्या हमारे? ऐसा कहे। ऐसा आत्मा वस्तु है, उसे पहले विकल्प द्वारा, जैसा है वैसा ज्ञान यथार्थ स्वभाव... व्यवहार आया न? उसे वह विकल्प का भाग पहले आता है, होता है, परन्तु अन्तर स्वभाव का अवलम्बन लेकर अन्तर में देखने से, अनुभव करने से वह व्यवहार-फ्यवहार है नहीं। व्यवहार है ही नहीं कुछ।

और (इस ४९वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) — स्वयं कहते हैं। यह समयसार का आधार दिया था।

शुद्धनिश्चयनयेन विमुक्तौ सन्सृतावपि च नास्ति विशेषः।
एवमेव खलु तत्त्व-विचारे शुद्ध-तत्त्व-रसिकाः प्रवदन्ति॥७३॥

श्लोकार्थः—शुद्धनिश्चयनय से... वस्तु से देखने पर **मुक्ति में तथा संसार में अन्तर नहीं है;...** वस्तु में। मुक्ति की एक समय की पर्याय और संसार की एक समय की अवस्था, वह वस्तु में है नहीं। वस्तु तो मुक्ति की पर्याय में और संसार परिणति में जैसी है, वैसी है। **शुद्धनिश्चयनय से...** अर्थात् त्रिकाली ध्रुवस्वभाव को देखनेवाले नय से अथवा त्रिकाली को देखना, वही निश्चयनय है। इस नय से देखें तो मुक्ति की पर्याय के समय अथवा संसार की पर्याय के समय वस्तु में कुछ अन्तर—फर्क नहीं है। वस्तु तो ध्रुव चैतन्य सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मस्वरूप, अपना परमात्मस्वरूप परमस्वरूप—परमात्मस्वरूप, उसमें तो मुक्ति और संसार में दोनों में कुछ अन्तर नहीं है। समझ में आया?

ऐसा ही वास्तव में, तत्त्व विचारने पर... ऐसा ही वास्तव में '**एवमेव खलु तत्त्व-विचारे**' '**एवं एव खलु तत्त्व-विचारे**' ऐसा है न? **ऐसा ही वास्तव में, तत्त्व विचारने पर (परमार्थ वस्तुस्वरूप का विचार अथवा निरूपण करने पर),...** यह तो कथन है।

शुद्धतत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं। ओहो! ज्ञानरस का सत्त्व-तत्त्व अकेला ध्रुव, उसका तत्त्व विचारने पर दो भेदोंवाला तत्त्व नहीं। तत्त्व तो अभेदस्वरूप एक ही है, ऐसा शुद्ध तत्त्व के रसिक पुरुष कहते हैं। देखो! त्रिकाली भगवान आत्मा सत्ता सत्... सत् की सत्ता ऐसी ध्रुव है कि जिसमें ये दो प्रकार के भेद नहीं हैं। वह तो एकरूप ही वस्तु त्रिकाली ध्रुव है। उस तत्त्व के रसिक—तत्त्व के रसिक पुरुष ऐसा कहते हैं अथवा ऐसा अनुभव करते हैं। 'कहते हैं' यह तो भाषा है। समझ में आया? अरे! ऐसा धर्म गजब भाई! उसमें प्रौषध, प्रतिक्रमण, सामायिक तो कहीं आया नहीं। यह सब पर्यायें और विकल्प वस्तु में नहीं, ऐसा आया।

अब ५० (गाथा)। सार में सार गाथा है ५०। ५० की... गूँज उठती है, गूँजती है। भाई कहते थे प्रकाशदास। प्रकाशदास ने सुनी है न ५०वीं? वहाँ सुना है, वहाँ राजकोट। यह राजकोट में वाँचन हो गया है। १५ दिन

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सग-दव्व-मुवादेयं अंतर-तच्चं हवे अप्पा॥५०॥

पर-द्रव्य हैं परभाव हैं पूर्वोक्त सारे भाव ही।
अतएव हैं ये त्याज्य, अन्तस्तत्त्व हैं आदेय ही॥५०॥

टीका:—यह, हेय-उपादेय अथवा त्याग-ग्रहण के स्वरूप का कथन है। हेय कौन है और उपादेय कौन है, त्यागनेयोग्य कौन है और ग्रहणयोग्य कौन है? ओहोहो! चार भाव, वे त्यागनेयोग्य हैं, ऐसा कहते हैं। क्षायिकभाव, वह पर्याय है न? यहाँ तो अभी उदयभाव राग छोड़ना, छोड़नेयोग्य है, हेय है, (ऐसा) करना कठिन पड़ता है। अरे भगवान! आहाहा! अब तो व्यवहार निभाना है... निभाना... क्या? निभाते हुए... अरे भगवान! अरे! मार्ग अलग, प्रभु! तेरा (मार्ग) अलग है, हों! आहाहा!

यहाँ तो चार भाव को हेय कहा है, त्यागनेयोग्य कहा है। आहाहा! एक त्रिकाली भाव को ही उपादेय और ग्रहण करनेयोग्य कहा। यह उसका उपोद्घात। आहाहा! भगवान आत्मा, उसके दो भाग—एक पर्याय का भाग—उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक तथा एक (भाग) त्रिकाली अन्तर भाग। अन्तर त्रिकाली, वह उपादेय और वह

ग्रहण करनेयोग्य और चार भाव, वे हेय और छोड़नेयोग्य हैं। यह बात की है। आहाहा! पहला उपोद्घात यह है। व्यवहार दया-दान, व्यवहाररत्नत्रय छोड़नेयोग्य है, वह तो कहीं रह गया। यह तो निश्चयरत्नत्रय पर्याय, वह हेय, छोड़नेयोग्य है, त्यागनेयोग्य है, ग्रहणयोग्य नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! दो अर्थ किये हैं पाठ में। हेय-उपादेय और त्याग-उपादान। '**लक्षण कथनम् इदम्**' स्पष्ट किया। भगवान आत्मा में हेय क्या? पहला व्यवहार लिया है। त्याज्य क्या? और उपादेय और ग्रहण क्या? पहला व्यवहार लिया। समझ में आया?

कहते हैं कि **जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं,...** चार भावों की पर्यायें, **वे पहले (४९वीं गाथा में) व्यवहारनय के कथन द्वारा उपादेयरूप से...** जाननेयोग्य **कही गयी थीं,...** वहाँ जानने में जाननेयोग्य कहने में आयी थी। उपादेय का अर्थ हो गया है, यहाँ 'जाननेयोग्य।' चार भाव जाननेयोग्य हैं। वह तो 'व्यवहारनय जाना हुआ प्रयोजनवान है' यह बात आ गयी है पहले। एकान्त से व्याख्या ली है, ऐसा कहते हैं। एकान्त हमारे नहीं। एकान्त ग्रहण नहीं करना, ऐसा। पहले यह किस नय का कथन है... एकान्त ग्रहण... शुद्धपना... शुद्धपना... शुद्धपना ग्रहणयोग्य हे और व्यवहार ग्रहणयोग्य नहीं, (इसमें) एकान्त हो जाता है। यह एकान्त शुद्ध ही आदरनेयोग्य है। व्यवहार करनेयोग्य या आदरनेयोग्य नहीं, (ऐसा माने तो) एकान्त हो जाता है। यहाँ कहते हैं व्यवहार आदरनेयोग्य है, करनेयोग्य है, (ऐसा माने तो) वह मिथ्यात्व हो जाता है। मिथ्या एकान्त हो जाता है, ऐसा कहते हैं। और त्रिकाली आदरणीय है और त्रिकाली, वह ग्रहणयोग्य है, यह सम्यक् एकान्त होता है। वहाँ ही पर्याय का अनेकान्त का ज्ञान सच्चा हो जाता है... व्यवहारनय के कथन द्वारा जाननेयोग्य कहे गये थे।

किन्तु शुद्धनिश्चयनय के बल से... अर्थात् **(शुद्धनिश्चयनय से)...** सभी जगह ऐसा लिखा है। पाठ में '**परद्रव्य परभाव इति हेयं**' ऐसा है। अर्थ में—शब्दार्थ में '**परस्वभाव परद्रव्य इति हेयं**' है। टीका में 'हेय क्यों है' ऐसा करके पहले हेय रखा है। क्या कहा यह? पाठ में ऐसा कहते हैं कि चार भाव है—उदय, उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक—क्षायिक समकित आदि, वह परद्रव्य है। वह परभाव है, वह परस्वभाव है और हेय है, ऐसा कहा है। परन्तु शब्दार्थ में सीधे रखने के लिये ये चार हैं, परस्वभाव

हैं। परस्वभाव, इसलिए परद्रव्य है, इसलिए हेय है। टीका में कहा कि चार भाव शुद्धनिश्चय के बल से हेय है। हेय है सीधे, (ऐसा कहा)। वे हेय क्यों है, यह बाद में रखा है। आहाहा! वे हेय हैं। क्योंकि हेय-उपादेय कहा था न पहले? परन्तु हेय क्यों है, इसका कारण रखा और उपादेय क्यों है, उसका कारण रखा। समझ में आया? अलौकिक बात है। आहाहा!

लोगों को सत्य सुनने को (मिलता नहीं)। अभेद का आदर करे तो ठीक है, लाभदायक है, इस बात में उन्हें (ऐसा लगता है कि) परन्तु करना क्या हमारे? परन्तु यह करना नहीं? वास्तव में तो... यह कहते हैं न? कि स्वद्रव्य उपादेय है। उपादेय तो परस्वभाव द्वारा उपादेय है। उपादेय तो द्रव्य है, परन्तु (किसके द्वारा)? पर्याय द्वारा। परन्तु उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक पर्याय तो वापस परस्वभाव हो गयी। उस पर्याय से उपादेय है। जिसे यहाँ परभाव-परस्वभाव कहेंगे, परद्रव्य कहा, उससे उपादेय कौन है? कि यह। समझ में आया? यह गाथा मूल वस्तु है, सूक्ष्म है। धीरे-धीरे चलता है। तीन भाग तो किये पहले। दो तो टीका में किये हेय और उपादेय, त्याग और ग्रहण। हेय है, वह त्यागनेयोग्य है। हेय कहो या त्यागनेयोग्य कहो। उपादेय कहो या ग्रहण करनेयोग्य कहो। हुए, दो भाग पड़े।

अब पाठ में, '**परदव्वं परसहावं इदि हेयं**' कहा। यह सब चार भाव—उदय, क्षायिकभाव आदि—दया-दान के विकल्प, उपशम समकित, उपशम चारित्र, क्षयोपशमज्ञान, क्षयोपशम चारित्र, क्षयोपशम समकित, क्षायिक समकित आदि—ये सब परद्रव्य हैं। ऐसा पाठ में वापस ऐसा लिया। उस पद के साथ मिलाना है न? भाव तो कहना है कि परस्वभाव है। वह परस्वभाव है, इसलिए वह स्वद्रव्य नहीं; इसलिए परद्रव्य है, इसलिए वह हेय है, ऐसा। टीकाकार ने ऐसा सीधे-सीधे लिया कि हेय और उपादेय, त्याग और ग्रहण करनेयोग्य क्या चीज़ है? तब कहते हैं कि त्याज्य और हेय, ये चार भाव हैं। शुद्धनिश्चय के बल से अर्थात् (नय से) वे हेय हैं। कौन वे? चार भाव। पोपटभाई! अरे! ऐसी बातें कठिन। क्षायिक समकित, छठवें गुणस्थान में चारित्रदशा... चारित्रदशा... स्वसंवेदन निजवैभव... कहा न कुन्दकुन्दाचार्य ने? मेरे निजवैभव से कहूँगा। ऐसा निजवैभव... वह परभाव और यहाँ परस्वभाव कहा है,

परस्वभाव। स्वस्वभाव त्रिकाली नहीं, वह परस्वभाव; इससे वह परद्रव्य; इससे वह हेय है। आहाहा!

अरे! परम सत्य की बातें कान में पड़ने पर इसे ऐसा लगता है कि ऐ... एकान्त है... एकान्त है। आहाहा! अब इसे कब जाना अन्दर? पर्याय को भी आदरणीय माने, कार्यकारी माने, प्रयोजनवानरूप से कार्यकारी माने तो अनेकान्त। यहाँ इनकार करते हैं कि ऐसा नहीं है। आहाहा! पर्याय चाहे तो निर्मल या रागवाली हो, दोनों हेय हैं। दोनों त्यागनेयोग्य हैं। तब अनेकान्त होता है। वह हेय है, त्यागनेयोग्य है और त्रिकाली ज्ञायकभाव उपादेय है और ग्रहण करनेयोग्य है—(ऐसा जाने), तब अनेकान्त होता है। आहाहा! क्या हो इसमें? किसे कहाँ शोर मचाये? वस्तुस्वभाव ही जहाँ ऐसा है। क्योंकि वह वस्तु एक समय की पर्याय है, वह त्रिकाली स्वभाव नहीं; और त्रिकाली स्वभाव, वह स्वद्रव्य है। इसलिए त्रिकाली स्वभाव नहीं, वह एक समय की पर्याय परस्वभाव है। इस स्व की अपेक्षा से परस्वभाव है, ऐसा। और स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य है। और यह उपादेय है तो वह हेय है, यह ग्रहणयोग्य है तो वह त्यागनेयोग्य है। बात तो सीधी है। आहाहा!

यह त्यागनेयोग्य है और यह ग्रहणयोग्य है, ऐसा जो विकल्प आवे पहला... स्वभाव, वह आदरणीय और ग्रहणयोग्य है और चार पर्यायें जो हैं, वह तो एक समय की दशा है, इसलिए वह परस्वभाव है, त्रिकाली स्वभाव नहीं। और त्रिकाली नहीं, इसलिए वह परद्रव्य है, स्वद्रव्य नहीं; इसलिए वह हेय है, उपादेय नहीं। इसलिए वह त्यागनेयोग्य है, आचरनेयोग्य नहीं। आचरनेयोग्य, आदरनेयोग्य तो द्रव्यस्वभाव है।— ऐसा विकल्प में पहले निर्णय करता है, वह भी हेय है। आहाहा! कहो, चिमनभाई! ऐसा तत्त्व है। अब उसमें वस्तु की स्थिति ही ऐसी सत् है, ऐसा कहते हैं। पर्यायरूप त्याज्य जो है, उसे तो, कहते हैं कि वह परस्वभाव है। आहाहा! स्वस्वभाव उसे कहते हैं कि जो त्रिकाल रहता है। त्रिकालीभाव, वह स्वस्वभाव; इसलिए वह स्वद्रव्य; इसलिए वह उपादेय और ग्रहण करनेयोग्य है। भले उपादेय और ग्रहण करनेयोग्य पर्याय से काम...

मुमुक्षु : हेय से उपादेय पकड़ में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वह है, इसलिए ऐसा पकड़ में आता है, ऐसा कहते हैं। यह तो स्याद्वाद की शैली ऐसी है न? अनेकान्तस्वरूप।

'**भूदत्थमस्सिदो खलु**' लिया, लो। भूतार्थ का आश्रय करे। आश्रय करे कौन? भूतार्थ करे? ऐई! (समयसार) ११वीं गाथा में ही सब आता है। भूतार्थ त्रिकाल... त्रिकाल... त्रिकाल... वही स्वभाव और वही स्वद्रव्य, उसका आश्रय करना। उपादेय है, उसका आश्रय करना। परन्तु आश्रय करनेवाली पर्याय तो, यहाँ परद्रव्य में और हेय में डाली, वह पर्याय है। परन्तु ऐसे जाती है, वहाँ वह पर्याय मुड़ जाती है... परन्तु उस पर्याय में उपादेय और आदरणीय वह द्रव्य है। आहाहा! समझ में आया? कठिन बातें। इसमें कुछ वाद-विवाद से पार पड़े, ऐसा नहीं है। करो चर्चा। अब चर्चा हो गयी बहुत। भगवान! तुझे काम करना है या चर्चा करनी है अब? आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं पाठ में कहते हैं कि यह पूर्व में कहे हुए चार भाव, वे परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं, लो। वे स्वयं कहते हैं, उसमें निकालना क्या? वह किस अपेक्षा से (कहते हैं) वह अपेक्षा जाननी चाहिए न? व्यवहारनय, पर्याय होकर सब व्यवहारनय है। यह त्रिकाल, वह निश्चयनय है और निश्चय के आश्रय की अपेक्षा से सब पर्याय (का लक्ष्य) छोड़नेयोग्य है। पर्याय का लक्ष्य छोड़नेयोग्य है। उसका (त्रिकाली का) लक्ष्य करनेयोग्य है। भले लक्ष्य करनेवाली पर्याय है, परन्तु (जिसका) लक्ष्य करना है, वह द्रव्य है। आहाहा! चेतनजी! क्या है यह?

'**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो**' अन्तर्मुख में देखनेवाली पर्याय तो अन्तर्मुख त्रिकाली ध्रुव को देखती है अर्थात् कि उसके ऊपर उसकी दृष्टि है, अर्थात् कि वह उसे उपादेय मानती है। उपादेय का अर्थ ही उसमें एकाकार है, ऐसा। ध्रुव में एकाकार है पर्याय। इसलिए ध्रुव को उपादेय और ग्रहण करनेयोग्य, ज्ञान में आदरनेयोग्य कहा है। आहाहा! अभी तो पहली समझण की ही दिक्कत, परलक्ष्यी समझण में दिक्कत। अब उसे स्वलक्ष्य कैसे करना, यह कैसे बैठे? व्यवहार पहला... कहा न पहला? व्यवहार आवे भेदरूप, परन्तु वह भेदरूप व्यवहार कहलाये कब? उसे छोड़कर अभेद का आश्रय किया, तब उसको व्यवहार कहा जाता है। वस्तु ही नहीं तू, जा। आहाहा! थोड़ा परन्तु सत्य और परम सत्य त्रिकाल हो, ऐसा होना चाहिए। बड़ी-बड़ी

बातें लम्बी-लम्बी हो, जिसमें सत्य की गन्ध भी न हो, उसमें कहीं सत्य हाथ नहीं आता, भाई! समझ में आया? आहाहा!

यहाँ तो व्रत पालो, दया पालो, पूजा करो, भक्ति करो, महाव्रत धारण करो, अपवास करो। बापू! भगवान! उसमें हाथ नहीं आवे कुछ, हों! और उसमें लगेगा कि दूसरे संसारी ऐसा करते हैं, उससे कुछ अलग करते हैं, कुछ दूसरे प्रकार से करते हैं। दुकान में बैठने की अपेक्षा उपाश्रय या मन्दिर में बैठा करें, इतना अन्तर तो है, ऐसा उसे लगता है। कुछ अन्तर नहीं है।

मुमुक्षु : अन्त:तत्त्व हाथ तो नहीं आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी अन्त:तत्त्व... विकल्प द्वारा भी, अन्त:तत्त्व वह आदरणीय और ग्रहणयोग्य है—ऐसा विकल्प द्वारा अभी इसे बैठता नहीं... 'ज्ञान, वह आत्मा' इतना कहकर भी... (समयसार) ८वीं गाथा में तीन लिये थे 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो वह आत्मा' यह व्यवहार। पश्चात् 'ज्ञान, वह आत्मा' १०वीं (गाथा में)। ९वीं में तो... १०वीं में। भाई! १०वीं में यह कहा। अकेला 'ज्ञान, वह आत्मा' ऐसा लिया। ८वीं में दर्शन-ज्ञान-चारित्र इस भेदरूप से परिणमे, वह आत्मा इतना। तीन में से निकालकर एक निकाला। एक निकाला, वह भी व्यवहार। आहाहा!

अब, किस व्यवहार को करना और किस व्यवहार से निश्चय पावे? आहाहा! क्या हो? प्रभु! इसे नुकसान होता है। ऐसा अवतार मिला। आहाहा! यह तो वस्तु का स्वरूप—स्थिति है। मार्ग ऐसा है। व्यक्ति इससे विरुद्ध मानते हों, उसे ऐसा लगे कि लो, हमारा यह उत्थापते हैं। बापू! परन्तु मार्ग ऐसा है, उसमें तेरा-मेरा यह बात ही कहाँ है? आहाहा! ४९ (गाथा) में जो जानने में कहने में आये, परन्तु शुद्धनिश्चय के बल से वे चारों भाव हेय है। आहाहा! अभी तो व्यवहाररत्नत्रय हेय है और उससे आत्मा को लाभ नहीं होता—यह बात विकल्प के ज्ञान में बैठना कठिन पड़े। क्यों, जयन्तीभाई!

शुद्धनिश्चयनय के ज्ञान से वे हेय हैं। पहले यह टीका में लिया। उसमें अन्तिम शब्द था हेय का, उसका यहाँ पहला लिया। पद में था परस्वभाव दूसरा, उसे अर्थ में लिया पहला। परद्रव्य पहला था पाठ में, अर्थ में लिया दूसरा। हेय को लिया तीसरा पाठ

में और अर्थ में हेय को तीसरा लिया। इस प्रकार 'परस्वभाव परद्रव्य हेयं।' टीकाकार ने कहा कि पहला हेय कौन है—यह कहता हूँ, किस कारण से, फिर कहूँगा। समझ में आया? यह तो, आहाहा! वीतराग की कसौटी पर चढ़ाया हीरा को पासा पाड़ने की बात है यह। किस कारण से? ऐसा कहकर अब परस्वभाव और परद्रव्य की बात करेंगे। समझ में आया? धीरे-धीरे विचारने का भी अवसर रहना चाहिए साथ में। यह कहीं उस प्रोफेसर की बात नहीं। एक घण्टा बोल जाये, जाओ, वह सुन ले। मेट्रिकवाले को होता है न? कॉलेज में। वे सुनें, वह मारे एक घण्टे मारा हो कि अब जाओ। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, बापू! सुनते हुए भी तुझे जरा विचारने में 'क्या है' इसका अवकाश रहता जाये, ऐसी यह बात है।

ओहोहो! कुन्दकुन्दाचार्य भगवन्त के पथानुगामी, इसलिए तीसरे नम्बर में आये न! 'मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी, मंगलं कुन्दकुन्दार्यो...' सर्वज्ञ के पथानुगामी, सर्वज्ञ को प्राप्त करने की तैयारीवाले, सर्वज्ञ के पुत्र। गणधर को पुत्र कहा है, परन्तु धर्मी भी पुत्र ही है। आहाहा! ऐसा कहते हैं, मति और श्रुतज्ञान केवलज्ञान को बुलाता है। यहाँ कहते हैं कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान और केवलज्ञान, यह सब पर्यायें हैं, वे हेय हैं। आहाहा! क्योंकि पर्याय में से पर्याय आती नहीं। इसलिए वह पर्याय, जैसे परद्रव्य में से पर्याय आती नहीं, वैसे अपनी पर्याय में से पर्याय आती नहीं; इसलिए इस अपेक्षा से उसे परस्वभाव कहकर परद्रव्य ही कहते हैं। जिसकी खान में से पर्याय आवे, उसे स्वस्वभाव और स्वद्रव्य कहते हैं। आहाहा!

मरण का अवसर हो, पच्चीस वर्ष का जवान हो, छह महीने का विवाहित हो, पाँच-पच्चीस लाख की पूँजी हो, एक ही पुत्र हो, और जब मरता हो, वह स्थिति कैसी होगी? उदास... उदास... आहाहा! उसके पिता की उम्र ७० वर्ष की हुई हो, २५ वर्ष का इकलौता पुत्र हो, छह महीने का विवाह, पच्चीस-पचास लाख की पूँजी... आहाहा! स्वयं को—पिता को जरा क्षय (टी.बी.) का असर हो। आहाहा! देखो! वह स्थिति। अन्तिम श्वास लेता हो। शोक छाया हो, कहीं उसकी नजर न हो। आहाहा! कोई कर देगा मेरा? श्वास भी चलता हो तो दर्द उठाता हो, दर्द उठाता हुआ श्वास चले। आहाहा! उसे वहाँ देखने का अवसर वह अन्दर में है। आहाहा! कहीं देखे तो उसे लाभ

हो, ऐसी चीज़ कहीं है ? आहाहा! इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, बापू! चार पर्याय देखने से तुझे अन्तर का लाभ मिलना नहीं होगा। आहाहा! समझ में आया ?

ओहोहो! ऐसे वचन! श्वेताम्बर में है ? चेतनजी! यह तो मार्ग ऐसा है, हों! बापू! किसी व्यक्ति के लिये ऐसा नहीं। सम्प्रदाय तो जिसकी जो स्थिति है... परन्तु सत्य तो ऐसा ही है, यह सत्य जब तक इसे सुनने में न मिले, विकल्प द्वारा, ऐसे सत् का आश्रय करे तो लाभ हो, ऐसा विकल्प द्वारा भी निर्णय का जहाँ प्रसंग—अवसर नहीं, अरेरे! वहाँ आगे अन्तर में उतरकर लाभ हो, वह प्रसंग कैसे बैठे इसे ? ओहोहो! जब यह गाथा लिखी जाती होगी... विकल्प है उस समय। परमाणु की—भाषा की पर्याय वहाँ होती है, अन्तर... उस समय। '**परदव्वं परसहावं इदि हेयं**' आहाहा! पश्चात् '**सगदव्वमुपादेयं अंतरतच्चं**' पश्चात् '**हवे अप्पा**' इतना पृथक् करेंगे यहाँ वापस। अन्तर्तत्त्व वह स्वद्रव्य और उसका आधार, वह आत्मा। '**अप्पा**' शब्द पड़ा है न! आहाहा! गजब है! ५०वीं गाथा। यहाँ से सात राजू के अन्तराल में सिद्ध भगवान हैं। आधे हैं न ? ... आहाहा! उस आधे का अंक भर डाले, ऐसी यह गाथा है। ५० है न, ५०। आहाहा!

भगवान! तेरा महाहिस्सा बड़ा चैतन्य का ध्रुवहिस्सा, जिसे अन्तरभाग ...में आता है। अन्तरभाग—अन्तरवस्तु, वह एक उपादेय और ज्ञान में ग्रहण करनेयोग्य वह एक चीज़ है। आहाहा! ऐसी जिसे अभी व्यवहारश्रद्धा का विकल्प में ठिकाना न हो... वह पर्याय हेय है। 'हेय है' इसका अर्थ कि पर्याय के प्रति लक्ष्य छोड़ दे, ऐसा। आहाहा! यह उपादेय है अर्थात् ? वहाँ दृष्टि को जमा। उपादेय अर्थात् यह उपादेय, ऐसा है ? यह आत्मा उपादेय है—वह तो विकल्प है और यह पर्याय हेय है, छोड़ो... छोड़ो... ऐसे छोड़ी जायेगी ? ऐसे हेय होगी ? समझ में आया ? ये चार प्रकार की पर्याय के ऊपर से लक्ष्य छोड़ने पर, यहाँ लक्ष्य जाने पर 'वह हेय और यह उपादेय' ऐसा कहा जाता है। आहाहा! वह किसी समय जब ५०वीं गाथा चलती होगी, वह घड़ी-पल... आहाहा! भगवान कुन्दकुन्दाचार्य जंगल में होंगे, ताड़पत्र पर लिखी जाती होगी। चार प्रकार के भाव—पर्याय... यह पहले से आया है न ? '**णो खइयभावठाणा णो खयउवसम-सहावठाणा**' जीव में है ही नहीं। यह सब... कहते हैं यहाँ। आहाहा!

कोई कहे कि '**पूर्वोक्तसकलभावाः**' कहा न ? विभाव पूर्वोक्त कहे थे ऐसे... वे

सब... वे सब कहाँ से आयी इसमें? वे सब इसमें आये पहले से। आहाहा! जो व्यवहारनय से 'पर्याय में है', ऐसा कहने में आया था और 'है' ऐसा जानने जैसा कहने में आया था, वह अन्तर के शुद्धनय के आश्रय करने में वे चार भाव लक्ष्य छोड़नेयोग्य हैं। कहो, समझ में आया इसमें? किस कारण से? हेय है, लक्ष्य छोड़नेयोग्य है, (यह) किस कारण से? यह भी टीका कैसी की, देखो! अब, इस टीका के करनेवाले को उड़ाते हैं। भगवान! तू क्या करता है, भाई? तुझे नहीं बैठती यह बात, इसलिए उनकी टीका मान्य नहीं। भाई! तुझे नुकसान है, तुझे खबर नहीं। आहाहा! **किस कारण से? क्योंकि वे परस्वभाव हैं...** देखो! यह तो दूसरा बोल है पाठ में। '**परदव्वं परसहावम् इदि हेयं**' अर्थ में—शब्दार्थ में था कि '**परदव्वं परसहावम् इदि हेयं**' यहाँ 'हेयं' क्यों है? यह न्याय से सिद्ध करते हैं। कि वे परस्वभाव हैं। आहाहा! एक समय की पर्याय परस्वभाव है। त्रिकाली स्वभाव, वह स्वस्वभाव है। स्व की अपेक्षा से एक समय की क्षायिक पर्याय भी परस्वभाव है। समझ में आया?

हेय क्यों है, अर्थात् कि लक्ष्य छोड़नेयोग्य क्यों है? कि वे त्रिकाल स्वभाव की अपेक्षा से वे परस्वभाव हैं। एक समय की पर्याय, वह परस्वभाव है। परस्वभाव शब्द लिया है, हों! समझ में आया? मुझे दूसरा क्या कहना है? 'परभाव नहीं' कहना... परस्वभाव कहा है। परभाव, वह अलग। परभाव अर्थात्? दूसरे भाव, ऐसा। भाई! क्या कहा? परभाव अर्थात् वह रागभाव पर है, ऐसा नहीं, यहाँ तो परभाव अर्थात् परस्वभाव, ऐसा। त्रिकाली की अपेक्षा से परस्वभाव, इस अपेक्षा से परभाव, इसलिए वह हेय है। विशेष आयेगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल २, गुरुवार, दिनांक - २४-६-१९७१
गाथा-५०, प्रवचन-४९

यह मोक्षमार्ग का अधिकार है। मोक्षमार्ग किसके आश्रय से—आधार से प्रगट होता है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (रूप) मोक्ष का मार्ग, वह किसके आधार से—किसके आश्रय से होता है, उसका वर्णन है। फिर से। **जो कोई विभावगुणपर्यायें हैं, वे पहले (४९वीं गाथा में) व्यवहारनय के कथन द्वारा उपादेयरूप से कही गयी थीं,...** अर्थात् जो पर्याय है आत्मा की अवस्थायें, वह राग की अवस्था हो या धर्म की अवस्था हो, उस अवस्था को ४९ गाथा में 'जाननेयोग्य' ऐसा कहने में आया था। आत्मा वस्तु है द्रव्य, उसकी एक समय की पर्याय-हालत, उस हालत के चार प्रकार हैं—(१) दया, दान, व्रत आदि विकल्प की दशा, (२) धर्म की उपशम समकित आदि दशा, (३) एक क्षयोपशम समकित आदि दशा, (४) एक क्षायिक समकित आदि दशा। यह सब दशायें एक समय की अवस्था है, इसलिए इन्हें ४९ (गाथा) में 'जाननेयोग्य है', ऐसा कहा था।

किन्तु शुद्धनिश्चयनय के बल से वे हेय हैं। ये चारों ही पर्यायें लक्ष्य करनेयोग्य नहीं, आश्रय करनेयोग्य नहीं, इसलिए इन्हें हेय कहा गया है। चाहे तो धर्म की पर्याय प्रगट हुई हो, वह भी हेय है। लो, व्यवहाररत्नत्रय का राग, वह तो हेय है ही, विकार है, विभाव है, परन्तु जो धर्म की पर्याय वीतरागी... वह पर्याय है न? वस्तु त्रिकाली के आश्रय से प्रगट हुई अवस्था है। इसलिए वह अवस्था भी हेय है, आश्रय करनेयोग्य नहीं।

किस कारण से... हेय है? **क्योंकि वे परस्वभाव हैं...** पुण्य-पाप के भाव, उपशम समकित आदि भाव, क्षायिक समकित आदि भाव, केवलज्ञान आदि भाव, क्षयोपशम निर्मल सम्यक् चार भाव—वे परस्वभाव हैं। आहाहा! अपना त्रिकाली स्वभाव, उसकी अपेक्षा से चार भाव परस्वभाव हैं। अपना त्रिकाली ज्ञायकभाव, वह स्वस्वभाव है, स्वभाव है, तो पर्याय, वह परस्वभाव, परभाव है। अरे! गजब काम कठिन। देखो! यह धर्म को प्रगट करने की पद्धति। धर्म, वह ध्रुववस्तु नित्यानन्द भगवान के आश्रय से प्रगट होता है। प्रगट हुई धर्म की दशा उसके आश्रय से नयी धर्मदशा प्रगट नहीं होती। आहाहा!

वीतराग का तत्त्व ऐसा सूक्ष्म है। उसका वीतरागी तत्त्व अर्थात् आत्मा। आत्मा त्रिकाली एक समय में ध्रुवस्वरूप परमस्वभावभाव... परमस्वभावभाव है। उसकी अपेक्षा से एक समय की पर्यायें, चाहे तो चारित्र की वह मुनि की दशा वीतरागी प्रगट हुई हो, तो भी वह परस्वभाव है। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की अपेक्षा से वह परस्वभाव है। त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव की अपेक्षा से स्वभाव वह है, तब सब पर्यायें परभाव है। अभी परभाव का अर्थ वह रागादि, ऐसा नहीं लेना। त्रिकाल ध्रुव चैतन्यस्वभाव, वह स्वभाव है। स्व-भाव है—अपना भाव है—स्वभावभाव है, तब पर्याय परभाव है, परस्वभाव है, इस कारण से उसे हेय कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें? कठिन काम, भाई!

अभी पुण्य के परिणाम हेय कहने पर अज्ञानी चिल्लाहट मचा जाता है। अरेरर यह! दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा का भाव, वह तो राग है, विकार है, पुण्य है, वह तो हेय ही है। यहाँ तो त्रिकाली ज्ञायकस्वभाव चैतन्य ध्रुव, वह स्व (द्रव्य) है। स्व के आश्रय से प्रगट हुई धर्मदशा, उसे भी यहाँ परस्वभाव और परभाव कहा गया है। क्योंकि उसके आश्रय से धर्म नहीं होता। आहाहा! आत्मज्ञान अनुभवसहित प्रगट हुई आनन्ददायक चारित्रदशा, उस दशा को भी यहाँ हेय कहा है। आहाहा! क्योंकि त्रिकाली भाव की अपेक्षा से वह परमभाव नहीं, परन्तु अपरमभाव है। त्रिकाली भगवान आत्मा, वह परमस्वभाव है और एक समय की चारित्र की वीतरागी पर्याय आनन्द की पर्याय प्रचुर स्वसंवेदनदशा, कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, हमें हमारा यह वैभव प्रगट हुआ है। यहाँ स्वयं कहते हैं, वह वैभव भी परभाव है। आहाहा! ऐई! मैं वैभव से कहूँगा अर्थात् मैं परभाव से समयसार को कहूँगा, ऐसा हुआ न? समझ में आया? अरे भारी अटपटा...

वहाँ तो ऐसा कहते हैं, हमको आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप, उस सम्पदा की प्राप्ति पर्याय में हुई है और उस अनुभव की दशासहित हम समयसार को कहेंगे, इतना। वह फिर आश्रय करनेयोग्य है, यह प्रश्न वहाँ नहीं। मैं मेरे वैभव से कहूँगा। वैभव कि (जो) अपना आत्मा आनन्दसम्पदा, उसके अवलम्बन से जो निर्मल अतीन्द्रिय आनन्द की दशा, चारित्र की प्रगट हुई, ऐसे अनुभवसहित मैं समयसार को कहूँगा, इतनी बात है। यहाँ तो अब मोक्षमार्ग का अधिकार है न यह नियमसार? तो मोक्ष का मार्ग किसके

आश्रय से प्रगट होता है ? वह प्रगट होता है त्रिकाली ध्रुवस्वरूप सामान्य परमस्वभावभाव जिसमें... क्योंकि त्रिकाली भाव, वह निश्चय है और पर्याय फिर चाहे तो सिद्ध की हो या केवलज्ञान की हो—वह सब पर्यायें हैं, इसलिए व्यवहारनय है। आहाहा!

वह सब हेय है। **किस कारण से ?** देखो! यहाँ परद्रव्य, परस्वभाव, हेय—ऐसा कहा। अर्थ में कहा कि परस्वभाव है न, इसलिए वह परद्रव्य है, इसलिए वह हेय है। टीका में कहा कि वह पर्याय हेय है। पर्याय जो चार प्रकार की है, वह हेय है। किस कारण से ? वह त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से वह परभाव है, परभाव है, परस्वभाव है; इसलिए उसे हेय कहा गया है। भारी कठिन बात। अभी तो यहाँ भगवान की पूजा का भाव, भक्ति का भाव, दया-व्रत का भाव, वह बन्धन का कारण है, वह हेय है, यह मानने में इसे पसीना उतर जाता है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! सुन न भाई! तेरा जो निज खजाना अनादि-अनन्त चैतन्य खजाना, वह तेरा स्वरूप और वह परमभाव, वह तेरी चीज़ है। उसकी अपेक्षा से जो पर्याय है... पंचाध्यायी में पर्याय को भी व्यवहारनय कहा है। फिर पर्याय क्षायिक हो या उपशम हो या उदय हो। पर व्यवहार और स्व निश्चय, यह बात तो साधारण हो गयी। यहाँ तो त्रिकाली वस्तु, वह निश्चय स्व और पर्याय, वह पर और पर अर्थात् व्यवहार, ऐसा। आहाहा! उसी और उसी में (निश्चय-व्यवहार)। समझ में आया ?

कहते हैं कि वह सब पर्यायें हेय हैं, छोड़नेयोग्य है, उनका लक्ष्य करनेयोग्य नहीं। लक्ष्य अर्थात् जाननेयोग्य भले हो, परन्तु आश्रय करनेयोग्य नहीं। हेय क्यों ? कि **वे परस्वभाव हैं...** परस्वभाव कहो या परभाव कहो। पर-स्वभाव, परभाव। स्व निकाल डालें तो परभाव अकेला रहा वह। यहाँ चार को कहा है न परभाव ? पहले में आ गया था। उपयोग में, नहीं ? उपयोग... उपयोग... कौन सी गाथा ? १०वीं गाथा है। कितने में है ? यह ३३ पृष्ठ। ३२-३३। १३वीं गाथा है न। १३वीं गाथा नीचे। **कारणदृष्टि तो, सदा पावनरूप और औदयिकादि चार विभावस्वभाव परभावों को...** अगोचर है। परभाव कहा है न ? यह तो परस्वभाव कहो या परभाव कहो। चारों ही विभावस्वभाव परभाव है। ...चिल्लाहट मचा जाये न इसमें! ऐई! भगवान! तेरा स्वभाव तो उसे कहते हैं कि जो त्रिकाली रहे। आहाहा! है न ? **चार विभावस्वभाव परभावों को...** है न, परभाव हैं।

... यह फिर खबर नहीं। जो कोई परभाव और पर... उसमें कुछ विशेष नहीं। यह तो चार भाव परभाव है, ऐसा... कहो, समझ में आया?

यह शरीर-वाणी-मन वे तो कहीं रह गये। १३वीं गाथा में है न? हाँ यह। अपने यहाँ स्वभाव में से परभाव निकालना है न? परस्वभाव कहो या परभाव कहो—एक ही बात है। और त्रिकालीभाव, उसे स्वभाव कहो या स्वस्वभाव कहो।

हेय है क्योंकि वे सब परभाव हैं, परभाव हैं, परस्वभाव है। आहाहा! केवलियों के पथानुगामी की यह कथनी है। आहाहा! वस्तुस्थिति ऐसी है। क्योंकि जब स्वद्रव्य और पर्याय के दो भाग करो, तो द्रव्य वह निश्चय होगा और पर्याय वह व्यवहार होगी। पर के साथ क्या सम्बन्ध है? परद्रव्य तो उसके कारण से टिककर परिणमता है, वह तो उसके साथ सम्बन्ध है। यहाँ तो त्रिकाली भगवान आत्मा, वह स्वयं निश्चय है और स्व है तथा एक समय की पर्याय चाहे तो केवलज्ञान की हो या सिद्ध की हो, क्षायिक समकित की हो, वह स्व की अपेक्षा से पर है और स्वभाव त्रिकाल की अपेक्षा से परस्वभाव है। उसे हेय क्यों कहा? कि परभाव है, इसलिए हेय कहा। अपना त्रिकाली स्वभाव नहीं, इसलिए हेय कहा, ऐसा कहते हैं। देखो! यह ५०वीं गाथा में ठीक आ गये दोनों। मणिभाई! लो, ऐसा है यह। यह तो जब आवे, तब आवे न!

बहुत सूक्ष्म ऐसा वीतरागी तत्त्व, परन्तु लोगों को ऐसा लगता है कि यह निश्चय है... निश्चय है, एकान्त है। ऐसा भारी जैन में यह घुस गया है। यह अमुक, वह एकान्त है... एकान्त है। ... एकान्त है, परन्तु सम्यक् एकान्त ही है यह, सुन न! यह त्रिकाली स्वभाव सम्यक् एकान्त स्वस्वभाव है। उसका आश्रय करने से ही धर्म होता है। एकान्त है। पर्याय के आश्रय से भी धर्म होता है और द्रव्य के आश्रय से धर्म होता है—ऐसा अनेकान्त होगा? आहाहा! अर्थात् कि पर्याय में से भी पर्याय आवे और द्रव्य में से भी पर्याय आवे—ऐसा होगा? चिमनभाई! ऐसा सूक्ष्म है यह।

यह तो महाभाग्य हो, उसे कान में पड़े, ऐसी बात है। कल सवेरे कहते थे न? पोपटभाई कहते थे। यह तो परम परमात्मा के घर की बात है। कि तेरे दो भाग में एक भाग हेय है, आहाहा! दूसरे पदार्थ की बात तो क्या करना? देव-गुरु-शास्त्र हेय कहने

पर तो चिल्लाहट निकल जाये। आहाहा! वीरचन्दभाई थे, वीरचन्द भूरा। कहा, देव-गुरु-शास्त्र पर है। अरे! शुद्ध है और पर? देव-गुरु-शास्त्र। भक्ति आदि करे, यह श्रीमद् का फोटो रखे और बत्ती करे। लो! यह भक्ति करे, वह सब राग है। वह धर्म नहीं और उससे धर्म टिकता नहीं। समझ में आया?

यह देव-गुरु-शास्त्र शुद्ध हैं न? शुद्ध हैं वे पर? कहे, यहाँ तो शुद्धपर्याय भी पर है। ऐई! देव-गुरु तो पर रह गये। देव-गुरु-शास्त्र तो परद्रव्य है, परवस्तु है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, तू जो त्रिकाली शुद्ध है, त्रिकाली शुद्ध, वह तेरा स्व और वह तेरा स्वभाव और वह तेरा भाव और वह तेरा द्रव्य। इस अपेक्षा से एक समय की शुद्धपर्याय समकित की—क्षायिक समकित की, चारित्र की और केवलज्ञान की, उसे भी... भेदरूप अंश है न वह? इसलिए उसे व्यवहार कहकर हेय कहा है। आश्रय करनेयोग्य नहीं, अवलम्बन करनेयोग्य नहीं। अब अवलम्बन, अभी तो मूर्ति का आलम्बन छुड़ाना हो तो कठिन पड़े और दोनों को दिक्कत स्थानकवासी और मन्दिरमार्गी को। वह कहे आलम्बन चाहिए। ऐई! वह कहे, आलम्बन नहीं मूर्ति का। जड़ है। सुन न, भाई! यह उसमें विवाद। व्यवहार शुभभाव का आलम्बन निमित्त, उसका विवाद। यहाँ तो कहते हैं कि शुभभाव, वह हेय और हुआ शुद्धभाव, उसका भी आलम्बन आत्मा को नहीं, लो।

और नहीं तब, किसलिए...? और ऐसा कहते हैं। अरे! सुन न भाई! पर्याय का आलम्बन नहीं, शुद्धपर्याय का आलम्बन नहीं। उसका आलम्बन हो तो उसके आश्रय से राग होता है, वह तो भेद है, परवस्तु है। आहाहा! ऐसी बातें तो किसी समय निकले और सुनाई दे ऐसी बात है यह। यह तो अन्दर के पेट की बातें हैं। लोग तो बेचारे बाहर से भड़ककर भाग जाते हैं। व्यवहार की कुछ बात ही नहीं, निश्चय की बात। परन्तु यहाँ निश्चय में... यहाँ तो कहते हैं कि तेरा व्यवहार राग, वह तो कहीं रह गया, निमित्त का व्यवहार तो कहीं रह गया, परन्तु यहाँ तो निर्मल धर्मपर्याय प्रगट हुई, वह व्यवहार है। क्योंकि वह परभाव है। त्रिकालीभाव नहीं, इसलिए हेय है, लो। आहाहा! है? देखो न! परन्तु इसमें पाठ है या नहीं? पाठ सामने रखकर अर्थ होता है।

जादवजीभाई नहीं कहते थे? कि पहले पुस्तक नहीं थी, इसलिए सामने कहे वह अर्थ... यह तो सामने रखा है। लो, इसका यह अर्थ होता है। पहले कहाँ थे ऐसे

साधन ? यहाँ तो कहते हैं हजार पुस्तकें छपाओ। सवेरे करे तो शाम को तैयार, लो। पहले था ? कितनी देरी लगे ? एक महीना। एक महीना और कितने... यह तो वहाँ गये तो... हजार-हजार छपा दो। हजार या कितनी ? खबर नहीं। पाँच सौ होगी, नहीं ? कौन जाने बहुत खबर नहीं। छपाना है। अफ्रीका के आये हैं न! उसमें होगी नहीं यह तो। प्रवचनसार १०० गाथा। कि तैयार। समयसार १०० गाथा। कि तैयार। गये वहाँ तैयार। दूसरे दिन आयी, पहले दिन नहीं थी। था ऐसा साधन पहले ? यह साधन सुलटा हुआ या नहीं ? ऐसा कहते हैं, साधन... परन्तु साधन... गजब बात है।

यहाँ तो ऐसा आया था कल। वह आया था न ? व्यवहार आता है... '**हंतः**' खेद है। अर्थात् कि पहले इसे शास्त्र का ज्ञान, परलक्ष्यी ज्ञान, नय-निक्षेप से सिद्ध किया हुआ आत्मा का ज्ञान, प्रमाण से सिद्ध किया हुआ ज्ञान, एक-एक गाथा के शब्दार्थ, नयार्थ, आगमार्थ, अन्य मतार्थ और भावार्थ—इनसे सिद्ध किया हुआ ज्ञान पहले होता है, बस इतना। परन्तु कहते हैं कि खेद है। यह आता है, नहीं तो इसके बिना भी सीधा आश्रय लें। है तो सीधा आश्रय स्व का, परन्तु एक भाव ऐसा होता है विकल्प में। शास्त्र का ज्ञान और वह भी प्रत्येक गाथा के शब्दार्थ, नयार्थ आदि पाँच भाववाला ज्ञान। वह बीच में होता है। खेद है। आहाहा! उसे छोड़कर अन्तर चैतन्यचमत्कार भगवान आत्मा के अनुभव में वह व्यवहार-फ्यवहार कोई चीज़ है ही नहीं। यह निर्णय किया था सब शास्त्र से, गाथा से... आहाहा! शास्त्र का सार वीतरागता, वह भी सार विकल्प से निर्णय किया था न पहले ? भाई! आहाहा!

अभी चारों अनुयोगों का सार वीतरागता है। ऐसा इसे अभी परलक्ष्यी ज्ञान में ऐसा निर्णय किया है। इसलिए ऐसा एक बीच में आये बिना रहता नहीं। क्योंकि अनादि वस्तु-चीज़ कैसी है, वह जाना नहीं, इसलिए जानने में ऐसे प्रकार आते हैं। क्योंकि वह क्या है, उसे जानना पहले आवे या नहीं ? उसे जानना, वह शास्त्र की ओर से आवे, वह सब व्यवहार है, कहते हैं। अरेरे! '**हंतः**' ऊपर लिखा है उन गजराजजी... गजानन्द (जी ने)। 'हंत' का अर्थ पण्डित जयचन्दजी ने 'खेद' किया है, वह मुझे अधिक पसन्द है। वह अधिक ठीक लगता है। वे दो अर्थ किये हैं न, वे तो बाद में आयेंगे। यह तो दो अर्थ किये हैं न ? उन भट्टारक शुभचन्द्राचार्य ने ऐसा अर्थ किया है 'हंत' का अर्थ। दूसरा

अर्थ किया है। इन्होंने 'खेद' किया है। कितना? पाँचवाँ श्लोक। लो पाँचवाँ।

...हंत इति व्याख्यालंकार... ऐसा कहकर हंत अवयव का प्रयोग वाक्य सुन्दरता के लिये बतलाया है। परन्तु जयचनद्रजी ने हंत अवयव का अर्थ खेद किया है। हम पण्डित जयचन्द्रजी के अर्थ से सहमत हैं, क्योंकि व्यवहार को हेय माना है। अपने यहाँ हेय है न? **इसलिए हंत शब्द का अर्थ खेद प्रगट किया है क्योंकि इसकी प्राप्ति के लिये हमें जबरन व्यवहारनय का प्रयोग करना पड़ता है।** विकल्प ऐसा... ऐसा... ऐसा... क्योंकि सर्वज्ञ ने कहा, ऐसा स्वरूप है, ऐसा इसने अनादि से जाना नहीं, इसलिए इसे बीच में ऐसा विकल्प का ज्ञान होता है। हमारा बस चलता तो बिना व्यवहार के अवलम्बन के शुद्ध चिद्रूप हो जाती, तो हम व्यवहारनय की ओर झांककर भी न देखते। परन्तु यहाँ तो वह कहना था। भट्टारक में अवयव लिया मात्र। यह कहे, 'हंत' है। 'हंत'... ऐसा कि व्यवहारनय अभूतार्थ है इसलिए 'हंत' (शब्द) बराबर है, ऐसा। यहाँ तो अपने 'हेय है' कहा न? हेय। आहाहा!

अरेरे! शुद्ध भगवान आत्मा त्रिकाली एकभावस्वभावरूप, परमभावरूप, स्वभावरूप, स्वसहायरूप, स्वस्वभावरूप की अपेक्षा से उसकी पर्यायें... और वह बराबर है न? पर्याय है, वह अंश है; अंश है, वह व्यवहारनय का विषय है। समझ में आया? आहाहा! अब यहाँ तक व्यवहारनय को हेय कहना, वह गले उतरे तो (सही) लोगों को। बापू! यह तो जन्म-मरण को टालने के मोक्षमार्ग की व्याख्या है न यह? नियमसार। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, एक निश्चय, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। व्यवहार, वह कोई वस्तु नहीं। आहाहा! ऐसा निश्चयमोक्षमार्ग जो द्रव्य के आश्रय से प्रगट होता है, यह सिद्ध करने के लिये पर्याय को हेय कहा, क्योंकि वह परभाव है, ऐसा। आहाहा! देखो न! शैली एक सत् की। पूर्ण सत् का आश्रय लेने को कैसी शैली की है! कथनपद्धति तो देखो! दिगम्बर सन्तों की वास्तविक कथन की शैली, अनुभव भले हो, परन्तु कथन में ऐसा एकदम (कहना कि) चार पर्यायें व्यवहार, वे हेय हैं, यह वह क्या?

क्योंकि वे परस्वभाव हैं... अपने परस्वभाव में से वे परभाव... और इससे उसे हेय कहने में आया है और इसीलिए परद्रव्य है। भाषा देखो! आहाहा! त्रिकाली स्वद्रव्य

की अपेक्षा से क्षायिक पर्याय परन्तु वह परद्रव्य। स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य, ऐसा। उसके अपने द्रव्य की अपेक्षा से दूसरा पर द्रव्य। भाई! आहाहा! गजब बात है न! अस्तिपना—महाप्रभु का सत्तापना—होनापना कितना? कि महाप्रभु स्वयं सामान्य एकरूप, वह स्वद्रव्य है। उसकी अपेक्षा से ये चार पर्यायें परभाव। उसकी (स्वद्रव्य की) अपेक्षा से वे परद्रव्य हैं। जब स्वस्वभाव की अपेक्षा से—स्व की अपेक्षा से परभाव—परस्वभाव है, तो स्वद्रव्य की अपेक्षा से वह परद्रव्य है। आहाहा! भाई! भगवान देव-गुरु-शास्त्र तो परद्रव्य है, अरिहन्त-सिद्ध तो परद्रव्य है, परन्तु यहाँ तो अन्दर प्रगट हुई धर्म की पर्याय वह परद्रव्य है। इसे गले उतरना कठिन पड़े। आहाहा!

प्रभु! तू तो महा प्रभु है! तेरी चीज़ ही अकेली नित्य ध्रुव है, वही तू स्वयं है। ऐसे स्वयं अर्थात् स्वद्रव्य की अपेक्षा से, ऐसा। स्वयं अर्थात् स्वद्रव्य की अपेक्षा से एक समय के अंश को—धर्म की पर्याय या पुण्य की पर्याय उसे—यहाँ परद्रव्य कहा है। पहले हेय कहा। किस कारण से? कि परस्वभाव है। वह अपना त्रिकालभाव नहीं। **इसीलिए परद्रव्य हैं।** ऐसी भाषा है न? भाषा। '**अत एव परदव्यं भवति**' टीका तो देखो टीका! आहाहा! **इसीलिए परद्रव्य हैं।** भगवान! परन्तु परद्रव्य तो आत्मा के अतिरिक्त कर्म, देव-गुरु-शास्त्र, सिद्ध भगवान, पंच परमेष्ठी परद्रव्य है, वह तो बराबर है। परन्तु आत्मा की आनन्ददायक दशा, सम्यग्दर्शन दशा, मोक्षमार्ग की दशा—निश्चयमोक्षमार्ग की दशा, सच्चा मोक्षमार्ग, कहते हैं, वह भी परभाव है—परस्वभाव है, इसलिए वह परद्रव्य है, लो। चिमनभाई! ऐसा अकेला मुम्बई में लगाया हो तो लगे बफम जैसा लगे।

मुमुक्षु : भाग जाये....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाग जाये? परन्तु अब तो लोग जरा तैयार हो गये हैं। कुछ कहते हैं, ऐसा हो गया है लोगों को। सुनो... सुनो... कुछ है। यह सब भाव हो। यह सब होता है। संसार तो सब है न! संसार में क्या नहीं होगा? आहाहा!

तीन बातें सिद्ध कीं। कि जो पर्यायें व्यवहार से 'है' ऐसी कही गयी थी, वे पर्यायें त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से हेय है, ऐसा कहा। और वे हेय किस कारण से कहा? कि परस्वभाव है। त्रिकाली स्वभाव की अपेक्षा से परस्वभाव है और इसीलिए उन्हें परद्रव्य

कहा गया है। आहाहा! यह तो पाठ में है। कोई ऐसा कहे कि यह ऐसा खींचकर जानकर निकाला है भाई ने—पद्मप्रभमलधारि मुनि ने। यह तो मूल पाठ में है। कुन्दकुन्दाचार्य की बात... वे फूलचन्दजी कहते हैं कितनी बार। किसी समय इसे उड़ा देंगे। सीधा तो उड़ावे नहीं, क्योंकि उनके अपने साथ कहीं मिलान खाये नहीं। यह कथन वह क्या किया? खोटा तो न कहे, परन्तु धीरे-धीरे कह देंगे... दूसरी भाषा में। आहाहा! भगवान! तेरा परम सत्य तो यह ही है। और त्रिकाली परम सत्य की अपेक्षा से तो पर्याय नहीं। उसमें तो नहीं अर्थात् कि पर्याय ही नहीं। जैसे स्वद्रव्य की अपेक्षा से दूसरा द्रव्य ही नहीं, अद्रव्य है। उसी प्रकार स्वद्रव्य त्रिकाली की अपेक्षा से पर्याय परद्रव्य है अर्थात् कि अद्रव्य है अर्थात् कि नहीं। आहाहा! ऐसी बात तो थोड़ी की थी वहाँ जयपुर में। वहाँ तो सब सुनते थे। ...सब अभ्यासी सब, पुराने-पुराने सुनते थे।

यहाँ तो परमात्मा सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं कि तेरा स्वतत्त्व जो द्रव्य, उसकी अपेक्षा से तो वे पर्यायें सब परद्रव्य है। आहाहा! दो भाग किये न? पहले स्व-आत्मा और स्वचतुष्टय से स्वयं है और परचतुष्टय से स्वयं नहीं। और परचतुष्टय से है वह स्वचतुष्टय की अपेक्षा से नहीं। अपने स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से आत्मा है और अपनी अपेक्षा से दूसरे सब द्रव्य नहीं, क्योंकि दूसरे सब द्रव्य अद्रव्य हैं, अक्षेत्र हैं, अकाल हैं और अभाव हैं। कहो, बराबर है?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहा था वहाँ ११वीं गाथा चली तब। देखो! यहाँ अभूतार्थ कहा है और झूठा कहा है, पर्याय को झूठी कहा। इसका अर्थ हुआ न वहाँ। अभूतार्थ कहा न, इसका अर्थ यह कि स्वयं वस्तु है स्वचतुष्टय से, उसकी अपेक्षा से जगत की चीज़ें सब अद्रव्य, अक्षेत्र, अकाल और अभाव है। मैं ही एक हूँ, दूसरा सब अद्रव्य है। यह द्रव्य नहीं मेरी अपेक्षा से, हों, उसकी अपेक्षा से भले हो। मेरी अपेक्षा से उसका क्षेत्र ही नहीं, वह अक्षेत्र है। उसका काल भी नहीं, अकाल है और उसका भाव का अभाव है। इस प्रकार यहाँ स्वद्रव्य में दो भाग करते हैं, तो स्वद्रव्य, वह सत्यार्थ है और पर्याय, वह असत्यार्थ है। समझ में आया? उसकी अपेक्षा से 'है' ऐसा पहले व्यवहार से स्थापित किया। 'व्यवहारनय से' ऐसा कहा न? जो कहे थे, वे

व्यवहारनय से हैं, उसकी अपेक्षा से वे हैं, पर्याय की अपेक्षा से पर्याय है। परद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य है, इसी प्रकार पर्याय की अपेक्षा से पर्याय है, परन्तु त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से लें तो वह पर्याय असत्य है, उसकी अपेक्षा से असत्य है। इसलिए यह 'द्रव्य है' तो उसे 'परद्रव्य' कहा जाता है, इसे 'स्वभाव' कहा जाता है, तब उसे 'परभाव' कहा जाता है। कहो, समझ में आया?

वे चार बोल आये हैं न वहाँ? अपना स्वद्रव्य, वह अस्ति और उसमें भेद डालना—गुणभेद, वह परद्रव्य। (२५२) कलश में—कलशटीका में। अपनी जो वस्तु है अभेद, वह स्वद्रव्य है और उसी द्रव्य में गुणभेद ऐसा विकल्प उठाना, एक में—अभेद में भेद उठाना, वही परद्रव्य है। और उस स्वद्रव्य के अभेद की अपेक्षा से परद्रव्य नहीं। ...आया था स्वक्षेत्र की अपेक्षा से निश्चय है। उस क्षेत्र के भेद करना, अपने क्षेत्र में हों! कि यह असंख्य हैं और यह प्रदेश और यह प्रदेश—वही परक्षेत्र है। स्वक्षेत्र, असंख्यप्रदेश एकरूप, वह स्वक्षेत्र है और भेद करना परक्षेत्र है और परक्षेत्र है, इसलिए अक्षेत्र है। इस स्व की अपेक्षा से अक्षेत्र है, उसकी (स्वयं की) अपेक्षा से क्षेत्र है। व्यवहार की अपेक्षा है न? ऐसे काल की अपेक्षा से त्रिकाली, वह स्वकाल से अस्ति है और उसकी एक समय की पर्याय त्रिकाल में से पृथक् करना, वह परकाल है। परकाल है। परकाल है, इसका अर्थ कि स्व की अस्ति की अपेक्षा से वह नहीं, उसकी अपेक्षा से परकाल है। आहाहा! गजब बात!

यह असत्यार्थ है न? यह आया ... '**ववहारो अभूत्थो**' आया था। सब सुनते थे। सब अभ्यासी हैं। कोई कुछ उंहकारा नहीं करता था। सुनो। न्याय से क्या चीज़ है यह। न बैठे, न सुनी हो, इसलिए यह खोटी है, ऐसा कैसे कहा जाये? समझ में आया? वह दसवीं पीढ़ी का बाप कौन था नाम सुना है? सुना है? सुना नहीं, इसलिए नहीं था? परन्तु तू है या नहीं? फिर उसका क्या है? नहीं खबर, नाम की खबर नहीं, कभी विचार भी नहीं किया कि दसवीं पीढ़ी का बाप कौन था? इसलिए वह विचारा नहीं, तेरे ख्याल में नहीं आता। तूने देखा नहीं, इसलिए नहीं था, ऐसा कैसे कहा जाये? समझ में आया? इसी प्रकार द्रव्य और पर्याय के भेद सुने न हों, इससे वे झूठे हैं, ऐसा कैसे कहा जाये? समझ में आया?

.... ऐसा हमने तो ऐसा सुना नहीं था। सुना नहीं अर्थात्? तेरी दसवीं पीढ़ी के बाप का (नाम) कब सुना था? आहाहा! सुना नहीं और याद भी नहीं इसे। इससे नहीं सुना? भगवान की वाणी... 'भवोभव जिन पूजियो' आता है न? भगवान की पूजा भव-भव में की है, अनन्त बार की है। खबर नहीं। खबर नहीं इसलिए नहीं, ऐसा कहा जाये? ऐसा कैसे कहा जाये? यह कहीं वस्तुस्थिति है? इसी प्रकार स्वद्रव्य में स्वद्रव्य का अस्तित्व है, इस अपेक्षा से पर्याय का अस्तित्व नहीं और इसलिए उस पर्याय को स्व की अपेक्षा से परभाव और परद्रव्य कहते हैं—ऐसी हमको खबर नहीं और इतना सब हमको अन्दर उतरता नहीं। आहाहा! वस्तु तो ऐसी है। तूने नहीं सुना हो, निर्णय में न आयी हो, इसलिए कहीं 'वस्तु नहीं', ऐसा कैसे कहते हैं? समझ में आया? आहाहा!

कैसे न्याय निकलते हैं, देखो न! टीका पद्मप्रभमलधारिदेव। पहले कहा कि बापू! जो पर्याय तो पर्याय है, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा से वह हेय है। **किस कारण से ? क्योंकि वे परस्वभाव हैं...** आहाहा! जिसे, एक समय की पर्याय केवलज्ञान, यथाख्यातचारित्र, क्षायिक समकित, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य है, भले साधक को नहीं, परन्तु जिसे है, उसके ऊपर लक्ष्य करने जाये तो विकल्प उठते हैं। इसलिए जिसे है, उसे भी हेय करनेयोग्य है तुझे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐई! **वे हेय हैं। किस कारण से ? क्योंकि वे परस्वभाव हैं...** स्वयं त्रिकाली जब उपादेय है, तब वह पर्याय हेय है। त्रिकाली जब स्वस्वभाव है, वह पर्याय वापस अभाव है, त्रिकाली जब स्वद्रव्य है, इससे वह पर्याय परद्रव्य है। ऐसा सिद्ध किया, लो!

सर्वविभाव-गुणपर्यायों से रहित... अब अस्ति की बात करते हैं, स्वद्रव्य की। **सर्वविभाव-गुणपर्यायों से रहित...** यह गुणपर्याय अर्थात् सब भेद क्षायिक के, उपशम के क्षयोपशम के। ऐसे **सर्वविभाव-गुणपर्यायों से रहित शुद्ध-अन्तःतत्त्वस्वरूप...** शुद्ध अन्तःतत्त्वस्वरूप, लो। शुद्ध अन्तःतत्त्वस्वरूप... द्रव्य अकेला सामान्य ध्रुव अन्तःतत्त्व, पर्यायरहित। **सर्वविभाव-गुणपर्यायों से रहित...** अर्थात् कि परस्वभाव से रहित अर्थात् परद्रव्य से रहित अर्थात् कि हेय कहे हैं, उनसे रहित, ऐसा। **शुद्ध-अन्तःतत्त्वस्वरूप...** अन्तरस्वभावस्वरूप **स्वद्रव्य उपादेय है।** स्वद्रव्य उपादेय है और यह हेय है, यह

विकल्प की बात नहीं यहाँ। पहला विकल्प से यह निर्णय करे कि यह स्वद्रव्य उपादेय है और यह हेय है। यहाँ तक का व्यवहार परलक्ष्यी है। यहाँ उपादेय का अर्थ कि अन्दर में दृष्टि जाती है। जहाँ वस्तु है, वहाँ दृष्टि जाती है; इसलिए वह उपादेय है, ऐसा कहा जाता है; और यहाँ से (—विकल्प से) लक्ष्य छूट जाता है, इसलिए उसे हेय कहा जाता है। समझ में आया?

यह तो समझ में आये ऐसा है, हों! इसमें कहीं बहुत भाषा ऐसी कठिन नहीं। भाषा तो सादी... सादी भाषा है। देखो न! कितनी बात स्पष्ट की है। **सर्वविभाव-गुणपर्यायों से रहित...** अकेला **शुद्ध-अन्तःतत्त्वस्वरूप स्वद्रव्य...** लो, यही स्वद्रव्य। वहाँ दृष्टि देनेयोग्य है। उस वस्तु में लक्ष्य... निश्चयनय है न? नय है न? इसलिए सम्यग्ज्ञान का अंश, वहाँ जुड़ान करनेयोग्य है। उसे यहाँ स्वद्रव्य और उपादेय कहा गया है। ग्यारहवीं गाथा में कहा न भाई! ११वीं। 'शुद्धनय अनुसार बोध होनेमात्र से...' ११वीं गाथा में जहाँ भूतार्थ, वह निश्चय (कहा), वहाँ कहा—शुद्धनय अनुसार अर्थात् कि जो स्वभाव है, उसके अनुसार होकर जो बोध-ज्ञान हुआ... 'यह त्रिकाल शुद्ध है' ऐसा जो बोध शुद्धनय के अनुसार हुआ, उसमें उसकी प्रतीति वर्तती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। समझ में आया?

यह ११वीं मूल गाथा, उसमें यह डाला है। वहाँ कहा है न? '**भूदत्थो देसिओ (शुद्ध) नयोः**' शुद्धनय है वह। त्रिकाली वस्तु वह स्वयं नय है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसका आश्रय करने से... गजब अर्थ। खम्भात में... था न.... देखो! परन्तु आश्रय है, वह पर्याय है। ...आश्रय करना न...? पर्याय आश्रय है, परन्तु आश्रय किसका करती है? बात ऐसी तो है। बात तो सच्ची है। आश्रय करती है वह तो पर्याय है। जो परभाव है, परद्रव्य है, वह स्वद्रव्य का आश्रय करता है। गजब बात है न! परन्तु भिन्न रहकर आश्रय करती है, लक्ष्य करती है वहाँ। वह पर्याय कहीं द्रव्य में एकमेक नहीं हो जाती। मात्र ऐसे झुकी हुई थी, वह ऐसे झुकी; इसलिए उस पर्याय ने द्रव्य का आश्रय किया, ऐसा। वजन वहाँ द्रव्य का है, पर्याय का वजन नहीं। समझ में आया? आहा! क्या हो? अरे! इसका माहात्म्यवाला तत्त्व, इसे इस प्रकार से सुनते हुए भी उकताहट लगे। यह तो एकान्त हो जाता है। इसमें तो सब उड़ जाता है। आहाहा! तू

स्थापित हो जाता है, ऐसा कह न! सब उड़ जाता है और तू अकेला रह जाता है पूरा। ऐसा न लेकर उड़ जाता है, ऐसा क्यों कहता है? द्रव्य उड़ जाता है उसमें से? समझ में आया?

शुद्ध-अन्तःतत्त्वस्वरूप... अन्तःतत्त्व है न स्वभाव? अन्दर भाव। ऐसा जो स्वद्रव्य, वह उपादेय है। **वास्तव में...** अभी वह '**अप्पा**' शब्द पड़ा था न? '**अन्तः तच्चं**' कहर अब '**अप्पा**' ऐसा है न चौथा पद? '**सद्दव्वं उपादेयं**' इसका अर्थ किया। वह पहले किया '**पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावम् इति हेयं**' हेय, परस्वभाव, इसलिए परद्रव्य। ऐसा कहकर पहले पद की व्याख्या की। अब '**सद्दव्वं उपादेयं**' स्वद्रव्य उपादेय। स्वद्रव्य अर्थात् अन्तरतत्त्व। अब अन्तरतत्त्व का आधार परमपारिणामिक एक भाव। **वास्तव में सहजज्ञान...** त्रिकाली स्वाभाविक ज्ञान, त्रिकाली स्वाभाविक **(सहज) दर्शन...** त्रिकाली स्वाभाविक **(सहज) चारित्र...** त्रिकाली... त्रिकाली ध्रुव की बात है। त्रिकाली **परम वीतराग सुख...** स्वरूप ऐसा जो **शुद्ध अन्तःतत्त्वस्वरूप...** ऐसा जो शुद्धअन्तःतत्त्वस्वरूप... आहाहा! **ऐसा जो शुद्ध अन्तःतत्त्वस्वरूप इस स्वद्रव्य...** ऐसा जो स्वद्रव्य, ऐसा। अन्तःतत्त्वस्वरूप ऐसा जो स्वद्रव्य, उसका **आधार...** एकरूप वह त्रिकालीभाव आत्मा, ऐसा लेना है। वे परद्रव्यरूप से चार प्रकार के भाव लिये न? अब उनका आधार। वस्तु तो यह है।

उस स्वद्रव्य का आधार **सहज परमपारिणामिकभाव...** स्वाभाविक परमस्वभावभाव वह द्रव्य का—स्वरूप का स्वरूप की अस्तिरूप त्रिकाल भाव। **सहज परमपारिणामिकभाव लक्षण...** वापस वह लक्षण। और वस्तु कारणसमयसार। **सहजपरमपारिणामिकभावलक्षण (सहज परमपारिणामिकभाव जिसका लक्षण है—ऐसा)** जो **कारणसमयसार है।** यह '**अप्पा**' की व्याख्या की। दूसरे पद का अन्तिम है न? वह आत्मा। अन्तःतत्त्व के सहज ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि, उसे स्वद्रव्य गिनकर और उसका आधार एकरूप स्वाभाविक परमभाव त्रिकाल, वह कारणसमयसार। वह भगवान कारणसमयसार, उसका आश्रय करने से—अवलम्बन करने से—उसके सन्मुख देखने से (और) यहाँ से विमुख होने से उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि की उत्पत्ति, वृद्धि और टिकना उसके आश्रय से होता है। कहो, समझ में आया?

स्वाभाविक परम... स्वाभाविक तो उसमें लिया था तब। उसके भावरूप ऐसा गिना था। वह भाव, वह स्वद्रव्य, ऐसा। स्वभाव वह स्वद्रव्य। परभाव वह परद्रव्य, ऐसा। स्वभाव वह स्वद्रव्य, तो उसका एकरूप त्रिकाली परमस्वभाव परमपारिणामिकभाव ऐसा लक्षण जिसका ऐसा कारणसमयसार। आहाहा! अकेला कारणपरमात्मा छाँटकर अलग रखा। उसका आश्रय, उसका अवलम्बन, सन्मुखता करनेयोग्य है। करना अर्थात् यह करना है। करना हो तो क्या करना? यह (करना है)। यह आता है न पहले? '**जं नियम... नियमेण जं कज्जं**' नियम से करनेयोग्य हो तो... तीसरी गाथा में आ गया है। निश्चय से करनेयोग्य हो तो ऐसा जो कारणसमयसार त्रिकाली भगवान, उसका आश्रय करनेयोग्य है।

सम्पूर्ण चारों अनुयोगों का यह सार है। चौदह पूर्व का सार यह है। चाहे जितनी बातें शास्त्र में आवे। कही है न? व्यवहार हस्तावलम्ब जानकर बहुत उपदेश दिया। नहीं आया? परन्तु उसका फल तो संसार है, कहते हैं। उसे भेद से जानना, वह विकल्प, उसका फल तो बन्धन है, ऐसा कहते हैं। निर्विकल्प जो चैतन्य कारणसमयसार, उसका सीधे आश्रय लेना, उसके आधार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उत्पन्न होते हैं, उसके आधार से टिकते हैं और उसके आधार से—आश्रय से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसलिए कारणसमयसार, वह मुख्य पदार्थ है, सत्यार्थ है, भूतार्थ है। और उस भूतार्थ का अर्थ करे कि सत्यार्थ न कहो, अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ (न कहो)। अभूत है, ऐसा लिखा है। असत्य कहाँ लिखा है? ऐसा आया है बड़ा। भाई सुन न! त्रिकाली की अपेक्षा से असत्यार्थ है, ऐसा कहा। जैसे स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य नहीं, वैसे स्वद्रव्य की अपेक्षा से पर्याय को असत्यार्थ है, ऐसा कहा। भड़के तो क्या? शब्द को क्या है? उसका आधार अमृतचन्द्राचार्य का कलश देंगे, लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल ३, शुक्रवार, दिनांक - २५-६-१९७१
गाथा-५० से ५५, श्लोक-७४, प्रवचन-५०

(नियमसार) ५०वीं गाथा में आधार देते हैं। **इसी प्रकार (आचार्यदेव) श्रीमद्अमृतचन्द्रसूरि ने (श्री समयसार की आत्मख्याति नामक टीका में १८५ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि—**

सिद्धान्तोऽय-मुदात्त-चित्त-चरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां,
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि।।

श्लोकार्थ :— जिनके चित्त का चरित्र उदात्त है... कहते हैं कि जिसके अभिप्राय में... मन का अभिप्राय अर्थात् ज्ञान का अभिप्राय **उदात्त...** है **(उच्च है, उज्ज्वल है, उदार है) ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करो कि मैं तो शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही सदैव हूँ;...** जिसका ज्ञान—अभिप्राय उज्ज्वल और उदात्त हुआ है। वह मैं प्रत्यक्ष शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योतिमय सदा ही हूँ, उसकी सेवा करो, लो। '**सेव्यतां**' है न? (अर्थात्) सेवन करो। देव-गुरु-शास्त्र का सेवन करो, यह तो हमने माना। देव भी तू है और गुरु भी तू है। ऐसा एकरूप शुद्ध प्रत्यक्ष चिन्मय आत्मा, वह मोक्षार्थियों को (कि) जिन्हें पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है, उन्हें पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्द उस स्वभाव की सेवना करने से प्राप्त होता है। **इस सिद्धान्त का सेवन करो...** देखो! कितना कहा!

मैं यह प्रत्यक्ष आत्मा शुद्ध चैतन्यमय... एक शुद्ध चैतन्यमय एक ज्योति ऐसा। शुद्धचैतन्यमय एक आत्मा... मैं यह प्रत्यक्ष शुद्ध चैतन्यमय... शुद्ध चैतन्यमय ज्योति अर्थात् आत्मा। **शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही सदैव हूँ;...** वापस यह 'ही'। ऐसा ज्ञान में—जिसका मन का अभिप्राय उज्ज्वल हुआ है और उदार है कि ऐसी बड़ी चीज़ को भी वह स्वीकार करता है। समझ में आया? पर्याय में अल्पता होने पर भी, वस्तु में परिपूर्णता एकरूप प्रत्यक्ष चैतन्यमय आत्मा हूँ, ऐसा जिसका अभिप्राय उज्ज्वल और

उदात्त है। उसे उच्च अभिप्राय है, ऐसा। ऐसा आचरण करो। बहुत संक्षिप्त में कहा, लो। यह अस्तिरूप से ऐसा तत्त्व हूँ। शुद्ध चैतन्यमय, ऐसा। अशुद्धता नहीं। **एक परम ज्योति ही सदैव हूँ; और यह जो भिन्न लक्षणवाले...** मेरे स्वरूप से भिन्न लक्षणवाले **विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं,...** प्रगट होते हैं विकल्प आदि, **वह मैं नहीं...** व्यवहाररत्नत्रय आदि के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे मेरे स्वरूप से भिन्न लक्षणवाले हैं। यह मोक्ष की गाथा है न मोक्ष की? मोक्ष का कलश है, मोक्ष अधिकार का। लो, दो बातें कीं। मोक्षार्थी को और उस मोक्षार्थी का ज्ञान—उसका अभिप्राय उदात्त है, उच्च है, उज्ज्वल है। जिसका स्वीकार, मैं एक चैतन्यमय सदा त्रिकाल ज्योति आनन्द हूँ, ऐसा स्वीकार करके सेवन कर।

छठवीं गाथा में आया था न? पर से भिन्न पड़कर अपने में उपासित किया जाता हुआ भगवान प्रभु ध्रुव वस्तु, वह प्रमत्त-अप्रमत्तपर्याय से भिन्न है, ऐसा जो शुद्ध त्रिकाली ध्रुव, उसकी सेवा करने से, वह ध्रुव शुद्ध उसके जानने में आता है। शुद्ध की सेवा करने से शुद्धपने का भान होता है, ऐसा कहते हैं। व्यवहार की सेवा करने से 'आत्मा शुद्ध है' ऐसा उसे भान नहीं होता, ऐसा कहते हैं। अरेरे! इसे क्या कहें? कुछ बात की ही खबर नहीं होती वस्तु की। यह तो वस्तु का स्वरूप ऐसा है। देखो न! यह कहते हैं, मैं तो शुद्ध एक चैतन्यमयज्योति सदा ही हूँ। उसका सेवन करो, ऐसा कहा न? जिसके ज्ञान में अभिप्राय... मन लिया है परन्तु भावमन—ज्ञान। उसका अभिप्राय उदात्त (उदार, उच्च और उज्ज्वल) है। देखो! मैं एक सदा ही शुद्ध चैतन्यमय आत्मा... शुद्ध चैतन्यमय आत्मा... शुद्ध चैतन्यमय ज्योति, उसकी सेवा करो (अर्थात्) उसमें एकाग्र होओ, ऐसा कहते हैं। उसमें एकाग्रता, वह मोक्ष का मार्ग है। क्योंकि वस्तु स्वयं मोक्षस्वरूप है। मुक्तस्वरूप है, वीतरागस्वरूप वस्तु है, उसकी सेवा करने से पूर्ण मुक्त का कारण ऐसा मोक्षमार्ग प्रगट होता है। पूर्ण सेवा होने से उसे पूर्ण मुक्तिदशा होती है। समझ में आया?

और भिन्न लक्षणवाले... यहाँ देखो न! यहाँ भिन्न लक्षण, व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प भी भिन्न लक्षणवाले कहे। विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वह मैं नहीं। यहाँ तो ज्ञानप्रधान से दो बातें बतलायी हैं। बाकी तो, 'यही मैं हूँ' उसमें 'यह नहीं' यह

अन्दर में आ जाता है। समझाना है न इसलिए... एकरूप शुद्ध ध्रुव चैतन्य की सेवा करने से उसमें परिणति निर्मल प्रगट होती है, उसमें यह व्यवहार के विकल्प आदि नहीं। यह तो उसे व्यवहार समझाने को विस्तार से समझाते हैं। यह अस्ति है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रमाण की यहाँ बात नहीं। यहाँ तो 'नहीं' ऐसा ज्ञान सहज हो जाता है। इस अस्ति का ज्ञान होने से उस ज्ञान में 'यह नहीं' ऐसा, उसमें नहीं ऐसा हो जाता है। फिर यह पर्याय का ज्ञान करना, वह प्रमाण होता है। वह और प्रमाण कुछ काम का (नहीं)।

यहाँ तो कहते हैं, व्यवहार के लक्षणवाले जो बोल—विकल्प वे वस्तु के अस्तित्व में है ही नहीं, ऐसा। वस्तु ही ऐसी है। पहले में कहा न? पहले श्लोक में। '**स्वानुभूत्या चकासते**' दूसरी बात वहाँ की नहीं। '**नमः समयसाराय**' अस्ति बात ही ली है। पहला श्लोक ही अस्ति से वर्णन किया है। '**वंदित्तु सव्व सिद्धे**' में व्यवहार सिद्ध को वन्दन करके बात शुरु की है। वह भी अनन्त सिद्धों को पर्याय में पधराया, तब उनका आदर किया कहलाये, तब वन्दन (कहलाये)। इसका अर्थ कि द्रव्य पर जोर जाता है, तब अनन्त सिद्ध का पर्याय में आदरसहित स्वीकार होता है। समझ में आया?

मैं यह हूँ और मैं यह नहीं, ऐसा आया न? दोनों आये। मैं तो यह हूँ सदा और यह मैं नहीं, बस हो गया। यह तो फिर विस्तार से समझाते हैं कि भिन्न लक्षणवाले, ऐसा। चैतन्यमय मैं आत्मा, उसका स्व का लक्षणवाला तत्त्व हुआ। शुद्ध चैतन्यमयज्योति... ज्योति अर्थात् आत्मा। वह स्व का स्वरूप हुआ। **भिन्न लक्षणवाले...** जितने व्यवहार के विकल्प उठते हैं, वे भिन्न लक्षणवाले हैं। **विविध प्रकार के भाव...** है न? वह एक है। वह एक है न सामने? मैं **शुद्ध चैतन्यमय 'एक' परम ज्योति ही सदैव हूँ;...** एक इस ओर, तो इस ओर अनेक। यह विषय के अन्दर.... बात नहीं। यहाँ तो, 'इसमें नहीं' बस इतनी बात है। वास्तव में तो अपना अस्तित्व ऐसा जहाँ भान में आया, उसमें उस रूपपने परिणमता नहीं, अस्तिरूप परिणमता है। अपने महा चैतन्यज्योति ध्रुव, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई तो अस्तिरूप से परिणमा तो उस रागरूप से परिणमता नहीं। नहीं, यह तो सहज उसकी अन्तःस्थिति में आ जाता है। समझाना, वह किस प्रकार समझाना? समझ में

आया? भाई! मार्ग ऐसा लोगों को सुनने को मिलता नहीं, इसलिए ऐसा उन्हें एकान्त लगता है। एकान्त है... एकान्त है... एकान्त है। ...! एकान्त कहकर उड़ा देते हैं। भगवान! तू उड़ जाता है उसमें, तुझे उसकी खबर नहीं। आहाहा!

तेरा परमस्वभाव शुद्ध चैतन्यलक्षणवाला मुक्त प्रभु... वह तो एक समझाया है, बाकी चैतन्यलक्षण और यह लक्ष्य आत्मा ऐसा भेद भी कहाँ है वहाँ? यह तो ऐसा स्वरूप है आत्मा कि शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ऐसा हूँ। ऐसा समझाया है। समझ में आया? और वह भी ऐसा कहा न? **शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति...** शुद्ध चैतन्य लक्षणवाला परमज्योति, (ऐसा) भेद नहीं। **इस सिद्धान्त का सेवन करो...** यह सिद्धान्त अर्थात् यह भाव। आहाहा! अभिप्राय में जिसने निश्चित किया है... उदात्त चरित्त... उदार जिसका अभिप्राय है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यमय अभेद ऐसी ज्योति भगवान आत्मा, उसकी सेवा करो। लो, वीतराग का यह कक्का। आहाहा! गुरुसेवा, मूर्ति की सेवा, फलानी सेवा... आता है न उसमें? वही मुख्य हो गया है। मानो वस्तु नहीं। अरे बापू! तू तो उसमें रह गया। उसे दूर करने गया वहाँ यह रह गया। इसे (त्रिकाली को) मुख्य करने गया वहाँ वह रागरूप परिणति हुई नहीं। व्यवहार की परिणति होती ही नहीं, ऐसा वहाँ कहते हैं। **क्योंकि वे सब...** उसे तो उन परद्रव्य के साथ मिलाना है न? स्वद्रव्य और परद्रव्य पाठ में है। **वे सब मुझे परद्रव्य हैं।** लो, वह व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, पंच महाव्रत का विकल्प—वह सब परद्रव्य है। आहाहा! यहाँ तो वह सर्वस्व हो गया इसे।

सर्व स्वभाव... अभी कहीं आया था न? उसमें आया था। सिद्धान्त नाटक में। सर्व स्वभाव। सर्वस्व का ही अनुभव है और अपना है, ऐसा है। पर का उसमें है ही नहीं कुछ। कल ही आया था। समझ में आया? यह तो शान्ति और धीरज से जिसे आत्मा का काम करना हो, उसकी बातें हैं। यह कहीं वाद और विवाद और... व्यवहार ही चाहिए और व्यवहार होता है, व्यवहार नहीं हो तो निश्चय नहीं होता, इसलिए व्यवहार पहले चाहिए। आयेगा इसमें, हों, पहला। व्यवहार पहला आयेगा पाँच गाथाओं में। ...और आती है न पाँच गाथा। पहला व्यवहार आता है। है या नहीं? **परम योगीश्वर पहले पापक्रिया से निवृत्तरूप व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं...** है या नहीं? यह किस

अपेक्षा से? उस समय आयेगा अब। छठवें गुणस्थान में उसे विकल्प का भाव है, यह बात ली है। फिर उल्लंघकर सातवें में जाता है। व्यवहार है... यहाँ व्यवहार है, ऐसा कहना है। 'पहले' शब्द प्रयोग किया है, हों! ऐई! है या नहीं? संस्कृत में है या नहीं? देखो! 'पहले पापक्रिया से निवृत्त...' '**प्रथमं**' शब्द संस्कृत में है, लो। संस्कृत। '**परमजिनयोगीश्वरः प्रथमं पापक्रियानिवृत्ति व्यवहार**' ...ठीक! निमित्त देखकर बहुत उपदेश आया है शास्त्र में। आहाहा! इससे यह पूरा होकर पहले व्यवहार का अध्याय डालेंगे। फिर निश्चय का—प्रतिक्रमण का डालेंगे। समझाना नहीं चाहिए? व्यवहार कहा... वह भी वस्तु है या नहीं? वस्तु को हेय है या अवस्तु को हेय है?

मुमुक्षु : हेय को बारम्बार याद करे या उपादेय को?

पूज्य गुरुदेवश्री : वाद-विवाद... यह किसने कहा? परन्तु उसे समझाना तो है न? कि यह है।

मुमुक्षु : पूरा व्यवहार का अधिकार....

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरा अधिकार वर्णन करते हैं न। वस्तु नहीं? व्यवहार का विषय नहीं? व्यवहार अस्तिरूप से है या नहीं? 'है' पने से है या नहीं? ऐसा कहेंगे।

मुमुक्षु : एक गाथा में कह देना था....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसीलिए तो कहा है कि 'व्यवहार का उपदेश जिनवाणी में हस्तावलम्ब जानकर बहुत आया है, परन्तु उसका फल संसार है।' यह तो प्रतिक्रमण में कहेंगे न? यह जितने छह आवश्यकादि से विरुद्ध... छह आवश्यक की क्रियायें और उनका फल, उससे विरुद्ध निश्चयचारित्र है। आता है न प्रतिक्रमण में? परन्तु ऐसा नहीं। समझाने के लिये... समझाते तो हैं न? व्यवहारनय का अधिकार अधिक वह आता है। यह आत्मा, 'दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणमे, वह आत्मा', 'ज्ञान, वह आत्मा।' यह शरीर एक इन्द्रिय का, दो इन्द्रिय का, तीन इन्द्रिय का, पंचेन्द्रिय का—यह सब समझाना किस प्रकार? अर्थात् कि ऐसा नहीं। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय शरीर, वे आत्मा नहीं। आत्मा तो अन्दर ज्ञानमूर्ति है, वह आत्मा, लो।

आया है न मोक्षमार्गप्रकाशक में? भाई! व्यवहार है, ऐसा समझाया है। तू उसे

मान लेना नहीं। और भेद से समझाया, परन्तु ऐसा मान लेना नहीं कि भेद है, उसमें—वस्तु में। वस्तु, वह तो अभेद है। उसे तो अभेद लिया है वहाँ। सातवें में भेदाभेद लिया है। वह पूरा द्रव्य और पर्याय... है ऐसा। सातवें (अध्याय) में। उसमें... पूरी वस्तु अभेद है। स्वयं अभेद है—वस्तु अभेद है ऐसा। क्योंकि पर्याय और गुण, ऐसा नहीं है। सब अभेद है। पर से भिन्न अभेद है, ऐसा। और उसमें बतलाते हैं, तब कहते हैं कि अभेद और भेद दोनों हैं। वीतराग हो तो दोनों को जानता है। पहले भेद पर लक्ष्य करने जाये तो रागी है, इसलिए विकल्प उत्पन्न होंगे। जब तक पूर्ण वीतरागता-निर्विकल्पता न हो, तब तक स्वद्रव्य के आश्रय को स्थापित किया है। अभेद का आश्रयरूप से स्थापित किया है। भारी कठिन काम इसमें भाई!

देखो! **मैं नहीं...** क्यों? ऐसा। है न? **यह जो भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं,...** ऐसा है न? व्यवहार गधे के सींग है? अस्तिरूप से है, यह बात बतलानी है, परन्तु आश्रय करनेयोग्य है और उससे निश्चय होता है, यह बात यहाँ है ही नहीं। व्यवहार है, मोक्षमार्ग की पर्याय भी व्यवहार है, ...है, व्यवहार वस्तु नहीं? बस 'है' इतना अस्तित्व का स्वीकार ज्ञान में आना चाहिए। आश्रय करनेयोग्य है और वह स्वयं धर्म का स्वरूप है, उससे निश्चय प्राप्त होता है—ऐसा नहीं है।

क्योंकि वे सब मुझे... ऐसा वापस। '**मम परद्रव्यं समग्रा अपि**' मेरे लिये तो सब परद्रव्य है, लो। यह व्यवहाररत्नत्रय परद्रव्य है। यहाँ तो पर्याय को परद्रव्य सिद्ध किया है पाठ में। इन्होंने इतना परद्रव्य का आधार देकर (कहा कि) भाई! समयसार में भी ऐसा कहा है। वहाँ विकल्प आदि को परद्रव्य कहा। वे सब भाव परद्रव्य हैं। गुणस्थान, मार्गणास्थान, वे सब पुद्गल के परिणाम, वे परद्रव्य हैं, ऐसा। स्वद्रव्य तो अकेला अभेद चैतन्यस्वभाव एकरूप भाव... 'एक' शब्द पड़ा है न? शुद्ध चैतन्यमय और एक, ऐसी परमज्योति परमात्मस्वरूप ही मैं हूँ। ये सब उत्पन्न होनेवाले विकल्पों की अस्ति है। व्यवहार न हो तो मुक्ति का मार्ग भी नहीं, सिद्ध भी नहीं—ऐसा हो। गुणस्थान... गुणस्थान चौदह हैं। चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ, सातवाँ वह सब व्यवहार है। है अवश्य इतनी बात। **वे सब मुझे परद्रव्य हैं।** लो।

और (इस ५०वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक

कहते हैं) — स्वयं कहते हैं। ७४ श्लोक।

न ह्यस्माकं शुद्धजीवास्तिकायादन्ये सर्वे पुद्गलद्रव्यभावाः।
इत्थं व्यक्तं वक्ति यस्तत्त्ववेदी सिद्धिं सोऽयं याति तामत्यपूर्वाम्॥७४॥

यह लालूभाई ने कहा था लालूभाई ने। ऐसा कि **ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से कहते हैं,...** कहा, 'कहता है' अर्थात् इसका अर्थ ऐसा नहीं। वहाँ उनने कहा। ऐसा कि ऐसा कहे उसे ही मुक्ति हो। **वे अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं।** यह पाठ ऐसा है न '**वक्ति**' एक आशीर्वाद रूप से। इस प्रकार स्थापते हैं, कहते हैं। परन्तु 'कहता है' इसका अर्थ कि उसरूप अनुभव करता है। कहना है कहाँ? (इसका अर्थ) भाषा कहाँ है?

श्लोकार्थः—'शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य ऐसे जो सब... जैसे वह बन्धकथा की बात आयी थी न? कथा... बन्धकथा विरुद्ध है? वस्तु में राग का सम्बन्ध—बन्ध, वह विरुद्ध है। कथा-बथा कहाँ...? वह तो संक्षिप्त शब्द... इसमें भी ऐसा आया न? '**व्यवहारदेसिदा पुण**' १२वीं (गाथा) में ऐसा आया न? कि व्यवहार दिखाया। 'दिखाया' इसकी कहाँ बात है वहाँ? उसे उपदेश देना है, ऐसा कि व्यवहार का उपदेश देना। वह तो कथन का वाच्य जो है, वह जाननेयोग्य है, ऐसा जाने, उसका नाम उपदेश किया कहलाता है। करना कहाँ था? अरेरे! वस्तु की स्थिति जहाँ ऐसी होती है उसमें... एकरूप स्वभाव का आश्रय, वह मुक्ति का मार्ग, उसमें बीच में जितने भेद उठें रागादि के....

'एक-एक' करके आया है न? 'एक-एक भावस्वरूप अनेक भाव जिसने दिखलाये हैं, ऐसा व्यवहारनय... उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है।' (अर्थात् कि) बतलाया हुआ प्रयोजनवान है। आहाहा! कितना स्पष्ट किया है, लो! आचार्यों ने तो दिल खोलकर बात रख दी है। समाज को कैसे होगा, यह कुछ बात नहीं वहाँ। समाज इसे कहीं पसन्द करेगी या नहीं? न (पसन्द) होवे तो (भी) बात यह है। पसन्द करे या न पसन्द करे, इसके ऊपर से कहीं यह वस्तु कही जाती है? वस्तु यह है। बैठे या न बैठे समाज को। भारी लग जाये तो भी वस्तु तो यह है। समाज को सुगठित रखने के लिये उसे कुछ हल्का बना देना... परन्तु वस्तु में ही नहीं, उसे हल्का किस प्रकार बनावे? रागादि वस्तु में ही नहीं। आहाहा!

शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य... भाषा देखो! यहाँ तो यह... जैन सिद्धान्त असंख्य प्रदेशी डालना है न? अस्ति अकेला नहीं, परन्तु काय। वापस **शुद्ध जीवास्तिकाय...** असंख्यप्रदेशी अनन्त गुण का पिण्ड एकरूप जीव है। उससे **अन्य ऐसे जो सब पुद्गलद्रव्य के भाव,...** लो। **शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य ऐसे जो सब पुद्गलद्रव्य के भाव, वे वास्तव में हमारे नहीं हैं'—ऐसा जो तत्त्ववेदी...** तत्त्व का वेदन करनेवाला—जाननेवाला **स्पष्टरूप से...** अनुभव करते हैं, **वे अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं।** समझ में आया?

ऐसा कि ऐसी प्ररूपणा करे तो भी... उस प्ररूपणा का यहाँ कुछ काम नहीं। अब तो लड़के कहते हैं। तत्त्ववेदी, ऐसा स्वयं स्पष्टरूप से अनुभव करता है, ऐसा। कहना है, वह तो अपनी शैली की बात है, परन्तु उसका वाच्य क्या? हमारे में... ऐसा ऊपर कहा, उसका सार है उसका। हम तो यह हैं, शुद्ध चैतन्यमय जीवज्योति सदा एकरूप हूँ, दूसरे भाव मुझमें (नहीं)। पुद्गल हैं, वे परद्रव्य हैं, मुझमें नहीं।

मुमुक्षु : दूसरे की शुद्धपर्याय लेंगे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब इसमें आ जाता है। यहाँ तो (कहना है कि) पर्याय मेरी नहीं, पर्याय मुझमें नहीं। पर्यायदृष्टि-अंशदृष्टि का भी यहाँ अभाव है।

शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य ऐसे जो सब पुद्गलद्रव्य के भाव,... है, ऐसा तो कहा। भाव, है न? **वे वास्तव में हमारे नहीं हैं... 'मम्'** कहाँ आया? **'अस्माकम्'** पहले था। **'न ही अस्माकम्'** (अर्थात्) हमारे नहीं। उसमें **'मम्'** आया। **'यत्कोकृति मम परद्रव्यं समग्राति'** समयसार में। **'मम्' ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से...** अनुभव करता है, जानता है, जो चीज़ है, ऐसा वेदता है, **वे अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होते हैं।** याति अर्थात् यह न? (अर्थात्) पाता है। **'ताम् अत्य अपूर्वं' अति अपूर्व सिद्धि...** ओहोहो!

लो, इस मुक्ति का कारण तो यह कहा। व्यवहार-फ्यवहार मुक्ति का कारण कहा नहीं। उसमें व्यवहार कहेंगे सही, इसमें अब पाँच गाथाओं में। यह तो व्यवहारिक कहेंगे ऐसा। नहीं तो यहाँ अकेला निश्चय आया था। व्यवहार है, ऐसा बतलावे तो सही न? वस्तु बतलावे नहीं? और ज्ञान ही उस प्रकार का निष्पन्न होता रहता है। जिस प्रकार का रागादि होता है, उसी प्रकार का जानता हुआ, उसे छुए बिना, उसे स्पर्शे बिना,

उसकी अस्ति बिना, अपनी अस्ति में स्व-परप्रकाश एक जाति का प्रकार का परिणमन वहाँ होता है, ऐसा। लो, अब गाथायें पाँच। एक साथ पाँच गाथायें।

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं॥५१॥

इसी और इसी का अधिक स्पष्टीकरण। उस दूसरे का ज्ञान का उसी और उसी का स्पष्टीकरण।

चलमलिणमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं।
अधिगम-भावो णाणं हेयोवादेय-तच्चाणं॥५२॥

अब निमित्त का।

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं.... यह सब विवाद....

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतर-हेऊ भणिदा दंसण-मोहस्स खयपहुदी॥५३॥

सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं।

यह निश्चय वह मोक्ष का कारण कहा। उसे कारण कहा। फिर कहेंगे।

ववहार-णिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि॥५४॥

व्यवहार पहले आया शब्द में।

ववहारणयचरित्ते ववहार-णयस्स होदि तवचरणं।
णिच्छय-णय-चारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो॥५५॥

ओहोहो! नीचे हरिगीत

मिथ्याभिप्राय विहीन जो श्रद्धान वह सम्यक्त्व है।
संशय, विमोह, विभ्रान्ति विरहित ज्ञान सुज्ञानत्व है॥५१॥

यह व्यवहार की बात है।

चल, मल, अगाढ़पने रहित श्रद्धान वह सम्यक्त्व है।
आदेय, हेय पदार्थ का अवबोध सुज्ञानत्व है॥५२॥

यह निश्चय होता है, वहाँ ऐसा व्यवहार होता है, उसकी बात करते हैं।

जिनसूत्र समकितहेतु है, अरु सूत्रज्ञाता पुरुष जो।
वह जान अंतर्हेतु जिसके दर्श-मोहक्षयादि हो॥५३॥

सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान अरु चारित्र मोक्ष उपाय है।
व्यवहार निश्चय से अतः चारित्र मम प्रतिपाद्य है॥५४॥

चारित्र को व्यवहार, निश्चय द्वारा कहूँगा, ऐसा कहा न? भाई! समकित और ज्ञान की व्याख्या हो गयी है। समकित और ज्ञान के व्यवहार की बात की है। चारित्र के दो प्रकार हैं, उनकी बात करेंगे।

व्यवहारनयचारित्र में व्यवहारनय तप जानिये।
चारित्र निश्चय में तपश्चर्या नियत-नय मानिये॥५५॥

पहले शब्दार्थ लेते हैं, लो, अन्वयार्थ। यह तो शान्ति की स्वाध्याय है न? यहाँ कहाँ वहाँ व्याख्यान है?

[विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानम् एव] विपरीत अभिनिवेश... (अर्थात्) **अभिप्राय, आग्रह।** व्यवहार का हों! निश्चय समकित तो है, उसे व्यवहार समकित **विपरीत अभिनिवेश रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है;...** अब ज्ञान। **[संशयविमोहविभ्रम-विवर्जितम्] संशय, विमोह और विभ्रम रहित (ज्ञान)...** निश्चयज्ञान में ऐसा व्यवहारज्ञान होता ही है। **वह सम्यग्ज्ञान है।** यह व्यवहार की बात है। **चलता, मलिनता और अगाढ़तारहित श्रद्धान...** जो श्रद्धान पहले कहा था, उसका यहाँ स्पष्टीकरण किया है। है तो यह भी व्यवहार। **चलता, मलिनता और अगाढ़ता...** इसका अर्थ साधारण है। **श्रद्धान ही सम्यक्त्व है; [हेयोपादेयतत्त्वानाम्] हेय और उपादेय तत्त्वों को जाननेरूप भाव वह (सम्यक्) ज्ञान है।** यह भी व्यवहार है। निश्चयज्ञान और... निश्चय समकित में ऐसा एक समकित चल, मलिन, अवगाढरहित व्यवहार और निश्चयज्ञान में हेय-उपादेयरूप जाननेरूप व्यवहार का ज्ञान होता है। अब कहते हैं कि उसे निमित्त क्या?

सम्यक्त्व का निमित्त... वह समकित निश्चय है। **जिनसूत्र है...** वीतराग की वाणी वह निमित्त है। इसके अतिरिक्त अज्ञानी की वाणी आदि निमित्त नहीं हो सकती, ऐसा सिद्ध

करना है। समझ में आया? सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग तीर्थंकरदेव, जिनके मुखकमल से निकला हुआ है। है न ऊपर? **वीतरागसर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ...** है। टीका में है। ऐसा जिनसूत्र और **जिनसूत्र के जाननेवाले पुरुषों को (सम्यक्त्व के) अंतरंग हेतु कहे हैं,...** समकित प्राप्त करनेवाले को, जिनसूत्र अर्थात् वाणी, वह बाह्य हेतु और इस (जिनसूत्र के ज्ञाता) पुरुष अन्तरंग हेतु है। है तो वे भी बाह्य। धर्मी का अभिप्राय... उस पुरुष को और उनकी वाणी को... वाणी तो बाह्य हेतु है, (परन्तु) उस (पुरुष को) उपचार से अन्तर हेतु कहा है। इसमें अर्थ फेर करते हैं न? यह अब करते हैं न?

जाननेवाले पुरुषों को समकित के अन्तरंग हेतु (कहे) हैं। वे कौन अन्तर हेतु? कि '**दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृत्तेः**' ऐसा। दूसरी जगह है सही न। परन्तु यहाँ बात नहीं। गोम्मटसार में है, इसका यहाँ काम नहीं। '**दर्शनमोहस्य क्षयप्रभृत्तेः**' जो धर्मीपुरुष हैं, उसे उपदेश करते हैं, उन्हें दर्शनमोह का उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक होना चाहिए। होवे, उनकी वाणी बाह्य निमित्त है और उनका अभिप्राय अन्तरंग हेतु है। है तो वह भी वह का वह, परन्तु उसका वजन देने के लिये अन्तर हेतु कहा। पंचास्तिकाय में कहा न? १३९ गाथा। योग और कषाय। योग बाह्य (हेतु) है और कषाय अन्तर (हेतु) है। दोनों अन्तर (हेतु) है, परन्तु उसका (कषाय का) वजन देना है। कषाय ही वास्तव में वस्तु है, ऐसा। इस कारण से योग को बाह्य हेतु कहा और कषाय को अन्तर हेतु कहा। है तो दोनों बाह्य हेतु।

क्योंकि उनको दर्शनमोह के क्षयादिक हैं। यह कहते हैं कि जो समकित प्राप्त करता है, उसे अन्तर हेतु दर्शनमोह का क्षय, क्षयोपशम है। ऐसा इसका अर्थ निकालते हैं इसमें से। ऐसा नहीं है। भाई ने—पण्डितजी ने (संवत्) २००० में कहा था। यहाँ तो, वह पुरुष जो है उपदेश करनेवाला, उस पुरुष को दर्शनमोह का क्षयोपयशम, क्षय और क्षायिक हो। उसकी वाणी (बाह्य) हेतु, उसका अभिप्राय अन्तरहेतु है। है तो बाह्य, परन्तु अन्तर(हेतु कहा), उसका वजन वहाँ है। उन्हें क्या कहना है, उसे लक्ष्य में लेता है... लक्ष्य में लेता है, इससे उन्हें अन्तरहेतु कहा गया है। परन्तु वह कब? वह पाता है जब। ऐसा है। ऐई! परन्तु यहाँ तो समकित का हेतु कहा है न? समकित तो पाता है... पाता है उसे 'यह हेतु है' ऐसा कहा है। समझ में आया?

सुन, मोक्ष के लिए... अब आता है। ५४ में यह आया। **सम्यक्त्व होता है,...** मोक्ष के लिये समकित। उसमें 'मोक्ष के लिये' नहीं कहा था, मात्र है इतनी बात की थी। व्यवहारसमकित, व्यवहारज्ञान और उसका निमित्त कौन—इतनी बात वहाँ (की थी)। वह निश्चय का निमित्त है, हों! अन्तर इतना है उसमें। अब, **सुन, मोक्ष के लिए... मोक्ष के लिए सम्यक्त्व होता है,...** मोक्ष के लिये **सम्यग्ज्ञान होता है,...** मोक्ष के लिये **चारित्र (भी) होता है; इसलिए मैं व्यवहार और निश्चय से चारित्र कहूँगा।** क्योंकि व्यवहारसमकित और व्यवहारज्ञान की व्याख्या तो आ गयी। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, वहाँ व्यवहारसमकित और व्यवहारज्ञान ऐसा होता है। अब यहाँ चारित्र की प्रधानता से बात ली है। छठवें गुणस्थान का चारित्र जो है, तीन कषाय के अभाववाला भले हो, परन्तु वहाँ पंच महाव्रतादि के विकल्प का व्यवहारचारित्र मुख्यरूप से गिनने में आता है, और उसका अभाव करके सातवें में जाता है, (उसे) निश्चय कहा जाता है। अरे! कठिन बात भाई!

घर में जाने के लिये बाहर का आश्रय लेना पड़े, ऐसा होगा? यह तो बाहर का लक्ष्य छोड़ने के लिये उसका ज्ञान ... आता है न। उसका आश्रय आवे तो अन्दर... उसकी (व्यवहार की) दिशा यह (बाह्य) और इसकी दशा अन्दर। आहाहा! दो का अन्तर है अब। व्यवहारसमकित आदि का लक्ष्य तो बाहर है। उससे अन्तरलक्ष्य में जाया जाता है? यहाँ तो अन्तरलक्ष्य से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान, ऐसा जब तक वीतराग न हो, तब तक ऐसा होता है और अब चारित्र के अन्दर में ऐसा कहा है कि निश्चयचारित्र, वह मोक्ष का कारण है, मोक्ष के लिये है। ऐसा आया न? उसमें तीनों आये निश्चय में।

सुन, मोक्ष के लिये सम्यक्त्व होता है, सम्यग्ज्ञान होता है, चारित्र होता है। अब, **इसलिए मैं व्यवहार और निश्चय से चारित्र कहूँगा।** व्यवहार समकित और ज्ञान, वह तो बात आ गयी। तब अब, चारित्र की निश्चयता सातवें में गिननी है। अभी वह सराग है न छठवें में? आया है न? सराग स-आस्रव है वह। शुभ उपयोगवाला सास्रवी है। है तो तीन कषाय का अभाव, परन्तु उन्हें पीछे... पीछे लिया है, ऐसा। और अनास्रवी सातवें में जो है, उन्हें नहीं लिया। बहुत अलौकिक बात है। इसलिए छठवेंवाले को तीन

कषाय का अभाव होने पर भी, उन्हें वह राग का कण है व्यवहार का, उसे आस्रव गिनकर उसे पहला व्यवहार है, ऐसा कहते हैं।

और कण को उल्लंघते हैं न? आता है न? भाई, बीच में आता है, उसे यहाँ बतलाते हैं। उसे उल्लंघते हैं, वह वीतरागचारित्र है। यह सरागचारित्र। सराग अर्थात् वह राग का भाग है इतना। बाकी दूसरा तो है तीन कषाय (का अभाव)। यह तो इतनी शुद्धता-वृद्धि नहीं, उसमें राग का भाग है, इसलिए सराग चारित्र (कहा जाता है)। चारित्र तो जो है, वह है। आहाहा! अभी अर्थ करने में अन्तर। अरेरे! इसमें अर्थ पावे कहाँ से आत्मा? कठिन कुछ नहीं। दूसरी बात तो बहुत कही है, परन्तु इसने कर छोड़ी है इकट्ठा होकर। इतनी वस्तु नहीं थी न, इसलिए रच दी। ऐसा है और वैसा है। है न, कहा न? अर्थ का करनेवाला... नहीं कहा? 'जन्म अन्ध के दोष नहीं कठोर, जो जाने नहीं अर्थ, मिथ्यादृष्टि इससे कठोर, करे अर्थ के अनर्थ।' जो हेतु और आशय है, उसे न रखकर दूसरा अर्थ निकाले, मिथ्यादृष्टि जन्म अन्ध की अपेक्षा अर्थ का अनर्थ करनेवाला (होने से) कठोर-बुरा है। यह तो उसे नुकसान का कारण ऐसा है।

मुमुक्षु : कठोर दोषवाला हो तो... वह कि वाँचे तो सुलटा-उलटा अर्थ होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक कहा। ऐसा कि वाँचे तो... वाँचने का नहीं, ऐसा का ऐसा रहना है अन्ध। परन्तु वाँचने का आये बिना रहता नहीं।

इसलिए कहा न? नय, निक्षेप, प्रमाण... ऐसा यह कहा। श्रीमद् ने ऐसा कहा, समझे न? 'त्याग वैराग्य न चित्त में, होय न उसको ज्ञान।' यहाँ कहते हैं कि नय, प्रमाण और निक्षेप के ज्ञान बिना यथार्थ आत्मा में ज्ञान नहीं हो सकता। आयेगा ही बीच में, ऐसा। आता है न? यह तेरहवें में पूरी... गाथा वहाँ से डाली। बारह में तो पूरा किया ऐसा। क्या कहा? भूमिका... भूमिका पूरी की। तेरहवीं में शुरु किया और ऐसा किया है, देखो! यह गजब बात है! नौ तत्त्व, नय, निक्षेप और प्रमाण, यह सब वस्तु को किस प्रकार से है, यह जानने के अंग हैं। अंग—उसके प्रकार पहले होते हैं। इसके बिना जैसे-तैसे वस्तु को साबित करे तो वस्तु ऐसी सिद्ध नहीं होगी। व्यवहार से भी नहीं

होगी। हाँ, है न? जैसे-तैसे करे तो नहीं होगी। नय, निक्षेप, प्रमाण... बहुत सरस बात। पण्डित जयचन्दजी ने बहुत अच्छे अर्थ (किये हैं)। टोडरमलजी, बनारसीदास आदि... उनका आत्मा स्वीकार करता है कि वाह! यह कहीं किसी के पक्ष की वस्तु है? यह तो वस्तु की वस्तु है। आहाहा!

स्वयं वीतरागभावस्वरूप भगवान है। उस वीतरागभाव की अन्तर के साधन द्वारा ही प्राप्ति होती है। व्यवहार-फ्यवहार साधन द्वारा वह प्राप्त होता ही नहीं। व्यवहार कथन करने में ऐसा कि मोक्ष के मार्ग दो। उसका फल भी मोक्ष, ऐसा कहे न? पुरुषार्थसिद्धि उपाय में था। यह **व्यवहार और निश्चय से चारित्र कहूँगा।** ऐसा कहा। सम्यग्दर्शन-ज्ञान निश्चय और व्यवहार दोनों आ गये। अब, अन्तर इसमें—चारित्र में है। क्योंकि छठवें गुणस्थान में जीव सरागचारित्र आस्रववाला भाग आता है, इससे ऐसे व्यवहारचारित्र को कहूँगा, (ऐसा कहा)। यह व्यवहारनय का तप होता है वहाँ। व्यवहार के जो विकल्प हैं, उस चारित्र में व्यवहार तप अर्थात् व्यवहार मुनिपना, ऐसा। व्यवहार मुनिपना और निश्चयनय के चारित्र में और स्वरूप की अन्तर रमणता के चारित्र में निश्चय तप अर्थात् निश्चय—सच्चा मुनिपना होता है, ऐसा। समझ में आया?

यह शब्दार्थ किया। वापस इसमें गड़बड़ उठावे नहीं इसलिए। तपश्चरण का अर्थ, व्यवहार तपस्या वह मुनिपना, व्यवहार मुनिपना। पंच महाव्रत, २८ मूलगुण वह व्यवहार बन्ध का कारण है, उसे यहाँ व्यवहारचारित्ररूप से (बतलाया है)। निमित्तपना ऐसा होता है। यहाँ शुद्ध उपादान के परिणमन के काल में उसी प्रकार का सहकारी भाव होता है, इसलिए उसे व्यवहाररूप से जानने में आवे, इसलिए बतलाया है।

टीका:—यह, रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है। इसमें प्रथम व्यवहार की बात की है, ऐसा कहते हैं। रत्नत्रय में तो दोनों आ गये, परन्तु इसमें पहले व्यवहार को कहेंगे। यह रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है। निश्चयरत्नत्रय और व्यवहाररत्नत्रय दोनों का कथन है इसमें। **उसमें प्रथम...** ऐसा। पहले व्यवहार का कहते हैं। ऐसी शैली है न? फूलचन्दजी ने एक जगह लिखा है न? कहीं लिखा है। शास्त्र में व्यवहार पहले कहे और फिर निषेध करे। कहीं लिखा है। ऐसा है सही कहीं। खानिया चर्चा में होगा। है

ऐसा। खबर है। ऐसा कि व्यवहार... यह चर्चा में... वह समयसार के दृष्टान्त दिये हैं न सब। इस जगह निश्चय है और इस जगह... वहाँ कहा है उस खानिया चर्चा में। पहला व्यवहार कहकर फिर निश्चय कहेंगे, ऐसा। निषेध करने की चीज़ है, उसे पहले बतलाते हैं, ऐसा। यह लिखा है। दृष्टान्त (उद्धरण) भी दिये हैं उन्होंने, हों! जैसे व्यवहार का उपदेश... देखो!.... फिर कहा कि व्यवहार है, परन्तु है निश्चय। '**व्यवहारेण... णवि णाणं ण चरितं ण दर्शणं.... ज्ञायको शुद्धो...**' पहली गाथा में व्यवहार कहा और दूसरी में उड़ाया। वहाँ आधार दिया है। देखो! दो-तीन गाथायें कहीं होंगी।

प्रथम... 'तावद्' है न? '**भेदोपचाररत्नत्रयमपि तावद्...**' ऐसा। **प्रथम भेदोपचार...** अर्थात् भेद का उपचार, ऐसा व्यवहार, ऐसा **रत्नत्रय इस प्रकार है—विपरीत अभिनिवेश-रहित श्रद्धानरूप—ऐसा जो सिद्धि के परम्पराहेतुभूत...** लो। निश्चयसम्यग्दर्शन तो साक्षात् मोक्ष का हेतु है। परन्तु जो व्यवहार जो है... **विपरीत अभिनिवेश-रहित...** वह भी विपरीत अभिप्रायरहित। व्यवहार में भी उसकी गड़बड़ न हो। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र का अभिप्राय ऐसा न हो उसे। **विपरीत अभिनिवेश-रहित...** कहेंगे स्पष्टीकरण। **श्रद्धानरूप—ऐसा जो सिद्धि के परम्पराहेतुभूत...** कहा न? व्यवहार है, इसलिए परम्परा हेतु कहा; निश्चय है, वह साक्षात् हेतु है।

भगवन्त पंच परमेष्ठी के प्रति... लो। भगवान पंच परमेष्ठी के प्रति **चलता-मलिनता-अगाढ़ता...** उस वृद्ध का दृष्टान्त दिया है न? वह लकड़ी के आधार से चले। मलिनता... यह हमारे... ऐसा कुछ है। अगाढ़ता जरा गाढ—पक्का नहीं इतना। ऐसे **रहित उत्पन्न हुआ निश्चल भक्तियुक्तपना,...** निश्चल भक्ति... निश्चय भक्ति नहीं, परन्तु निश्चल भक्ति। यहाँ व्यवहार समकित लेना है न? **निश्चल भक्तियुक्तपना, वही सम्यक्त्व है।** वह व्यवहार। व्यवहार समकित है, शुभराग, विकल्प है। देव-गुरु-शास्त्र के प्रति निश्चल भक्ति। स्वरूप की भक्तिरूप निश्चय समकित जहाँ होता है, वहाँ ऐसा व्यवहारस्वरूप पंच परमेष्ठी की भक्तिरूप व्यवहार समकित वहाँ होता है, इतना यहाँ सिद्ध करना है। इसकी विशेष व्याख्या है जरा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल ४, शनिवार, दिनांक - २६-६-१९७१
गाथा-५१ से ५५, प्रवचन-५१

५१ से ५५ गाथा है। पाँच गाथा हैं। टीका... टीका इसकी है।

टीका:—यह, रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है। मोक्षमार्ग है न यह नियमसार? नियमसार का अर्थ ही यह है कि '**णियमेण य कज्जं**' निश्चय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो आत्मा के आश्रय से होते हैं, वे ही निश्चय से कर्तव्य है। '**णियमेण य जं कज्जं**' मोक्षमार्ग। आत्मा अखण्ड शुद्ध आनन्दमूर्ति का अन्तर आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन हो, उसका आश्रय लेकर ज्ञान हो, उसके आश्रय में स्थिरता हो—यह मोक्ष का मार्ग है। यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रत्नत्रयस्वरूप है। अब यहाँ कहते हैं कि **यह, रत्नत्रय के स्वरूप का कथन है।** समुच्चय बात है पहली। इसलिए दो कहना है निश्चय और व्यवहार। समुच्चय पहले कहना है रत्नत्रयस्वरूप का कथन। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, ऐसा रत्नत्रय मोक्ष का कारण है, उसका यह स्वरूप है। अब इसमें पहले भेदोपचार रत्नत्रय वर्णन करते हैं, व्यवहाररत्नत्रय। वह वास्तविक रत्नत्रय नहीं है, परन्तु उपचारिक है न? **भेदोपचार रत्नत्रय...** निश्चय सम्यक् अनुभव, दृष्टि में निश्चयसम्यग्दर्शन हुआ, उसे ऐसा व्यवहार सम्यग्दर्शन का विकल्प होता है। है वह राग, वह कहीं सम्यग्दर्शन नहीं परन्तु उसे—भेदवाले को उपचार से रत्नत्रय कहा जाता है। कहते हैं... व्यवहार समकित, हों! अभी यह तो। निश्चय सम्यक्... आत्मा अखण्ड अभेद का आश्रय लेकर, उसका स्वीकार होकर, पूर्ण आनन्द का जहाँ स्वीकार होकर सम्यग्दर्शन हुआ, वह निश्चय है, वह सच्चा समकित है। परन्तु ऐसे समकित के काल में पूर्ण वीतरागता न हो, उसे ऐसा एक व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प रागभाग होता है। इतना यहाँ बतलाते हैं।

यह **भेदोपचार-रत्नत्रय इस प्रकार है...** व्यवहार। **विपरीत अभिनिवेशरहित...** भगवान ने कहा, उससे उल्टी श्रद्धा हो, उससे रहित, **ऐसा जो सिद्धि के परम्पराहेतुभूत...** विपरीत अभिप्राय, भगवान ने कहा, उससे जितना उल्टा, वह विपरीत अभिप्राय है, उससे रहित। समकिती को व्यवहार समकित ऐसा होता है। विपरीत अभिप्रायरहित

श्रद्धानरूप—ऐसा जो सिद्धि के परम्पराहेतुभूत... व्यवहार है न? व्यवहार समकित अर्थात् शुभराग, उसे यहाँ परम्परा हेतु कहा है। उसका अभाव करके मुक्ति प्राप्त करेगा, इसलिए उसे परम्परा हेतुभूत कहने में आता है। क्या?

भगवन्त पंच परमेष्ठी के प्रति... पाँच परमेष्ठी—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु सच्चे। ऐसे... भगवन्त हैं न? इसलिए भगवन्त कहा है। महिमावन्त ऐसे पंच परमेष्ठी अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु के प्रति **उत्पन्न हुआ चलता-मलिनता-अगाढ़तारहित निश्चल भक्तियुक्तपना, वही सम्यक्त्व है।** यह व्यवहार समकित है अभी राग। पंच परमेष्ठी के प्रति **चलता...** यह जरा दोष का उदाहरण दिया है न? उसमें—मोक्षमार्गप्रकाशक में। ....वह उदाहरणमात्र है, वास्तविक नहीं, परन्तु ऐसा कहा है 'चलता' के अर्थ में। अर्थात् यह देव और गुरु मेरे तथा यह देव-गुरु मेरे नहीं, ऐसा जो जरा... दृष्टान्त दिया है, हों! ऐसा यथार्थरूप से नियमरूप ऐसा नहीं होता। निश्चयसमकित के भान में अनुभव सम्यक्त्व का होने पर भी, उसके व्यवहार समकित में चलता, क्षयोपशम समकित में कुछ होता है। समझ में आया? 'यह देव अरिहन्त मेरे, यह मन्दिर मेरा, यह मन्दिर उसका, यह गुरु मेरे' ऐसा एक उदाहरणरूप से चलता नामक दोष रहा हुआ है, बाकी तो क्षयोपशम में दोष क्या है, वह केवलीगम्य है।

मलिनता... जरा कोई साधारण शंका भी आ जाये... समकितमोहनीय का उदय है न? उसे यहाँ मलिन कहा है। **अगाढता...** शान्ति के कर्ता... आता है न लोगों में? यह तो एक दृष्टान्त है, हों! यह बात व्यवहार क्षयोपशम समकित का वास्तविक स्वरूप नहीं है। जरा उसमें ऐसा कोई साधारण दोष है, इसलिए वर्णन करने को यह वहाँ **उत्पन्न हुआ चलता-मलिनता-अगाढ़तारहित निश्चल भक्ति...** भगवान पंच परमेष्ठी के प्रति—सच्चे अरिहन्त को पहिचानकर, सच्चे सिद्ध को पहिचानकर, सच्चे आचार्य, उपाध्याय, साधु को पहिचानकर उनके प्रति—निश्चल भक्तियुक्तपना (अर्थात्) चलित नहीं, ऐसी उनकी भक्ति का भाव, उसे यहाँ व्यवहार समकित कहा जाता है, जिसे निश्चय समकित हो उसे। जिसे निश्चय समकित न हो, उसे तो व्यवहार समकित भी नहीं कहा जाता। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात डाली है।

भक्तिपना न चले, ऐसा... पंच परमेष्ठी सर्वज्ञदेव अरिहन्त पूर्ण परमात्मा, सिद्ध

पूर्ण दशा को प्राप्त, आचार्य, उपाध्याय, साधु परम शुद्धोपयोग के धारक, परम शुद्धोपयोग के धारक ऐसे सच्चे आचार्य, उपाध्याय, साधु का न चलित हो ऐसा प्रेमपूर्वक भक्तियुक्तपना, उसका नाम व्यवहार भेदोपचार समकित कहते हैं। वह विकल्प-राग। राग है, उसे व्यवहारसमकित का आरोप दिया है। निश्चय से तो आत्मा अपना निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यपद सर्वज्ञ ने देखा हुआ, ऐसा आत्मा, उसे अन्तर में ज्ञान में लेकर और अनुभव में प्रतीति करे, उसका नाम सच्चा समकित है। सच्चा कहो या निश्चय कहो। ऐसे निश्चयसमकित (वन्त) जीव को ऐसा पंच परमेष्ठी के प्रति प्रेम और भक्ति चलता, मलिनता, अगाढ़तारहित उत्पन्न हुआ होता है, उसे व्यवहारसमकित कहा जाता है। इतनी सब शर्तें हैं। समझ में आया?

क्या शर्त कही इसमें? जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन हो। आत्मा का अनुभव होकर... आत्मा आनन्दस्वरूप है, अत्यन्त शुद्ध पवित्रता का पिण्ड है, ऐसा अनुभव होना, अनुभव में पवित्रता का वेदन आया, इससे पूरा आत्मा पवित्र और शुद्ध है, ऐसा जो प्रतीति में, ज्ञान में, अनुभव में आवे, उसे निश्चय—सच्चा समकित कहते हैं। इस समकित की भूमिका में व्यवहारसमकित का स्वरूप ऐसा होता है।

मुमुक्षु : सबका होता है या किसी का होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : नीचे तो होवे न नीचे। ऊपर न हो। यह तो नीचे की बात है। चौथे, पाँचवें, छठवें में... होता ही है वह। आगे गये, उन्हें नहीं होता। कहो।

विष्णुब्रह्मादिकथित विपरीत पदार्थसमूह... लो, यहाँ यह आया। विष्णु के कहे हुए, ब्रह्मादि के विपरीत समूह पदार्थ कहा हुआ, उसके अभिनिवेश का अभाव... यहाँ तो व्यवहार में अभी तो कहते हैं। विष्णु, ब्रह्मा, शंकर इन्होंने जो पदार्थ का स्वरूप कहा, उसका अभिनिवेश जिसे छूट गया है। अभिनिवेश का अभाव... उन्होंने कहे हुए पदार्थ कहीं सत्य नहीं होते। सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव ने कहे हुए पदार्थ सच्चे हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश ने कहे हुए पदार्थ सच्चे नहीं। लो, इसमें तो यह आया। वे कहते हैं कि विष्णु और जैन में अन्तर नहीं है। और ऐसा कहते हैं। स्वार्थियों ने अन्तर कर डाला है। यहाँ तो व्यवहारसमकित में बाधा उठायी। बहुत अन्तर नहीं, (अज्ञानी) ऐसा कहता

है कि विष्णुमत और जैनमत में परमार्थ से कोई अन्तर नहीं है। स्वार्थी लोगों ने दोनों को अलग किया। खोटी बात है। दोनों एकदम अलग पंथ हैं। वीतरागमार्ग और विष्णु का, ब्रह्मादि का कहा हुआ मार्ग अत्यन्त भिन्न है। उसके साथ वीतरागमार्ग को कुछ मेल नहीं है।

पहले तो विष्णु डाला इसमें। उसमें भी डाला था, देखो न! विष्णु, ऐसा कि कर्ता है जगत का। इस प्रकार कोई माने तो मिथ्यादृष्टि है। सर्वविशुद्ध (ज्ञान अधिकार)। वहाँ भी विष्णु डाला और यहाँ भी विष्णु डाला। ऐसा अधिकार, तो भी ... क्या करते हैं? सबको समान लगाने के लिये सब लोग प्रसन्न हो कि आहाहा! भगवान का मार्ग—वीतराग का और विष्णु का मार्ग भी एक है। वहाँ कौन सा मोक्ष था भान बिना? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने कहे हुए पदार्थ छह द्रव्य, इसके अतिरिक्त दूसरे एक ने भी इस प्रकार से जाना नहीं। सबने उल्टा कल्पित किया है। किसी ने एक आत्मा कहा, किसी ने अकेला जड़ ही माना, किसी ने अकेली पर्याय मानी, किसी ने अकेला द्रव्य माना—यह सब वीतरागमार्ग से विरुद्ध है। यह तो व्यवहार में अभी शुद्धि का ठिकाना नहीं, ऐसा कहते हैं। उसे निश्चयसमकित होता नहीं। व्यवहार का ठिकाना नहीं, उसे निश्चयसमकित होता ही नहीं।

विष्णु-ब्रह्मा-महेश आदि **कथित विपरीत पदार्थसमूह...** लोगों को ऐसा लगे बाह्य में। यहाँ जरा निश्चय की बात आवे न, ऐसी किसी ने की हो अंग्रेजी-बंग्रेजी में, तो कहे, देखो! यह भी अपने यहाँ जैसा है, हों! धूल भी नहीं। समझ में आया? ऐसे लोग अभी भाषा में और वाँचन में जरा चढ़ जाये न, (तो कहे), उसमें भी अपने जैसा है। बिल्कुल झूठा है। सर्वज्ञ के अतिरिक्त छह द्रव्य को कोई जान सकता ही नहीं। और छह द्रव्य का जानना तो एक समय की पर्याय की सामर्थ्य है। अब इतनी पर्याय की सामर्थ्यवाला आत्मा, ऐसा आत्मा जिसने माना नहीं, छह द्रव्य माने नहीं, उसकी बात में एक भी बात सच्ची नहीं हो सकती। परमात्मा वीतराग तीर्थंकर सिवाय...

मुमुक्षु : आत्मा जानने का काम तो.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा जाना, परन्तु आत्मा की पर्याय में एक समय में छह द्रव्य को जानने की सामर्थ्य है, इतना आत्मा है न?

मुमुक्षु : त्रिकाल जानने का काम है, पर्याय का जानने का क्या काम है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐ चेतनजी ! क्या कहते हैं यह ? परन्तु उसकी एक समय की पर्याय में छह द्रव्य है, ऐसा भगवान ने देखा, द्रव्य अनन्त, गुण अनन्त, एक द्रव्य के अनन्त गुण-पर्यायें—यह सब जानने की एक समय की पर्याय में सामर्थ्य है। परन्तु आत्मा जिसे जानना है तो, एक समय की पर्याय ऐसी अनन्त पर्याय का पिण्ड है एक गुण, ऐसे अनन्त गुण का पिण्ड है आत्मा, तो वह आत्मा जानने में आयेगा या नहीं अन्दर ? यह प्रमाण है। ऐई ! यह कल कहा था। मैंने उड़ा दिया... ऐसा कि नास्ति हो... प्रमाण का यहाँ काम नहीं। खबर है न ? खबर है। ऐसा कि अस्ति यह है और वह नहीं, उसमें प्रमाण हुआ, कहे। ...भाई ! यहाँ यह काम नहीं। खबर है।

यहाँ तो भगवान आत्मा सर्वज्ञ ने (कहा हुआ) और ऐसा ही होता है। अनन्त... अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश—यह छह द्रव्य भगवान ने देखे और एक द्रव्य में भगवान ने अनन्त गुण देखे और एक गुण की अनन्त पर्यायें भगवान ने देखीं। अब इतना स्वीकार करे, वह तो इतनी एक ज्ञान की पर्याय की सामर्थ्य इसने मानी। अब इतना जो मानता नहीं, वह एक समय की पर्याय को भी नहीं मानता, द्रव्य को नहीं मानता। ऐई ! ऐसा सिद्धान्त है। नहीं मानता। बराबर है न भाई ? चेतनजी ! यह तो न्याय है। यह वस्तु ऐसी है।

मुमुक्षु : पर्याय द्रव्य को स्पर्शती नहीं, फिर....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पर्शती नहीं, परन्तु पर्याय है या नहीं ? वह तो द्रव्य में नहीं। पर्याय पर्यायरूप से नहीं ? वह तो दो प्रकार से नहीं। एक द्रव्य में नहीं और द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय नहीं। दो बात। क्या कहा ? द्रव्य में पर्याय नहीं और द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय नहीं। असत् हो गयी। असत् हुई। यहाँ यह सत् है तो वह नहीं इसकी अपेक्षा से, हों ! दो प्रकार से हुआ स्वरूप। आहाहा ! यह वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। वस्तु जो द्रव्य है, उसमें एक समय का अंश नहीं। एक बात। और एक समय का जो अंश है... एक समय का अंश है वह, त्रिकाल सत्यार्थ है, उसकी अपेक्षा से वह असत् है। उसकी अपेक्षा से असत् है। इस प्रकार वस्तु की स्थिति है। यह भगवान ने कहा हुआ... भगवान ने कहे हुए का अर्थ में ऐसा है। समझ में आया ?

वैसे तो सब कहे, नहीं? नरसिंह मेहता ने (कहा कि) 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिन्ह्यो नहीं...' अपने दृष्टान्त देते हैं, परन्तु वह आत्मा यह कहाँ था ऐसा? समझ में आया? बात सूक्ष्म है। सर्वज्ञ ने कहा हुआ आत्मा अर्थात् एक समय की ज्ञान की अवस्था—दशा एक समय की, उस आत्मा (सहित) छह द्रव्य अनन्त और उसके अनन्त गुण और अनन्त पर्यायें—उन्हें एक समय में स्वीकार करे, तब उसने एक समय की पर्याय को माना कहलाये। समझ में आया? तब तो उसने व्यवहार माना कहलाये, ऐसा। भाई! निश्चय तो द्रव्य को... ऐसी अनन्त-अनन्त पर्याय का पिण्ड एक गुण, ऐसी अनन्त-अनन्त पर्याय का (पिण्ड) दूसरा गुण, ऐसे अनन्त गुण का एकरूप ऐसा द्रव्य। न्याय समझ में आता है या नहीं?

ऐसा आत्मा, इतना आत्मा, ऐसा आत्मा वह अन्दर अनुभव में-प्रतीति में आवे, तब उसे सच्चा समकित कहा जाता है। उसमें ऐसा आया कि जो देव-गुरु-शास्त्र जैसे हैं, वैसे उसे एक समय की पर्याय में जानने में आये, परन्तु वह व्यवहार हुआ। वह व्यवहार हुआ। अब निश्चय तो एक समय की पर्याय बिना का पूरा द्रव्य, ऐसा भगवान पूर्णानन्द प्रभु, उसके अन्दर ज्ञान में आया और निर्विकल्प प्रतीति हुई, वह निश्चयसमकित। तब एक समय की पर्याय में देव-गुरु-शास्त्र आदि की श्रद्धा होती है, वह व्यवहारसमकित। कहो, समझ में आया? रत्नत्रय का स्वरूप कथन दोनों का है। पहले यह कहते हैं, ऐसा कहते हैं। परन्तु वह व्यवहार है, पहला और पश्चात् निश्चय (हो), ऐसा नहीं यहाँ है। समझ में आया?

वही सम्यक्त्व है—ऐसा अर्थ है। इसका अर्थ। विष्णु-ब्रह्मा आदि... ऐसे तो सम्प्रदाय में रहकर कहे अन्यमती खोटा—ऐसा नहीं। उन्होंने क्या कहा है और सर्वज्ञ ने क्या कहा है—इसका ज्ञान होकर 'यह खोटे पदार्थ हैं' ऐसा हो उसे तो अभी व्यवहारसमकित कहने में आता है। ऐसी बात है। क्या है चेतनजी? बहुत दूर गया यह तो, कहे। आहाहा! भगवान आत्मा एक समय में पूर्ण ध्रुव चैतन्यद्रव्य भगवान, उसका अन्तर में स्वभाव का स्वीकार होकर जो ज्ञान और श्रद्धा हुई, यह निर्विकल्प वीतरागदृष्टि हुई। वह वीतरागदृष्टि है, वह वीतराग समकित है। उसके साथ ऐसा सराग—रागवाला समकित कहने में आता है। यहाँ ऐसा लेना है, लो, ठीक। वह निश्चय और व्यवहार

कहा न, तो वीतराग और राग। भाई! आहाहा! बात तो ऐसी है। यह तो दोनों प्रकार से कथन होता है। जब स्वरूप शुद्ध अखण्ड अभेद ऐसा अन्तर में भान होकर अनुभव हुआ और श्रद्धा हुई, तब वह निश्चयसमकित हुआ—सच्चा हुआ (कि जो) अनन्त काल में हुआ नहीं।

'मुनिव्रत धार...' मुनिपना ग्रहण किया, जंगल में रहा, नग्नपना किया, पंच महाव्रत पालन किये, परन्तु मिथ्यादृष्टि ने पंच महाव्रत की क्रिया राग—आस्रव को धर्म माना, देह की क्रिया वह मेरी है, ऐसा माना। अजीव और आस्रववाला आत्मा माना, वह मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? सूक्ष्म तत्त्व। कुछ रह गयी है अनादि की बात का अर्थ ऐसा सूक्ष्म है।

यहाँ कहते हैं कि ऐसा जो समकित, वह ब्रह्मा **विष्णुब्रह्मा आदि कथित...** ब्रह्मा आदि और शिव आदि... जिसे विपरीत पदार्थ का आग्रह छूट गया है, उसे समकित है—ऐसा अर्थ है। वह जैसा कहा छठवीं गाथा। यह चारित्र है। उसका यह अर्थ कि स्वसमय में प्रवर्तता है, वह चारित्र। है न? अमृतचन्द्राचार्य, प्रवचनसार, यह व्यवहार समकित है। ऐसा व्यवहारसमकित... निश्चयसमकित—वीतराग समकित हुआ है, वहाँ ऐसा सरागभाव का समकित व्यवहार होता है। केवली हो, फिर उसे नहीं होता। समझ में आया? समझ में आया या नहीं, कान्तिभाई? पहिचानते हो भाई कान्तिभाई को? अपने वहाँ प्लेन में थे न? प्लेन में नौकरी है। जोडीया। जोडीया न? जोडीया। अपने प्लेन में नौकरी है। पन्द्रह सौ वेतन। नौकरी छोड़ दी। नौकरी छोड़ दी। नौकरी करना नहीं। डेढ़ सौ वेतन था डेढ़ वर्ष पहले, हों! अब तो छोड़ दी। नौकरी नहीं करना। यही करना है। प्लेन में थे मुम्बई। जोडीया के हैं। ...गृहस्थ हैं। यह तो वे सामने... है न? ...स्थानकवासी के प्रमुख हैं न इसलिए इसमें नहीं पहिचाने बहुत। परिचय कम न? परन्तु अब आनेवाले हुए हैं अब। पोरबन्दर आये थे या नहीं? पोरबन्दर। राजकोट आये थे, यह सच्ची बात। राजकोट आये थे। फिर यहाँ आये थे या नहीं? अन्यत्र कहीं नहीं। अहमदाबाद में आये थे, यहाँ दो बार।

विष्णु... देखो! सिद्धान्त में यह सत्य है। ऐसा निश्चयसहित का व्यवहार जिसे

हो, उसे दोनों का ज्ञान करना, वह प्रमाणज्ञान है। ठीक! ऐई! निश्चय अखण्ड शुद्ध परमात्मा स्वयं उसका अन्तर दर्शन—श्रद्धा, वह निश्चय (और) व्यवहार यह—दोनों होकर प्रमाणज्ञान है। इस प्रमाण में व्यवहार का निषेध होता ही नहीं, इसलिए प्रमाण पूज्य नहीं है, निश्चय पूज्य है। क्योंकि व्यवहार, वह कोई चीज़ नहीं। रागादि समकित कोई चीज़ नहीं, वह तो मात्र सहचर देखकर आरोप से कहा है। वह तो दोष है, अगुण है, हेय है, आहाहा! ऐसी बात है।

अब, वह तो व्यवहारसमकित की व्याख्या की। अब व्यवहारज्ञान। व्यवहारिक ज्ञान अभी, हों! निश्चयज्ञान तो आत्मा का स्वसंवेदन आत्मा से स्व अर्थात् अपने से, सं अर्थात् प्रत्यक्ष, राग और मन के अवलम्बन बिना चैतन्य का ज्ञान हो अन्तर का, उसे निश्चयज्ञान—वास्तविक हुआ वीतरागी ज्ञान कहने में आता है। चिमनभाई! आहाहा! और यह जो है व्यवहारज्ञान अर्थात् रागवाला। ऐसा विकल्प होता है। उसमें कहा है न भाई? बारह अंग भी विकल्प है। कहा है न कलशटीका में? बारह अंग भी विकल्प है। और उसमें कहा है अनुभूति करने का। भले बारह अंग है, वह विकल्प है। आहाहा! परन्तु उसमें कहा है कि भगवान आत्मा का अनुभव करना, वही धर्म है। आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार कहते हैं कि व्यवहार में भी कहा है यह, ऐसा कहते हैं। बारह अंग का ज्ञान विकल्प है, उसमें भी कहा है यह कि आत्मा अखण्ड आनन्द शुद्ध है, उसका अनुभव कर। उसका नाम समकित, ज्ञान और मोक्षमार्ग है। आहाहा! बारह अंग में भी भगवान ने ऐसा कहा है। आहाहा! भारी सूक्ष्म! अरे! जिन्दगी जाती है और करने का बाकी रह जाता है। हो गया। क्या किया इसने? समझ में आया? कहते हैं, भगवान आत्मा अपने स्वसंवेदन का सम्यक् ज्ञान जो अनन्त काल में प्रगट नहीं हुआ, ऐसा जो अन्तर आत्मज्ञान जिसे कहते हैं, आत्मज्ञान कहो, आत्मा की कीमत होकर अन्तर स्वसंवेदन में वेदन आनन्द का आवे, ऐसा जो ज्ञान, वह निश्चयज्ञान है। ऐसे निश्चयज्ञान की भूमिका में ऐसा व्यवहारज्ञान होता है। समझ में आया? बहुत संक्षिप्त में निश्चय-व्यवहार की सन्धि की है। आहाहा!

संशय, विमोह और विभ्रमरहित (ज्ञान) ही सम्यग्ज्ञान है। संशय न हो। कैसे

होगा? ऐसे होगा? वैसे होगा? व्यवहार ज्ञान में, हों! यहाँ तो अभी। निश्चयज्ञान में तो स्व का ज्ञान। आहाहा! व्यवहार ज्ञान में संशय न हो, विमोह न हो। तीन की व्याख्या करेंगे। **विभ्रमरहित (ज्ञान) ही सम्यग्ज्ञान है।** जैसे उसमें पहले कहा था न? कि यह समकित है। फिर विष्णु-ब्रह्माकथित विपरीत पदार्थसमूह के प्रति अभिनिवेश का अभाव, वह सम्यक्त्व है। इसी तरह यहाँ कहते हैं। संशय, विमोह और विभ्रमरहित... **वहाँ, जिन देव होंगे या शिव देव होंगे...** वीतरागदेव होंगे या शंकर भी देव होंगे। शिव... शिव... शिवोअहं... शिवोअहं... यह अलग। जैन में आता है 'सिवमयलयमरुय...' णमोत्थुणं में आता है। तुझे अर्थ खबर है? णमोत्थुणं में नहीं आता? 'सिवमयलयमरुयमणंत मकखयमव्वाबाहम्...' इस सिव का अर्थ वह शिव और शंकर नहीं। सिव का अर्थ कल्याणस्वरूप। 'सिवम् अयलम्' ऐसा शब्द है। सिवमयल... अयल... म... म... 'सिवम् अयलम् अरुयम्' ऐसा शब्द है। सिवं (अर्थात्) निरुपद्रवस्वरूप भगवान आत्मा। हे परमात्मा! 'सिवमयलयमरुयमणंत...' ऐसा। 'मकखयमव्वाबाहमपुरणावित्ति सिद्धिगई नामधेयं ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं जिअभयाणं।' यह तो किया होगा न कण्ठस्थ? अर्थ-बर्थ नहीं आता होगा, यह तो पहाड़ा बोले जाये। रटन्त।

अन्तर यह क्या कहते हैं भाव? इस भाव के भान बिना व्यवहार का भी ठिकाना नहीं होता, निश्चय तो एक ओर रहा। आहाहा! समझ में आया? यह सिवं अयलं अरुयं... हे भगवान! आप तो शिव अर्थात् कल्याणपद को प्राप्त हुए। अयलं (अर्थात्) अचल पद को; अरुयं (अर्थात्) रोग-बोग आपको नहीं संसार का। सिवमयलंरुयम्... अणंत (अर्थात्) अव्याबाध स्थिति को प्राप्त हैं प्रभु सिद्ध भगवान। ठाणं संपत्ताणं नमो जिणाणं... ऐसा यहाँ... जिन भगवान कहते हैं, वह सच्चा होगा या कोई यह शंकर-बंकर कहे? यह शंकारूप संशय है। उस सच्चे व्यवहार ज्ञान को ऐसी शंका नहीं होती। आहाहा! देखो ने! कैसी गड़बड़ चलती है अभी।

व्यवहार समकित में ऐसा कहा। विष्णु और भगवान ने कहे हुए पदार्थ दोनों में अन्तर है। भाई! अब इसे व्यवहार में समकित में ऐसा न हो, कहते हैं। दोनों में अन्तर है, दोनों एक हैं नहीं—ऐसा तो व्यवहार समकित में होता है। परन्तु किसे? कि निश्चय हो उसे। अकेला निश्चय-व्यवहार के भान बिना का... आहाहा! वीतरागमार्ग, वह कोई

मार्ग है! मूल भूल। अभी चलता है अभी, क्या करे? इसके दोष की बात नहीं, परन्तु यह वस्तुस्थिति ऐसी हो सकती है? जहाँ परमात्मा तीन लोक के नाथ, उन्होंने जो आत्मा का समकित और आत्मा का ज्ञान कहा, तदुपरान्त उसकी-भगवान की श्रद्धा और भगवान का ज्ञान—उन्होंने कहा, उस ज्ञान को मानना, वह तो व्यवहार हुआ। उस व्यवहार में शंकर कहते हैं, वह सच्चा है, यह भी (सच्चा है)। कुछ-कुछ होगा। अवधूत शंकर जंगल में रहते, लो। ऐसा व्याख्यान था उसका। आहाहा!

वह आया था शंकर होकर अभी शंकर का बाबा। अहमदाबाद आया था? वह नहीं? यहाँ नहीं था वह बाबा? ब्रह्मचारी होकर नहीं आया था? सिहोर का। निकाला था यहाँ से। वह नहीं, वह अपना ब्रह्मचारी दिगम्बर होकर आया था, फिर भागा। पर्वत पर रहा था। फिर निकलाया, भाग गया। ब्रह्मचारी हुआ था। पहले श्वेताम्बर साधु हुआ, फिर दिगम्बर का ब्रह्मचारी हुआ। फिर नौकरी छोड़ दी, विवाह किया था। नौकरी थी भाई जुगराजजी में। महावीर मार्केट, मुम्बई। उसमें वह नौकर था, नहीं? अपने वहाँ मल्हारगढ़ लेकर आया था न? कुछ सब चाँदी के क्या? बर्तन। वापस अहमदाबाद में आया, देखा तो शंकर। ऐ यह? बस, अब तो शंकर को भजते हैं। वह अहमदाबाद आया था दो वर्ष पहले, उस पंच कल्याणक के समय। हू-ब-हू बड़ा बाबा शंकर का। घड़ीक में साधु श्वेताम्बर का, घड़ीक में दिगम्बर का ब्रह्मचारी, घड़ीक में जुगराजजी का नौकर। मल्हार रहते थे न जब यह? भगवानदास के गुरु, यह तारणस्वामी गुजर गये न जहाँ! समाधिमरण। दस हजार लोग थे। वह कुछ बर्तन लेकर आये थे। नौकर थे। पढ़े बहुत, परन्तु बिना ठिकाने का आदमी। ...शरीर-बरीर वैसा। आया ऐसे बराबर। ऐसे व्याख्यान पूरा हुआ अहमदाबाद। लावे, क्या यह? बस, अब तो शंकर को भजते हैं। आहाहा! गजब है। जैन का ब्रह्मचारी था यहाँ। भारी तूफान करता होगा। यहाँ पुलिस से निकलवाया था।

अरेरे! वस्तु की खबर नहीं। ऐसे लूटेरे और जगत को भरमावे उसमें। रास्ता भी, मार्ग भी हो, तत्प्रमाण चाहिए न? रास्ता, कहा न? वह बनिया की तरह। सब्जी ऐसे ली सस्ती बनिया ने। दागवाली। मण-दो मण सब्जी लाया होगा। वह लाते हैं न गाँव में से? हमारे वहाँ पालेज में वे होते हैं काछी... (सब्जीवाले) काछी? काछी। मेराज काछी

हमारा ग्राहक था। वह यहाँ डेढ़-डेढ़, दो मण सब्जी उठाकर ले जाये वहाँ। काछी ग्राहक था। मेराज... मेराज... फिर सब्जी बेचे। बिक गयी हो सवेरे से? दस सेर रही हो। अब फिर वहाँ रात्रि में कहाँ रखना? ऐसा एक बनिया था। देखो! यह दो पैसे का सेर। यह चार पैसे का सेर बेचा था। यह पहले की बात है, हों! अभी तो आठ आना सेर। चार पैसे सेरे बेचा है, परन्तु तुमको दो पैसे सेर। यह दस सेर होगी, लो। दाग है जरा दाग है। वह बनिया कंजूस। वह कहे, ठीक चालीस पैसे का बीस पैसे में आया। अभी महँगा है न? पाँच रुपये दस सेर के। अधमण ढाई रुपेय में। ...लेने जाये तो दाग पूरा पूरे में दाग। टुकड़ा भी निकला नहीं सब्जी का।

इसी प्रकार लोभी सस्ता लेने जाये तो महँगा पड़े। धर्म को सस्ता लेने जाये, परन्तु धर्म निकले नहीं वहाँ। जाओ, तुम यह दया करो, व्रत पालो, भक्ति करो, पूजा करो, बस धर्म हो जायेगा। परन्तु क्या किया जा सकता है? मर जायेगा। यह तो सब दाग है। सड़ा हुआ भाग है। यह तो विकल्प और राग है। उसमें धर्म नहीं है। सस्ता मिले इसलिए बनिया ले लेवे। धीरुभाई! तुम्हारे नागनेश में आता हो न गाँव में से बेचने-बेचने। बराबर जाँच करे छोटाभाई जैसा हो तो। ... भिंडी की फली.... आहाहा! जिन वीतराग... अभी तो व्यवहारज्ञान की बात चलती है, हों! निश्चय-सच्चा ज्ञान हो, वहाँ व्यवहारज्ञान ऐसा होता है। जिन देव होंगे या शिव (देव) होंगे? उसे संशय नहीं होता, ऐसा संशय नहीं होता।

शाक्यादिकथित वस्तु में निश्चय (अर्थात् बुद्धादि...) यह बौद्ध... बौद्ध... यह बौद्ध है न बड़ा धर्म? देखो न! अभी। ... देश पूरा बौद्ध है न? चीन... चीन... चीन वह बौद्ध है। वह सब बौद्ध है। बौद्ध में आता है। **(बुद्धादि कथित पदार्थ...)** उसमें युक्ति बहुत हो पर्याय की। बहुत युक्ति डाले। अब बहुत... हो गया है न! सुखराज पण्डित था... आहाहा! उसमें तो गजब। वह और सांख्यमत... यह बुद्धादि... बहुत सूक्ष्म बात है। ऐसा है और वैसा है, कोई कहता था। धूल में भी नहीं। **बुद्धादि...** बुद्ध और दूसरे अनेक प्रकार... **(कथित पदार्थ का निर्णय), वह विमोह है;...** यह विमोह उसे नहीं होता। व्यवहार समकिती को ऐसा विमोह नहीं होता। आहाहा! समझ में आया? यह युक्ति से बहुत निश्चय किया है, कोई कहता था। बहुत सूक्ष्म ज्ञान है, कहते हैं।

बौद्धादिक में वह हुआ न धर्म... कौसम्बी। धर्म... कौसम्बी हो गया है। सुना था। कोई कहता था। यहाँ तो बहुत आते हैं न कहनेवाले। याद नहीं रहता। बहुत सूक्ष्म बात की है। धूल भी बात नहीं की, कहा। एक पर्याय को ही आत्मा पूरा माने, वस्तु तो पूरी रही ही नहीं। क्षणिक, परन्तु है तो क्षणिक। वह विमोह। वह धर्मी को उसके व्यवहारज्ञान में ऐसा नहीं होता। अज्ञानपना—वस्तु क्या है, उस सम्बन्ध में अजानपना। कैसे होगा इसमें? कुछ समझ में नहीं आता। यह होगा या यह होगा? ऐसा अज्ञान। ऐसा अज्ञान समकिती को व्यवहारज्ञान में भी नहीं होता, ऐसा कहते हैं। है न? वही विभ्रम है, लो। यह व्यवहारसमकित और व्यवहारज्ञान की व्याख्या की। अब, चारित्र की।

पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम, वह चारित्र है। किसे? जिसे सम्यक् निश्चय है, सम्यग्ज्ञान निश्चय है, उसे व्यवहार समकित(रूप) विकल्प है, उसे व्यवहारज्ञान है सच्चा व्यवहार, इसे चारित्र व्यवहार होता है। कैसा? **पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम, वह चारित्र...** व्यवहारचारित्र। ऐसे निश्चय सम्यग्दृष्टि को, निश्चय सम्यग्ज्ञानी को व्यवहारदर्शन में और व्यवहारज्ञान में, इतना। अब उसे निश्चय चारित्र तो अन्दर है, स्वरूप की रमणतारूप चारित्र है... वह सातवें में हो, वह अभी नहीं लेना। फिर उसे पहला कहेंगे इसमें। आत्मा का चारित्र, वह निश्चय चारित्र हो गया राग रहित और छठवें में है वह तीन कषाय का अभाव है, मुनि—नग्न मुनि होते हैं, तीन कषाय का अभाव होता है, परन्तु व्यवहार से उन्हें पंच महाव्रत के परिणाम, पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम हैं, उन व्यवहार महाव्रत के परिणाम को व्यवहारचारित्र कहा जाता है। जिसे निश्चयदर्शन-ज्ञान और चारित्र हो, उसे ऐसा व्यवहार दर्शन-ज्ञान और ऐसे व्यवहारचारित्र के परिणाम होते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कितना याद रखना इसमें? कहते हैं।

पापक्रिया से निवृत्तिरूप परिणाम,... महाव्रत के परिणाम हैं, वे अशुभ से निवृत्ति के हैं, मुनि को—सच्चे सन्त को। सच्चे दर्शन-ज्ञान-चारित्रसहित हों, उन्हें ऐसे व्यवहारचारित्र में पाप के परिणाम से निवृत्ति, ऐसा व्यवहारचारित्र होता है। है, ऐसा। है... है... सिद्ध करना है न? **ऐसी भेदोपचार-रत्नत्रयपरिणति है।** लो। देखो! ऊपर कहा था न? पहले यह कहूँगा भेदोपचार रत्नत्रय। ऐसा भेदोपचार अर्थात् व्यवहाररत्नत्रय

की परिणति का विकल्प आदि है। अब **उसमें, जिनप्रणीत हेय-उपादेय तत्त्वों का ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।** उसका—ज्ञान का स्पष्टीकरण किया। उसे व्यवहार ज्ञान ऐसा होता है कि जिन भगवान ने कहे हुए हेय-उपादेयतत्त्व... यह पुण्य-परिणामादि हेय हैं; स्वभाव, वह आदरणीय है, उपादेय है—ऐसा ज्ञान, वह अभी सम्यग्ज्ञान, समझ में आया? वह व्यवहारज्ञान। आहाहा! समझ में आया? यह निश्चय नहीं अभी।

पाँचवीं (गाथा) में नहीं आया? अन्तःतत्त्व और बहिःतत्त्व की श्रद्धा, वह व्यवहार समकित है। बहिःतत्त्व और अन्तःतत्त्व परमात्मा। बाह्यतत्त्व सात, उनकी श्रद्धा, वह व्यवहारसमकित है। इसमें है न यह है न। यह पाँचवीं में है। आप्त, आगम और तत्त्व... '**अत्तागमतच्चाणं..**' देखो! है उसमें। देखो! वहाँ यह है। यह व्यवहार समकित के स्वरूप का कथन है। पाँचवीं गाथा। **आप्त अर्थात् शंकारहित। शंका अर्थात् सकल मोहरागद्वेषादिक (दोष)। आगम अर्थात् आप्त के मुखारविन्द से निकली हुई...** देखो! **समस्त वस्तु विस्तार का स्थापन करने में समर्थ ऐसी वचनरचना।** उसका ज्ञान, वह व्यवहारज्ञान है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

और **तत्त्व बहिःतत्त्व और अन्तःतत्त्वरूप परमात्मतत्त्व दो भेदवाला है।** लो। उसे व्यवहारसमकित कहते हैं। सात तत्त्व पर्याय और अन्तःतत्त्व द्रव्य—दो की श्रद्धा हुई, वह व्यवहारसमकित है। दो आये न उसमें? आहाहा! है या नहीं? बहिःतत्त्व... पहले कहे थे बहिःतत्त्व सात कहे हैं न उस ३८ गाथा में? हाँ, वे। संवर, निर्जरा, मोक्ष, आस्रव, वे सब हेय, बहिःतत्त्व हैं और एक अन्तःतत्त्व उपादेय है। परन्तु दोनों का ज्ञान और दोनों की जो श्रद्धा, वह व्यवहार श्रद्धा है। अकेली अन्तर परमात्मा की अन्तर की श्रद्धा, वह समकित है। समझ में आया?

जिनप्रणीत हेय-उपादेय तत्त्व का ज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान है। वही व्यवहार सम्यग्ज्ञान, ऐसा। अब, **उस सम्यक्त्वपरिणाम का बाह्य सहकारी कारण...** जहाँ निश्चयसमकित जिसे होता है, उसे व्यवहार कारण(रूप) निमित्त कैसा होता है? कि निश्चयसमकित के परिणाम... देखो! यहाँ समकित परिणाम—पर्याय कही। वे गुण... गुण करते हैं न? समकित गुण है न। गुण की पर्याय की व्याख्या है। वह तो गुण कहे। गुण तो त्रिकाल

है, त्रिकाल है। परिणमता है, वह तो पर्याय है। गुण कहाँ परिणमते हैं? वे तो ध्रुव हैं। यह तो सम्यक्त्व परिणाम... भगवान आत्मा के निश्चयसमकित परिणाम में बाह्य सहकारी कारण... बाह्य सहकारी कारण अर्थात् साथ में हो उसका निमित्त। **वीतरागसर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ...** आहाहा! देखो! यहाँ तो भगवान के कहे हुए के अतिरिक्त किसी ने कहे हुए शास्त्र, वे बाह्य सहकारी निमित्त नहीं होते, ऐसा कहते हैं, लो। यह रचे हैं न? श्वेताम्बरों ने यह जो शास्त्र रचे, वे भगवान के नहीं, वे तो बाद में स्वयं के कल्पित रचे हैं। सूक्ष्म बात है, भाई!

यह कहते हैं, **बाह्य सहकारी कारण वीतरागसर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ...** एक तो यह कहा कि वीतराग परमेश्वर के मुख से निकली हुई वाणी। इसके अतिरिक्त दूसरे अज्ञानियों ने कहा हुआ भगवान के नाम का शास्त्र हो, वह भी निश्चयसमकित में बाह्य सहकारीकारण नहीं होता। ऐसा हुआ न? ऐई! क्या कहा?

मुमुक्षु : प्रसंग में जो हो, वह हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात ऐसी है, भाई! **वीतरागसर्वज्ञ के मुखकमल से...** ॐकार ध्वनि परमात्मा की खिरी, उसमें जो समस्त वस्तु का प्रतिपादन... देखा! वाणी में सब प्रतिपादन पूरा आता है। उसमें ऐसा आता है। 'जो सर्वज्ञ... कहे नहीं सके वह भी श्री भगवान जब।' वह तो एक अपेक्षित बात है और यह दूसरी अपेक्षा से है। यह तो पाँचवें में आता है न? भगवान ने पूरा कहा है। पाँचवीं गाथा में समयसार में आता है। भगवान ने पूरा—सब कहा है। यह पाँचवीं गाथा में आता है। पाँचवीं न?

देखो! यह कैसा है निजवैभव? **इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं का... इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं का प्रकाश करनेवाला...** देखो, सेठी! **इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं का प्रकाश करनेवाला और 'स्यात्' पद की मुद्रावाला जो शब्दब्रह्म**—भगवान की वाणी—**अरिहन्त के परमागम की उपासना से जिसका जन्म हुआ है।** यह हमारे निमित्त तो ... है। सहकारी कारण कहा न? भाई! यहाँ तो दूसरा कहना है। सहकारी कारण तो सिद्ध किया, परन्तु यहाँ, प्रगट समस्त वस्तुओं का प्रकाश करनेवाला है। सब आ गया, भगवान की वाणी में सब पूरा आ जाता है।

यहाँ कहते हैं, **वीतरागसर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ समस्त वस्तु के प्रतिपादन में समर्थ...** देखो! भगवान की वाणी तो सब पदार्थों को बतलाने में, कहने में समर्थ है। **ऐसा द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है।** वह समकिती जीव को बाह्य सहकारीकारणरूप से, निमित्तरूप से होता है। कहो, है या नहीं उसमें यह? आहाहा! अब ऐसी बात है। मुखकमल में से निकली हुई... और ॐ ध्वनि पूरे शरीर में से निकलती है। पंचास्तिकाय में ऐसा कहा है न? .... मुख से परिणमन... ऐसा ही बोले न भाषा? लोगों को (ऐसा है कि) वाणी मुख से निकलती है, (इसलिए) ऐसा कहकर बतलाया है। कैसी शास्त्र की अपेक्षायें हैं! यह द्रव्यश्रुत (रूप) तत्त्वज्ञान है, वह सहकारी निमित्त होता है, ऐसा कहते हैं। समकिती जीव को सम्यग्दर्शन होने में स्व का आश्रय द्रव्य का है, परन्तु बाह्य में सहकारीकारण, भगवान ने कहे हुए जो तत्त्व, उनका जो ज्ञान होता है, उसके लक्ष्य में आवे, वह निमित्तरूप से, बाह्य सहकारीकारणरूप से कहा जाता है। आहाहा! देखो न! एक शैली तो देखो! कहते हैं, यह हुआ अवश्य, परन्तु इसका आश्रय छोड़कर जब आश्रय स्व का किया, तब इसको बाह्य सहकारीरूप से कहा जाता है। समझ में आया? यह तत्त्वज्ञान भगवान का कहा हुआ (अर्थात्) प्रभु की वाणी में निकला हुआ, वही स्वयं बाह्य सहकारीकारण होता है।

जो मुमुक्षु हैं, उन्हें भी उपचार से पदार्थनिर्णय के हेतुपने के कारण (सम्यक्त्वपरिणाम के) अन्तरंग हेतु कहे हैं,... लो। समकित परिणाम प्राप्त करनेवाले के सामने क्षायिक या क्षयोपशमादि समकिती जीव हो। उस जीव को—समकित प्राप्त करनेवाले को अन्तरंग हेतु, उसका अभिप्राय वहाँ पकड़ता है कि क्या है, इतना निमित्त था। और उस वाणी की अपेक्षा उसके अभिप्राय को अन्तरंग हेतु कहने में है। है तो वह बाह्य। समझ में आया? आहाहा! **जो मुमुक्षु हैं, उन्हें भी उपचार से पदार्थनिर्णय के हेतुपने के कारण अन्तरंग हेतु कहे हैं,...** समकित प्राप्त करनेवाले को—निश्चय समकित जहाँ अनुभव हो उसे—अन्तरंग हेतुओं में, (दूसरे) समकिती के भाव—समकिती का अभिप्राय उसे अन्तरंग हेतु कहा गया है। है तो वह बाह्य, परन्तु वाणी की अपेक्षा उस जीव को स्थापित करने में (कार्यकारी है इसलिए) उसके परिणाम को निमित्तरूप से अन्तरंग हेतु कहा गया है। अरे! इसमें भी विवाद। इस जगत को... समझ में आया? वे

कहते हैं कि जो समकित पाता है (उसे) अन्तरंग हेतु दर्शनमोह का क्षयोपशम, क्षायिक हो। पावे उसे। यहाँ कहते हैं कि पावे (ऐसे) उसे कहनेवाले को ऐसा होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु हैं, उन्हें अर्थात् धर्मात्मा को **भी उपचार से पदार्थनिर्णय के हेतुपने के कारण अन्तरंग हेतु कहे हैं,...** उस समकिती जीव को, वह (दूसरा) समकिती जीव है, उसे यहाँ अन्तरंग हेतु कहा जाता है। **क्योंकि उन्हें दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं।** लो। किसे? कहनेवाले उपदेशक को। उसे समकित में दर्शनमोह का क्षय है या उपशम है, क्षयोपशम है। इसलिए उसके आत्मा को—इन तीनों के परिणाम को समकित प्राप्त करनेवाले के अन्तरंग हेतु और वाणी को बहिरंग हेतु (कहा है)। आहाहा! धीरे-धीरे समझे तो उसे ऐसी बात है... कभी इसे कान में न पड़ी हो कि क्या कहते हैं यह? लो, वह तो व्यवहार की बात की। वह बाह्य निमित्त, वह व्यवहार हुआ न भाई! अनदर में व्यवहारदर्शन, व्यवहारज्ञान और व्यवहारचारित्र कहा और निश्चयसमकित में यह एक निमित्त बाह्य होता है। ऐसा व्यवहारनिमित्त होता है, यह सिद्ध किया। अब निश्चय की बात करेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल ५, रविवार, दिनांक - २७-६-१९७१
गाथा-५१ से ५५, श्लोक-७५, प्रवचन-५२

यह आकृति, रंग इत्यादि शरीर की जड़ की विभूति है। शरीर की कोमलता, सुन्दरता, वह सब उसकी विभूति है। जगत उस विभूति में मोहित हो गया है। बाह्य की पैसा आदि की विभूति या लक्ष्मी की और क्या कहलाये घर के फर्नीचर और यह सब? फर्नीचर। वह विभूति, वह तो जड़विभूति है। वह अज्ञान में आकर्षण करनेवाली है। आत्मा की विभूति है, वह तो ज्ञान में आकर्षण करनेवाली है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? .... आहाहा! इस शरीर के ऐसे सब अवयव और आकृतियों को देखकर जगत ललचाता है। मोह की मदिरा... मोहरूपी (मदिरा) पी है, इसलिए यह बाहर की विभूति में ऐसी श्रद्धा करता है यह कि यह है... यह है, ऐसा। धर्मीजीव को श्रद्धा अन्तर ज्ञायकस्वरूप भगवान महाविभूति से भरपूर... आहाहा! आता है न कहीं? विभूति भूति सम तजकर। किसमें आता है? सज्झाय में? स्तवन में कहीं आता है। 'विभूति भूति सम भस्म...' आता है, कहीं आता है। शब्द जरा याद रह गया कहीं। मार्मिक शब्द है न? बाहर की विभूति, वह तो भस्म—राख जैसी विभूति है। कहो, कान्तिभाई! तुम्हारे लकड़ी-बकड़ी के शृंगार करे न? ऐसे व्यवस्थित करे कुर्सियाँ, वह सब श्मशान की विभूतिर्या हैं।

भगवान आत्मा, आहाहा! जगत की पूरी विभूति से भिन्न चीज़, वह उसकी विभूति है। यह तो कहते हैं, **टंकोत्कीर्ण ज्ञायक जिसका एक स्वभाव है...** देखो! अब यह भाषा। ऐसा देखो अनघडघट वस्तु अनादि... वस्तु है या नहीं? जैसे यह बाह्य का वर्णन किया, वैसे यह कोई चीज़ है या नहीं? अहो! ऐसा भगवान आत्मा टंकोत्कीर्ण अर्थात् ऐसा का ऐसा अनादि से ज्ञायक—जाननस्वभाव... मुख्यता वर्णन करनी है न? जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान आदि विभूति से भगवान आत्मा स्वयं शोभित है, ऐसा जिसका स्वभाव है, ऐसा निज परमतत्त्व... भगवान का—परमात्मा का नहीं यहाँ। निज परमतत्त्व... कहो, समझ में आया? भगवान आत्मा...

अभेद रत्नत्रय परिणतिवाले जीव को क्या होता है, यह बात है। उसकी भेदरत्नत्रय

की बात पहले की व्यवहार की। शैली ऐसी है कि पहले व्यवहार वर्णन किया, परन्तु उसका निषेध करनेवाला होता है तो उस व्यवहार को व्यवहार कहने में आता है। कहते हैं, भगवान आत्मा का सम्यग्दर्शन अर्थात् **निज परमतत्त्व की...** निज परमतत्त्व—परमभाव—परमस्वभाव ऐसा जो भगवान आत्मा, उसकी **श्रद्धा द्वारा...** उसकी श्रद्धा द्वारा, वह सम्यग्दर्शन। उस निश्चयरत्नत्रय में यह अवयव, वह निश्चय सम्यग्दर्शन। समझ में आया?

परमतत्त्व **निज परमतत्त्व की श्रद्धा...** उसमें भगवान और देव-गुरु-शास्त्र, वह तो परतत्त्व हो गये। उसकी श्रद्धा, वह तो विकल्पवाली व्यवहार श्रद्धा है। ऐसा हो उसे वह होता है, परन्तु वह मूल स्वभाव नहीं। इसलिए कहते हैं भगवान ज्ञायक वस्तु है... वह बाहर की पर्याय की विभूति दिखती है, वह पर्याय भी द्रव्य की अवस्था है न? इसी प्रकार यहाँ श्रद्धा में वस्तु जो है त्रिकाली अस्ति, वह उसे प्रतीति में आती है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? अपनी सम्यग्दर्शन पर्याय में वह निजपरमतत्त्व ज्ञायकभाव श्रद्धा में आता है, उसे यहाँ निश्चयसम्यग्दर्शन अर्थात् कि सच्चा दर्शन उसे कहते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया? आता है न मोक्षमार्गप्रकाशक में? यह लोग कहते हैं न कि '**अरिहंतो महादेवो जावज्जीवं सुसाहणो गुरुणो... तत्त् गहियं...**' नहीं आता? '**ए सम्मत्तं...**' जाओ। वह समकित नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। वह तो व्यवहार से, परन्तु जिसे निश्चय हो तो। जहाँ निश्चय नहीं, उसे व्यवहार होता ही नहीं। वह तो व्यवहाराभास है।

यहाँ कहते हैं, भगवान आत्मा जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द की महाशोभा भरी है, विभूति भरी है। अनन्त अतीन्द्रिय ज्ञान का सत्त्व वह है। अहो! जो महाश्रद्धा, पर्याय की नहीं परन्तु श्रद्धा ऐसा जो गुण, उसके स्वभाव से भरपूर भगवान पूर्ण है, इसी तरह चारित्र अर्थात् वीतरागता के भाव से भरपूर पूर्ण है। उसकी जो श्रद्धा द्वारा... यहाँ तो कहना है कि उसके द्वारा **अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है।** उस व्यवहार में यह नहीं लिया था, भाई! व्यवहार में सिद्ध होता है, ऐसा नहीं, (परन्तु) अस्ति है, ऐसा बतलाया कि अस्ति है। निश्चय जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है, वहाँ व्यवहारदर्शन-ज्ञान-चारित्र आरोपित एक चीज़ विकल्प में साथ में होती है, बस इतना। उससे मुक्ति होती है, ऐसा वहाँ नहीं लिया। समझ में आया?

मुमुक्षु : सिद्धि के परम्परा हेतु....

पूज्य गुरुदेवश्री : बस हो गया। इसका अर्थ कि वह सिद्धि का सीधा हेतु नहीं हुआ। वह तो आरोपित बात हुई। उन्होंने निकाला, और 'परम्परा से' कहा है न? ऐसा कहते हैं। है न प्रवचनसार। इसका अर्थ यह कि अभूतपूर्व सिद्धि उसके द्वारा प्राप्त होती है, ऐसा नहीं कहा वहाँ। परम्परा से अर्थात् वह है, उसका अभाव करके होगा, ऐसा। यह सब विवाद आते हैं न। 'परम्परा' बहुत जगह आता है। तीर्थंकरप्रकृति परम्परा से मोक्ष का कारण है, ऐसा आता है, लो! प्रकृति जड़, जड़ अजीव। वह सब कथनी व्यवहारनय की ऐसी होती है कि जाननेयोग्य है। अब कहते हैं, ज्ञान... उसमें (व्यवहार) ज्ञान में दूसरा था। संशय, विमोह, विभ्रमरहित ज्ञान, वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान। उस (व्यवहार) श्रद्धा में यह था कि पंच परमेष्ठी के प्रति निश्चल भक्तियुक्त समकित। वह है विकल्प—राग।

तद्ज्ञानमात्र (उस निज परमतत्त्व के ज्ञानमात्रस्वरूप) ऐसे अन्तर्मुख परमबोध द्वारा... आहाहा! भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान, जिसकी विभूति के समक्ष सिद्ध की पर्याय भी अनन्तवें भाग में गिनती में आती है। समझ में आया? ऐसे **तद्ज्ञानमात्र...** अर्थात् **उस निजपरमतत्त्व के ज्ञानमात्रस्वरूप...** देखो! शास्त्र का या भगवान का, वह ज्ञान नहीं। निज परमतत्त्वरूप से अविचलरूप से... निज परमतत्त्व के ज्ञानमात्रस्वरूप... ज्ञायकभाव पूर्णानन्दस्वरूप का ज्ञान, ऐसा कहते हैं। उसका नाम आत्मज्ञान। 'स्वयं भगवान आनन्द और ज्ञायकस्वरूप' ऐसा भाव, उसका ज्ञान... उसका ज्ञान। नव तत्त्व का या देव-गुरु का, उसकी बात यहाँ है नहीं। आहाहा! इसका नाम सम्यग्ज्ञान। इसके द्वारा अभूत सिद्ध को प्राप्त करता है। **अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है।** ऐसा कहना है। इसके द्वारा होती है।

मुमुक्षु : व्यवहार द्वारा होती है, ऐसा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ...होती है, ऐसा नहीं कुछ। परन्तु 'परम्परा से' निकाला न भाई ने?

मुमुक्षु : परम्परा से नहीं होता, ऐसा ही होता है। दूर जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसमें लिखा हुआ है न? 'परम्परा से' कहा, वह बराबर है। परम्परा अर्थात् उससे होता नहीं, परन्तु उसका अभाव करके होता है। साक्षात् कारण तो यह है। आहाहा!

तद्ज्ञानमात्र (उस निज परमतत्त्व के ज्ञानमात्रस्वरूप)... ज्ञान, उसका तद्ज्ञानमात्र, ऐसा। उसका ही ज्ञानमात्र, ऐसा। आत्मा का ही ज्ञान। आहाहा! यह देखो न! बाहर में पढ़-पढ़कर हैरान होते हैं न सब। मेट्रिक, एल.एल.बी. और एम.ए. वह सब अज्ञान है, कहते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि शास्त्र का पठन भी व्यवहार है, जिसे निश्चय हो तो उसे। आहाहा! और बन्ध का कारण है। उसके द्वारा... सिद्धपद पर्याय प्राप्त होती है, ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? क्यों हिम्मतभाई नहीं आये? दोपहर में, ठीक। **तद्ज्ञानमात्र...** तद्ज्ञान अर्थात्? वापस तद्ज्ञानमात्र, ऐसा। वह आत्मा का ही ज्ञानमात्र ऐसा, दूसरा कुछ नहीं। समझ में आया? अकेला भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभावी प्रभु का ज्ञानमात्र, उसका ज्ञानमात्र अर्थात् दूसरा नहीं, ऐसा। व्यवहार ज्ञान-फान नहीं, ऐसा। आहाहा! समझ में आया?

ऐसे अन्तर्मुख परमबोध द्वारा... भगवान आत्मा वस्तु है, वह अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान के स्वभाव से भरपूर महाविभूति प्रभु की है। **ऐसे अन्तर्मुख परमबोध...** ऐसे का अन्तर्मुख होकर परम बोध होना, बहिर्मुख का बोध नहीं, परन्तु इस अन्तर्मुख का परमबोध। गजब टीका परन्तु यह! अन्तरवस्तु है या नहीं आत्मा? यह सब है, उसे माने, शरीर है, यह है, यह है। आहाहा! खाने-पीने के साधन सब किये हों, २५-५० प्रकार की... यह नहीं करते? क्या कहलाता है? विष्णु में चढ़ाते हैं न? अन्नकोट। अन्न का कोट—अन्न का ढ़ेर। आहाहा! अलग-अलग प्रकार की बर्फी, मौसम्बी, ढींकणा, फींकणा कितनी ही चीज़ें होती है। उसमें वह ललचा जाये... वाह! परन्तु यह अन्दर में अनन्त-अनन्त आनन्दादि का स्वभाव पाट अन्दर पड़ा है। वह, क्या कहा? अन्नकूट। अन्नकूट के दर्शन करने आओ। और ऐसा कहते हैं, लो। कहते हैं या नहीं? ऐई! यह तो अन्नकूट वह आनन्दकोट भरा है भगवान अन्दर। उसके दर्शन करने जा, वहाँ कुछ है। बाहर में धूल भी कुछ है नहीं। आहाहा! कहो, जयन्तीभाई! अन्न भरते हैं न सब?

कहते हैं, ओहो! **अन्तर्मुख परमबोध द्वारा....** परमबोध इसका नाम। वह तत्त्व

की श्रद्धा, 'परम तत्त्व की श्रद्धा द्वारा' (ऐसा) था। परमतत्त्व वस्तु की श्रद्धा में 'परम' नहीं डाला। यहाँ, **अन्तर्मुख परमबोध द्वारा...** आहाहा! जो ज्ञान की दशा अन्तर के स्वभाव को स्पर्श कर प्रगट हुई है, समझ में आया? उसके द्वारा पूर्व में कभी नहीं हुई, ऐसी अभूतपूर्व सिद्धपर्याय... 'पर्याय कैसा' ऐसा है न यहाँ? यहाँ, 'पर्याय कैसी' ऐसा नहीं, परन्तु 'पर्याय कैसा'। ऐसी पर्याय प्राप्त होती है। परम तत्त्व की श्रद्धा द्वारा और परम तत्त्व के तद्ज्ञानमात्र द्वारा अन्तर्मुख परम बोध द्वारा सिद्धपद की पर्याय प्राप्त होती है। आहाहा! कहो, समझ में आया?

तीसरा। **अन्तर्मुख परमबोध द्वारा...** वह ज्ञान... ज्ञान की बाहर की बातें करे न? यहाँ तो अन्तर्मुख भगवान आत्मा, अस्ति सत्ता भगवान चैतन्यज्योति, अतीन्द्रिय आनन्द का रसबोल भगवान स्वयं स्वरूप, उसका अन्तर्मुख होकर परम बोध होना, वह ज्ञान। वह ज्ञान मुक्ति का कारण है। कहो, समझ में आया? यह सब बाहर का जानपना और अकेले भान बिना का, अन्तर के भान बिना के बाहर के जानेपने का अभिमान। हम ऐसा जानते हैं और हमको ऐसी खबर है और हमें यह खबर है और इस पुस्तक में यह लिखा है, यह पूछा है—यह सब व्यर्थ है। आहाहा!

बाहर का ज्ञान तो बन्ध का कारण है, ऐसा कहते हैं। यह निश्चयसहित हो तो भी बन्ध का कारण है। उसे, निश्चय नहीं उसे तो कुछ गिनती में (नहीं)। क्या कहा यह और? अन्तर परम बोध के भान बिना अकेला शास्त्र का पठन आदि का ज्ञान तो बन्ध का कारण है ही, परन्तु निश्चय के भान सहितवाला शास्त्रज्ञान हो, वह भी बन्ध का ही कारण है। सिद्ध की पर्याय का कारण... यह तो ऐसा लिया न भाई! सिद्धपर्याय का यह कारण है, तो वह बन्ध का कारण है। सिद्धपर्याय का कारण नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया?

अब तीसरी चारित्र की व्याख्या। **और उसरूप से...** उसमें 'तद्ज्ञानमात्र' था, पहले में एक ऐसा 'निज परमतत्त्व की श्रद्धा द्वारा', उसमें 'अन्तर्मुख परमबोध द्वारा तद्ज्ञानमात्र' (ऐसा) था, अब **उसरूप (अर्थात् निज परमतत्त्वरूप से) अविचलपने...** महा भगवान आनन्द का धाम प्रभु, उसमें न चलित हो, ऐसी स्थिरता होना, वह चारित्र

है। पंच महाव्रत के परिणाम, वह चारित्र नहीं, वह अचारित्र है। जिसे ऐसा निश्चयचारित्र हो, उसे व्यवहारचारित्र का आरोप कहने में आता है, परन्तु वह बन्ध का कारण है। आहाहा! पराश्रयभाव, पराश्रयश्रद्धा, पराश्रयज्ञान और पराश्रय का वर्तन—सब बन्ध का कारण है। उसे यहाँ व्यवहाररत्नत्रयरूप से बतलाया है। **उसरूप से...** अर्थात् निज परमतत्त्व भगवान आत्मा...

सम्यग्दर्शन में आत्मा की जवानी है, मिथ्यात्व में आत्मा का बालपन है और चारित्रदशा में परिपाक वृद्ध हो गया, पक गया वह। मोक्ष के लिये पाक की तैयारी हो गयी। जैसे वह वृद्ध हुआ, वह मरने की तैयारी में है। मिथ्यात्वभाव में वह बालरूप से मूर्खरूप से जीवन है; सम्यग्दर्शन में आत्मा की जवानी का जीवन है और चारित्र में तो पाक हो गया—वृद्ध हो गया, पुष्टि हो गयी, पूरी जितनी शक्ति से है, उसकी प्रगटता की पुष्टि हो गयी। आहाहा! अब मोक्ष की तैयारी है। इस वृद्ध को मरने की तैयारी है। मोक्षतत्त्व... आहाहा! इसलिए चारित्र को मोक्ष का मुख्य कारण कहा न, पंचास्तिकाय में पीछे। चारित्र मोक्ष का कारण... सच्ची बात है। ...बराबर... ओहोहो! स्वरूप में स्थिरता की जमावट जहाँ जमी आनन्द में, आहाहा! उनकी दशा वृद्ध हो गयी अब। वृद्ध हो गयी—पुष्टि हो गयी—पक्की उम्र हो गयी केवलज्ञान लेने के लिये। आहाहा! शरीर की जवानी, वह श्मशान की राख है। आहाहा!

सन्ध्या के रंग के पीछे अन्धकार है। सन्ध्या का रंग दिखायी दे, ऐसा दिखायी दे, ऐसा ओहोहो! जहाँ घड़ी हो, वहाँ एकदम अन्धेरा। इसी प्रकार यह जगत की विभूति है, आहाहा! ललचाकर ऐसे, मानो यही वस्तु जगत में है। मोह में मोह मरण निपजाता है। मोह से जीव को मरण होता है, ऐसा कहते हैं। यह जहाँ स्वरूप की दृष्टि और ज्ञान हुआ, तदुपरान्त **अविचलरूप से स्थित...** अविचलरूप से—चलित नहीं, ऐसी स्वरूप में स्थिर... स्थिर... स्थिर... **होनेरूप सहजचारित्र द्वारा...** लो। 'सहज' शब्द प्रयोग किया है, परन्तु है पर्याय। प्रयोग होता है न, पर्याय में प्रयोग होता है। स्वाभाविक चारित्र... स्वाभाविक चारित्र, ऐसा कहना है। महाव्रत का विकल्प, वह विभाविक है। समझ में आया?

भाई! ऐसा सूक्ष्म बहुत... यह मार्ग। अरे! चौरासी के अवतार, विविध प्रकार के

दु:ख, विविध प्रकार के शरीर के आकार, गधे के... आहाहा! सडे हुए कुत्ते देखो न! कीड़े पड़े ऐसे पाँच सौ-पाँच सौ। कहीं बैठने न दे। उसे बैठने का मन भी हो परन्तु बैठने दे नहीं। कीड़े पड़े। यह भवों की दशा देखे तो खबर पड़े (कि) उसमें कितना सुख था। यहाँ तो कहते हैं, भगवान आत्मा में स्थिरता, वह आनन्द है—ऐसा कहते हैं। उस **अविचलरूप से स्थित होनेरूप सहजचारित्र द्वारा...** तीनों हो गये। निज परमतत्त्व की श्रद्धा द्वारा, अन्तर्मुख परमबोध द्वारा और अविचलरूप से स्थित होनेरूप चारित्र द्वारा—तीनों आ गये। वह मोक्ष का मार्ग यह।

अभूतपूर्व सिद्धपर्याय होती है। पूर्व में कभी नहीं हुई। आहाहा! सिद्ध हुआ हो, वह भी पहला... हो गया। आहाहा! पूर्व में नहीं हुई थी सिद्धपर्याय... पूर्णानन्द की अवस्था, पूर्ण ज्ञान की अवस्था, पूर्ण शान्ति की, स्वच्छता की, वीतरागता की, प्रभुता की—ऐसी जो अवस्था। वह तीन द्वारा नहीं हुई, वह होती है—ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें? यह ... निश्चय की बातें एक ओर रह गयीं। रह गया अकेला थोथा का व्यवहार। कान्तिभाई! यह माल था, वह रह गया। बारदान... बारदान की गिनती की। बारदान की कीमत बढ़ गयी अभी तो। बात सच्ची है। पहले तीन आना का था, अब रुपया हुआ, दो-दो रुपये का कहते हैं वह बारदान। खाली थैली खाली... बारदान नया। पहले तीन आना का था, अब कुछ रुपया हुआ, दो रुपये का नहीं? तीन रुपये, लो, ठीक! तीन के तीन। वह हो। सोलह गुना हुआ न? तीन आना का बारदान था अच्छा नया। हमारी दुकान में बहुत इकट्ठे हों। सौ-सौ खाली बोरियाँ इकट्ठी हों, फिर एक साथ कोई बड़ा व्यापारी लेने आवे... बोरियाँ खाली सौ-सौ, दो सौ-दो सौ वह खाली... तीन आना देते, लो। तीन के तेरह। वह सोलहगुने तीन रुपये हो गये।

इसकी (आत्मा की) कुछ कीमत नहीं? यहाँ तो उसका भाव जो है, वह है अनादि का और उसकी श्रद्धा और ज्ञान का भाव भी जो है, वह है। कहो, समझ में आया? यह तो एक बार पूछा नहीं था? सोना का भाव क्या है? सब विचार करने लगे। कोई कहे डेढ़ सौ, कोई कहे दो सौ। परन्तु हमारे क्या काम है? यह पूछता होऊँगा? सोना का भाव क्या है, यह पूछता होऊँगा यहाँ? सोना का भाव उसे कहते हैं कि जो एकरूप अत्यन्त रंग, गन्ध, रस, स्पर्श भाव रहे, वह सोना का भाव होता है। यह तो

तुम्हारा कल्पित भाव है। पच्चीस रुपये का तोला था पहले, नहीं? चौबीस रुपये का। बारह का आधा तोला, चौबीस का तोला था, पहले, साठ वर्ष पहले। कितने हुए अब? दो सौ, सवा दो सौ। गिनना है वह भाव कहलाये? भाव तो एकरूप त्रिकाल (होता है) उसे भाव कहा जाता है। सोना का भाव? सवा दो सौ, वह भाव कहलाये? ऐ नटुभाई! उसका भाव तो एकरूप रंग, गन्ध, रूप, स्पर्श। इसी प्रकार आत्मा का भाव ज्ञान, दर्शन, आनन्दादि गुण एकरूप सदृश त्रिकाल रहे, वह उसका भाव है। आहाहा! ऐसे भाव की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता, उससे सिद्धपद की पर्याय प्रगट होती है, लो।

जो परम जिनयोगीश्वर... देखा! परम जिनयोगीश्वर तो है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि है, तीन कषाय का अभाव भी है। परन्तु छठवें गुणस्थान की व्याख्या पहले करते हैं। परम जिन... पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय के चारित्र में होता है अर्थात् कि निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान और तीन कषाय का अभाव है ही, परन्तु छठवें गुणस्थान में **पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं,...** समझ में आया? **पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप...** छठवें गुणस्थान की बात है। 'सास्रवी' कहा है उसे? सास्रवी तो उसे शुभभाव की मुख्यता से उसे आस्रव कहा है, वरना तो संयम बहुत है। आस्रव टला नहीं, जितना एकाकार होना चाहिए (उतना हुआ नहीं), उसे सातवीं भूमिका में संवर है, ऐसा (होने पर भी) यहाँ सास्रवी कहा। अकेला आस्रव है?

शास्त्र में ऐसा कहा, भाई! छठवें गुणस्थान में ऐसा कि सास्रवी है, लो। सास्रवी है वह? किस अपेक्षा से कहा? जितना आस्रव-विकल्प है, उतना टला नहीं, उसकी अपेक्षा से उसे आस्रव कहा। यहाँ संवर तो बहुत है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय है, छठवें में संवर तो है, परन्तु तदुपरान्त राग है, उसे आस्रव गिनकर, राग का अभाव हो तब संवर है, ऐसा वहाँ कहते हैं। समझ में आया? बहुत बात... एक-एक बात सूक्ष्म लगे लोगों को। ऐसा शुभभाव... यह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। वस्तु किसे कहते हैं?

मुमुक्षु : यह न समझे तो क्या बाधा?

पूज्य गुरुदेवश्री : न समझे तो कुछ नहीं, भटके चार गति में। जयन्तीभाई!

अनादि काल से नहीं समझा तो ऐसा का ऐसा रहे। न समझे तो हो गया। गति जो चार है, उसमें भटके। आहाहा! निगोद में से निकला और वापस... निगोद में जाये रहने का स्थान। आहाहा! यह हो सिद्ध। निश्चयमोक्षमार्ग हो, वह सिद्ध होता है; यह न समझे और न पहिचाने, वह निगोद होता है। ओहोहो! मूल मातृस्थान तो वह है। आहाहा!

परम जिनयोगीश्वर... पहले... परन्तु परम जिनयोगीश्वर न? मिथ्यादृष्टि को सीधे... उसे पहले... पहले का अर्थ यह कि छठवें गुणस्थान की भूमिका में। नहीं तो सातवाँ आता है पहले तो ध्यान में। मुख्यता वह गिनी, वापस वहाँ ले जाना है न छठवें में, इसलिए यहाँ... ओहोहो! **परम जिनयोगीश्वर...** परम वीतरागता के योग में जुड़ा हुआ ऐसा योगीश्वर है, परन्तु उसे सातवीं भूमिका जो गुणस्थान चाहिए चारित्र का, वह नहीं है; इसलिए उसे छठवें गुणस्थान में पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारचारित्र उसके चारित्र में होता है, उसे व्यवहारचारित्र कहा है। समझ में आया? वे तो कहते हैं कि पहले व्यवहारचारित्र होता है और फिर उससे निश्चय होता है। होता है, उसे छठवें गुणस्थान में पंच महाव्रत के परिणाम। सातवें की अपेक्षा से 'पहले' उसे कहा, ऐसा।

परमजिनयोगीश्वर पहले पापक्रिया से निवृत्तिरूप व्यवहारनय के चारित्र में होते हैं,... २८ मूलगुण मुनि के छठवें गुणस्थान में... निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान और तीन कषाय की अभाव की परिणतिवाला है, इससे उसे जिन परम योगीश्वर (कहा)। उसे, यहाँ छठवें गुणस्थान में सावद्ययोग अर्थात् पाप की निवृत्ति के परिणाम होते हैं, उसे वास्तव में व्यवहारनयगोचर मुनिपना होता है, ऐसा कहते हैं। वह व्यवहारमुनि कहलाता है, राग की अपेक्षा से। इतना राग है न? यहाँ वीतरागता... वीतरागता वह चारित्र, वीतरागता वह मुनि(पना) है, ऐसा सिद्ध करना है। वीतरागमार्ग है। वीतरागपना है, वह चारित्र और वह मुनिपना है। यह वीतरागता तीन (कषाय के अभाव) की हुई, तथापि इतना राग है, इस अपेक्षा से उसे व्यवहार मुनिपना कहा जाता है। तीन का त्याग है। तीन कषाय का त्याग है, परन्तु यह राग है न? यह संज्वलन का राग है, उसकी मुख्यता के कारण आस्रव कहा है। उसे व्यवहारनय का चारित्र और तपस्या... व्यवहारनय के चारित्रवाले को व्यवहार मुनिपना कहा जाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञानरहित की यहाँ बात नहीं है। सहित है, परन्तु राग का भाग पड़ा है.... उसे आता है न प्रवचनसार में? बीच

में आता है उसे उल्लंघ जाता है। भाई! प्रवचनसार। उसे मूल वहाँ सिद्ध यह करना है। स्वरूप... हेय चारित्र, ऐसा कहा है न? व्यवहारचारित्र हेय है, निश्चय वह उपादेय है। वह राग आया, वह हेय है, फिर (उससे वापस) मुड़ेगा... यह उपादेय है ऐसा।

वास्तव में पापक्रिया से निवृत्ति ऐसे व्यवहारचारित्रवाले को... व्यवहार मुनि या व्यवहार तपस्या। व्यवहार तपस्या अर्थात् पुण्यबन्ध का कारण। परन्तु समकिती को—ज्ञानी को होती है, उसके लिये यह बात है। और **उसे वास्तव में...** आया। **सहज निश्चयनयात्मक...** अब वस्तु। **परमस्वभावस्वरूप...** लो, स्वाभाविक निश्चयस्वरूप, परमस्वभावस्वरूप। लो, **परमात्मा में प्रतपन...** परमात्मा अपना आत्मा प्र-तपन—उग्ररूप से आत्मा की... जैसे सोने को गेरुं लगाने से सोना ओपता और शोभता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की दशा से जो शोभता है, वह प्र-तपनं—विशेष तपनं—उग्र आनन्द की दशा जगती है, वह निश्चय तप है। समझ में आया? सहज निश्चयनयस्वरूप '**सहजनिश्चयात्मकपरमस्वभावात्मकपरमात्म**' वहाँ भी वापस दोनों में आत्मा तो कहा। सहज निश्चयस्वरूप, परमस्वभावस्वरूप... फिर वहाँ स्पष्टीकरण किया। आत्मा का स्वरूप (कहकर) स्पष्टीकरण किया है। हैं दोनों शब्द पाठ में। '**सहजनिश्चयात्मकपरमस्वभावात्मकपरमात्मनि प्रतपनं तपः**' आहाहा!

भगवान आत्मा स्वाभाविक निश्चयनयस्वरूप, परमस्वभावस्वरूप उत्कृष्ट, ऐसा जो प्रभु ऐसा परमात्मा, ऐसा। ऐसा स्वरूप ऐसा जो परमात्मा, वह अपना परमात्मा। सहज निश्चयस्वरूप परमस्वभावस्वरूप ऐसा परमात्मा अपना... देखो! यहाँ परमात्मा, ध्रुवस्वरूप को परमात्मा कहा। आहाहा! परमात्मा न हो तो परमात्मा पर्याय में होगा कहाँ से? समझ में आया? वीतरागभाव न हो तो वीतरागपर्याय आयेगी कहाँ से? स्वयं परमात्मस्वरूप ही है। त्रिकाल भगवान परमात्मा है, ऐसे परमात्मा में प्रतपन (अर्थात्) उसमें स्थिर होना, उसमें उग्ररूप से आनन्द की दशा से तपना अर्थात् प्रगट करना, इसका नाम तप। लो, यह तप।

निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप सहज निश्चयचारित्र... ऐसा मुनिपने से होता है, ऐसा कहते हैं। सच्चा चारित्र ऐसे निश्चयतपवाले को होता है। **निज स्वरूप में अविचल स्थितिरूप...** आहाहा! शब्द-शब्द में... **निज स्वरूप में अविचल स्थिति...**

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के सुस्वभाव में स्थिर स्थिति वहाँ हो गयी है। **सहज निश्चयचारित्र...** लो। ऐसे परमात्मा के प्रतपन से ऐसा तप होता है। ऐसा चारित्र उसे होता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह निश्चय का वर्णन। पहला व्यवहार का किया था, पश्चात् यह निश्चय का किया। कहो, प्रवीणभाई! कठिन एक-एक शब्द भारी पड़े ऐसे। शब्द भारी पड़े? वस्तु ऐसी है। आहाहा!

इसी प्रकार एकत्वसप्तति में (श्री पद्मनन्दि-आचार्यदेवकृत पद्मनन्दिपंच-विंशतिका नामक शास्त्र में एकत्वसप्तति नाम के अधिकार में १४वें श्लोक द्वारा) कहा है कि— लो, स्वयं आधार देते हैं। '**दर्शनं निश्चयः पुंसि**' पुंसि अर्थात् पुरुष को अर्थात् आत्मा को।

दर्शनं निश्चयः पुन्सि बोधस्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः॥

तीन का योग, वह शिव का—मुक्ति का कारण है।

श्लोकार्थः—आत्मा का निश्चय, वह दर्शन है,... यह '**पुंसि**' अर्थात् पुरुष, पुरुष अर्थात् आत्मा। आत्मा का निश्चय, वह दर्शन, लो। दूसरी ओर यह कहते हैं। भगवान पूर्णानन्दस्वरूप निर्विकल्प चैतन्य की डली पूरी, उसकी अन्तर प्रतीति, वह निश्चयदर्शन है, उसका नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है। **आत्मा का बोध, वह ज्ञान है,...** लो। आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान है, ऐसा। बोध अर्थात् आत्मा। अकेला ज्ञानस्वरूप का ज्ञान—उसका ज्ञान, वह ज्ञान है। **आत्मा में ही स्थिति, वह चारित्र है...** स्वरूपानन्द प्रभु आत्मा में रमणता का नाम चारित्र है। आहाहा! अब यह सब निश्चय, परन्तु उसका साधन होगा या नहीं? ऐसा लोग कहते हैं। स्वयं ही मोक्ष का साधन है यह पर्याय। और साधन नाम का गुण है अन्दर में, उससे परिणमकर यह दशा होती है। ऐसा व्यवहार से परिणमता है, इसलिए यह दशा होती है, ऐसा नहीं। आहाहा! अभी उसने व्यवहार भी सुना न हो और वहाँ ऐसे निश्चय... क्या होगी यह चीज़?

आत्मा में ही... शब्द है वापस। है न? '**स्थितिरत्रैव**' ऐसा है न? '**स्थितिरत्रैव**' भगवान आत्मा, वह तो ज्ञान-आनन्द का समुद्र, उसमें स्थिति होना, उसकी रमणता ही चारित्र है। वह पंच महाव्रत के परिणाम चारित्र नहीं, ऐसा कहते हैं। **ऐसा योग (अर्थात्**

इन तीनों की एकता) शिवपद का कारण है। यह मोक्ष के पद का—शिवपद अर्थात् मोक्ष का—यह कारण है। एक गाथा में बहुत संक्षिप्त। भाषा संक्षिप्त। एकत्वसप्तति का है न यह? एकत्वसप्तति। १४वें श्लोक द्वारा। **ऐसा योग...** ऐसा जो अन्तर में तीन के परिणमन का व्यापार, वह मुक्ति का कारण है।

श्रीमद् में गये थे न, तब मुक्ति की बात आयी, तब फिर रात्रि में एक मारवाड़ी ने (पूछा), यह सब ठीक, परन्तु इसका साधन क्या? ऐसा कि यह भक्ति करना, यह अमुक करना, ऐसा। सब भक्ति करना, विनय करना, बहुमान करना, उसकी पूजा करना, उसके दीपक करना। उसका कुछ साधन है या नहीं? नहीं। लोगों को कठोर लगता है।

यह तो भक्ति से... वह भाई कहता था न? मनसुखभाई का पुत्र धीरु चश्मावाला। ऐसा, महाराज कहते हैं कि ऐसा ... करना। लल्लुजी महाराज तो ऐसा कहते थे कि भक्ति से मुक्ति होती है। यह भगवान की भक्ति, देव-गुरु की प्रभु की भक्ति करोगे, तुम विश्वास करोगे, गुरु का विश्वास करेगो तो मुक्ति होगी। यहाँ कहते हैं कि तीन लोक के नाथ का विश्वास कर तो भी बन्ध होगा, राग है। साक्षात् तीर्थंकर समवसरण में विराजते हों केवलज्ञानीरूप से, सुननेवाले को विश्वास है कि यह भगवान सर्वज्ञ हैं। ऐसा विश्वास भी राग है, पराश्रयभाव है, वह बन्ध का कारण है, मुक्ति का कारण नहीं। ... गजब... कहो, जयन्तीभाई! ऐसा (कहोगे) तो फिर सब लोप हो जायेगा, कोई करेगा नहीं। बीच में राग आवे, पूर्ण न हो तब तक। आवे वह अलग बात है, परन्तु है वह बन्ध का कारण। हेय है। हेय को यहाँ व्यवहाररूप से साबित किया है। 'है' इतनी बात है।

और (इस शुद्धभाव अधिकार की अन्तिम पाँच गाथाओं की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं) — लो।

जयति सहज-बोधस्तादृशी दृष्टिरेषा,
चरणमपि विशुद्धं तद्विधं चैव नित्यम्।
अघकुलमलपङ्कानीकनिर्मुक्तमूर्तिः,
सहजपरमतत्त्वे सन्स्थिता चेतना च॥७५॥

श्लोकार्थः—सहजज्ञान सदा जयवन्त है,... त्रिकाल सहजज्ञान जयवन्त है,

ऐसा परिणति स्वीकार करती है। समझ में आया? सहजज्ञान सदा जयवन्त है। परन्तु 'जयवन्त है', यह कौन कहता है, मानता है, जानता है? परिणति। निर्मल परिणति (मानती है कि) यह सहजज्ञान—स्वाभाविकज्ञान, ध्रुवज्ञान सदा जयवन्त है। जिस जयवन्त के आश्रय से परिणति प्रगट हुई, वह परिणति 'यह वस्तु जयवन्त है' ऐसा स्वीकार करती है। समझ में आया? **वैसी (सहज) यह दृष्टि सदा जयवन्त है,...** लो। पर्याय में दृष्टि प्रगट हुई है... लड़कों! क्या है? यहाँ बातें होती हैं? कहा मानते नहीं? उठाओ इन्हें, बाहर निकालो। यहाँ सुनने आये हैं या बातें करने आये हैं? इसका कुछ नहीं बड़ा? अरे! कुछ सुनना चाहिए न! न समझ में आये तो (भी) कुछ है... कुछ है... ऐसा सुनना चाहिए। यहाँ बातें की जाती हैं? बातों (के लिये) तो तुम्हारे यहाँ बहुत समय है। न समझ में आये तो क्या करना? कुछ कहते हैं... कुछ कहते हैं, ऐसा तो ख्याल रखना। इसे इसके आत्मा की अन्दर की, आत्मा की बात है यह तो। तेरे घर की अन्दर की बात है। घर में ऐसा तत्त्व है, उसकी तुझे खबर नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

कहते हैं, स्वाभाविक दृष्टि सदा जयवन्त है। वर्तमान सम्यग्दर्शन—दृष्टि 'त्रिकालदृष्टि जयवन्त वर्तती है', ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! अरे! अपना शाश्वत् तत्त्व, अनादि-अनन्त तत्त्व, उसका स्वीकार किया, वह कहता है कि आहाहा! यह तो जयवन्त त्रिकाल ऐसा का ऐसा है। मैंने भले श्रद्धा अभी की, परन्तु वस्तु तो त्रिकाल ऐसी की ऐसी है—यह श्रद्धा पुकारती है ऐसा। जाना वर्तमान अभी, परन्तु वस्तु तो त्रिकाल ऐसी की ऐसी होकर रही है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

वैसा ही (सहज) विशुद्ध चारित्र भी सदा जयवन्त है;... लो। आहाहा! वर्तमान चारित्र की वीतराग परिणति हुई, यह वस्तु चारित्र(रूप) त्रिकाल ऐसी की ऐसी वर्तती है उसमें, उसकी परिणति यह हुई है। त्रिकाल चारित्र वीतरागभाव अन्दर पड़ा है त्रिकाल। समझ में आया? यहाँ तो 'विशुद्ध चारित्र' (शब्द) प्रयोग किया, लो। ऐई! त्रिकाल... त्रिकाल के (लिये) विशुद्ध प्रयोग होता है, निर्मल पर्याय के (लिये) प्रयोग होता है, शुभभाव के (लिये) विशुद्ध प्रयोग होता है, लो। जहाँ-जहाँ जैसा है, वैसा समझना। त्रिकाल विशुद्ध... वीतरागता चारित्र अर्थात् त्रिकाल वीतरागता जयवन्त वर्तती

है। कहते हैं कौन? जानते हैं कौन? परिणति—वर्तमान दशा। त्रिकाल चारित्र है यह। आहाहा! समझ में आया?

पापसमूहरूपी मल की अथवा कीचड़ को पंक्ति से रहित... जिसमें पाप और पुण्य की पंक्ति की धारा ही नहीं। आहाहा! ऐसा जिसका स्वरूप है। पुण्य और पाप के परिणाम की जिसमें धारा नहीं वस्तु में। इतनी यहाँ परिणति में भी पुण्य-पाप की धारा नहीं, ऐसी चारित्रदशा (सहित की) चेतना जो प्रगटी है जागृत। जागृत ज्ञानचेतना जो हुई, उसमें पुण्य-पाप की धारा है ही नहीं। वह ज्ञानचेतना पुण्य-पाप की धारारहित, वह चेतना (जानती है कि) यह त्रिकाल, पुण्य-पापरहित चेतना त्रिकाल जयवन्त वर्तती है।

ऐसी सहजपरमतत्त्व में संस्थित चेतना... सहज परमतत्त्व में रही हुई चेतना **भी सदा जयवन्त है।** वह ज्ञानचेतना त्रिकाल चेतना को 'जयवन्त है' ऐसा कहते हैं। ऐसा धर्म का उपदेश। वह तो उपवास करे, ऐसा करो, वैसा करो, वर्षीतप करो, अपवास करो, अठ्ठम करो। दुःखी होने के लिये करते होंगे? भान नहीं होता तो क्या हो? आहाहा! **ऐसी सहज परमतत्त्व में संस्थित...** संस्थित त्रिकालचेतना—कारणचेतना... आता है न? पहले आ गया है उपयोग के अधिकार में।

...भी सदा जयवन्त है। ऐसा कहकर ध्रुवस्वभाव की जानने की, श्रद्धा की, स्थिरता की दशा—उस दशा द्वारा यह सब ऐसा का ऐसा है, ऐसा स्वीकार करता है। उसे शुद्धभाव... यह शुद्धभाव का (श्लोक) है न अन्तिम? त्रिकाली भाव वह सब शुद्धभाव है। त्रिकाली चेतना, त्रिकाली ज्ञान, त्रिकाली दृष्टि, त्रिकाली चारित्र—यह सब शुद्धभाव... शुद्धभाव जयवन्त वर्तता है। यह जयवन्त वर्तता है, वह (जिसे) जानने में आया, वह ऐसा कहता है। 'यह है'—ऐसा जाने बिना 'यह है'—ऐसा कहाँ से आया? समझ में आया? आहाहा! अन्तिम.... परन्तु टीका कैसी सरस आयी! ऐसी शुद्धभावरूपी चेतना आदि जयवन्त... जयवन्त वर्तती है कि जिसके आश्रय से यह दशा प्रगट हुई, उस दशा ने यह जाना कि यह सब ऐसा का ऐसा ध्रुव त्रिकाल है। ऐसा करके शुद्धभाव की प्रशंसा करके धर्म की परिणति की प्रगटता बतलाते हैं। शुद्ध परिणति हुई, ऐसा कहते हैं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

४
व्यवहारचारित्र अधिकार

आषाढ़ शुक्ल ६, सोमवार, दिनांक - २८-६-१९७१
गाथा-५६, श्लोक-७६, प्रवचन-५३

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की कितनीक परिणति शुद्ध होती है, उसे ऐसा अहिंसाव्रत का, जो पाँच महाव्रत का विकल्प, शुभ उपयोगरूप प्रयत्न होता है, उसे यहाँ अहिंसाव्रत कहा जाता है। व्यवहार अहिंसाव्रत। निश्चय से तो वह राग है, वह हिंसा है, परन्तु व्यवहार से उसे अहिंसा कहा जाता है। यह पाँच महाव्रत की बात है।

अब, व्यवहारचारित्र अधिकार कहा जाता है।

कुलजोणिजीवमग्गणठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं।
तस्सारंभ-णियत्तण-परिणामो होइ पढम-वदं॥५६॥

रे जानकर कुल योनि, जीवस्थान मार्गण जीव के।
आरम्भ इनके से विरत हो प्रथम व्रत कहते उसे॥५६॥

टीका : यह, अहिंसाव्रत के स्वरूप का कथन है। कुलभेद,... जीव के कुलभेद। पहले ४२ गाथा में आ गये हैं। **योनिभेद,...** उत्पत्ति-स्थान के भेद और **जीवस्थान के भेद...** चौदह **और मार्गणास्थान के भेद पहले ही (४२ वीं गाथा की टीका में ही) प्रतिपादित किये गये हैं;...** कि जीव में नहीं हैं, ऐसा उसमें आया था। **कुलभेद, योनिभेद, जीवस्थान के भेद और मार्गणास्थान के भेद पहले ही (४२ वीं गाथा की टीका में ही)....** यह कहा था कि जीव में वे नहीं है। वह यहाँ पर्याय में वे भेद हैं - ऐसा बतलाते हैं।

यहाँ पुनरुक्तिदोष के भय से प्रतिपादित नहीं किये हैं। यहाँ पाठ में होने पर भी विस्तार नहीं किया है। वहाँ विस्तार हो गया, इसलिए (यहाँ विस्तार नहीं किया है)। '**कुलजोणिजीवमग्गणठाणा**' यह शब्द वहाँ ४२वीं गाथा में था। ४२ गाथा है न? वहाँ

यह शब्द है '**कुलजोणिजीवमग्गणठाणा**' वहाँ यह शब्द था। वहाँ विस्तार किया था। यहाँ नहीं किया। **वहाँ कहे हुए उनके भेदों को जानकर,...** देखो! जानकर - ऐसा कहते हैं। उसे जानना तो चाहिए। वस्तु में नहीं है, परन्तु पर्याय में है, उसे जानना चाहिए - ऐसा कहते हैं। व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है - ऐसा कहते हैं न?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : जानने की बात नहीं परन्तु... है, ऐसे जानने की बात नहीं? आश्रय इसका (स्वभाव का) लिया, तथापि पर्याय में ऐसे भेद हैं, उन्हें जानना।

मुमुक्षु : परन्तु हेय कहने के बाद उसे ऐसे जाना या ऐसे जाना?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु व्यवहार से जानना - ऐसा आता है या नहीं? हेय को जाने, तब हेय होता है या जाने बिना हेय किस प्रकार हो? हेय, ज्ञेय। यह पर्याय में हेय है - ऐसे जाने बिना उसका लक्ष्य कैसे छोड़े? - ऐसा कहते हैं। उन्हें जानकर। देखो! आया है न? सबमें आया है। योगसार में आया नहीं? छह द्रव्यों को प्रयत्न से जानना। छह द्रव्य तो पर है, परन्तु व्यवहार से अपनी पर्याय में उनका ज्ञान होता है, इसलिए उन्हें जानना। जानने में कहाँ आपत्ति है? व्यवहार जाना हुआ। व्यवहार जानने में आवे। व्यवहार का विषय है या नहीं?

मुमुक्षु : वह तो धर्म होने के बाद की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म की यह बात है न?

मुमुक्षु : यह धर्म हुए पहले की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पहले की यहाँ बात ही नहीं है। यहाँ तो आत्मा का ऐसा भान है, वहाँ ऐसी पर्याय और भेद को जानना। धर्म होने के पहले की बात यहाँ है ही नहीं। ऐई! उसे पर्याय जानने में आवे या नहीं? पर्याय में जानने में नहीं आवे? द्रव्य और पर्याय दो का ज्ञान करे। आदरणीय द्रव्य, पर्याय जाननेयोग्य। ऐई! अटपटा है, इसलिए यह सब भांजगड़ (सिरपच्ची) खड़ी हुई है न? अभी यह तो कहेंगे। **उनके भेदों को जानकर,...** जानने में न आवे? मार्गणा के भेद पर्याय में हैं। जीव किस-किस अवस्था

में है। किस जीव के स्वरूप भेद में भेद कहाँ है? कुल कौन सा है? योनि क्या? यह जानने में न आवे? जानने में तो सब आता है।

उनकी रक्षारूप परिणति ही अहिंसा है। यह रक्षा शब्द रखा है। **उनकी रक्षारूप परिणति...** अर्थात् उन सब जीवों को न मारने के परिणाम, वह परिणति, वह अहिंसा-व्यवहार-शुभोपयोग।

मुमुक्षु : उनकी रक्षा की जा सकती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहा न? रक्षा का अर्थ यह। हो सकती है कहाँ? उन्हें नहीं मारने के परिणाम, उन्हें यहाँ रक्षा कहने में आता है। परिणाम। उन्हें मार सकता है या जिला सकता है, यह प्रश्न यहाँ है ही नहीं। उन्हें नहीं मारने के परिणाम। देखो! कहते हैं। **अहिंसा है।** व्यवहार, हों! यह शुभ उपयोग।

उनका मरण हो या न हो,... लो, प्रश्न है? मरण हो या न हो, उसके साथ कुछ नहीं है। वह तो पर है। **प्रयत्नरूप परिणाम बिना,...** शुभभाव में प्रयत्न बिना **सावद्यपरिहार (दोष का त्याग) नहीं होता;...** ऐसा कहते हैं। दूसरे को न मारना, यह शुभभाव का प्रयत्न है। वह मरे, न मरे, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। यह तो साथ में लिख दिया, परन्तु शुभपरिणाम का प्रयत्न है, वह सावद्ययोग का त्याग है। उस **प्रयत्नरूप परिणाम बिना,...** शुभ में प्रयत्न बिना अशुभ के सावद्ययोग का त्याग नहीं होता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

इसीलिए प्रयत्नपरायण को... देखो! शुभभाव में **प्रयत्नपरायण को हिंसापरिणति का अभाव होने से...** उसे सावद्य के अशुभभाव का त्याग होने से **अहिंसाव्रत होता है।** कहो, समझ में आया? उसे अहिंसाव्रत-शुभभाव होता है। यह व्यवहार, निश्चयसहित होवे, उसे ऐसा व्यवहार होता है, ऐसा बतलाते हैं और व्यवहारनय के अर्थ में तो ऐसा भी कहते हैं, यह व्यवहार का प्रयत्न है, उतना अशुभ टालता है न? सावद्ययोग का त्याग, उतना शुभ में प्रयत्न है। है पुण्य-बन्धन, है शुभोपयोग। निश्चय से तो स्वरूप की हिंसा है परन्तु व्यवहार से सावद्ययोग का त्याग है, इसीलिए व्यवहार से उसे अहिंसा परिणाम कहा गया है, ऐसी बात है।

मुमुक्षु : उलझन तो अवश्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उलझन जरा भी नहीं है। सीधा मार्ग है परन्तु इसने विपरीत माना है। जहाँ वस्तु-आत्मा का भान है, अनुभव है कि मैं तो आनन्द हूँ, उसकी दृष्टि हुई, ज्ञान हुआ और आनन्द में कितनी ही लीनता भी हुई है, उसे ऐसा शुभभाव प्रयत्न से होता है। इस प्रकार का शुभ का प्रयत्न है न? उसे यहाँ व्यवहार अहिंसाव्रत कहने में आता है। ऐसा भाव मुनि को छठे गुणस्थान में होता है, ऐसा ज्ञान कराते हैं। समझ में आया?

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री समन्तभद्रस्वामी ने (बृहत्स्वयंभूस्तोत्र में श्री नमिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए ११९ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

देखो! वापस निश्चय डालते हैं।

अहिन्सा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म-परमं,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परम-करुणो ग्रन्थ-मुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधि-रतः॥

श्लोकार्थ : जगत् में विदित है... यहाँ तो कहते हैं, लो! **जीवों की अहिंसा, परम ब्रह्म है।** यह भाव अहिंसा की बात है। राग की उत्पत्ति न होना और वीतरागपर्याय की उत्पत्ति होना, यह अहिंसा जगत-प्रसिद्ध है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? चलता है वह अहिंसाव्रत का, उसमें नीचे वापस यह लिखा। आत्मा में जितने अंश में राग की उत्पत्ति होती है, उतने अंश में तो हिंसा ही है और जितने अंश में स्वभाव शुद्ध आनन्द के आश्रम वीतराग अकषाय की परिणति होती है, वह अहिंसा है।

जगत् में विदित है कि जीवों की अहिंसा, परमब्रह्म है। उसमें परम आनन्द है। वह परम ब्रह्म आत्मा है, ऐसा कहते हैं। आत्मा का जैसा परम ब्रह्मस्वरूप है, ऐसी जहाँ परिणति / पर्याय / वीतरागीदशा प्रगट हुई, वह परम ब्रह्मस्वरूप है। अहिंसा की अवस्था, रागरहित की दशा, हों! यह शुभ की बात नहीं है। जीव अर्थात् जीव स्वयं भी आया न? समझ में आया? **जीवों की अहिंसा, परम ब्रह्म है।** वह परजीव की अहिंसा

अकेला न मारना, वह नहीं। परम अहिंसा है, परम ब्रह्म है। भगवान आत्मा... यह स्पष्टीकरण करेंगे।

जिस आश्रम में परिग्रह का एक अंश नहीं, वहाँ अहिंसा है, ऐसा कहते हैं। मुनि को आत्मज्ञान अनुभवसहित चारित्र की दशा जो अन्तर वर्तती है, उन्हें परिग्रह का कण लेने का विकल्प नहीं है। वह विकल्प होवे तो वह हिंसा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? लोगों को बराबर शुद्धभाव अधिकार कहकर व्यवहार (चारित्र अधिकार) कहेंगे। फिर प्रतिक्रमण आदि निश्चय कहेंगे। **जीवों की अहिंसा, परम ब्रह्म है। जिस आश्रम की विधि में...** देखो! **लेश भी आरम्भ है,...** गृहस्थाश्रम में भले पंचम गुणस्थान में हो, परन्तु वहाँ अभी राग है। वस्त्र, पात्र रखने का इत्यादि-इत्यादि राग है, वह हिंसा है। **जिस आश्रम की विधि में लेश भी आरम्भ है, वहाँ (उस आश्रम में, अर्थात् सग्रन्थपने में) अहिंसा नहीं होती।** देखो! वस्त्र-पात्र रखने का जहाँ भाव है, वहाँ अहिंसा नहीं होती। वह हिंसा है। आहाहा! समझ में आया?

जिस आश्रम की विधि में लेश भी आरम्भ है, वहाँ (उस आश्रम में, अर्थात् सग्रन्थपने में) अहिंसा नहीं होती। देखो! पंचम गुणस्थान में श्रावक को पूर्ण अहिंसा नहीं है। उसे अभी रागभाव है। आरम्भ का, वस्त्र-पात्र रखने का, स्त्री, परिवार इत्यादि राग है, वह हिंसा है। वहाँ अहिंसा नहीं है। देखो! **इसलिए उसकी सिद्धि के हेतु, (हे नमिनाथ प्रभु!) परम करुणावन्त ऐसे आपश्री ने दोनों ग्रन्थ को छोड़ दिया...** अन्दर में से राग छोड़ा और बाहर में से वस्त्र-पात्र, वस्तु छोड़ी। व्यवहार। ऐसा जो मुनिपना, वहाँ अहिंसा है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया? जिस आश्रम में राग का अंश नहीं और परिग्रह में वस्त्र-पात्र भी नहीं, ऐसे आश्रम में अहिंसा होती है। इसीलिए भावलिंगी सन्त, आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभवी, तदुपरान्त उसमें स्थिरता, वीतरागता प्रगटी है, उन्हें भावहिंसा नहीं है, राग का भावपरिग्रह नहीं है और वस्त्र-पात्र का द्रव्यपरिग्रह भी नहीं है। आहाहा!

इसलिए उसकी सिद्धि के हेतु, (हे नमिनाथ प्रभु!) परम करुणावन्त ऐसे आपश्री ने... देखो! इसमें अपनी करुणा है। **दोनों ग्रन्थ को छोड़ दिया...** वस्त्र-पात्र भी छोड़ा और राग भी छोड़ा। **(द्रव्य तथा भाव, दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़कर,**

निर्ग्रन्थपना अङ्गीकार किया) देखो! जिसमें राग का लेश भी अंश नहीं। वह वास्तव में वीतरागदशा में सातवें गुणस्थान में... समझे? राग का अंश नहीं, ऐसी जो दशा, वह निर्ग्रन्थ दशा और वह अहिंसादशा, वह अहिंसकदशा है। आहाहा! देखो न व्याख्या।

विकृत वेष... साधु को वस्त्रादि रखना, वह विकृत वेष है; वह सच्चा वेष नहीं है। **तथा परिग्रह में रत न हुए।** राग में रत नहीं हुए और बाहर के वेष में विकृत में भी रत नहीं हुए। आहाहा! देखो! यह अहिंसाव्रत के शुद्ध उपयोग की व्याख्या चलती है। उसमें यह लिखा है। भगवान आत्मा रागरहित मुनि को जहाँ वीतरागदशा प्रगट हुई है, उस आश्रम में अहिंसा है। जहाँ राग का आरम्भ नहीं और बाहर राग के निमित्त वस्त्र-पात्र, ऐसा परिग्रह का संग-सम्बन्ध भी नहीं। आहाहा! समझ में आया?

एक ओर कहते हैं कि चौथे गुणस्थान में ज्ञानी को बन्ध नहीं है, राग उसका नहीं है। ऐई! दृष्टि की अपेक्षा से जहाँ परिणमन पर से भिन्न पड़ गया, उस अपेक्षा से (यह बात है)। जैसे शरीर पर, वैसे राग पर परन्तु स्थिरता की अपेक्षा जहाँ आवे, वहाँ पंचम गुणस्थान में भी राग-भाग है, वह हिंसा है, ऐसा कहते हैं। उस आश्रम में अहिंसा पूर्ण नहीं है। आहाहा! कथन की पद्धति देखो! समझ में आया? यहाँ तो चारित्र की व्याख्या लेनी है या नहीं? अन्तरस्वरूप में आनन्द में रमणता, उसकी भूमिका में राग का अंश नहीं, उसे अहिंसा जगत प्रसिद्ध-विदित कहने में आता है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, वह बात जगत प्रसिद्ध है।

मुनि अनालम्बी अपरिग्रही। आहाहा! नग्न मुनि, बाहर में नग्न है, अन्दर में राग का कण नहीं। जरा सा यह संज्वलन का कण है ऐसा... अकषाय परिणति ही जिन्हें उग्र है, उन्हें यहाँ अहिंसा कहने में आता है। आहाहा! मार्ग तो ऐसा है। उसे अपनी कल्पना से फेरफार करके जगत के समक्ष रखना, वह कोई मार्ग नहीं है। यहाँ तो ग्यारह प्रतिमावाले को भी अभी राग है। है न? पंचम गुणस्थान है न? वहाँ अभी उस आश्रम में पूर्ण अहिंसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यहाँ नमिनाथ भगवान की बात चलती है। हे प्रभु! आपने तो अन्तर में वीतरागदशा प्रगट की और बाह्य में नग्नदशा। विकृत वेश रहा नहीं। ऐसी अपरिग्रहदशा को यहाँ

अहिंसा कहने में आता है। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें? प्रयत्न परायण, लो! इस अपेक्षा से शुभभाव में इतना पुरुषार्थ है न? अशुभ में अन्तर उल्टा, परन्तु इसमें जरा कम है। परन्तु है न। शुभ में विशेष प्रयत्न है परन्तु इसमें भी अकेला वीर्य है न शुभ में? ऐसा कहते हैं। परन्तु है, वह व्यवहार अहिंसा है। जिसे निश्चय अहिंसा प्रगट हुई हो, उसे ऐसा विकल्प हो, उसे व्यवहार अहिंसा कहने में आता है। जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान और आनन्द की-शुद्ध की दशा है ही नहीं, उसे यह व्यवहार नहीं हो सकता। उसे व्यवहार ही नहीं है। व्यवहार कहाँ से आया? जगे बिना, निश्चय बिना व्यवहार किसे कहना?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : आगे पाँचवें में लेंगे। पाँचवें व्रत में निरपेक्ष शब्द है सही न? पाठ में। निर्विकल्प भावना अर्थात् पंच महाव्रत में अन्दर दृष्टि, ज्ञान, स्थिरता का निरपेक्षपना। पाँचवें में निरपेक्ष शब्द आता है। वहाँ नीचे स्पष्टीकरण है। यहाँ भी स्पष्टीकरण किया न? देखो न, कहाँ शब्द है वह? प्रयत्न-प्रयत्न है न?

मुनि को (मुनित्वोचित) शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ जो... अन्दर शुद्ध वीतरागदशा तो है। आत्मा के आश्रय से सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की कितनी ही परिणति तो है। **जो (हठरहित) देहचेष्टादिकसम्बन्धी शुभोपयोग, वह व्यवहार प्रयत्न है।** हठरहित अर्थात् उस प्रकार से शुभभाव वहाँ सहज होता है। **[शुद्धपरिणति न हो,...]** लो! पाँचवें में विशेष स्पष्टता है। शुद्धपरिणति न हो, जहाँ स्व भगवान आत्मा का आश्रय करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागीदशा न हो, **[वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है;...]** वहाँ तो हठ है, सहज नहीं। **[वह शुभोपयोग तो व्यवहार-प्रयत्न भी नहीं कहलाता।]** कहो, समझ में आया?

ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति की जो निर्विकल्पदशा-शुद्धपरिणति प्रगट हो, वहाँ आगे वह शुभोपयोग का प्रयत्न है, वह सहज उस प्रकार का भूमिका में भाव होता है। हठरहित (होता है) और जहाँ शुद्ध की परिणति का भान ही नहीं, आत्मा आनन्दस्वरूप का जहाँ आश्रय लिया नहीं, आश्रय

लिए बिना की दशावाला अकेला शुभोपयोग तो हठवाला है। उस भूमिका में उसे हो, आवे - ऐसा वहाँ नहीं है। वह हठवाला है। उस शुभोपयोग को व्यवहार भी नहीं कहा जाता। **व्यवहार-प्रयत्न भी नहीं कहलाता।** लो। कहो, समझ में आया या नहीं? कान्तिभाई! यह भी निश्चय के साथ व्यवहार आया, इसलिए झगड़ा उठा। कहते हैं, जो व्यवहार होता है। व्यवहार होता है तो निश्चय होता है, यह बात यहाँ कहाँ है। यहाँ तो ऐसे निश्चय की दशा की परिणति हो, तब ऐसा व्यवहार-शुभोपयोग होता है, ऐसा ज्ञान कराते हैं। शुभ उपयोग करनेयोग्य है, यह बात भी कहाँ है? आता है, होता है, होता है।

मुमुक्षु : उसे करता है, ऐसा कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे करता है, वह तो व्यवहारनय से पालता है, ऐसा कहा जाता है।

व्यवहार अहिंसाव्रत पालता है। राग को पाले? परन्तु व्यवहारनय का कथन अहिंसा, उस प्रकार से ही कहने में आता है। कहो, भगवान का दृष्टान्त दिया, ठीक। हे प्रभु! आपने तो निर्ग्रन्थदशा अन्तर में और बाह्य में दोनों की हैं। वस्त्र का वेश, वह विकृत वेश है। वह मुनि का वेश नहीं है। सन्त की दशा वह व्यवहार से भी नहीं है। आहाहा! जिसे वस्त्र के प्रति विकल्पदशा छूट गयी है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की परिणति सहित जिसे ऐसा व्यवहार अहिंसा का शुभ प्रयत्न होता है, उसे व्यवहार कहा जाता है, ऐसा कहते हैं।

जहाँ निश्चयस्वरूप का भान नहीं, कि यह व्यवहार। वहाँ व्यवहार कहना किसे? व्यवहार तो सहचर। निश्चय की श्रद्धा-ज्ञान की शान्ति के साथ सहचर। साथ में हो तो उसे व्यवहार कहा जाता है। परन्तु यहाँ साथवाला निश्चय तो जगा नहीं, वहाँ सहचर कहना किसे? समझ में आया? मोक्षमार्गप्रकाशक में सहचर आता है न? सहचर—साथ में होता है, इसलिए उसे व्यवहार कहने में आता है परन्तु किसके साथ में? निश्चय है नहीं और साथ में चलता है। परन्तु किसके साथ में? समझ में आया? लोग तो बस, यह अहिंसाव्रत और यह व्रत है, वह चारित्र ही है, बस एक ही बात सिद्ध करते हैं। यहाँ तो शुभ उपयोग स्पष्ट शब्द लेंगे। ये सब शुभ उपयोग है। समझ में आया? परम्परा से आगे कहेंगे। स्पष्टीकरण करेंगे।

मुमुक्षु : ११७ पृष्ठ पर।

पूज्य गुरुदेवश्री : ११७ पृष्ठ? कहीं है अवश्य। नीचे न? टीका में। '**चौबीस प्रकार के परिग्रह का परित्याग ही परम्परा से पंचम गति के हेतुभूत ऐसा पाँचवाँ व्रत है।**' परम्परागत तो कहा परन्तु शुभ उपयोग शब्द नहीं है। परित्याग ही। **परम्परा से पंचम गति के हेतुभूत ऐसा पाँचवाँ व्रत है।** अर्थ में है देखो! उसमें अर्थ में है। **सर्व परिग्रहों के त्याग (सर्व परिग्रह त्याग सम्बन्धी शुभभाव)...** देखो! है? ६० गाथा। सर्व परिग्रह का त्याग, देखा? यहाँ ऊपर कहा न। **निरपेक्ष भावनापूर्वक (अर्थात् जिस भावना में पर की अपेक्षा नहीं, ऐसी शुद्ध निरालम्बन भावना सहित...)** सहित। तब सर्व परिग्रह का त्याग वह शुभभाव। यह पाठ का पुकार है। ६०वीं गाथा। ६० वीं, हों! ६० गाथा का अर्थ।

निरपेक्ष भावनापूर्वक... देखो! ओहो! जिसे पर की कोई अपेक्षा नहीं, ऐसा निर्मल परिणमन हुआ है। **(ऐसी शुद्ध निरालम्बन भावनासहित...) सर्व परिग्रहों का त्याग...** यह शुद्धपरिणतिसहित, शुभोपयोग वह पाँचवाँ महाव्रत है, ऐसा यहाँ अहिंसा आदि शुभभाव सबको गिनना। समझ में आया? आहाहा!

और, (५६ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं) —

त्रसहतिपरिणामध्वान्तविध्वन्सहेतुः,
सकल-भुवन-जीवग्राम-सौख्यप्रदो यः।
स जयति जिन-धर्मः स्थावरैकेन्द्रियाणां,
विविधवधविदूरश्चारुशर्माब्धिपूरः ॥७६॥

त्रसघात के परिणामरूप अन्धकार के नाश का जो हेतु है,... कौन? जैनधर्म। जैनधर्म अर्थात् अज्ञान और राग को जीतकर वीतरागता प्रगट करना, वह जैनधर्म है। **त्रसघात के परिणामरूप अन्धकार के नाश का जो हेतु है, सकल लोक के जीव समूह को सुखप्रद है,...** वीतरागधर्म। वीतरागधर्म अर्थात् आत्मा की वीतरागी परिणति। वह जैनधर्म, वह जैनशासन है। पुण्य-पाप के रागरहित आत्मा की स्व-आश्रय की शुद्धपरिणति

को यहाँ जैनधर्म और जैनशासन कहने में आता है।

सकल लोक के जीव समूह को सुखप्रद है,... वीतरागभाव सभी जीवों को आनन्ददायक है, ऐसा कहते हैं। जिन अर्थात् आत्मा का वीतरागस्वरूप। उसके आश्रय से होनेवाली परिणति, वीतराग परिणति। रागादि नहीं - ऐसा जो जैनधर्म, उसे त्रसघात के नाश का, अन्धकार के नाश का हेतु है। और **स्थावर एकेन्द्रिय जीवों के...** भी मारने के परिणामरहित है। **विविध वध से जो बहुत दूर है...** देखा! एक पानी की बूँद में असंख्य जीव हैं। पानी की बूँद... असंख्य शरीर और एक-एक शरीर में एक-एक जीव। उनके घात से भी जैनधर्म दूर वर्तता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? छह काय ले लिए न? त्रस और एकेन्द्रिय, (ऐसे) छह काय ले लिए।

पानी की एक बूँद, अग्नि का एक चिंगारी, उसमें असंख्य जीव हैं। इस पानी के दस-दस सेर, अध मण गरम पानी में, एक-एक पानी की कणी में असंख्य जीव। मुनि के लिए वह पानी बनावे और मुनि ले, वह मुनि ही नहीं है। व्यवहार से मुनि नहीं, हों! निश्चय से तो है ही नहीं। समझ में आया? यहाँ तो प्रभु! तेरा मार्ग, त्रस और एकेन्द्रिय जीव के घात से दूर-दूर मार्ग है। आहाहा!

और सुन्दर सुखसागर का जो पूर है,... आहाहा! वह राग है, वह तो दुःख है और उससे भिन्न भगवान आत्मा की परिणति, शुद्ध वीतरागस्वभाव का आश्रय लेकर (हुई), अपना निज वीतरागस्वभाव। वीतरागपरिणति जो खड़ी हुई, वह **सुन्दर सुखसागर का जो पूर है,...** अज्ञानी ने सुख की कल्पना की, वह तो दुःख है। यह तो **सुन्दर सुखसागर का जो पूर है,...** आहाहा! क्या कहते हैं। समझ में आया? जैनधर्म उसे कहते हैं कि जो आनन्द सागर भगवान आत्मा में से वीतरागी आनन्द की दशा प्रगट की, उसे जैनधर्म कहते हैं। आहाहा! है या नहीं इसमें? देखो! कहाँ? १५वीं गाथा में ऐसा कहा कि शुद्ध उपयोग। भावश्रुत उपयोग, वह जैनशासन है। समयसार की १५ वीं गाथा। भावश्रुत उपयोग, जिसमें राग का कण नहीं। वीतरागी भावश्रुत उपयोग, वह जैनशासन है। यहाँ कहते हैं कि जैनधर्म कहो या जैनशासन कहो।

जैनधर्म क्या है? कि अतीन्द्रिय आनन्द की परिणति का पूर अन्दर प्रगट हो, (वह जैनधर्म है)। आहाहा! यह महाव्रत का विकल्प भी राग है, ऐसा कहकर यहाँ

वापस निकाल दिया। होता है, ऐसा ज्ञान कराते हैं परन्तु अन्तर में यह राग जो आता है, वह जैनधर्म नहीं है, ऐसा कहते हैं। भाई! महाव्रत के परिणाम का अहिंसा का विकल्प, वह जैनधर्म नहीं है। उसे ऐसा व्यवहार हो, इतना ज्ञान कराते हैं, परन्तु वह जैनधर्म नहीं है। ऐई! आहाहा! क्योंकि राग है, वह दुःख है। अहिंसा महाव्रत का विकल्प— व्यवहार अहिंसा, वह भी दुःख है; जैनधर्म नहीं। बीच में होता है, उसका ज्ञान कराते हैं। आहाहा!

जैनधर्म अर्थात् कोई पक्ष नहीं, कोई सम्प्रदाय नहीं; वह तो वस्तु का स्वरूप है। 'जिन सो हि है आत्मा' वीतरागभाव से भरपूर अकषायस्वभावरूप आत्मा का आश्रय लेकर जो वीतरागी सम्यग्दर्शन, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी स्थिरता प्रगट हुई, वह सुख का पूर अर्थात् वे तीनों सुखरूप हैं, ऐसा कहते हैं। तीनों दुःखरूप नहीं हैं। निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र तीनों सुखरूप हैं। लोग कहते हैं न कि अरे! चारित्र तो महा (कठोर) ग्रास है। अरे! चल.. चल.. तुझे भान नहीं है। दूध के दाँत से... क्या कहते हैं? लोहे के चने चबाना। बापू! क्या चारित्र दुःखरूप है? सम्यग्दर्शन दुःखरूप है? सम्यग्ज्ञान दुःखरूप है।

कहते हैं, **सुन्दर सुखसागर का जो पूर है,...** आहाहा! किस प्रकार बात की है! आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पूर, ध्रुव है। उसका आश्रय लेकर, अवलम्बन लेकर उसमें से अतीन्द्रिय आनन्द की दशा- श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र तीनों अतीन्द्रिय आनन्द की दशा है। तीनों सुखरूप दशा है। तीनों में आनन्द है। ऐसे **सुखसागर का जो पूर है, वह जिनधर्म जयवन्त वर्तता है।** आहाहा! ऐसा जैनधर्म जगत में वीतराग परिणति के परिणमनेवाले के पास जयवन्त वर्तता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

दिगम्बर सन्तों की वाणी ठेठ वीतरागता को पहुँचावे ऐसी है। ऐसी बात...! ऐसी बात इनके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं है। दिगम्बर मुनियों के अतिरिक्त ऐसा कथन, ऐसी बात कहीं नहीं है। श्वेताम्बर में नहीं तो अन्यमत में तो कहाँ से होगी? आहाहा! लोगों को यह कहते हैं तो ऐसा लगता है कि यह पक्ष की बात है। अरे! पक्ष की बात नहीं, भगवान! यह वस्तु ही स्वयं वीतरागमूर्ति आत्मा है। उसमें त्रिकाल चारित्रगुण है न? वीतरागभाव-स्वरूप है और श्रद्धागुण है, वह भी वीतरागस्वरूप है, ज्ञानगुण है, वह

भी वीतराग निर्दोषस्वरूप है। निर्दोषस्वरूप कहो या वीतरागस्वरूप कहो। ऐसा वीतराग भगवान आत्मा, उस पर दृष्टि पड़ने से, उसका ज्ञान होने पर, उसमें स्थिरता होने से जो दशा प्रगट होती है, निश्चय सच्चा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो, वह तो सुख के आनन्द की दशावाली दशा है। आहाहा! उसे जैनधर्म कहते हैं।

अहिंसाव्रत में वापस यह लिखा है, बतलाया अवश्य है। रागादि जाननेयोग्य है परन्तु वह जैनधर्म नहीं है। आहाहा! जितनी अन्दर में रागरहित अहिंसारूप परिणति सुखरूप हुई, उतना जैनधर्म है। कहो, शान्तिभाई! बराबर है यह? तो फिर ये महाव्रत-फहाव्रत में यह और कहाँ डाला? ज्ञान कराया है कि है, परन्तु जैनधर्म उसे कहते हैं कि जिसमें अकेली वीतराग परिणति खड़ी हो। जिसमें राग आया, वह भी वास्तविक जैनधर्म नहीं है। वह तो उपचारिक धर्म, व्यवहार जैनधर्म है। निश्चयधर्म, वह जैनधर्म नहीं है। आहाहा! जैनधर्म के भी दो प्रकार हैं, निश्चय और व्यवहार। आहाहा!

मुमुक्षु : धर्म है तो दोनों धर्म से लाभ होगा न!

पूज्य गुरुदेवश्री : लाभ की बात कहाँ है? एक ही धर्म से लाभ है। वीतरागी जैनधर्म दशा। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, उस एक से ही लाभ है। दूसरा होता है, ऐसा ज्ञान कराते हैं। ज्ञान कराते हैं कि व्यवहारनय जानने योग्य है या नहीं?

मुमुक्षु : ....मुश्किल से....

पूज्य गुरुदेवश्री : मुश्किल से आया, वहाँ अन्दर ही अन्दर उड़ा दिया। दोनों में उड़ाया। समन्तभद्राचार्य का आधार देकर उड़ाया, स्वयं ने उड़ाया। दुनिया, दुनिया का जाने, तुझे क्या काम का? तुझे तो आत्मा के साथ काम है, कहते हैं। शुभविकल्प हो, कहते हैं कि वह तो जाननेयोग्य है। वस्तु भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान का जिसका स्वभाव, बस उसके साथ तुझे काम है। ओहोहो! कथनी भी देखो न! पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि हैं, हों! इस पुस्तक की गाथा कुन्दकुन्दाचार्यदेव की, परन्तु टीका करनेवाले मुनि हैं, आचार्य नहीं। पद्मप्रभमलधारिदेव। अमृतचन्द्राचार्य और ये सब आचार्य थे। यह (टीकाकार) तो मुनि हैं।

मुमुक्षु : आचार्य का कथन ही मानने योग्य है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! मुनि का कथन... समकिती का कथन मानने योग्य है। माननेयोग्य किसका कथन नहीं? आहाहा!

छह काय के **वध से जो बहुत दूर है...** अर्थात् उन्हें मारने का विकल्प तो नहीं, परन्तु जीलाने के विकल्प से भी यह वीतराग का मार्ग दूर है। आहाहा! ऐसा कहते हैं। समझ में आया? कहा न? प्रयत्न, शुभ प्रयत्न-परायण।

मुमुक्षु : यहाँ तो रक्षा की बात थी।

पूज्य गुरुदेवश्री : रक्षा शब्द तो व्यवहार से आया। यहाँ वापस डाला। आहाहा!

छह काय को मारने का विकल्प तो नहीं होता, परन्तु उन्हें न मारने का विकल्प भी जिस जैनधर्म में नहीं होता, ऐसा कहते हैं। यह विकल्प हो, वह व्यवहारधर्म है, पुण्य है। निश्चय जैनधर्म तो रागरहित अरागी श्रद्धा, अरागी ज्ञान और अरागी चारित्र की दशा, वह जैनधर्म है। आहाहा! **जयवन्त वर्तता है।** मुनि को स्वयं में वीतरागी परिणति है न? **जयवन्त वर्तता है।** आहाहा! कहो, इसमें समझ में आता है या नहीं? वह अकेला निश्चय का आता था, वहाँ जरा पकड़े। निश्चय में व्यवहार आवे और फिर व्यवहार उड़ावे। ऐई! व्यवहार वहाँ तक कहा कि प्रयत्नरूप परिणाम है। ऐई! और कहते हैं कि प्रयत्नरूप परिणाम, वह जैनधर्म नहीं है। आहाहा! व्यवहारधर्म कहने में आता है। व्यवहार कहो या पुण्य कहो। आहाहा! अरे रे! ऐसा मार्ग! निर्मलानन्द प्रभु के आश्रय से धर्म होता है, ऐसा मानना, वह व्रत है। यह तो व्रत के परिणाम आस्रव हैं। अहिंसाव्रत के परिणाम आस्रव हैं, शुभ उपयोग है, राग है।

मुमुक्षु : ऐसा कहाँ इसमें लिखा हुआ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्या कहा? यहाँ कहा न, कि **सुन्दर सुखसागर की...** दशा वह जैनधर्म है। अहिंसा वह शुभराग है, शुभ उपयोग है। व्रत है न? कहो, समझ में आया? आहाहा! कहो, चेतनजी! ऐसी बात वहाँ कहीं थी?

मुमुक्षु : भूतकाल की बात कहाँ है, वर्तमान की बात करो न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वर्तमान में भी विरोध करते हैं। अरे! भगवान! शान्त हो, भाई!

जो मार्ग होगा, वह रहेगा। कुछ बदलाव करने से कहीं बदलाव हो नहीं जाएगा। आहाहा! बापू! तेरा तत्त्व है। आहाहा! ऐसा आता है कहीं। निज तत्त्व का कहीं आता है। सहज परमतत्त्व स्वस्वरूप, ऐसा आता है। यह ७९ वें कलश में आता है। '**सहजपरमतत्त्व स्वस्वरूपं**' आहाहा! महा भगवान आत्मा सहज परमतत्त्व, महा परमतत्त्व ध्रुव वस्तु, वह जीव का स्व स्वरूप। वह जीव, वह आत्मा, ऐसे आत्मा का आश्रय लेकर। आश्रय लिया पर्याय ने। आश्रय दिया द्रव्य ने।

मुमुक्षु : द्रव्य, पर्याय को स्पर्श नहीं करता न? स्पर्श नहीं करता और आश्रय दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ (पर्याय) ऐसे गयी, इसलिए दिया न। उसने कुछ इनकार नहीं किया कि नहीं... नहीं... इस ओर मत आ।

मुमुक्षु : उसे छुए नहीं और स्पर्श नहीं करे तो कहाँ से दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दूसरी बात है। कहो, समझ में आया?

'**भूदत्थमस्सिदो खलु**' नहीं आया? ऐई! भूतार्थ त्रिकाली का आश्रय करने से सम्यग्दर्शन होता है। आश्रय करनेवाली तो पर्याय है। आश्रयदाता तो द्रव्य है। ऐई! उसमें से निकालना पड़ेगा या नहीं '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' यह महासिद्धान्त है। (समयसार की) ११वीं गाथा तो जैनदर्शन का प्राण है। कैलाशचन्दजी ने लिखा है, परन्तु वापस अर्थ में घुमाते हैं, मेल नहीं खाता... मेल कैसे करना, इसकी बात समझनी चाहिए। ऐसे अपनी कल्पना से करे, ऐसा कहीं चले? यह तो अनादि के वीतराग सन्त मार्ग कहते आये हैं, परिणमते आये हैं, होते आये हैं, मुक्ति पाते आये हैं। यह कहीं किसी व्यक्ति का मार्ग है? अनादि सन्त यह मार्ग कहते आये हैं और इस प्रकार का परिणमन करते आये हैं तथा इस प्रकार का कहते आये हैं। ओहोहो! वाह!

विविधवधविदूरश्चारुशर्माब्धिपूरः। अन्तिम लाईन। ठीक। चारु अर्थात् सुन्दर। शर्म अर्थात् सुख। अब्धि अर्थात् समुद्र, उसका पूर है। लो! वाह!

मुमुक्षु : जिनधर्म के विशेषण हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह जैनधर्म के विशेषण हैं। आहाहा! जैनधर्म तो अतीन्द्रिय आनन्ददायक है, ऐसा कहते हैं। दायक अर्थात् बाद में दे, ऐसा नहीं। उसी समय अतीन्द्रिय

आनन्द का दाता, परिणमन, उसका नाम जैनधर्म है। आहाहा! यह पद्मप्रभमलधारिदेव ने भी... भले स्वयं को अमुक शैली लक्ष्य में रखकर किया हो, परन्तु किया कैसा है! (समयसार) १५वीं गाथा में कहा कि जैनशासन उसे कहना। भले वह लक्ष्य में हो और यह बात की हो। परन्तु बात तो...

भावश्रुत उपयोग अर्थात् आनन्ददायक दशा, वह जैनशासन है। आहाहा! उसमें आपदा क्या? विपदा क्या? दु:ख कहाँ? आहाहा! कष्ट को सहन करना, वह जैनधर्म नहीं है - ऐसा कहते हैं। कष्ट को सहन करना अर्थात् ऐसे आकुलता लगे। यहाँ तो अतीन्द्रिय आनन्द की दशा की परिणति प्रगट होती है। प्रवाह का पूर बहाया, कहते हैं। आहाहा! अन्तर का भाव जो भरा था। पूर्ण भरितअवस्थ। स्वभाव का सागर भगवान अतीन्द्रिय आनन्द के सहारे गयी, उसके आश्रय में गयी, उस परिणति को यहाँ जैनधर्म कहते हैं। स्वद्रव्य आश्रय परिणति प्रगटे, उसे जैनधर्म कहते हैं। परद्रव्य आश्रय राग हो, वह यथार्थ जैनधर्म नहीं है। निश्चय हो, वहाँ व्यवहार कहने में आता है। समझ में आया?

अब चलती है अहिंसाव्रत की बात, वहाँ यह डाला है परन्तु डाले न। सुन न! व्यवहार अहिंसाव्रत का विकल्प है, वह प्रयत्न है, ऐसा तुझे बतलाया। मुनि को होता है परन्तु वह कहीं वास्तविक चीज़ नहीं है, वह यथार्थ वस्तु नहीं है। अन्तर आत्मा छह काय के घात और जिलाने के विकल्प से भी भिन्न है, ऐसा कहते हैं। छह काय के जीव को मारने के विकल्प से तो भिन्न, परन्तु उन्हें बचाने के विकल्प से (भी) जैनधर्म भिन्न है। आहाहा! समझ में आया?

वह जिनधर्म जयवन्त वर्तता है। आहाहा! ऐसा कि जैनधर्म की अस्ति है, ऐसा कहते हैं, भाई! ऐसा कि यह कहनेमात्र जैनधर्म नहीं है। इसकी अस्ति है। आहाहा! ऐसा जैनधर्म हमारी परिणति में वर्तता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? समन्तभद्राचार्य में भी यह आया है। अहिंसा परम ब्रह्म, इसलिए वे ऐसा स्पष्टीकरण करते हैं कि छह काय की-जीव की दया, वह अहिंसा परम धर्म है। इसका अर्थ ऐसा किया है। उसकी बात कहाँ है? यहाँ तो परम ब्रह्म है। वह तो अपरम है। आहाहा! ऐसा अर्थ करते हैं,

देखो! दया, वह धर्म भगवान ने कहा है। समन्तभद्राचार्य ने अहिंसा को परम धर्म कहा है। छह काय की दया, वह अहिंसा परम धर्म है।

मुमुक्षु : छह काय में स्वयं आया या स्वयं रह गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं आवे, तब तो रागरहित हो गया वह तो। लो, यह पहली गाथा अहिंसाव्रत और मुनि की अन्तर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा में ऐसा एक शुभभाव प्रयत्नपूर्वक होता है, बस इतना। उसमें भी ऐसा आता है (कि) प्रयत्न से जानना। योगसार में (आता है)। षट्द्रव्य को प्रयत्न से जानना, ऐसा आता है। व्यवहार से आवे न!

मुमुक्षु : दोनों हैं अवश्य न?

पूज्य गुरुदेवश्री : है। जाननेयोग्य वस्तु नहीं?

ऐसा वीतरागमार्ग जिसमें भगवान स्वयं तो आनन्दस्वरूप है, परन्तु जिसमें आनन्द उसका आश्रय करके प्रगट हुआ, वह आनन्द की दशा ही जैनधर्म है। आहाहा! कथन की गजब पद्धति है न! उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और वह वीतरागी परिणति आनन्ददायक हुई, उसे जैनधर्म कहते हैं। ऐसा कहकर अहिंसाव्रत का विकल्प वहाँ होता है, ऐसा ज्ञान कराया है। आदरनेयोग्य है, ऐसा नहीं है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल ७, मंगलवार, दिनांक - २९-६-१९७१
गाथा-५७ से ६०, श्लोक-७७ से ७९, प्रवचन-५४

गाथा ५७। सत्यव्रत के स्वरूप का कथन। अहिंसाव्रत की व्याख्या हो गयी।

रागेण व दोसेण व मोहेण व मोसभासपरिणामं।
जो पजहदि साहु सया बिदियवदं होइ तस्सेव।।५७।।

जो राग, द्वेष रु मोह से परिणाम हो मृष—भाष का।
छोड़े उसे जो साधु, होता है उसे व्रत दूसरा॥ ५७॥

अभी मुनि की व्याख्या है न? **यह, सत्यव्रत के स्वरूप का कथन है।** आहाहा! आत्मा के अन्तर चैतन्य के शुद्ध आनन्द के आदरसहित जो स्वरूप में स्थिरता हुई है, उसे यहाँ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र कहते हैं। उस चारित्रदशा में पूर्ण चारित्र न हो, इसलिए ऐसे पंच महाव्रत के शुभोपयोगरूप भाव उसे होते हैं। शुभराग, शुभपरिणाम को यहाँ व्रत कहते हैं।

यहाँ (ऐसा कहा है कि) सत्य का प्रतिपक्ष; अर्थात्, सत्य से विरुद्ध परिणाम, वह मृषा... सत्य से उल्टा, वह झूठ। वह **(असत्य बोलने के परिणाम) राग से,...** (होते हैं) अथवा कोई अनुकूल प्राप्त करने की चीज़ (के) राग के कारण झूठ बोले, कोई प्रतिकूलता का निषेध करने, अभाव होने के लिए द्वेष से झूठ बोले। कोई मोह से झूठ बोले। यह **राग से, द्वेष से अथवा मोह से...** असत्य बोलने के परिणाम होते हैं।

जो साधु—आसन्नभव्य जीव,... आसन्न (अर्थात्) जिसकी मुक्ति अब नजदीक है। आहाहा! संसार के किनारे आ गया है। आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की दशा तो है, परन्तु उसकी पूर्ण निर्विकल्पता हुई नहीं। सातवीं भूमिका की। इस अपेक्षा से। उसे ऐसे पंच महाव्रत के भाव होते हैं। वह **आसन्नभव्य जीव, उन परिणामों का परित्याग करता है;...** राग, द्वेष और मोह से बोले जाते भाव, होनेवाले भाव को परित्यजता है। **समस्त प्रकार से छोड़ता है,...** मुनि झूठ छोड़ते हैं। परित्यजता है न? **समस्त प्रकार से छोड़ता है, उसे दूसरा व्रत होता है।** यह आत्मा के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र की दशासहित की बात है। ऐसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान न हो और सत्यव्रत

हो, ऐसा नहीं हो सकता। ऐसी व्रत की भूमिका छठवें गुणस्थान में उस प्रकार के भाव होते हैं, उन्हें व्यवहारव्रत कहा जाता है। निश्चयव्रत तो स्वरूप में लिपट जाना; स्वरूप आनन्द है, उसमें लीन होना, उसे निश्चय—सच्चा व्रत कहते हैं। यह व्यवहारव्रत उसे विकल्प होते हैं। पुण्य बन्ध का कारण है और स्वभाव के आश्रय से चैतन्य भगवान अपने अतीन्द्रिय आनन्द के आश्रय से जो दृष्टि, ज्ञान और लीनता हुई, वह साक्षात् मुक्ति का कारण है।

अब, ५७ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं :—

वक्ति व्यक्तं सत्य-मुच्चैर्जनो यः,
स्वर्गस्त्रीणां भूरिभोगैकभाक् स्यात्।
अस्मिन् पूज्यः सर्वदा सर्वसद्भिः,
सत्यासत्यं चान्यदस्ति व्रतं किम्।।७७।।

जो पुरुष, अति स्पष्टरूप से सत्य बोलता है,... अति स्पष्टरूप से अर्थात् किसी को प्रसन्न रखने के लिए कुछ फेरफार नहीं करता। जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा **अति स्पष्टरूप से सत्य बोलता है, वह स्वर्ग की स्त्रियों के अनेक भोगों का एक भागी होता है...** ऐसा बतलाया कि सत्य बोलने का भाव पुण्य शुभभाव है। समझ में आया? सत्यव्रत वह दूसरा व्रत, उसका भाव शुभ है; इसलिए उसे पुण्यबन्ध होकर स्वर्ग की स्त्री आदि की अनुकूलता बाहर की मिलती है। ऐसा स्पष्ट कहा। कोई कहे, भाई! इस व्रत के कारण संवर-निर्जरा होती है, आंशिक होती है, लो। यहाँ तो इनकार करते हैं। देखो न, यह स्पष्ट बात करते हैं।

मुमुक्षु : पाप नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पाप नहीं हुआ। मिथ्यात्व का पाप साथ में इकट्ठा पड़ा है न? वह मिथ्यात्व का भले रहा। मूल पाप। राग का स्वामी होना, देह की क्रिया मैं करता हूँ, व्रत के परिणाम, वह मेरी चीज़ है—ऐसी मान्यता है, वह तो महा मिथ्यात्व है। सात व्यसन से बड़ा पाप है। उस पाप की भूमिका में व्रत-व्रत हो नहीं सकते। बालव्रत और मूर्खता भरपूर तप होता है। जहाँ आत्मा ज्ञातादृष्टा और सहजानन्द की मूर्ति प्रभु है, ऐसा

जहाँ अन्तर में स्वरूप की जागृति हुई नहीं और अकेले अन्ध राग के भाव, पंच महाव्रत के भाव करता है, वह सब संसार खाते है, भटकने के खाते है—ऐसा कहते हैं। यहाँ तो समकिती के शुभभाव भी स्वर्ग की स्त्री आदि की प्राप्ति करे, ऐसा तो यहाँ वर्णन किया है। समकिती का व्रत उसे कहीं संवर दे, निर्जरा दे, (ऐसा नहीं है)। कहो, इसमें स्पष्ट कहा है या नहीं?

जो पुरुष, अति स्पष्टरूप से सत्य बोलता है,... बोलने की क्रिया तो जड़ है। उसके भाव की बात है। बोलने के काल में उसका जो सत्य बोलने का शुभभाव है, **वह स्वर्ग की स्त्रियों के अनेक भोगों का एक भागी होता है...** उस पुण्य के फल में संयोग मिलेंगे, ऐसा कहते हैं। भले संयोग को परन्तु... ऐसा। वह सत्य बोलने का शुभभाव संयोगी भाव है। स्वाभाविक भाव नहीं, इसलिए उस भाव से संयोग मिलेगा। उसमें आत्मा को उससे कुछ लाभ नहीं है। आहाहा! गजब बात! समझ में आया? लो, ऐसी यह व्रत की व्याख्या है। श्वेताम्बर में पाँच महाव्रत निर्जरा के स्थान कहे हैं, ठाणांग में। पंच महाव्रत निर्जरा के स्थान हैं, लो! अब बेचारे करें क्या? यहाँ कहते हैं कि ये पंच महाव्रत के परिणाम संयोगी भाव विकारी है, इसलिए संयोग आएगा। आत्मा की शान्ति और आत्मा के आनन्द को मदद करे, वह यह चीज़ नहीं है, ऐसा कहते हैं। कहो, समझ में आया? भोगों का एक भागी होता है, ऐसा। स्वतन्त्र पुण्य किया है न? आत्मदर्शन ज्ञान-चारित्र की भूमिका में ऐसा शुभभाव है, इसलिए उसे बाहर की स्वर्ग आदि की स्त्रियों की अनुकूलता प्राप्त होगी, ऐसा कहते हैं।

(अर्थात, वह परलोक में अनन्यरूप से देवाङ्गनाओं के बहुत से भोग प्राप्त करता है) और इस लोक में सर्वदा सर्व सत्पुरुषों का... लो। **'सर्वदा सर्वसद्धि'** धर्मात्मा पुरुषों को **पूज्य बनता है। वास्तव में क्या सत्य से अन्य कोई (बढ़कर) व्रत है?** अहिंसा में परम ब्रह्म कहा था यह वीतराग। वह तो व्रत की विकल्प की बात है। **वास्तव में क्या सत्य से अन्य कोई (बढ़कर) व्रत है?** आहाहा!

मुमुक्षु : पुण्यबन्ध

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य है शुभभाव (है), परन्तु समकित की भूमिका में चारित्रवन्त

को ऐसा भाव होता है परन्तु उससे पुण्य बँधता है और बाहर की सामग्री मिलेगी। बस, इतना है।

तीसरे व्रत का स्वरूप। ५८ गाथा।

गामे वा णयरे वाऽरण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुयदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव।।५८।।

कानन, नगर या ग्राम में जो देख पर वस्तु उसे।
छोड़े ग्रहण के भाव, होता तीसरा व्रत है उसे॥ ५८॥

तीसरा व्रत। **यह तीसरे व्रत के स्वरूप का कथन है।** गाँव की व्याख्या। गाँव किसे कहना? **जिसके चौतरफ बाड़ हो, वह ग्राम (गाँव) है;...** यह बाड़ होती है न? थोर की। पहले तो बहुत बाड़ थी। गाँव के चारों ओर बाड़। वहाँ गाँव में गढ़-बढ़ कहाँ थे? बाड़ के ही बड़े गढ़ थोर की बड़ी-बड़ी बाड़। दो-दो माथोड़ा (मनुष्याकार) लम्बी हाथिया थोर की बाड़ और लम्बे थोर, वह गाँव। यह तो पाठ में गाँव है न, उसकी व्याख्या की है।

जो चार द्वारों से सुशोभित हो, वह नगर है; जो मनुष्य के सञ्चाररहित,... जिसमें मनुष्यों का संचार न हो, आवागमन न हो। जिसमें **वनस्पतिसमूह,...** होवे। **बेलों और वृक्षों के झुण्ड आदि से खचाखच भरा हो, वह अरण्य है।** तीन की व्याख्या हुई। पाठ में तीन है न? गाँव, नगर, रण। रण है, उसे यहाँ अरण्य कहा। **ऐसे ग्राम, नगर या अरण्य में अन्य से छोड़ी हुई,...** किसी ने कोई भी वस्तु छोड़ दी हो। गाँव में, नगर में, रण में, ऐसे तीनों में छोड़ दी हो। गाँव में कोई छोड़कर चला गया हो। लो!

रखी हुई,... हो। गाँव में कहीं चीज़ रखी हो और नगर में या वन में कोई चीज़ रखी हो। **भूली हुई...** किसी की चीज़ हो। यह गहना पड़ा है, कोई मनुष्य भूल गया है। **परवस्तु को देखकर उसके स्वीकार परिणाम का...** जो मुनि अन्तर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित है, उसे ऐसे तीसरे व्रत का शुभराग, शुभ उपयोग होता है। उसे कोई पर की चीज़ हो, उसे **उसके स्वीकार परिणाम का जो परित्याग करता है,...** लो, मुख्य यह। '**परित्यजति**' संस्कृत में है। उसमें भी '**परित्यजति**' था न? '**परित्यजति**' ऐसा

आया। परिणाम '**परित्यजति**' संस्कृत में, हों! छोड़ता है। **प्रजहाति** है न, मूल तो? ५७ गाथा में। **प्रजहाति** मूल पाठ में है। उसका अर्थ संस्कृतकार ने '**परित्यजति**' किया है। **प्रजहाति** झूठ बोलने का त्याग है, जिसे सत्य बोलना है, ऐसा। वह असत्य को सर्वथा प्रकार से छोड़ता है। सत्य बोलने का भाव है, वह महाव्रत शुभभाव है परन्तु उसे होता है। इतना यहाँ सिद्ध करते हैं।

यहाँ तीसरे व्रत में वह कोई भी चीज़ गाँव में, नगर में या वन में किसी की रखी हुई, किसी से छूटी हुई, किसी से भूली हुई, ऐसी चीज़ को लेने के परिणाम छोड़ दे। ऐसी चीज़ है, लाओ ले लूँ। किसी को धर्मादा में दूँगा, ऐसे परिणाम मुनि के नहीं होते, ऐसा कहते हैं। पूरी दुनिया पड़ी है। कहो, कलश निकला हुआ कोई दिखायी दे, सोने की मोहरों का, लो। जंगल में पड़ा हो, भूल गया हुआ पड़ा हो। ऐसे दिखायी दे। लाओ न, ले लूँ। गृहस्थों को दूँगा। वे धर्म में खर्च करेंगे। मन्दिर-बन्दिर बनायेंगे। धर्म में खर्च करना है न! परन्तु पहले लेने के परिणाम ही तेरे खोटे हैं वे? उनका क्या हुआ? परन्तु उस स्वीकार परिणाम को छोड़ दे। चाहे तो हीरा और माणिक दिखायी दे ऐसे। आहाहा! साधु किसे कहे? अन्तर में आनन्द की लहर में झूलते होते हैं, उन्हें ऐसा अशुभ टालने का विकल्प होता है। **उसे वास्तव में तीसरा व्रत होता है।**

अब, ५८ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं— उसमें सत्य में स्त्री आदि देवांगनाओं के योग की बात की थी। परलोक में। इसलोक में सत्पुरुषों से पूजनीय।

आकर्षति रत्नानां सञ्चयमुच्चैरचौर्य्यमेतदिह।
स्वर्गस्त्रीसुखमूलं क्रमेण मुक्त्यङ्गनायाश्च।।७८।।

श्लोकार्थ : यह उग्र अचौर्य इस लोक में... अचौर्य शुभ परिणाम **इस लोक में रत्नों के सञ्चय को आकर्षित करता है...** पहला तो इस लोक में लिया। **और (परलोक में) स्वर्ग की स्त्रियों के सुख का कारण है...** देखा? यह संयोग है, ऐसा कहते हैं। तीसरे महाव्रत के परिणाम संयोगी भाव है, इसलिए संयोग देता है। उसमें कुछ धर्म दे और आत्मा में एकाग्र हो, ऐसा नहीं है। इतना तो स्पष्ट किया है।

मुमुक्षु : लिखा है न....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पश्चात् क्रम से। वह **स्वर्ग की स्त्रियों के सुख का कारण है तथा क्रमानुसार...** वह राग फिर छोड़ देगा, क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में राग हेय है, वह तो है। परन्तु अभी है, पश्चात् उपादेय आत्मा में एकाग्र होकर छोड़ देगा। इसलिए **क्रमानुसार मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का कारण है।** यह तो समकिती को... व्रत कारण अर्थात् व्यवहार कहा। यहाँ व्यवहार कहा। सम्यग्दृष्टि को। यहाँ अज्ञानी की बात ही नहीं है।

मुमुक्षु : सम्यग्दर्शन मोक्ष का कारण कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार कहते हैं न? मोक्ष (मार्ग) दो कहे न। व्यवहार से कथन है। मोक्षमार्ग दो कथन में आते हैं या नहीं? ऐसे यह कथन है, निरूपण है।

क्रमानुसार मुक्तिरूपी स्त्री के सुख का कारण है। राग का अभाव हुआ है, दृष्टि, ज्ञान और शान्ति तो है। अब वह राग है, उसे छोड़ेगा। छूटेगा ही। उसे छूट जाएगा। क्रमानुसार (छूट जाएगा), इसलिए उसे छोड़कर मुक्ति को प्राप्त हो करेगा। परन्तु यहाँ तो पहले वह शुभभाव है, इसलिए संयोग देता है, इतनी बात की है। दूसरे व्रत में ऐसा कहा। पहले व्रत में जरा वीतरागी अहिंसा डाली थी। विकल्प है, उसे गौण कर दिया। अहिंसा आत्मा। अकेला वीतरागी स्वभाव ऐसा जिसने प्रगट किया है, वह अहिंसा है। वह तो मुक्ति का कारण है। सत्यव्रत वह स्वर्ग का कारण ऐसा कहा। अचौर्यव्रत स्वर्ग का कारण और क्रम से मुक्ति का कारण है। इस प्रकार से लिया है। समझ में आया? इस कलश में लिया, परन्तु वह समकिती का हो या मिथ्यात्वी का हो, शुभभाव है, वह बन्ध का ही कारण है।

मुमुक्षु : इसमें भी बन्ध आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, यह भी बन्ध है। इसे राग का भावबन्ध ही है परन्तु दृष्टि में हेय है, चारित्र में कमजोरी से आ रहा है। वह कमजोरी उग्र पुरुषार्थ से छोड़ देगा। क्योंकि राग को छोड़ने के मार्ग में पड़ा है। स्वभाव की एकाग्रता की पूर्णता करने के मार्ग में पड़ा है। आहाहा! ऐसे समकिती जीव को ऐसा महाव्रत का भाव मुनि को होता

है, वह स्वर्ग के संयोग देता है। पश्चात् क्रम से वह राग छोड़ेगा, तब उसे मुक्ति देगा। राग छोड़ेगा, पश्चात्, हों! इसलिए यह टीका जरा रतनचन्दजी जैसों को पसन्द नहीं आती न! यह स्पष्ट कर डालते हैं। व्रत के परिणाम में यह मिलता है, यहाँ तो ऐसा स्पष्ट कहते हैं।

गाथा ५९। चौथे व्रत की व्याख्या।

दट्ठूण इत्थिरूवं वांछाभावं णियत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं।।५९।।

जो देख रमणी रूप, वांछाभाव उसमें छोड़ता।
परिणाम मैथुन-संज्ञ-वर्जित, व्रत चतुर्थ यही कहा॥ ५९॥

टीका : यह, चौथे व्रत के स्वरूप का कथन है। सुन्दर कामिनियों के मनोहर अङ्ग के निरीक्षण द्वारा... शरीर की कान्ति आदि, कोमलता आदि, सुकोमलता आदि **सुन्दर कामिनियों के मनोहर अङ्ग...** आहाहा! यह शरीर मिट्टी का पुतला, माँस का पुतला है। माँस और हड्डियों की सुन्दरता। **निरीक्षण द्वारा उत्पन्न होनेवाली कुतूहलता के चित्तवांछा के...** भाषा देखी? आहाहा! ऐसा हो, वाह! कौतुहलता हो। **कुतूहलता के चित्तवांछा के परित्याग से...** यहाँ यह शब्द आया। उसमें भी परित्याग था, यहाँ भी परित्याग है। '**विवर्जित**' है न? '**विवर्जित**' विशेष वर्जित। पाठ में।

महाव्रतधारी, आत्मज्ञानी सन्त को ऐसा भाव स्त्री को देखकर कौतूहल के परिणाम नहीं होते, ऐसा कहते हैं। कोई बाह्य चीज़ विस्मयकारी है ही नहीं। आहाहा! विस्मयकारी तो चैतन्य आनन्दमूर्ति है। उसका जिसे दृष्टि में आनन्द तैरता है। धर्मात्मा को तो दृष्टि में आनन्द का स्वभाव तैरता है। उसमें इन स्त्रियों के मनोहर शरीर के अंगों को देखकर **कुतूहलता के चित्तवांछा के परित्याग से...** लो। **अथवा पुरुषवेदोदय नाम का जो नोकषाय का तीव्र उदय, उसके कारण उत्पन्न होनेवाली मैथुनसंज्ञा के परित्यागस्वरूप...** देखो! यहाँ आया, दोनों में परित्याग। **शुभपरिणाम से...** लो, यह शुभपरिणाम है। **ब्रह्मचर्यव्रत होता है।** यह ब्रह्मचर्य का शुभभाव होता है। पाठ है।

समकिती और चारित्रवन्त आत्मा के आनन्द की रमणतावाला मुनि है, उसे ऐसा

चौथा ब्रह्मचर्यव्रत शुभपरिणाम है, पुण्य है, आस्रव है। ऐसा किसलिए लिखना चाहिए? यह तो कहा है, हस्तावलम्ब देखकर निमित्तरूप से उपदेश (किया है)। वह सब निमित्त है। आया है परन्तु उसका फल संसार है। एक तो देखने के कौतुहल के परिणाम का त्याग और तीव्र कर्म के निमित्त के उदय में जो विषय के परिणाम होते हैं, उनका त्याग। ऐसा। ऐसे **शुभपरिणाम से ब्रह्मचर्यव्रत होता है।** आहाहा! चारित्रवन्त को। अज्ञानी को वह नहीं होता। यह स्पष्टीकरण करेंगे।

अब, ५९ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं—

भवति तनु-विभूतिः कामिनीनां विभूतिं,
स्मरसि मनसि कामिन्स्त्वं तदा मद्वचः किम्।
सहज-परम-तत्त्वं स्व-स्वरूपं विहाय,
व्रजसि विपुल-मोहं हेतुना केन चित्रम्।।७९।।

श्लोकार्थ :.. अरे! **कामिनियों की जो शरीरविभूति,...** लो, यह शरीर विभूति। धूल की राख। यह विभूति नहीं कहते, भूति? भस्म। इस शरीर के भस्म की विभूति। आहाहा। बड़ी आँखें हों, काले डेला हों, कान कुण्डल जैसे हों, मुख चन्द्रमा जैसा हो, नाक गरुड़ जैसी हो, होंठ लाल हो, गला लम्बा हो और हाथ-पैर... यह सब मिट्टी के पुतले के आकार हैं।

मुमुक्षु : सब मापसर हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मापसर है, इसलिए सुन्दर कहते हैं न। इस कामिनी शरीर की विभूति मिट्टी-जड़ की विभूति है। आहाहा!

कामिनियों की जो शरीरविभूति, उस विभूति का, हे कामी पुरुष! यदि तू मन में स्मरण करता है... मन में, हों! वाह! क्या है? आहाहा! एक क्षण में कुछ रोग हो... ऐसा मुर्दा... उसे देखते ग्लानि आवे। आहा! ऐसे शरीर को देखकर **हे कामी पुरुष! यदि तू मन में स्मरण करता है...** शरीर की सुन्दरता को मन में स्मरण करेगा। ख्याल में आकर ऐसा कहते हैं.. आहाहा! **तो मेरे वचन से तुझे क्या लाभ होगा?** मुनि

कहते हैं। हम तो आत्मा के ब्रह्मचर्य के... आत्मा के ब्रह्म आनन्द की चर्या की रमणता में ऐसा व्यवहार का शुभभाव का ब्रह्मचर्य भाव हो, उसे अशुभभाव नहीं होता। ऐसा जो तुझे उपदेश किया। यदि तू ऐसा निरीक्षण करके ऐसे भाव करेगा तो मेरे वचन से तुझे कुछ लाभ नहीं होगा। सुनकर उसने बुरे भाव छोड़े नहीं तो तूने मेरा सुना नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

अहो! आश्चर्य होता है कि सहज परमतत्त्व को,... लो, पाठ है न? **सहज-परम-तत्त्वं स्व-स्वरूपं** स्व-स्वरूपं। अरे! सहज भगवान आनन्द परमतत्त्व, अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड, प्रभु! अतीन्द्रिय आनन्द की चूसनी आत्मा। आहाहा! वह तो अनादि से स्वाभाविक तत्त्व है। सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा। आहाहा! सत् शाश्वत् स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द, ऐसा जो परमतत्त्व। स्वस्वरूप की व्याख्या की है। स्व अर्थात् निजस्वरूप, ऐसा। पाठ में यह है। **स्व-स्वरूपं... सहज-परम-तत्त्वं स्व-स्वरूपं... सहज परमतत्त्व।** परमभाव ऐसा स्वस्वरूप आनन्दमूर्ति प्रभु, आकुलतारहित चीज़, निराकुल स्व-निजस्वरूप, जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द लबालब भरा है। अरे! ऐसे आनन्दतत्त्व को भूलकर, अपने निजानन्द तत्त्व को भूलकर **छोड़कर तू किस कारण विपुल मोह को प्राप्त हो रहा है!** आहाहा! क्या है तुझे यह?

भगवान परमतत्त्व निजस्वरूप आनन्द, उस अतीन्द्रिय आनन्द के एक सेकेण्ड के स्वाद के समक्ष इन्द्र का इन्द्रासन जहाँ सड़ा हुआ तिनका दिखायी दे, बिल्ली सड़ी हो, कुत्ता सड़ गया हो, ऐसे समकिती को भोग आत्मा के आनन्द के समक्ष... आहाहा! ऐसे दिखायी देते हैं। उसे तू आनन्द के भाव को छोड़कर ऐसे विपुल मोह को क्यों प्राप्त हो रहा है? आहाहा! चैतन्यस्वरूप आनन्द है, वहाँ क्यों आकर्षित नहीं होता? ऐसा कहते हैं। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, वहाँ क्यों आकर्षित नहीं होता? और यहाँ कहाँ आकर्षित होने लगा? ऐसा कहते हैं।

परम सहज तत्त्व निजस्वरूप का आकर्षण होना चाहिए। उसमें एकाकार, विस्मयता उसमें होनी चाहिए कि अहो! ऐसा तत्त्व! ऐसा तत्त्व वह मैं स्वयं हूँ। ऐसे तत्त्व के परमानन्द को भूलकर, छोड़कर... लो! **विहाय** है न? **सहज-परम-तत्त्वं स्व-स्वरूपं विहाय,** अरे! भगवान आनन्दमूर्ति भरा बर्तन अन्दर आनन्द के पकवान पड़े हैं। ऐसे

अतीन्द्रिय आनन्द के पकवान को छोड़कर, ऐसे विष्टा जैसे भोग को तू चाहता है। किस कारण से तुझे ऐसा होता है? ऐसा कहते हैं। विपुल मोह को प्राप्त होता है! तुझे पर में सावधानी क्यों हो जाती है?

भगवान आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द का भरा बर्तन है। यह तो सब जूठन है। आहाहा! स्वप्न समान। आता है न? 'सर्व जगत है जूठन सम अथवा स्वप्न समान, यह कहिये ज्ञानी दशा बाकी वाचा ज्ञान।' समझ में आया? जिसके ज्ञान में वस्तु है न, परम स्व-स्वरूप, निजस्वरूप? तो उस निजस्वरूप में, स्वस्वरूप में तो अकेला अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय आनन्द पूर्ण-पूर्ण लबालब भरा है। अरे! उस पर लक्ष्य न करके, उसे छोड़कर। **विहाय** ऐसे **विपुल मोह को क्यों प्राप्त हो रहा है!** आहाहा!

अस्ति है, उसकी नास्ति करता है और परम में सुख नहीं है, उसे तू अस्ति सिद्ध करता है। आहाहा! परमानन्दस्वरूप आत्मा अस्ति है। आनन्द है, ऐसे विद्यमान आनन्द को छोड़कर, ऐसा कहते हैं और पर में कुछ धूल भी नहीं है। इस कामिनी के रूप और मोह में सावधान होता है। तुझे यह क्या है? ऐसा कहते हैं। क्या तुझे भूत लगा है यह? मिथ्यात्व का भूत लगा है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

अहो! आश्चर्य होता है... यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आश्चर्य होता है। अरे! निजानन्द के स्वरूप के घर को भूलकर; जहाँ आनन्द है, उसे छोड़कर; जहाँ कहीं धूल में भी जरा भी आनन्द नहीं है। आहाहा! अरे! ऐसे मोह को, परसन्मुख की सावधानी, ऐसा कहते हैं। स्वसन्मुख की सावधानी को छोड़कर, ऐसा कहते हैं। परसन्मुख की सावधानी किसलिए करता है? प्रभु! क्या है तुझे? आहाहा! **विपुल मोह को प्राप्त हो रहा है!** भ्रमणा को प्राप्त हो रहा है, ऐसा कहते हैं। जहाँ (सुख) नहीं है, वहाँ तुझे सुखबुद्धि उत्पन्न होती है। जहाँ सुख है, उसे तो छोड़ देता है। सुख की अस्ति / सत्तास्वभाव ऐसा भगवान है, उसे तो तू छोड़ देता है। है, उसे छोड़ देता है। आहाहा! ऐसा कहते हैं। और नहीं है, वहाँ तू मोह को प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं। यह विपुल मोह। उसमें सावधान हुआ। यहाँ सावधानपना छूट जाता है। उपदेश तो ऐसा ही दिया जाता है न? समझ में आया? मुनि को ऐसा होता नहीं।

देखो न! कैसी भाषा प्रयोग की है? **कामिनियों की जो शरीरविभूति,...** उसके

अंग-उपांग सब सुन्दर, सुकोमल, कोमल। परन्तु वे तो सब माँस और हड्डियाँ हैं। ऊपर की जरा चमड़ी उखाड़कर देखे तो सब दुर्गन्ध मारे, ऐसा होता है। अरे! हड्डियों के पुतले में कोमलता की विभूति में तुझे यह क्या हुआ? उसे क्यों याद करता है? यहाँ भगवान महाप्रभु है, उसे क्यों याद नहीं करता? अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ प्रभु है, उसे क्यों याद नहीं करता? और उसमें नहीं है, उसे क्यों याद करता है? ऐसा कहते हैं। गजब कहते हैं यह। समझ में आया?

समकित को पर में सुखबुद्धि होती ही नहीं परन्तु ये चारित्रवन्त हैं। स्थिरता में भी इन्हें अस्थिरता का भाग नहीं है। एक व्रत का शुभभाव है, व्रत का शुभभाव है। यह तो कहा न अन्दर? शुभपरिणाम। अन्दर टीका में कहा है। ब्रह्मचर्यव्रत, वह शुभपरिणाम है। समझ में आया? ऐसी स्पष्ट बात है। लो, मुनि का चौथा व्रत / ब्रह्मचर्यव्रत भी शुभभाव है, राग है, आस्रव है, बन्ध का कारण है, परसन्मुख की दशा है। आहाहा! लो, ५९ गाथा हुई।

पाँचवें व्रत का स्वरूप। ६०वीं गाथा। इसमें नीचे विस्तार बहुत आयेगा।

सव्वेसिं गंथाणं चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं।
पंचम-वद-मिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स।।६०।।

निरपेक्ष-भाव संयुक्त सब ही ग्रन्थ के परित्याग का।
परिणाम है व्रत पंचवां चारित्रभर वहनार का॥६०॥

अन्वयार्थ—निरपेक्ष भावनापूर्वक ; अर्थात्, जिस भावना में पर की अपेक्षा नहीं है – ऐसी शुद्ध निरालम्बन भावनासहित,... परिग्रह है न? अर्थात् पकड़ यहाँ है, कहते हैं। यहाँ पकड़ इस ओर नहीं है, ऐसा निकाला। **निरपेक्ष भावनापूर्वक ; अर्थात्, जिस भावना में पर की अपेक्षा नहीं है – ऐसी शुद्ध निरालम्बन भावनासहित,...** इसके नीचे अब। नीचे नोट। **मुनि को मुनित्वोचित निरपेक्ष शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ...** मुनि उसे कहते हैं कि जिसे वीतराग शुद्धपरिणति शुद्धदशा वर्तती है। अकेले शुभव्रत के परिणाम नहीं, ऐसा कहते हैं। मुनि को-धर्मात्मा सच्चे सन्त को उनके योग्य, **निरपेक्ष शुद्धपरिणति....** छठवें गुणस्थान के योग्य निरपेक्ष शुद्धपरिणति अर्थात्

कि जिसे राग की अपेक्षा भी नहीं। ये व्रत के परिणाम हैं तो शुद्धपरिणति है, ऐसा नहीं है। समझ में आया?

निरपेक्ष शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ... निरपेक्ष, समझ में आया? उसे यह परिग्रह के त्याग का विकल्प जो अपरिग्रह है, ऐसी अपेक्षा भी जिसे-शुद्धपरिणति को नहीं है। वह भाव भिन्न रह गया है। आत्मा अखण्ड आनन्द का जिसे परिग्रह अर्थात् पकड़ अनुभव में हुई है। उसे पर की कोई अपेक्षा नहीं है। लो! ऐसे जीव को, शुद्धपरिणति निरपेक्ष वर्तती है उसे, उसके **साथ वर्तता हुआ जो (हठरहित) सर्व परिग्रहत्याग-सम्बन्धी...** सर्व परिग्रहत्याग। वहाँ तो वस्त्र आदि कुछ है नहीं। आहाहा! बाहर की बात रह गयी है। परिग्रह-वस्त्ररहित। परन्तु वह मूल है वह? मूल बिना बाहर में (चारित्र) कहाँ से आया?

निरपेक्ष भावनापूर्वक... शब्द है न? देखो न, पाठ में ही है न? **निरपेक्ष भावनापूर्वक...** इसका अर्थ हुआ कि पहले महाव्रत में भी निरपेक्ष अहिंसाभाव परिणति वर्तती है। उसे अहिंसा का जो विकल्प है, इसलिए यह वर्तती है - ऐसा नहीं है। क्या कहा? समझ में आया? यहाँ लिखा है न, वह पाँचों में ले लेना। मुनि, सच्चे सन्त को आत्मा में अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द, उसके अवलम्बन से प्रगट हुई निरपेक्ष वीतरागी परिणति / अहिंसा (वर्तती है)। उस अहिंसा को अहिंसाव्रत का विकल्प है, उसकी भी उसे अपेक्षा नहीं है। ऐसी अहिंसा वीतरागी परिणति के साथ में रहा हुआ विकल्प अहिंसा व्यवहार, हठरहित का भाव उसे होता है। कहो, समझ में आया?

इसी प्रकार सत्यव्रत में भी अपना परमसत्य स्वरूप की अपेक्षा होकर जो निर्मल परिणति हुई, उसे सत्यव्रत के विकल्प की अपेक्षा से हुई है, ऐसा नहीं है। समझ में आया? सत्यव्रत का विकल्प है, इसलिए यहाँ सत्य परिणति निरपेक्ष वर्तती है, ऐसा नहीं है। निरपेक्ष है। उसकी इसे अपेक्षा नहीं है। आहाहा! समझ में आया या नहीं इसमें? इसमें समझ में आता है या नहीं? ऐई! लड़कों! हर्षद! समझ में आता है न? थोड़ा-थोड़ा? ठीक, बहुत अच्छा। हाँ किया न! कहो, समझ में आया? आहाहा! क्यों प्रेमचन्दजी! यह तो समझ में आये ऐसा है। पूरा समझ में आता है? ये तो परिचयवाले हैं न? आहाहा!

क्या कहना है? यहाँ निरपेक्ष में से यह पाँचों में ही निकालना है। **निरपेक्ष भावनापूर्वक...** यह विकल्प नहीं, संकल्प नहीं। निरपेक्ष भावना अर्थात् आत्मा के शुद्ध ध्रुव स्वभाव के आश्रय से होकर जो वीतरागी परिणति अहिंसक हुई है, वह निरपेक्ष भावना है। ऐसी निरपेक्ष भावनापूर्वक व्यवहार अहिंसाव्रत का जो विकल्प है, उसे पुण्यबन्ध का कारण कहकर, उसे संयोगी भाव है, ऐसा कहते हैं। वह निरपेक्ष भावना, वह स्वभाविक भाव है। उसके साथ अहिंसाव्रत के विकल्प की उसे अपेक्षा नहीं है। तथापि ऐसे निरपेक्ष भावना के साथ... लो, यह तो भाई! वह आया, सहचर... सहचर... सहचर... सब मेल है न! देखो न! ओहोहो.. गजब बात है। सन्तों की कथनी चारों ओर से (मेल/सुमेलवाली होती है)।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये व्यवहार की अपेक्षा से प्रगट हुए हैं, ऐसा नहीं है। भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप.. आहाहा! सचेत वस्तु, सचेत वस्तु, जागृत वस्तु, आनन्द वस्तु। ऐसी चीज़ के अवलम्बन से प्रगट हुई शुद्धपरिणति को अहिंसाव्रत के विकल्प की अपेक्षा नहीं है, तथापि उसके साथ रहा हुआ व्यवहार अहिंसा का विकल्प, उसे पहला महाव्रत का परिणाम कहा जाता है।

इसी प्रकार दूसरा, सत्यस्वरूप भगवान आत्मा, पूर्ण सत्य आनन्द का आश्रय लेकर, जो परमसत्य की शुद्ध वीतराग परिणति हुई, उसे सत्यव्रत के विकल्प के महाव्रत की अपेक्षा नहीं है। ऐसी निरपेक्ष परिणति के साथ सहचररूप से दूसरे महाव्रत के परिणाम होते हैं। समझ में आया? निरपेक्ष चारित्र वर्तता है, उसके साथ में यह सत्यव्रत का शुभभाव है, उसे साथ में-सहचर देखकर व्यवहारचारित्र की उपमा उसे कही जाती है। इसी प्रकार तीसरे व्रत में-अचौर्य। कहीं बाहर से ग्रहण नहीं करना है। यह तो अन्दर में गृहीत भगवान पूर्णानन्द प्रभु सहजस्वरूप है, उसमें अन्दर जो शुद्ध वीतरागी परिणति (होती है), वह अचौर्य भाव उसका निश्चय है। कहीं से लिया नहीं है। अपने में से आयी हुई दशा है। ऐसी वीतराग परिणति, वह अचौर्यव्रत के राग की अपेक्षा से नहीं है। आहाहा! वह व्यवहार है, तो यह निश्चय है-ऐसा नहीं है। ऐसा कहते हैं। जैसे अजीव है तो जीव है, ऐसा है?

मुमुक्षु : ऐसा कहाँ से होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : अजीव है तो जीव है, ऐसी दो अपेक्षा से सिद्ध करना हो तो क्या करे? भाई! अजीव है तो जीव है, जीव है तो अजीव है? यह तो अजीवपना और जीवपना भिन्न स्वतन्त्र सिद्ध करना हो तो ऐसा, परन्तु वह अजीव है, इसलिए जीव है और जीव है, इसलिए अजीव है, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार व्यवहार है तो निश्चय है, ऐसा है? बिल्कुल नहीं। आहाहा! कहो, कान्तिभाई! आहाहा! दिगम्बर सन्तों का कथन तो अमृत का प्रवाह बहाया है उसमें। आहाहा! किसी का पक्ष नहीं, यह सत्य है। समझ में आया? यह अचौर्य का (कहा)।

इसी प्रकार जिसे अन्तर्ब्रह्मानन्द प्रगट हुआ है। ब्रह्म अर्थात् आत्मा आनन्दस्वरूप का चर्य, अन्दर ब्रह्मानन्द की शान्ति प्रगट हुई, निश्चय ब्रह्मचर्य (प्रगट हुआ), उसे व्यवहार ब्रह्मचर्य के राग की अपेक्षा नहीं है। समझ में आया? ब्रह्मचर्य ब्रह्मस्वरूप भगवान, वह आनन्दमूर्ति प्रभु, उसके आश्रय से हुई जो आनन्द, ब्रह्मचर्य पर्याय में वीतरागी परिणति निश्चय ब्रह्मचर्य प्रगट हुआ है, उसे व्यवहारव्रत के ब्रह्मचर्य के विकल्प की अपेक्षा नहीं है। निरपेक्ष परिणति है। उसके साथ में सहचररूप से साथ में... ऐसा है न? साथ में शब्द पड़ा है या नहीं? उसका अर्थ क्या हुआ? साथ में है, बस! पहले यह और बाद में यह, ऐसा इसमें कहाँ है? समझ में आया? ऐसा ब्रह्म अर्थात् भगवान परम ब्रह्मस्वरूप प्रभु आत्मा के आनन्द की दशा, अतीन्द्रिय ब्रह्मचर्य पर्याय में प्रगट हुआ है, उसे चौथे व्रत के विकल्प के ब्रह्मचर्य की अपेक्षा नहीं है। ऐसे ब्रह्मचर्य के साथ रहा हुआ शुभभाव व्यवहार ब्रह्मचर्य होता है। आहाहा!

मुमुक्षु : चार को लागू पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : चार, और यह पाँचवाँ चलता है। कहो, समझ में आया? गजब काम किया है। व्यवहार का भाव चलता है, उसमें यह डाला है। देखो! वस्तु की स्थिति इस प्रकार से है, उसे सिद्ध करने की कला इस प्रकार की है। आहाहा! क्या प्रभु तुझमें आनन्द है, उसे प्रगट करने के लिए किसी की अपेक्षा है?

अब कहते हैं कि निश्चय अपरिग्रह व्रत। जिसे रागरहित अरागी वीतरागी परिणति प्रगट हुई है, उसे परिग्रह के त्याग का जो शुभभाव का विकल्प, उसकी अपेक्षा

इसे नहीं है। इस प्रकार निरपेक्ष भावनापूर्वक। पूर्वक में यह साथ आ गया है। यहाँ कहा न? निरपेक्ष भावना... अर्थात् पूर्व में कहा हुआ, यह ऐसा कुछ नहीं। यह तो ऐसा पूर्वक साथ में, ऐसी परिणति के साथ में अर्थात् उस व्यवहारपूर्वक निश्चय को नहीं रहा, परन्तु निश्चयपूर्वक अर्थात् निश्चय है, वहाँ आगे साथ में रहा हुआ विकल्प है। आहाहा! गजब बात, भाई! वस्तु की स्थिति को प्रसिद्ध करने की पद्धति। यह तो वस्तु का स्वरूप जानना है।

'सर्वेषां' सर्व परिग्रहों का त्याग;... लो, अर्थात्? अन्वयार्थ चलता है। **जिस भावना में पर की अपेक्षा...** भावना अर्थात् एकाग्रता। शुद्ध चैतन्य भगवान आत्मा में एकाग्रता। लो, यहाँ भावना अर्थात् एकाग्रता। वह भावना अर्थात् कल्पना। सामायिक में आता है न? शुद्ध उपयोग की भावना। प्रवचनसार में। वहाँ ऐसा अर्थ किया है। अरे! भगवान! क्या करते हैं, भाई! आहाहा! उसे यथास्थान में जहाँ है, वहाँ रहने दे न? **ऐसी शुद्ध निरालम्बन भावनासहित, सर्व परिग्रहों का त्याग;...** देखा? चौथे में शुभ परिणाम था न? यहाँ फिर डाला।

सर्व परिग्रहों का त्याग; अर्थात्, सर्व परिग्रहत्याग सम्बन्धी शुभभाव, उस चारित्रभर वहन करनेवाले को... चारित्र का भार; चारित्रसमूह; चारित्र की अतिशयता। वह स्वरूप का चारित्र अन्दर है, उसे ऐसा भाव होता है। **चारित्रभर वहन करनेवाले को पाँचवाँ व्रत,..** कहा है। शुभभाव होता है। आहाहा!

विशेष आयेगा..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल ७, बुधवार, दिनांक - ३०-६-१९७१
गाथा-६०, प्रवचन-५५

नियमसार शास्त्र। मोक्ष का मार्ग, उसका अधिकार। यह व्यवहारचारित्र का अधिकार चलता है। ६०वीं गाथा। पाँचवाँ महाव्रत किसे होता है और क्यों होता है? यह बात चलती है। अन्वयार्थ लिया है न थोड़ा?

निरपेक्ष भावनापूर्वक; अर्थात्, जिस भावना में पर की अपेक्षा नहीं है – ऐसी शुद्ध निरालम्बन भावनासहित,... अर्थात् क्या कहा? भावनासहित। आत्मा शुद्ध आनन्द निर्विकल्प पूर्णानन्दस्वरूप आत्मा का है, उसका अवलम्बन लेकर अन्दर जो एकाग्रता प्रगट हुई है, उसे यहाँ निरालम्बन भावना कहने में आता है। अर्थात् आत्मा शुद्ध चैतन्यघन वस्तु है। आनन्द का नाथ है। इसका आश्रय लेकर वीतरागी शुद्ध परिणति / पर्याय प्रगट हो, उसे इस पंच महाव्रत का विकल्प है, इसकी भी उसे अपेक्षा नहीं है। ऐसी शुद्धपरिणति जहाँ होती है। समझ में आया? निरपेक्ष। कल बहुत बात हुई थी।

आत्मा वस्तु है, प्रभु! सर्वज्ञ शक्तिवाला और अतीन्द्रिय आनन्दवाला वह तत्त्व है, क्योंकि सर्वज्ञ और अतीन्द्रिय आनन्द जो परमेश्वर को प्रगट हुआ, वह कहाँ से आया? वह अन्तर में है। वस्तु के अन्तरस्वरूप में शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान और शुद्ध अतीन्द्रिय आनन्द, उसकी एकाग्रता। उसमें जिसने स्व-सन्मुख होकर ध्रुवस्वभाव भगवान आत्मा की एकाग्रता में जो भावना हुई, उसे यहाँ निरपेक्ष भावना कहा जाता है।

ऐसी अन्तर की निरलम्बन वीतरागी अवस्था की भूमिका में **सर्व परिग्रहों का त्याग;...** एक वस्त्र का धागा भी जिसे न हो, तो दूसरा परिग्रह तो उसे होगा नहीं। ऐसा **सर्व परिग्रहों का त्याग; अर्थात्, सर्व परिग्रहत्याग सम्बन्धी शुभभाव,...** शुभभाव विकल्प है कि सर्व परिग्रह छोड़ूँ। ऐसे सर्व परिग्रह के त्यागस्वरूप **उस चारित्रभर वहन करनेवाले को...** निश्चय और व्यवहारचारित्र है। नीचे अर्थ है। **चारित्र का भार; चारित्रसमूह; चारित्र की अतिशयता।** अर्थात्? स्वरूप आनन्द की रमणता का चारित्र, वह निश्चयचारित्र और व्यवहार में पंच महाव्रत का विकल्प, उसके सहचर-साथ में होता है; इसलिए उसे व्यवहारचारित्र कहने में आता है। ऐसा निश्चय और व्यवहार, चारित्र की अतिशयता

को वहन करनेवाला, चारित्र का भार अर्थात् शुद्धता, वीतरागी शुद्धता और पंच महाव्रत के विकल्प का सहकारीपना, दोनों को चारित्रभार कहने में आता है।

मुमुक्षु : दोनों की सुन्दरता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से है न दोनों की सुन्दरता। निश्चय से तो आत्मा के अवलम्बन से वीतरागी आनन्दसहित जो चारित्र अर्थात् आनन्द में रमना, ऐसी दशा प्रगट हुई, वह निश्चयचारित्र है। वीतरागमार्ग में यह है। इसके साथ विकल्प होता है। ये नग्नमुनि होते हैं, सच्चे सन्त होते हैं, वे तो बाह्य में नग्न होते हैं। अन्तर में उन्हें पंच महाव्रत का शुभराग, राग। है आस्रव परन्तु ऐसा भाव अन्तर शुद्धता छठवें गुणस्थान के योग्य मुनि को आनन्द की दशा प्रगट हुई है। अतीन्द्रिय आनन्द—प्रचुर स्वसंवेदन आनन्द की दशा, वह सच्चा चारित्र है और यह पंच महाव्रत का विकल्प, वह व्यवहारचारित्र / आरोपित चारित्र है। वह वास्तविक चारित्र नहीं है, वह तो अचारित्र है। महाव्रत के परिणाम, विकल्प भी अचारित्र है परन्तु आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा, तीर्थंकर सर्वज्ञ ने कहा, ऐसा भगवान आत्मा अन्तर के आनन्द के अवलम्बन से स्थिरता, शान्ति, आनन्द की जो दशा प्रगट हुई, वह निश्चयचारित्र है। उसके साथ यह परिग्रह का त्याग, यह विकल्प है कि वस्त्र छूटा है, नग्न हूँ—ऐसा जो विकल्पदशा, उसे व्यवहारचारित्र कहते हैं। सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म। आत्मा का मार्ग कहो या वीतराग का कहो। वीतराग का मार्ग कोई अलग नहीं है।

भगवान आत्मा अत्यन्त वीतरागस्वरूप की मूर्ति आत्मा है। आहाहा! उसमें पंच महाव्रत के विकल्प और राग की गन्ध अन्दर में नहीं, ऐसी वह चीज़ है। ऐसी चीज़ का अवलम्बन लेकर, जिसने चारित्र अन्तर में (प्रगट हुआ है)। पहले तो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, वह भी स्वरूप ध्रुवचैतन्य आनन्द का आश्रय करके सम्यग्दर्शन होता है। उस सम्यग्दर्शन में शुद्धपरिणति कम है। फिर स्वरूप की विशेष अन्तर रमणता प्रगट होने पर शुद्ध की परिणति उग्र है, उसे सच्चा चारित्र कहते हैं। ऐसे चारित्र की भूमिका में जब तक सर्वज्ञ और वीतराग न हो, उसे पंच महाव्रत का विकल्प जो राग है, आस्रव है, पुण्यास्रव है, ऐसा भाव वहाँ आता है। समझ में आया? आहाहा! अभी तो चारित्र किसे कहना, सम्यग्दर्शन किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती और उसे धर्म हो जाए, (ऐसा

नहीं हो सकता)। आहाहा! क्या हो? अनन्त काल का अनजाना पन्थ, अन्तर के अनुभव और भान बिना वह प्रगट हो, ऐसा नहीं है।

उसे **पाँचवाँ व्रत कहा है।**

टीका : यहाँ (इस गाथा में) पाँचवें व्रत का स्वरूप कहा जाता है। देखो! पहली ही बात। **सकल परिग्रह के परित्यागस्वरूप...** भगवान आत्मा प्रभु। अन्दर कैसा है? ध्रुवस्वरूप नित्यानन्द आत्मा। **सकल परिग्रह के परित्यागस्वरूप...** परि उपसर्ग है न? समस्त प्रकार से त्यागस्वरूप। जिनके अन्तरस्वरूप में कोई विकल्प नहीं और अन्तर स्वरूप में एक समय की पर्याय की भी पकड़ नहीं। समझ में आया? एक समय की पर्याय में पकड़ हो तो वह परिग्रहबुद्धि है। यहाँ तो भगवान का मार्ग है, बापू! सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन्होंने केवलज्ञान में तीन काल-तीन लोक देखा। भगवान की वाणी इच्छा बिना निकली। उन्हें इच्छा नहीं होती। उस वाणी को आगम कहने में आता है। उस आगम में ऐसा स्वरूप है। आहाहा!

सकल परिग्रह के परित्यागस्वरूप निज कारणपरमात्मा के स्वरूप में... देखो! भाषा भी ऐसी है। **निज कारणपरमात्मा के स्वरूप में...** अपना। अनादि-अनन्त नित्य प्रभु, अपना निज कारणपरमात्मा, जिसमें से कार्य-धर्मदशा जिसके आश्रय से प्रगट हो, ऐसे निज कारणपरमात्मा का स्वरूप अपना... आहाहा! उसमें **अवस्थित...** मुनि उसमें अवस्थित हैं। आहाह! निज ध्रुव भगवान आत्मा नित्यानन्द अनादि-अनन्त अविनाशी जिसका भाव-स्वभाव, एक समय की पर्याय से रहित। पुण्य-पाप के विकल्प से, राग से तो रहित, परन्तु एक समय की प्रगट परिणमन की वर्तमान व्यक्त पर्याय / दशा... आहाहा! उससे भी रहित निज कारणपरमात्मा का स्वरूप, अपना स्वरूप, ध्रुवस्वरूप। उसमें अवस्थित। उसमें निश्चय से आनन्द में स्थिर हो गये हैं। आहाहा! ऐसे **परम संयमियों को...** उन्हें परम संयमी कहने में आता है। आहाहा!

अरे! कहाँ लोग मान बैठे? कहाँ वस्तु का स्वरूप है! सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ आगम द्वारा ऐसा फरमाते हैं। भगवान! तेरा अन्तर स्वरूप तो जिसमें अनन्त-अनन्त सिद्धों की पर्याय प्रगट हो, सिद्ध की पर्याय एक, ऐसी अनन्त। ऐसी अनन्त पर्यायों का

गुणरूप, ध्रुवरूप भगवान आत्मा, जिसे दृष्टि में लेने से, पूर्णानन्द के स्वभाव का आश्रय लेने से जिसकी दशा में सम्यग्दर्शन और अतीन्द्रिय आनन्द का सम्यग्दर्शन होने पर स्वाद आता है, वह परम निज कारणपरमात्मा के अवलम्बन से होता है। किसी शरीर, वाणी, मन या परमेश्वर तीन लोक के नाथ हों, उनके अवलम्बन से भी वह दशा प्रगट नहीं होती। आहाहा!

सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव हों, उनका लक्ष्य करने जाए, तब तो राग उत्पन्न होता है, क्योंकि वे तो परद्रव्य हैं। परद्रव्य का आश्रय करने जाए तो शुभराग होता है; उसके आश्रय से धर्म की—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की पर्याय उनके आश्रय से उत्पन्न नहीं होती तथा अपना जो दया, दान, व्रतादि का विकल्प है, उसके आश्रय से भी यह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं होते। तथा एक समय की प्रगट अवस्था ज्ञान के उघाड़ की विकासरूप है, उसके आश्रय से भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं होता। नियमसार है न? नियमसार, सच्चा मोक्ष का मार्ग।

यह तो निज कारणपरमात्मा, जिसकी खान में अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता—ऐसे स्वभाव का भण्डार प्रभु आत्मा, निज प्रभु... आहाहा! उसमें जो अवस्थित है, ऐसे परम संयमियों को... उन्हें परम संयमी और साधु कहने में आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसे साधु होते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वीतरागमार्ग में ऐसे साधु होते हैं। अज्ञानमार्ग में सब चाहे जिस प्रकार माने। परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक देखे - जाने हैं, ऐसी जिन्हें सर्वज्ञशक्ति व्यक्त प्रगट हो गयी और साथ में अनन्त आनन्द, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य ऐसा परमात्मा को प्रगट हुआ। वे सब दशाएँ कहाँ से आयीं? क्या राग में से आयी? शरीर में से आयी? पर्याय एक समय की वर्तमान पर्याय में से आयी? कहाँ से आती है? भाई! अन्तर वस्तु भगवान आत्मा नित्यानन्द का नाथ आत्मा स्वयं, उसमें अवस्थित हो, तब उसमें से आती है। सूक्ष्म बात है, भाई! जन्म-मरण के अन्त की विधि कठिन है। वह तो कहेंगे। ज्ञानी पुरुष को वह

कोई कठिन नहीं है, ऐसा कहेंगे। असत् पुरुषों को कठिन है। आहाहा! कहते हैं न? आगे कलश में आता है न? सत्पुरुष को कोई महा आश्चर्य की बात नहीं है। असत् पुरुषों को आश्चर्य की बात है। ८०वाँ कलश आयेगा। आहाहा!

पहला तो सम्यग्दर्शन ही उसे कहा जाता है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, नव तत्त्व की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन नहीं है। भगवान पूर्णानन्द प्रभु निज प्रभु शक्ति का सत्व, उसकी प्रतीति, उसका अनुभव होकर उसका ज्ञान होकर प्रतीति हो, वह अन्तर के आश्रय से होती है। समझ में आया? आओ, सामने आओ। पुस्तक दो पुस्तक। समझ में आया?

परम संयमियों को... आहाहा! जिनके आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द जो भरा हुआ है, उसमें से उनकी दशा में अतीन्द्रिय आनन्द उछल निकला है। जैसे समुद्र में मध्य में पानी भरा है, वह ज्वार के काल में किनारे आकर... ज्वार आता है न? हमारे गुजराती काठियावाड़ में भरती कहते हैं। ज्वार आता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा के ध्रुव मध्यबिन्दु में अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान और शान्ति पड़ी है। उसमें एकाग्र होने से उसकी वर्तमान पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का उछाला आता है, कहते हैं। आहाहा! और उसमें श्रद्धा करना कि यह अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति पूरा आत्मा है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। आहाहा!

तदुपरान्त विशेष शुद्धता के द्रव्य का विशेष आश्रय लेकर, विशेष अवलम्बन लेकर वस्तु में विशेष स्थिर हुआ है। अतीन्द्रिय आनन्द और शान्ति की वृद्धि हो गयी है, उसे संयमी और मुनि कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे **परम संयमियों को-अर्थात् परम जिनयोगीश्वरों को....** परम जिनयोगीश्वर। आहाहा! जिन्हें आत्मा अखण्डानन्द प्रभु... जिनस्वरूप ही ध्रुव आत्मा है। 'जिन सो ही है आत्मा, अन्य सो ही है कर्म, यही वचन से समझ ले, जिन प्रवचन का मर्म'। आहाहा! ऐसा भगवान जिन, वापस परमजिन (कहा है)। जिन्होंने राग को जीता है, मिथ्यात्व को तो जीता है। पश्चात् राग को जीता है और सम्यग्दर्शन शान्ति चारित्र की अन्तर में हुलास से आनन्द के हुलास से शान्ति का वेदन करते हैं, कहते हैं। आहाहा! ऐसे जिनयोगीश्वर। इतने विशेषण प्रयोग किये हैं। परम जिन योग और ईश्वर... आहाहा!

समकिती भी जिन है। समकिती योगी भी है, परन्तु अभी समकिती परम ईश्वर नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शन में चौथे गुणस्थान में भगवान ध्रुवस्वरूप प्रभु का एकाग्रपना (करके) मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी को जीता है और उतनी शान्ति तथा स्थिरता सम्यग्दर्शन की भूमिका में प्रगट होती है परन्तु यह तो परम जिनयोगीश्वर... वीतरागता के भाव से अस्थिरता को स्वरूप में एकाग्रता द्वारा ईश्वरपना प्रगट करके जीता है। आहाहा!

ऐसे मुनि को **सदैव निश्चयव्यवहारात्मक सुन्दर...** यह सुन्दर है, इसलिए व्यवहार से सुन्दर का आरोप दिया गया है। आहाहा! सदा ही निश्चय। अतीन्द्रिय में आत्मा के आनन्द का ज्वार आया है। ऐसी जो अतीन्द्रिय आनन्द के स्वरूप की रमणता, उसे निश्चय चारित्र कहते हैं, सच्चा चारित्र (कहते हैं) और उसकी भूमिका में पंच महाव्रत का विकल्प उठता है, वह राग है। उसे व्यवहारचारित्र कहते हैं। चारित्र नहीं है, उसे कहना, उसका नाम व्यवहार है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : दो होकर एक ही चारित्र कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो होकर चारित्रभर। चारित्रभर की व्याख्या दो होकर की है। निश्चय और व्यवहार। यह व्यवहार का अधिकार है न? समझ में आया? आहाहा! यह मार्ग सुनना भी जगत को कठिन पड़ता है। समझना और करना तो कहीं रह गया। आहाहा! परन्तु ऐसा स्वरूप वीतराग ने कहा है और यही वस्तु की स्थिति है कि आत्मा का, ध्रुव का अवलम्बन लेकर जिसने सम्यग्दर्शन-आत्मा का अनुभव प्रगट किया है, तदुपरान्त जिसने द्रव्य का, शुद्ध का बहुत अवलम्बन लेकर, आश्रय लेकर जिसने आनन्द और शान्ति की विशेष स्थिरता प्रगट की है, उसे निश्चय और व्यवहारचारित्र होता है, ऐसा कहते हैं। उसे निश्चय / सच्चा स्वरूप में रमणता आनन्द, वह सच्चा चारित्र और उसे पंच महाव्रत का विकल्प उठे, वह खोटा चारित्र, उसे व्यवहारचारित्र कहने में आता है। आहाहा! गजब बात है। यहाँ तो अभी पाँच महाव्रत का ठिकाना नहीं होता, समकित बिना के, हों! मिथ्यादृष्टि। अरे! भगवान! कहाँ भूला है और कहाँ गया है? आहाहा!

अरे! जन्म-मरण का चक्र। चौरासी के अवतार के दुःख, उसका अन्त तो

स्वभाव का आश्रय ले तो होता है, ऐसा है। इसके अतिरिक्त किसी क्रियाकाण्ड से... समझ में आया? चार गति के दुःख चाहे तो स्वर्ग में हो, तो भी दुःखी है। जहाँ आत्मा के आनन्द की खबर नहीं और अकेले देव के सुख को भोगने का विकल्प, वह भी आकुलता है। अंगारों की अग्नि सुलगती है। आहाहा! ये सेठिया पैसेवाले, धूलवाले कहलाते हैं। धूल के सेठिया कहलाये न? ये धूल के। पाँच-पचास लाख, करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़। ये बेचारे अंगारों में सुलगते हैं। ये राग के अंगारों में सुलग उठे हैं। सुखी नहीं हैं। आहाहा! सुख और आनन्द तो अन्तर भगवान आत्मा के घर में पड़ा है। उसके घर में जाकर एकाग्र हुए बिना आनन्द नहीं आता। आहाहा!

कहते हैं कि अहो! ऐसा निश्चयव्यवहार... सदा ही, कहा है न? सदा ही निश्चय है और साथ में विकल्प भी सदा है, ऐसा लिया। यह व्यवहार अधिकार है, इसलिए साथ में लिया है। **सुन्दर चारित्रभर वहन करनेवालों को,...** आहाहा! आनन्दस्वरूप का, अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र स्वाद है, वह सच्चा निश्चयचारित्र है। उसमें विकल्प उठा, वह व्यवहारचारित्र है। दोनों को यहाँ सुन्दर चारित्रभर कहा है। यह निश्चय सुन्दर है, वह व्यवहार सुन्दर है परन्तु जिसे यह निश्चय हो उसे। आत्मा का सम्यग्दर्शन भी नहीं और चारित्र की रमणता का आनन्द नहीं, ऐसे जीव को तो पंच महाव्रत के विकल्प व्यवहार से भी कहे नहीं जाते। व्यवहार से भी उसे चारित्र नहीं है। आहाहा!

वहन करनेवालों को,... वापिस देखा? इतना पुरुषार्थ है न? निश्चय में पुरुषार्थ है और व्यवहार में इतना... उसे वहन करनेवाला कहा। शुद्धपरिणति को वहन करता है, और शुभभाव को भी वहाँ (वहन करता है)। इतना प्रयत्न है न? अशुभ नहीं होता उतना। **बाह्य-अभ्यन्तर चौबीस प्रकार के परिग्रह का परित्याग ही...** ऐसे मुनि को बाह्य परिग्रह वस्त्र-पात्र, स्त्री, कुटुम्ब, सर्व का छूट गया है। अभ्यन्तर तीन कषाय का भाव छूट गया है। ऐसे **परम्परा से पञ्चम गति के हेतुभूत—ऐसा पाँचवाँ व्रत है।** मूल तो पाँचवें व्रत को परम्परा हेतुभूत कहते हैं क्योंकि विकल्प है। निश्चय से तो शुद्धपरिणति ही मोक्ष का कारण है, परन्तु उसके साथ ऐसा विकल्प है, उसे परम्परा अर्थात् अब बाद में... व्यवहार से, ऐसा इसका अर्थ। इसका त्याग होकर होगा। साक्षात् तो शुद्ध परिणति है, वह मोक्ष का कारण है। आहाहा! क्या कहते हैं? बात समझना कठिन।

भगवान आत्मा आनन्द का नाथ प्रभु है। अतीन्द्रिय आनन्द की खान है। उस खान में से जिसने अतीन्द्रिय आनन्द अन्दर में एकाग्र होकर निकाला, उसे स्वावलम्बी समकिती, स्वावलम्बी ज्ञानी और स्वावलम्बी चारित्रवन्त कहने में आता है। आहाहा! उसे पंच महाव्रत अथवा अट्ठाईस मूलगुण मुनियों के अट्ठाईस विकल्प हैं, वह शुभराग है, वह व्यवहार है। पाँचवाँ व्रत।

परम्परा से पञ्चम गति के... हेतु निमित्त है। नीचे इसका स्पष्टीकरण करना पड़ा। वास्तव में तो इतना ही है। कि वह है। अभी तो साक्षात् तो शुद्धपरिणति है परन्तु शुभ को छोड़ेगा, इसलिए परम्परा अर्थात् व्यवहार कहा। साक्षात्, वह निश्चय; परम्परा, वह व्यवहार। साक्षात् तो आत्मा शुद्ध अतीन्द्रिय आनन्द की रमणता में रमता है, वह मुक्ति का कारण है। उसके राग को परम्परा, अभी नहीं, साक्षात् नहीं इसलिए परम्परा अर्थात् व्यवहार। व्यवहार का अर्थ यह हुआ। अरे! इसमें आग्रह किसका? भाई! तेरे घर में जाने की बात में वाद-विवाद क्या? उसमें वाद-विवाद नहीं। आहाहा! जन्म-मरण का अन्त लाना है, बापू! चौरासी के अवतार में भटककर दुःखी है। कहीं सुख नहीं है। यह पुण्यभाव करता है न? वह दुःख है। आहाहा! वास्तव में यह पंच महाव्रत का विकल्प भी दुःख है। परन्तु आनन्दस्वरूप ऐसे भगवान का अवलम्बन लेकर जिसने अतीन्द्रिय आनन्द की शान्ति, चारित्र प्रगट किया है, इसलिए वह विकल्प है दुःख, परन्तु साक्षात् मोक्ष का सुखरूप कारण तो शुद्धपरिणति। उस दुःख का अभाव करेगा, इसलिए उसे परम्परा से मुक्ति का कारण कहा है। व्यवहार से ऐसा है, बात ऐसी है। आहाहा!

नीचे नोट में (क्रमांक ३) हमारे पण्डितजी ने स्पष्टीकरण किया है। **शुभोपयोगरूप व्यवहारव्रत,...** यह स्पष्टीकरण किया है। कौन पण्डित? हमारे पण्डित हैं। बड़े पण्डित हैं। बहुत शान्त हैं। संस्कृत, व्याकरण सबमें पूर्ण हैं। उन्होंने नीचे स्पष्टीकरण किया है। **शुभोपयोगरूप व्यवहारव्रत,...** क्या कहते हैं? स्वरूप की-आत्मा की शुद्धपरिणति, ऐसी भूमिका में जो शुभराग, महाव्रत का उपयोग होता है, ऐसा **शुभोपयोगरूप व्यवहारव्रत, शुद्धोपयोग का हेतु है...** वह शुद्धोपयोग अर्थात् अन्दर वीतरागीदशा, उसमें शुभराग निमित्त है। व्यवहार से हेतु कहा है। वास्तव में तो व्यवहारव्रत है, वह तो राग है। शुद्ध

उपयोग है, वह तो वीतरागता है। आहाहा! गजब बात है! इस वीतरागता का हेतु राग, यह तो उपचार से कथन है। आहाहा! महाव्रत है, वह विकल्प है, राग है, आस्रव है। उसे शुद्ध उपयोग जो आत्मा का, आत्मा के आश्रय से वीतरागता हो, उसका उसे हेतु कहना, वह तो व्यवहार से है। समझ में आया?

शुद्धोपयोग मोक्ष का हेतु है... और आत्मा में महाव्रत का विकल्प शुभ से रहित अन्तर के आनन्दस्वरूप का उपयोग जो वीतरागी परिणाम / शुद्धोपयोग, वह साक्षात् मोक्ष का कारण है। **ऐसा मानकर यहाँ उपचार से व्यवहारव्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहा है।** उपचार से कहो या व्यवहार से। व्यवहार से व्यवहारव्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहा गया है। समझ में आया? शास्त्र के अर्थ करने में भी झगड़े। **वास्तव में तो शुभोपयोगी मुनि को...** छठवें गुणस्थान में सच्चे मुनि-सन्त को शुभोपयोग पंच महाव्रत का राग जब वर्तता है। **मुनियोग्य शुद्धपरिणति ही...** उन्हें तो मुनि के योग्य... समकिती के योग्य शुद्धपरिणति जघन्य थोड़ी है। पंचम गुणस्थान में शुद्धपरिणति उससे विशेष है। छठे गुणस्थान में उससे विशेष है। वस्तु भगवान पूर्णानन्द प्रभु का चारित्रवन्त ने उग्र आश्रय लिया है, इसलिए उसकी शुद्धपरिणति विशेष उग्र है। उसे **(शुद्धात्मद्रव्य का अवलम्बन करती है,)...** कौन? शुद्धपरिणति। शुद्धपरिणति अर्थात्? अशुभराग, वह पापराग; शुभराग, वह पुण्यराग, दोनों से रहित स्वभाव का आश्रय होकर जो शुद्ध वीतरागी परिणति प्रगट होती है, उसे यहाँ शुद्धपरिणति, शुद्धपर्याय कहने में आता है। आहाहा! शान्तिभाई! लो, ऐसा है यह।

मुमुक्षु : हवा में उड़ने की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बापू! मार्ग तो तेरा अन्तर में है, बाहर में है नहीं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि मुनि के योग्य जो शुद्धदशा—इसका अर्थ? समकिती के योग्य जो शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति जो प्रगट हुई है, वह समकिती के योग्य है। जिसे सच्चा श्रावक कहते हैं। यह वाड़ा के हैं, उनकी बात यह नहीं है।

मुमुक्षु : वाड़ा में हैं, वे तो वाड़ा में ही रहे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वाड़ा में तो बकरे होते हैं। आहाहा!

यह तो आत्मा अन्तर भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने, त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने इन्द्रों और गणधर के समक्ष दिव्यध्वनि द्वारा भगवान ने जो आत्मा वर्णन किया, वह आत्मा अन्दर में पूर्ण शुद्ध और पूर्ण स्वभाव का भण्डार है। समकिती को उसके योग्य उसकी शुद्धदशा होती है। पाँचवें (गुणस्थानवाले) को उसके योग्य उसकी शुद्धदशा विशेष होती है। मुनि को उनके योग्य शुद्धदशा विशेष होती है, क्योंकि उन्होंने द्रव्य का विशेष आश्रय और अवलम्बन लिया है। जितना विशेष अवलम्बन, उतनी उग्र और ऊँची दशा। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

विशेष शुद्धिरूप शुद्धोपयोग का हेतु होती है... लो, क्या कहते हैं? छठवें गुणस्थान में जो वस्तु / आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई शुद्धपरिणति, वह सातवें गुणस्थान का जो शुद्धोपयोग है, उसका वह शुद्धपरिणति कारण होती है।

मुमुक्षु : आप तो उससे भी इनकार करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अभी व्यवहार सिद्ध करना है न? पर्याय का दाता आत्मा नहीं है, यह बात फिर एक ओर रही। यहाँ तो... अरे! भगवान का मार्ग, बापू! तीन काल-तीन लोक में परमेश्वर ने कहा, उसके अतिरिक्त कहीं है नहीं, किसी मार्ग में यह मार्ग है नहीं, परन्तु इसके मार्ग की पद्धति जानना, अनन्त काल में इसने जानी नहीं। अनन्त काल में इसने दरकार ही नहीं की। ऐसे का ऐसा बाहर में ही बाहर में बाह्य दृष्टि से धर्म मानकर बहिरात्मबुद्धि से, उसमें (समय) गँवाकर अनन्त संसार इसने बिताया है, भाई! आहाहा!

कहते हैं कि जो सच्चे मुनि आत्मदर्शी, आत्मज्ञानी, आत्मध्यानी शुद्धपरिणतिवाले, उन्हें जो महाव्रत का शुभपरिणाम वर्तत है, उसे मोक्ष का हेतु कहा, उसका अर्थ यह है कि उन्हें जो शुद्धपरिणति वर्तती है, वह शुद्धोपयोग का कारण है और शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण है। ऐसा लेना है न यहाँ? आहाहा! **शुद्धोपयोग का हेतु होती है और वह शुद्धोपयोग, मोक्ष का हेतु होता है।** ऐसा लिया। यह जरा शान्ति से समझने जैसी बात है। यह कहीं वार्ता-कथा नहीं है। एक राजा था, एक रानी थी। मार गप्प और वह सुनकर प्रसन्न हो। ओहोहो! क्या महाराज ने आज बात की! कल रावण को राम मारेंगे, हों! अब।

हमारे बोटाद में ऐसा था। बोटाद में (संवत्) १९७० में दीक्षा ली न? १९७० में दीक्षा ली। ५८ वर्ष हुए। तब वे 'रतनसी भावसार' थे। भाई पहिचानते हैं। रतनसी, पहले वहाँ थे न। वे होंकार देते थे। १९७० के आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा की बात है। दीक्षा हुई, कण्ठ अच्छा था, बहुत मीठा। फिर वहाँ ढाल... क्या कहलाता है? ढाल-ढाल। कोई शब्द है, भूल गये। वह... अलग और ढाल। ...अलग वे नीचे पढ़ते। इसलिए रतनसीभाई ऊपर आये। मुझे कहा-महाराज! आप आओ न। अरे! रतनसीभाई! यह तो मैं तो उसे विकथा मानता हूँ। पूर्णिमा से शुरु होवे वह भाद्र शुक्ल पंचम तक, बस इतना। मात्र ढाल और वह... ढाल पढ़े उसमें श्रीकृष्ण की बात, रामरास में राम की बात। दोनों अलग बात है। इसलिए हमारे नीचे मूलचन्दजी थे, माणिकचन्दजी थे। १९७० का पहला चातुर्मास था न? माणिकचन्दजी थे और कानजी भावसार थे। भावसार नहीं थे परन्तु वह दीक्षा... वे दो व्यक्ति थे और चार हम थे। फिर नीचे हमारे मूलचन्दजी... रतनसी भावसार आये, हों! मैं तो ऊपर बैठता था। ....नीचे बैठे। जहाँ जरा कहा... ऐई! रतनसीभाई! यह तो सब विकथाएँ हैं। तब कहा, तुम्हारे गुरु पढ़ते हैं न? तो गुरु पढ़ते हैं तो भी विकथा है। मेरे सामने तो बहुत बोल नहीं सके। यह हमारे गुरु मूलचन्दजी पढ़ते, हीराजी महाराज पहले पढ़ते, फिर बन्द कर दिया। फिर मूलचन्दजी पढ़ते। चाहे जो पढ़े। यह लोकरंजन और लोगों को इकट्ठे करने की कथा है। उसमें धर्म क्या होगा और कैसे होगा, उसकी बात उसमें कहाँ है? आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा, १९७० के वर्ष की बात है। कितने वर्ष हुए? १९७० में दीक्षा ली थी। ५७ वर्ष। नहीं, यह धर्म की बात छोड़कर ऐसी सब लोगों को रंजन करने की...? अब यह तो बात कहाँ थी? आहाहा!

कहते हैं, यहाँ जो पाँचवें महाव्रत के राग को मोक्ष का परम्परा हेतु कहा, उसका कारण ऐसा है कि मुनि को मुनियोग्य छठवें गुणस्थान में जो शुद्धपरिणति तीन कषाय के अभाव की वीतरागदशा प्रगट हुई होती है, वह शुद्धपरिणति बाद के सातवें गुणस्थान के शुद्धोपयोग को शुद्धपरिणति कारण कहलाती है। वह कारण इसका वास्तविक है और वह शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण है, तथापि **इस प्रकार इस शुद्ध परिणति में रहे हुए मोक्ष के परम्पराहेतुपने का आरोप...** क्या कहते हैं? वह शुद्धपरिणति, छठे (गुणस्थान) में

शुद्ध वीतरागदशा है, वह शुद्धोपयोग का कारण है। सातवें का शुद्धोपयोग मुनि को, और वह शुद्धोपयोग केवल मोक्ष का कारण है।

इस प्रकार यहाँ **शुद्ध परिणति में रहे हुए मोक्ष के परम्पराहेतुपने का आरोप...** शुद्धपरिणति परम्परा से मोक्ष का कारण है, भाई! साक्षात् मोक्ष का कारण शुद्धोपयोग है। यहाँ है, तदनुसार बात को सिद्ध किया है। समझ में आया? जो बात जैसे हो, वैसे सिद्ध होगी न? कहो, समझ में आया? आत्मा में शुद्धोपयोग, पुण्य और पाप के अशुद्धोपयोग से रहित आत्मा के आनन्द का शुद्धोपयोग, निर्मलानन्द वीतराग उपयोग, वह मुक्ति का कारण है। अब उस शुद्धोपयोग का कारण... वह शुद्धोपयोग सातवें गुणस्थान में होता है। आंशिक नीचे होता है, उसकी यहाँ बात नहीं लेना है। उस शुद्धोपयोग का कारण छठवीं भूमिका में जिसे शुद्धपरिणति जो है, वीतरागी दशा (है), वह शुद्धोपयोग का हेतु है और शुद्धपरिणति परम्परा से मोक्ष का कारण है। सीधा (कारण) तो शुद्धोपयोग है। समझ में आया? यह शुद्धपरिणति परम्परा से मोक्ष के कारण का आरोप शुभ उपयोग में व्यवहार से दिया है। आहाहा!

मुमुक्षु : जरा लम्बा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : लम्बा है। है तो लम्बा। बात सच्ची है परन्तु इसे समझना पड़ेगा न? आहाहा! ऐसे काल में नहीं समझे, बापू! यह मनुष्य देह चला जाएगा, भाई! यह तो हड्डियाँ हैं, मिट्टी है, इसकी अवधि से रहेगी, अवधि पूरी होने पर चला जाएगा। तुझे करना हो, वह यदि नहीं किया, (तो) यह लट का अवतार और मनुष्य के अवतार में अन्तर क्या? आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि यहाँ परम्परा से पंचम गति का हेतु पाँचवें महाव्रत के विकल्प को-शुभराग को कहा, उसका यह आश्रय समझना कि आत्मा में वस्तु के आश्रय से मुनि के योग्य जो शुद्धदशा, वीतरागी परिणति-पर्याय प्रगट हुई है, वह शुद्धोपयोग बाद का उसका वह कारण है और शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण है तो वास्तव में तो शुद्धपरिणति ही मोक्ष का परम्परा कारण है परन्तु... यह निश्चय हुआ। निश्चय परम्परा कारण। समझ में आया? वह राग व्यवहार है, इसका-शुद्धपरिणति का आरोप वहाँ डाला है।

निश्चय से परम्परा हेतु यह है। इसका हेतु यहाँ डाला कि यह परम्परा मोक्ष का कारण है, यह व्यवहार से कहने में आया है। कहो, समझ में आया? गजब बातें, भाई! यह, ऐसा समझ करना, श्रद्धा करना... यह कोई... आहाहा! वह तो चलो दया पालो, व्रत करो और करो उपवास तथा दो-पाँच लाख खर्च करके यात्रा कर डालो, धर्म हो जाएगा। धूल में भी धर्म नहीं, सुन न! लाख यात्रा निकाल तो भी वहाँ कहाँ धर्म था? वह तो शुभराग है। महाव्रत और तप करने में राग मन्द करे तो शुभराग है। वहाँ धर्म-बर्म नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

एक व्यक्ति का पत्र आया है। कल किसी का पत्र आया है, यह तुम्हारे क्या कहलाता है परबिंडियो? अन्तर्देशी। महाराज! आप ये सब मन्दिर बनाते हो, इसकी अपेक्षा ढूँढिया को आत्मा की ओर झुकाओ न! प्रतिमा वह तो शुभराग है। ऐसा बेचारे बहुत लिखते हैं। कौन कहता है? यहाँ मन्दिर का किसी ने कहा नहीं। यह तो अपने आप लोग करते हैं। हम कहते हैं कि इसमें शुभभाव है, पुण्य है; धर्म नहीं।

मुमुक्षु : लोग क्यों करते हैं? आप कहते हो कि आपने उपदेश किया नहीं और लोग बनाते हैं। अब उसका क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : उपदेश किया नहीं, ऐसा नहीं है। यह तो कहा नहीं कि तू यह करना, ऐसा। उपदेश में तो सब बात आती है। ऐई! और वह भी जहाँ नहीं, वहाँ लोग बनाते हैं। जहाँ आगे साधन नहीं है, वहाँ बनाते हैं। समझ में आया? एक विशेष आँख में आवे, ऐसा जरा यह फतेपुर का होगा, ऐसा लगता है। कहा हमने तब भी हुआ था। जो होता है, वह तो होगा, क्योंकि गाँव छोटा न... जरा लोगों को लगता है। परन्तु पैंतीस घर और वे समवसरण बनाते हैं। हमने तो कभी कुछ कहा नहीं। मार्ग ऐसा है और उसमें ऐसा होता है, बस इतनी बात है और अभी तो देखो न, यह जयपुर में तो अकेला शिक्षण का कार्य। अकेला शिक्षण, भाई! बापू! शिक्षण में दो-ढाई लाख रुपये खर्च किये। बीस दिन, दो हजार लोग बाहर से आये थे। दो घण्टे व्याख्यान और दो घण्टे शिक्षा। तत्त्व का उपदेश। दो सौ तो अध्यापक आये थे। पाठशाला में पढ़ानेवाले। बीस दिन हुए न वहाँ? ज्येष्ठ शुक्ल ग्यारह। अन्दर समझाने के लिए ऐसा शुभभाव होता है। है तो शुभभाव, कहा, भाई!

जहाँ जरूरत नहीं है, वहाँ मन्दिर बनाना; जरूरत नहीं है, वहाँ मानस्तम्भ बनाना, पैसा डालना, बापू! यह कहीं ठीक नहीं कहलाता। यह तो अपने इकट्ठा काम करते हैं। यह लोग जहाँ जरूरत है, वहाँ डालते हैं और यह वह क्या कहलाता है? आहारजी नहीं? पपोरा। कितने मन्दिर। दिगम्बर घर एक भी नहीं। तीन तो मानस्तम्भ हैं, चौथा बनाते हैं। लोगों को पैसे हुए हों, लोगों को ऐसा लगता है कि ओहो! अमुक सेठ का मन्दिर। मान है। मान के लिए (बनाते हैं)। जहाँ देवदर्शनादि न हो, वहाँ होता है परन्तु यह तो पचास-पचास मन्दिर और चार-चार बड़े ढ़ेर। आहाहा! दुनिया रिवाज में चढ़ी, वह कहाँ चढ़ी?

यहाँ तो कहते हैं, मुनि जैसे सच्चे सन्त को भी जो महाव्रत का शुभोपयोग आता है, वह भी राग है, वह भी बन्ध का कारण है, परन्तु आये बिना नहीं रहता। स्वरूप के अनुभव की दशा में चारित्र निर्मल वीतरागदशा प्रगट हुई हो, तथापि होता है। उस शुभोपयोग को मोक्ष का कारण कहा, उसका हेतु यह कि मुनियोग्य सच्ची शुद्ध वीतराग दशा प्रगटी होती है, वह शुद्धोपयोग का हेतु और शुद्धोपयोग मोक्ष का कारण है। वह निश्चय वास्तविक कारण है। यह व्यवहार कारण है। कहो, समझ में आया? स्व आश्रय शुद्धपरिणति, स्व आश्रय शुद्धोपयोग, स्व आश्रय मुक्ति, ऐसा। इस अपेक्षा से निश्चय कहा और यह तो पर के आश्रय से राग। समझ में आया? ऐसा मार्ग है, बापू! इसमें वाद-विवाद को कोई अवसर भी नहीं है। ऐसी चीज़ है। भगवान ने कुछ की नहीं है। भगवान ने तो अपना सर्वज्ञपना प्रगट किया, तब वाणी द्वारा आया कि मार्ग यह है, बापू! भगवान, वे किसी के कर्ता नहीं हैं। आहाहा! समझ में आया? लो।

इस प्रकार इस शुद्ध परिणति में रहे हुए मोक्ष के परम्पराहेतुपने का आरोप-उसके साथ रहनेवाले-शुभोपयोग में करके, व्यवहारव्रत को मोक्ष का परम्परा हेतु कहा जाता है। जहाँ शुद्ध परिणति ही न हो.... परन्तु जहाँ अभी सम्यग्दर्शन का ठिकाना न हो, वह पुण्य और विकल्प से धर्म माने, महाव्रत के परिणाम को चारित्र माने, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया? बात ऐसी है, बापू! वीतराग के घर का सत्य तो ऐसा है। आहाहा! इन्द्र, सौधर्म देवलोक के इन्द्र, ईशान इन्द्र जो स्वीकार करते हैं, बापू! वह कहीं कोई दो-चार, पच्चीस-पचास लोगों की कल्पना की बात नहीं है। वह

तो अनन्त तीर्थंकरों, अनन्त इन्द्रों ने स्वीकार किया, अनन्त गणधरों ने अनुभव किया, अनन्त तीर्थंकरों ने यही कहा है। समझ में आया?

जहाँ शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान और स्वद्रव्य का भान ही नहीं है, **शुद्ध परिणति ही न हो, वहाँ वर्तते हुए शुभोपयोग में मोक्ष के परम्पराहेतुपने का आरोप भी नहीं किया जा सकता,...** बराबर है? **क्योंकि जहाँ मोक्ष का यथार्थ परम्पराहेतु...** वह शुद्धपरिणति। शुद्धपरिणति यथार्थ परम्पराहेतु है। वह तो है नहीं। **जहाँ मोक्ष का यथार्थ परम्पराहेतु प्रगट ही नहीं हुआ है – विद्यमान ही नहीं है, वहाँ शुभोपयोग में आरोप किसका किया जाए?** कहो, समझ में आया? जरा लम्बी बात है, परन्तु अब इसे समझना तो पड़ेगा या नहीं? आहाहा!

मुमुक्षु : स्पष्ट है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्पष्ट हुआ? यह स्पष्ट ही है। आहाहा!

सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा सीमन्धर प्रभु महाविदेह में विराजते हैं। यही बात प्रभु कहते हैं। साक्षात् विराजते हैं। तीर्थंकर, केवली विद्यमान गणधर, इन्द्र जाते हैं। वही बात यह है। आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत) श्री समयसार में (२०८ वीं गाथा द्वारा) कहा है कि— लो, आधार देते हैं। इस ओर है न?

मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जम्हा तम्हा ण परिग्गहो मज्झ।।

धर्मात्मा, मुनि ऐसा विचारते हैं कि **यदि परद्रव्य-परिग्रह मेरा हो...** यह विकल्प से लेकर। यहाँ फिर पर्याय परद्रव्य, ऐसा नहीं, वह रखो एक ओर। शुभराग महाव्रत का विकल्प है, वह भी अचेतन है। राग अचेतन है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। आहाहा! राग है न? विकल्प है, वह अचेतन है। अचेतन अर्थात् उसमें चैतन्य ज्ञान के आनन्द का अंश नहीं है। चैतन्य के किरण का अंश नहीं है। तो कहते हैं कि परद्रव्य यदि मेरा होवे, अचेतन राग मेरा होवे **तो मैं अजीवत्व को प्राप्त होऊँ।** आहाहा! भगवान आत्मा तो ज्ञानानन्द की मूर्ति प्रभु है। सचेत, सचेत। अकेला ज्ञान-आनन्द का चेतन का

पिण्ड है। उस चीज़ में इस राग का, वस्त्रादि का तो एक ओर रखो, महाव्रत का विकल्प, वह वास्तव में अचेतन है। राग है, इसलिए (अचेतन है) क्योंकि राग स्वयं राग को नहीं जानता, राग दूसरे के द्वारा जाना जाता है; इसलिए वह राग अचेतन है। उस राग को मेरा मानूँ तो मैं अजीव हो जाऊँ, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यदि परद्रव्य-परिग्रह मेरा हो तो मैं अजीवत्व को प्राप्त होऊँ। मैं तो ज्ञाता ही हूँ;... वह अचेतन विकल्प मेरा नहीं है। आहाहा! यह तो सम्यग्दर्शन हुआ, तब से भान है, परन्तु यह तो चारित्रवन्त कहते हैं। यह चारित्र की व्याख्या है न? निर्जरा की गाथा है न यह? समयसार की निर्जरा की गाथा है। **मैं तो ज्ञाता ही हूँ; इसलिए (परद्रव्यरूप) परिग्रह मेरा नहीं है।** यह विकल्पमात्र दया, दान, व्रत का राग वह मेरी वस्तु नहीं है। वह मेरी होवे तो मैं अचेतन हो जाऊँ। आहाहा! शरीर-बरीर तो कहीं रह गया। यह तो मिट्टी-धूल है। अजीवरूप से रही हुई यह तो मिट्टी-धूल है, पुद्गल है। यह मेरा—ऐसा माने, तब तो जड़ है, कहते हैं। परन्तु राग के भाग को भी मेरा मानूँ तो, मैं अजीव हो जाऊँ, जीवपने न रहूँ।

मैं तो ज्ञाता ही हूँ;... जानने-देखनेवाली मेरी चीज़ है। मुझमें ये रागादि कोई चीज़ है नहीं। ऐसे आत्मा को अन्दर में अनुभव करना चाहिए, स्थिरता करनी चाहिए। इसका नाम मुक्ति का मार्ग है। दूसरा कोई मार्ग है नहीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल ९, शुक्रवार, दिनांक - २-७-१९७१
गाथा-६१, श्लोक-८० से ८२, प्रवचन-५६

यह नियमसार, व्यवहारचारित्र अधिकार है, इसमें ६०वीं गाथा, का ८०वाँ कलश है। पंच महाव्रत की बात आयी न? उसका कलश है।

त्यजतु भव-भीरुत्वाद्भव्यः परिग्रहविग्रहं,
निरुपम-सुखावास-प्राप्त्यै करोतु निजात्मनि।
स्थिति-मविचलां शर्माकारां जगज्जनदुर्लभां,
न च भवति महच्चित्रं चित्रं सता-मसतामिदम्।।८०।।

श्लोकार्थ - भव्य जीव,... वास्तविक मुनिपने की दशा का पाँचवाँ व्रत कैसा होता है और उसे निश्चय अनुभव कैसा होता है, उस सहित बात है। निश्चय में अपना स्वभाव अतीन्द्रिय आनन्द है, उसका अनुभव हुआ होता है। तदुपरान्त उसे स्वरूप की, शान्ति की, वीतरागता की विशेष रमणता हुई होती है। उसे उसकी भूमिका प्रमाण में पाँचवाँ महाव्रत ऐसा शुभराग, परिग्रह के त्याग का ऐसा शुभराग होता है, उसे यहाँ पाँचवाँ महाव्रत कहते हैं। वह जीव **भव्य जीव,...** वह भव्य जीव होता है। आत्मा की शान्ति अर्थात् आनन्द पूर्ण दशा, ऐसी मुक्ति का वह अभिलाषी होता है।

भवभीरुता के कारण... और उसे चार गति के भव का भय होता है। मुनि को चार गति में कहीं जाना, गति में जाना या भव में जाना, वह उन्हें भय होता है। चार गति का परिभ्रमण का उन्हें डर होता है। स्वर्ग गति हो तो भी वह कषाय की अग्नि से, स्वर्ग के देव भी कषाय के अंगारों से जल रहे हैं। गति में कहीं शान्ति नहीं है, इसलिए धर्मी-सम्यग्दृष्टि और मुनि... यहाँ मुनि की बात है न? **भवभीरुता...** किसी भी भव और भव का कारण भाव, उससे उन्हें डर होता है। यह नहीं... यह नहीं... अरे! मैं तो आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का साधक—ऐसा मैं, उसे भव के भाव से डर होता है।

ऐसे जीव **परिग्रहविग्रहं** विग्रह का अर्थ यहाँ विस्तार किया है। विग्रह का अर्थ किया। **परिग्रहविस्तार को छोड़ो...** जैनदर्शन का वास्तविक मुनिपना, वीतराग ने कहा हुआ कैसा होता है, इसकी सच्ची समझ देते हैं और वह मुनिपना अंगीकार करना कि

जो मुक्ति का तात्कालिक कारण है। ऐसा उपदेश में वैराग्य कराते हैं। उस समस्त परिग्रह को छोड़ो। सच्चे मुनि हैं, उन्हें तो एक वस्त्र का धागा भी नहीं होता। समझ में आया? इसलिए कहा न? **परिग्रहविस्तार को छोड़ो...** परिग्रह का विग्रह-विस्तार जितना सब। एक वस्त्र का टुकड़ा रखे, तो भी वह ममत्व, मूर्च्छा और परिग्रह है और ऐसा भाव है, वहाँ मुनिपना होता नहीं।

कहते हैं **परिग्रहविस्तार को छोड़ो...** व्यवहार का उपदेश है न? **और निरुपम सुख के आवास की प्राप्ति हेतु...** ऐसे भव से भीरु हैं और निरुपम - उपमारहित आत्मा का आनन्द, उसका **आवास** = **निवासस्थान** वह आत्मा। उसका घर वह आत्मा है। अतीन्द्रिय आनन्द का घर आत्मा है। अतीन्द्रिय आनन्द कहीं अन्यत्र नहीं है। अतीन्द्रिय **सुख के आवास की प्राप्ति हेतु निज आत्मा में अविचल,...** अपना सच्चिदानन्द प्रभु शाश्वत् आनन्द और ज्ञान का भण्डार आत्मा है, उसमें अविचल—चलित न हो, इस प्रकार स्थिर हो (-ऐसा) कहते हैं। देखो! यह मुनिपना। आहाहा! **सुखाकार... शर्माकारं** यह न? **शर्माकारं** शर्म का आकार है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का समुद्र है। प्रभु आत्मा इन पुण्य-पाप के राग से भिन्न और अपने अतीन्द्रिय आनन्द से अभिन्न, ऐसा आत्मतत्त्व है। आहाहा!

ऐसा सुख का आकार अर्थात् सुखमयी भगवान। **तथा जगत्जनों को दुर्लभ ऐसी स्थिति (स्थिरता) करो...** आहाहा! साधारण प्राणी को आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में रहना महा दुर्लभ है। मुनि को तो सुलभ है। उसे मुनि कहते हैं। आहाहा! जो अपना अतीन्द्रिय आनन्द सम्यग्दर्शन में अनुभव किया था, पहले सम्यग्दर्शन में जाना था कि आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द है। उसमें अविचल स्थिति। आहाहा! वह तो जगत के साधारण प्राणी को दुर्लभ है। आहाहा! ओहोहो! दुर्लभबोधि। पहले तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दुर्लभ है। क्या चीज़ है, इसकी खबर नहीं। बाहर से मान बैठे। आहाहा! जिसे जगत के भव में से निकलना है, उसे तो आत्मा की ऐसी अन्तरदशा अनुभव में होती है। तदुपरान्त अविचल स्थिति (स्थिरता) आत्मा में होती है। जगतजनों को तो दुर्लभ है। आहाहा! मुनिदशा में अतीन्द्रिय आनन्द में मुनि स्थिर होते हैं। आहाहा! यह मुनिपना। यहाँ तो अभी मुनिपने की खबर नहीं होती। क्या चीज़ है? यह चल निकले मुनि हो गये। आहाहा!

दुर्लभ ऐसी स्थिति (स्थिरता) करो... आहाहा! जो वस्तु आत्मा आनन्द का घर, आनन्द का निवास, अतीन्द्रिय आनन्द का धाम आत्मा है, उसका अनुभव किया कि यह आत्मा है। अब उसमें स्थिर हो, ऐसा कहते हैं। उसमें निवास कर, वास कर, स्थिर हो, इसका नाम साधुपना है और इस चारित्रदशा के बिना, ऐसी चारित्रदशा के बिना मुक्ति नहीं होती। कहो, समझ में आया?

और यह (निजात्मा में अचल सुखात्मक स्थिति करने का कार्य) सत्पुरुषों को कोई महा-आश्चर्य की बात नहीं है;... आहाहा! सन्तों को, वीतरागी सन्त को, वीतरागी मुनियों को अन्तर के स्वभाव में रहना, स्थिर होना, वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वह तो इसके स्वभाव की स्थिति ही ऐसी है। आहाहा! मुनि तो छठवें-सातवें गुणस्थान में हजारों बार झूलते हैं। एक दिन में हजारों बार अप्रमत्तदशा आती है। छठा-सातवाँ गुणस्थान। घड़ीक में सप्तम। आनन्द में लीन हो जाते हैं, फिर विकल्प उठता है, वह छठवाँ आ जाता है। फिर सातवाँ... फिर छठवाँ... देखो! यह दशा। जैनदर्शन के— वास्तविक दर्शन के सन्त ऐसे होते हैं। आहाहा!

सत्पुरुषों को कोई महा-आश्चर्य की बात नहीं है;... ऐसा कहते हैं। ओहो! जिसने आत्मा को, जैसे हथेली की रेखा को देखते हैं, वैसे अन्दर देखा है। आहाहा! सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान में, पहले से आत्मा ऐसा जाना और देखा है। कहते हैं, ऐसे धर्मात्मा को आगे बढ़कर स्वरूप में स्थिर होना, वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वह तो उनका स्वरूप ही है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! धन्य अवतार है न! समझ में आया? भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् शाश्वत् आनन्द और ज्ञान का वह सागर है। आहाहा! उसमें शरीर, वाणी, मन तो नहीं, परन्तु दया, दान, व्रत के विकल्प राग, वह भी उस स्वरूप में नहीं। ऐसी वह चीज़ है। उस चीज़ में, उस वस्तु में बसना, वस्तु में बसना, ऐसे आनन्द में स्थिर होना सत्पुरुषों के लिए कोई आश्चर्यकारी नहीं है, यही उनकी दशा होती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया?

असत्पुरुषों को आश्चर्य की बात है। आहाहा! जिन्हें, आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड आत्मा, ऐसी जिन्हें खबर नहीं और पर में, धूल में, पुण्य में, पाप में सुखबुद्धि मानी है, ऐसे अज्ञानियों को आत्मा में स्थिर होना, वह आश्चर्यकारी

है। उन्हें आश्चर्य की बात है। अर्थात् वे नहीं कर सकते। आहाहा! पाँचवाँ महाव्रत था न! निर्ग्रन्थदशा को ऐसा विकल्प होता है, नग्नदशा। जैन के सच्चे मुनि तो अन्तर में तीन कषाय के अभाववाले, बाहर में अत्यन्त नग्नदशा होती है, उन्हें जैन के मुनि कहा जाता है। अकेले नग्न भी नहीं और अकेले तीन कषाय का अभाव हुआ हो और शरीर में वस्त्रादि रहें, ऐसा भी नहीं है। ऐसी दशा है। वीतराग परमेश्वर की यह आज्ञा है, ऐसी इसे पहले पहिचान करके मानना चाहिए। यह ८०वाँ कलश हुआ।

६१ वीं गाथा। अब समिति की बात आयी। ईर्यासमिति। मुनि को आत्मा के भानसहित ईर्यासमिति। निश्चयसमितिसहित व्यवहारसमिति कैसी होती है, उसकी बात है। आहाहा! ६१वीं गाथा।

पासुगमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स।।६१।।

नीचे हरिगीत, मूल गाथा का....

मुनिराज चलते मार्ग दिन में, देख आगे की मही।
प्रासुक धुरा जितनी, उन्हें ही समिति ईर्या है कही।।६१।।

टीका : यहाँ (इस गाथा में), ईर्यासमिति का स्वरूप कहा है। जो परमसंयमी... परमसंयमी मुनि, ऐसा पहले लिया है। उन्हें ऐसी व्यवहारसमिति होती है। नीचे अर्थ किया है। **परमसंयमी मुनि को (अर्थात्,..)** नीचे नोट **(मुनियोग्य शुद्धपरिणतिवाले मुनि को)...** आहाहा! साधु के योग्य उसे वीतरागता, अतीन्द्रिय आनन्द की दशा प्रगट हुई है, शुद्धता-पवित्रता प्रगट हुई है। (जैसे) पर्वत में से मीठा पानी झरता है, वैसे भगवान आत्मा आनन्द का पर्वत है, उसमें से अतीन्द्रिय आनन्द का झरना जिसे बहता है। आहाहा! ऐसी शुद्धपरिणति, **(शुद्धपरिणतिवाले मुनि को) शुद्धपरिणति के साथ...** ऐसी आनन्द की शुद्धदशा के साथ **वर्तता हुआ...** सहचर-साथ में रहनेवाला **(हठरहित) ईर्यासम्बन्धी...** सहज ऐसा विकल्प होता है। वहाँ हठ नहीं होती। **(गमनसम्बन्धी; चलनेसम्बन्धी) शुभोपयोग,...** उन्हें शुभोपयोग होता है। है वह पुण्यभाव है। व्यवहारसमिति, परन्तु निश्चय आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की शुद्धदशा की भूमिका

प्रगट हुई है, उसे ऐसा हठरहित का शुभोपयोग होता है। बात-बात में बहुत अन्तर है। अभी की शैली और वीतराग का मार्ग सब फेरफार.. फेरफार..

वह व्यवहारसमिति है। कौन? जिसे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द का सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ है और अतीन्द्रिय आनन्दसहित शुद्धदशा प्रगट हुई है। वीतरागी आनन्द आदि दशा प्रगट हुई है, उसे गमन सम्बन्धी शुभोपयोग / राग की मन्दता का भाव होता है। हठ (रहित होता है), उसे व्यवहारसमिति कहा जाता है। आहाहा! **शुद्धपरिणति न हो,...** जहाँ पहले शुद्धदशा ही, वीतरागदशा ही प्रगट नहीं हुई। भगवान सच्चिदानन्द प्रभु, आनन्द के धाम में से आनन्द का प्रवाह शुद्धपरिणतिरूप से जिसे हुआ ही नहीं, **वहाँ शुभोपयोग हठसहित होता है;...** ऐसे देखकर चलने का शुभोपयोग अज्ञानी को होता है परन्तु हठवाला होता है। हठ, उसे तो यहाँ **व्यवहारसमिति भी नहीं कहलाता...** समझ में आया?

वह शुभोपयोग तो व्यवहारसमिति भी नहीं कहलाता [इस ईर्यासमिति की भाँति अन्य समितियों का भी समझ लेना।] ऐसे भाषासमिति, ऐषणासमिति, आदाननिक्षेपण... उनमें भी उन्हें शुभोपयोग होता है, परन्तु वह शुद्धपरिणतिसहित शुभोपयोग सहचर होता है। आत्मा के शुद्धता के भान में शुद्धतापरिणतिरूप वीतराग छठवें गुणस्थान के योग्य। उसके योग्य जो वीतरागदशा। शान्त.. शान्त.. शान्त.. अन्तर में ऐसी अविकारीदशा प्रगट हुई है, उसे ऐसा गमन सम्बन्धी शुभोपयोग होता है, वह व्यवहारसमिति कहलाता है। वह पुण्यबन्ध का कारण है। परन्तु ऐसा होता है। जिसे शुद्ध का कुछ सम्यग्दर्शन का भान नहीं, सम्यक्चारित्र क्या, इसकी भी खबर नहीं; ऐसे ईर्यासमिति में शुभभाव होता है, वह हठवाला होता है। उसे मिथ्यात्वसहित पुण्य बँधता है। मिथ्यात्व का महापाप तो साथ में होता है। आहाहा! निश्चय सत् क्या है, वह रह गया। मात्र व्यवहार की खोटी रूढ़ियाँ रह गयीं। आहाहा! मार्ग तो वीतराग का यह तो परमेश्वर का मार्ग है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक प्रभु ने देखे हैं, ऐसी वीतरागदशासहित का केवलज्ञान, उनकी वाणी में तो यह आया है, बापू! मुनिपने की दशा। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसी दशा होवे और निश्चय न होवे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चय न होवे तो कुछ सच्चा ही नहीं है। शून्य है। रण में शोर मचाने जैसा है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहते हैं? यहाँ आत्मा की बात है। वह संघ भी खोटा और वह भी खोटे। खोटे-खोटे की बात यहाँ नहीं है। यह तो आत्मा का स्वभाव सर्वज्ञ परमेश्वर ने वीतराग ने—केवलज्ञानी तीर्थंकरदेव ने कहा और उन्होंने तो पूर्ण प्रगट किया। अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त दर्शन, अनन्त चतुष्टय प्रभु को प्रगट हुआ। उन्होंने कहा कि जिसे आत्मदर्शन का भान है, आत्मा शुद्ध चैतन्य हूँ, राग का ईर्याविकल्प व्यवहार आवे, उसका भी मैं कर्ता नहीं। आहाहा! ईर्यासमिति का देखकर चलने का शुभभाव आवे, वह मेरा कर्तव्य नहीं है परन्तु आये बिना रहता नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। क्या हो?

जिस पन्थ से गणधर गये, जिस पन्थ का स्वीकार इन्द्रों ने किया, जिस पन्थ में महाचक्रवर्ती, चक्रवर्ती का राज्य छोड़कर... आहाहा! जैसे कफ छोड़े, वैसे छियानवें हजार स्त्रियाँ छोड़कर अतीन्द्रिय आनन्द में, अन्तर के आनन्द में आत्मा में प्रभु रमने लगे। ऐसा मुनिपना है। आहाहा! धन्य अवतार! वह दशा आये बिना इसे मुक्ति नहीं हो सकती परन्तु उससे पहले उसका भान तो होना चाहिए न (कि) कैसा मुनिपना? कैसा समकित? कैसा ज्ञान? किसे चारित्र कहना? किसे व्यवहार कहना? किसे निश्चय कहना? कुछ खबर बिना ये सब चार गति में भटकने के मार्ग हैं।

परमसंयमी मुनि को.. पहला शब्द यह लिया। क्योंकि वह व्यवहारसमिति की-ईर्या की बात है न? परन्तु व्यवहार किसे होता है? कि परमसंयमी मुनि को। जिन्हें अभी आत्मा का सम्यग्दर्शन क्या, इसका भान नहीं, इसकी पहिचान नहीं! उसे व्यवहार से देखकर चले और यह करे, वह सब मिथ्यात्वसहित हठवाला शुभभाव है। आहाहा! ऐसे परमसंयमी मुनि को अन्तर में तो शुद्धता बहुत प्रगट हुई है। तीन कषाय-अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय तीन का जिसे अभाव वर्तता है, ऐसे मुनि को **गुरुयात्रा...** लो आया। पुद्गलयात्रा था न? पुद्गलयात्रा बिना, पुद्गल बिना यात्रा नहीं हो सकती। लो आया। यह गुरुयात्रा। धर्मात्मा, आत्मज्ञानी, ध्यानी, आनन्द में रहनेवाले

सच्चे सन्त को भी गुरु के पास जाने का विकल्प आता है। अपने गुरु हों, आनन्द विशेष अधिक गुण में हैं, उनके पास जाने का विकल्प होता है, वह शुभविकल्प है। उस गमन में उन्हें शुभभाव होता है। देखकर चलना।

देवयात्रा... साक्षात् परमात्मा विराजते हों, उनके दर्शन करने जाना हो या **देवयात्रा...** सर्वज्ञ परमात्मा की सच्ची वीतरागमूर्ति, ऐसे तीर्थादि में जाना हो। **आदि प्रशस्त प्रयोजन...** लो, ये सब प्रशस्त प्रयोजन है, शुभराग के प्रयोजन हैं। गुरु के पास शिक्षा लेने जाना दो-पाँच कोस दूर हों तो। इत्यादि गमन करना, परन्तु है वह परमसंयमी सन्त स्वयं। उन्हें ऐसा शुभयोग का भाव आता है। ऐसे **प्रशस्त प्रयोजन का उद्देश्य रखकर, एक धुरा जितना मार्ग देखते-देखते,...** ऐसे बाहर नजर रखे कि कोई जीव-जन्तु न हो। यहाँ शुभ उपयोग है न? आहाहा!

एक धुरा जितना मार्ग देखते-देखते, स्थावर तथा जङ्गम प्राणियों की परिरक्षा के हेतु... प्रासुक मार्ग। उसमें कोई जीवजन्तु न हो, ऐसे मार्ग में मुनि गमन करे। नीचे वनस्पति हो, हरिकाय उगी हो, त्रस-चींटी, मकोड़ा, खपेड़ी उड़ती होती है। बारीक-बारकी खपेड़ी। ऐसा जहाँ हो, वहाँ मुनि विहार न करे, उसमें गमन न करे। निर्दोष मार्ग हो, जिसमें अचेतन हो गया हो, लोगों के पैर से सब मर्दन होकर अचेतन (प्रासुक) हुआ हो, उसमें मुनि ईर्यासमिति से गमन करते हैं। आहाहा! स्थावर, एकेन्द्रिय प्राणी, हों! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, ये पाँच एकेन्द्रिय स्थावर जीव हैं। उनकी भी हिंसा न हो, ऐसे चलते हैं। दिशा में, जंगल में जाना हो तो जहाँ हरितकाय उगी हो, वहाँ जंगल (दस्त) नहीं जाते। यह पठवा में आता है। आहाहा! नीचे यह वनस्पति देखो न, चातुर्मास में तो कितनी जमी होती है। आहाहा! उसमें नहीं जाते। जहाँ बालू हो, बालू के नाला (धोरे) हो, खाली पानीरहित, वहाँ जाते हैं। वे वहाँ गमन करते हैं। यहाँ गमन नहीं करते।

यह **प्राणियों की परिरक्षा के हेतु...** उन्हें दुःख न हो, यह अपेक्षा। रक्षा की व्याख्या इतनी। **दिन में ही चलता है,...** मुनि रात्रि में नहीं चलता। रात्रि में यह तो घण्टे-घण्टे, दो-दो घण्टे अन्धकार में (चले), गर्मी है तो शीघ्र पहले पहुँच जाएँ, चाय को पहुँचने। आहाहा! वह तो सम्यग्दर्शन और ज्ञानरहित व्यवहार का भी ठिकाना नहीं

होता। तुमने तो सब देखा होगा, नहीं? रात्रि को जल्दी उठे। चैत्र महीना की धूप हो। वहाँ शीघ्र पहुँच जाएँ। चाय को फिर देरी होगी। अरे रे! तेरे व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है। निश्चय तो है नहीं, वहाँ व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है, उसे साधु (माने)। कुसाधु को साधु मानने जैसी मान्यता है। आहाहा! ऐसा सन्तों का मार्ग, सर्वज्ञ परमेश्वर का है। तीर्थंकरदेव के मार्ग में ऐसा है। अन्यत्र तो कहीं है ही नहीं।

दिन में ही चलता है, उस परमश्रमण को ईर्यासमिति होती है। देखो! वापस यहाँ लिया। यहाँ यह शब्द है, हों! पहले परमसंयमी है। वहाँ फिर परम साधु है। परमश्रमण है। टीका में ही है। परमश्रमण अर्थात् अकेले अज्ञानी को ऐसा हो, यह नहीं। आहाहा! जिसे शुद्धभाव प्रगट हुआ है, वीतरागदशा जिसने अन्तर में अनुभव की है और प्रगट हुई है, ऐसे को ऐसा व्यवहार, यह समिति होती है। **(इस प्रकार) व्यवहारसमिति का स्वरूप कहा गया।** पाठ में था वह। अब वापस निश्चय की बात करते हैं। इसके साथ ही साथ।

अब, निश्चयसमिति का स्वरूप कहा जाता है... सच्ची समिति इसे कहते हैं। देखकर चलने का विकल्प तो उपचार, व्यवहारसमिति है, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है, वह धर्म नहीं है। व्यवहारसमिति भी धर्मी को धर्म नहीं है, शुभभाव है। अब निश्चयसमिति। **निश्चयसमिति का स्वरूप कहा जाता है – अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयरूपी मार्ग पर परमधर्मी ऐसे (अपने) आत्मा के प्रति...** देखो! बाहर चलते हैं न व्यवहारी? बाहर मार्ग में... तो अब निश्चयवाला? **अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयरूपी मार्ग पर...** आहाहा! एक तो शब्दों को समझना कठिन पड़े। अभेद-अनुपचार। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप, उसका सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र निर्विकल्प स्वभाव के आश्रय से होता है, उसे अभेद रत्नत्रय कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? अभेद कहो या अनुपचार कहो। उपचार नहीं। रत्नत्रयरूपी मार्ग में... आहाहा! अन्तर के स्वरूप में शुद्ध चैतन्य की सम्यग्दर्शनदशा, शुद्ध चैतन्य की सम्यग्ज्ञान, स्वसंवेदन ज्ञान की निर्मल दशा और स्वरूप में रमणतारूप वीतरागी चारित्र, ऐसे मार्ग में जो रमता है, उसे निश्चयसमिति कहते हैं। आहाहा!

अभेद-अनुपचार-रत्नत्रयरूपी... पृथ्वी में बाहर धुरा प्रमाण देखकर चले। कोई

जीव को, परजीव को दुःख न हो, यह शुभोपयोग है परन्तु यह किसे होता है? जिसे अन्तर में अभेद रत्नत्रय, वस्तु भगवान आत्मा, आत्मा प्रभु स्वयं सच्चिदानन्द है, उसका जिसे सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र हुआ है। आत्मा का साक्षात्कार जिसे हुआ है, वह **रत्नत्रयरूपी मार्ग पर...** वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो परिणति, उस मार्ग में गति करे, ऐसा कहते हैं। **परमधर्मी ऐसे (अपने) आत्मा...** ऐसा। **रत्नत्रयरूपी मार्ग पर परमधर्मी ऐसे (अपने) आत्मा के प्रति सम्यक् 'इति'...** परिणति। आत्मा की सम्यक् शुद्धदशा, उसे सच्ची समिति कहा जाता है। उसे संवर और निर्जरारूप समिति कहने में आता है। वह शुभ था कि देखकर चलना, वह तो पुण्यबन्ध का कारण शुभोपयोग था। समझ में आया? अभी बात समझते पकड़ में नहीं आती। आहाहा!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्धभाव की परिणति है न? उसके साथ यह शुभ है। समिति है न, अन्दर उपयोग स्थिर नहीं हुआ। शुद्धपरिणति भी निश्चयमोक्षमार्ग में आत्मा को जोड़ा हुआ है। उसमें चलता है, गति करता है। अन्तःसमिति और साथ में यह शुभोपयोग होता है, वह व्यवहार है, यह (शुद्ध उपयोग) निश्चय है। निश्चय, वह धर्म है और व्यवहार, वह पुण्य है। ऐसी बात है। वह बाहर में मार्ग में देखकर चले। यह अन्तर के मार्ग में देखकर चले। अपने आत्मा के प्रति सम्यक् गति, ऐसा, अर्थात् परिणति, शुद्धदशा, उसे सच्ची समिति कहा जाता है। अब इसकी तो गन्ध भी नहीं होती और व्यवहारसमिति में यह है... यह है... और विधि करो। विधि से धर्म करो, विधि से देखकर चलो। परन्तु किसको?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : मिच्छामि दुक्कडं, यह तो आता है।

मुमुक्षु : शुभभाव अविधि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वह शुभभाव ही अभी निश्चय से अविधि है। सूक्ष्म बात है। विधि से करना, अविधि न होने देना। खमासणा में अमुक में-अमुक में... अरे! बेचारा मजदूरी कर-करके मर जाता है। पुण्यबन्ध का भी ठिकाना नहीं होता। मिथ्यासहित

है न? यहाँ तो भगवान आत्मा अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान वीतरागी परिणति में प्रवर्तता है, उसका आत्मा सम्यक् गतिरूप से परिणमा है, उसे समिति कहा जाता है। वह सच्ची समिति है। सन्तों की सच्ची समिति। आहाहा!

मुमुक्षु : यह भाव का काम है....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा होवे, वहाँ ऐसा होता है। स्थिर न हो गया हो उसे। कहते थे न वे। निश्चय हो, उसे फिर क्या दिक्कत? अरे! जिसे पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई, उसे ऐसा होता है, वहाँ ऐसा शुभविकल्प आता है, नहीं तो वीतराग केवली हो गया हो। कहा न? गुरु के पास जाना, देव के पास जाना। उसे ऐसा भाव आता है, जानता है कि यह शुभराग है। व्यवहार से ऐसी दशा है। यद्यपि ज्ञानी तो व्यवहार से मुक्त है, परन्तु उस मुक्तदशा में ऐसा एक परविकल्प उठता है, ऐसा वह जानता है। आहाहा! गजब बात! लो, मुनि को शुभोपयोग होता है। एक ओर कहते हैं समकिती निश्चय में लीन, व्यवहार से मुक्त है। वह रखकर यह बात है। आहाहा! परन्तु बात यह है कि यह आत्मा क्या चीज़ है, इसकी खबर नहीं होती। आत्मा अर्थात् कुछ है बस। परन्तु वह अन्दर कौन है? अनन्त आनन्द का धाम सच्चिदानन्द प्रभु है वह। आहाहा! महाप्रभु की तो खबर नहीं होती और इन बाहर के भगवान की पहिचान करने निकले। ऐसी जिसे समिति की निश्चयदशा होती है, उसे वह व्यवहार होता है अथवा...

मुमुक्षु : परमधर्मी...

पूज्य गुरुदेवश्री : नाना परमधर्मी ऐसा अपना आत्मा। यहाँ धर्मी अर्थात् धर्म का धारक, ऐसा आत्मा अपने आत्मा के प्रति सम्यक् परिणति है ऐसी। ऐसा, धर्मी तो त्रिकाल वस्तु है, परन्तु उसकी परिणति है न, वीतराग परिणति वर्तमान है।

परमधर्मी ऐसे (अपने) आत्मा के प्रति सम्यक् 'इति' (गति) अर्थात्, परिणति,... उस ओर की झुकाववाली दशा। और शुभभाव की दशा परसन्मुख के झुकाववाली है, ऐसा कहना है। आहाहा! कोई कहे, परन्तु ऐसा समझकर हमें क्या काम है? परन्तु तुझे समकित क्या? साधुपना क्या? संवर-निर्जरा क्या? नव तत्त्व को भलीभाँति जानना पड़ेगा या नहीं? नव तत्त्व में संवर-निर्जरा किसे कहना? मुनिपना अर्थात् संवर,

निर्जरा। जिसे अभी नव तत्त्व की खबर नहीं। उसे अकेला आत्मा अन्दर से छाँटकर अलग करके अनुभव करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! नव तत्त्व के तत्त्व की अन्दर में अभी उसका ठिकाना नहीं होता। वीतराग कहते हैं उस प्रकार, हों! वीतराग के अतिरिक्त अन्यत्र यह बात कहीं किसी धर्म में है नहीं। यह बात कहीं नहीं हो सकती। वीतराग सर्वज्ञ के अतिरिक्त सबने कल्पना से सब बातें की हैं। समझ में आया?

निज परमतत्त्व में लीन सहज परमज्ञानादिक परमधर्मों को संहति... लो! **(मिलन; संगठन)...** एकाकार होना। **परमज्ञानादिक परमधर्मों को संहति...** उसमें एकाकार होना। आत्मा के प्रति था न पहला? उसमें परमधर्मों के प्रति। वह धर्मी के प्रति था, इसे धर्म के प्रति, स्वभाववान के प्रति परिणति थी। यह स्वभाव में परिणति, ऐसा कहते हैं। धर्म है न? **निज परमतत्त्व में लीन सहज परमज्ञानादिक परमधर्मों...** ऐसा। वह परमधर्मी था। यहाँ **सहज परमज्ञानादिक परमधर्मों...** उसकी **संहति (मिलन; संगठन),...** स्वभाव की एकता। **वह समिति है।** आहाहा!

इस प्रकार निश्चय और व्यवहाररूप समितिभेद जानकर,... देखो! दोनों को बराबर जानकर कि निश्चय सत्य यह है, व्यवहार उपचार यह है। **(उन दो में से)...** देखो अब। **परम-निश्चयसमिति को भव्य जीव प्राप्त करो।** ठीक। अधिकार व्यवहार का है। व्यवहार को प्राप्त करो नहीं, व्यवहार आ जाता है। इसलिए कठोर लगे न यह। मुनि हैं और अधिकार व्यवहार का चलता है परन्तु यह व्यवहार, निश्चय को समझाने के लिए, निश्चय में स्थिरता हो, उसके लिए व्यवहार है। निश्चय को प्राप्त करना है, व्यवहार को प्राप्त करना नहीं। व्यवहार तो बीच में आ जाता है। गजब बात!

यह तो जिसे संसार का, चार गति का डर लगा हो। कहीं सुख नहीं स्वर्ग में या सेठाई में या धूल में। सुख आत्मा में है, ऐसी जिसे रुचि और गरज हुई हो, उसे मुनिपना कैसा होता है, उसे पालने का, उसे समझना चाहिए। और यह मुनिपने की ऐसी दशा न हो, उसे मुनिपना मानना, तो माननेवाले को भी मिथ्यात्व लगता है। समझ में आया? वह तो मिथ्यात्वी है ही। जिसे मुनिपना नहीं, उसे मुनिपना मानता है परन्तु उसे मुनिपना जो माने... मुनि है न? साधु है न। पाँचवें काल के उत्कृष्ट न हों भले, परन्तु साधु हैं न?

साधु ही नहीं, सुन न! दृष्टि ही मिथ्यात्व है। राग से, क्रिया से धर्म मानता है और राग का व्यवहार का भी ठिकाना नहीं। वह निश्चय और व्यवहार दोनों से भ्रष्ट है। आहाहा! कठिन काम, बापू! जगत के साथ खड़े रहना। वीतरागमार्ग में रहना।

(उन दो में से) परम-निश्चयसमिति... वापस। व्यवहार... **परम-निश्चयसमिति को भव्य जीव प्राप्त करो।** आहाहा! ओहो!

अब, ६१ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज चार श्लोक कहते हैं— पहली समिति है न, पहली। ८१ वाँ कलश

इत्थं बुद्ध्वा परमसमितिं मुक्तिकान्तासखीं यो,
मुक्त्वा सङ्गं भव-भयकरं हेम-रामात्मकं च।
स्थित्वाऽपूर्वे सहजविलसच्चिच्चमत्कारमात्रे,
भेदाभावे समयति च सः सर्वदा मुक्त एव।।८१।।

अब यहाँ आया, लो! **इस प्रकार मुक्तिकान्ता की (मुक्तिसुन्दरी की) सखी...** तेरी पूर्ण आनन्ददशा, ऐसी मुक्ति। पूर्ण आनन्ददशा, ऐसी सिद्धदशा की सखी परमनिश्चय समिति। आहाहा! यह उसकी सखी है। मुक्तिकान्ता पूर्ण आनन्दस्वरूप सिद्धदशा की सखी यह निश्चयसमिति है। स्वरूप में एकाकार होकर परिणमना, वीतरागदशारूप से आत्मा में लीन होना अथवा अनन्त धर्मों-स्वभाव में लीन होना, ऐसी **परम—समिति को जानकर, जो जीव भवभय के करनेवाले...** लो। हेम, रामादि। है न? हेम अर्थात् सोना। रामा अर्थात् स्त्री। **भवभय के करनेवाले कञ्चन कामिनी के संग को छोड़कर,...** आहाहा! कंचन और कामिनी चोकी आड़ी आती है न? 'चोकी आड़ी श्याम की, राम की रमत को वही लूटे' नरसिंह मेहता कहते हैं। व्यवहार से। यह बात है, वह वहाँ कहाँ है? 'कंचन और काम की चोकी आड़ी श्याम की, राम की रमत को वह लूटे।' यहाँ तो संग न करना, इतनी बात है। कंचन आदि परिग्रह। उसमें कंचनादि, वस्त्रादि सब आया और कामिनी अर्थात् स्त्री, उसके संग को छोड़कर, उस ओर के झुकाव के भाव को छोड़ दे। आहाहा!

अपूर्व, सहज-विलसते... अब उसे छोड़कर जाना कहाँ? **अपूर्व, सहज-विलसते...**

आहाहा! **(स्वभाव से प्रकाशते),...** आहाहा! सहजानन्द भगवान **अभेद चैतन्य-चमत्कारमात्र में...** देखो! भगवान चैतन्यस्वरूप ज्ञानानन्दस्वरूप प्रभु, ऐसा अभेद एकरूप, उसमें स्थित रहकर, उसमें स्थित रहकर **सम्यक् 'इति' (गति) करते हैं; अर्थात्, सम्यक्रूप से परिणमित होते हैं, वे सर्वदा मुक्त ही हैं।** वह मुक्त ही है, कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, वह अतीन्द्रिय आनन्द में, ऐसे चैतन्य चमत्कारमात्र में, अभेद चैतन्य चमत्कार, ऐसा। उसमें भेद नहीं। एकरूप त्रिकाल स्थित रहकर सम्यक् गति करे, परिणति करे, शुद्धरूप से हो। **वे सर्वदा मुक्त ही हैं।** उसकी परिणति रागरहित हुई, वह मुक्त ही है, कहते हैं। आहाहा! **वे सर्वदा मुक्त ही हैं।** वापस। मुक्त ही। **'सर्वदा मुक्त एव'** मुक्त ही है।

मुक्त समकिती में आता है न। समयसार कलश। यह चारित्रवन्त मुक्त कहा। वहाँ समकिती को मुक्त कहा है। आहाहा! यह बात सुनना भी इसे कठिन, उलझनजनक लगती है। यह क्या कहते हैं? भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ, उस अतीन्द्रिय आनन्द में प्रवेश करके शुद्धपरिणति प्रगट करना, वह जीव मुक्त है, (ऐसा) कहते हैं। द्रव्य और गुण तो मुक्त थे, परिणति ने वीतरागता प्रगट की, वह मुक्त हो गयी। समझ में आया? द्रव्य अर्थात् आत्मा और गुण अर्थात् शक्तियाँ, वे तो मुक्त ही हैं। जो पर्याय में, राग में एकता थी, वह टूटकर स्वभाव के साथ एकता हुई और शुद्धदशा हुई, वह मुक्त है। पर्याय में भी मुक्त है। व्यवहार समिति का अधिकार, उसमें ऐसे कलश डाले हैं। मुश्किल से व्यवहार का अधिकार आया, वहाँ फिर यह कहा। परन्तु इस निश्चय के बिना व्यवहार नहीं है, यहाँ तो ऐसा सिद्ध करना है।

८२ वाँ कलश।

जयति समितिरेषा शीलमूलं मुनीनां,
त्रसहति-परिदूरा स्थावराणां हतेर्वा।
भवदवपरितापक्लेशजीमूतमाला,
सकलसुकृतसीत्यानीकसन्तोषदायी ।।८२।।

श्लोकार्थ... आहाहा! **जो (समिति),...** निश्चय। यहाँ तो यह कहा। आत्मा

अनन्त आनन्द का सागर है। उस आत्मा में शुद्धपरिणति अथवा धर्म में, उसके धर्मों में एकाग्रता की परिणति, वह। **(समिति), मुनियों को शील का (चारित्र का) मूल है,...** चारित्र का वह मूल है। यह निश्चयसमिति, हों! लोग शान्ति से स्वाध्याय भी नहीं करते। ऐसा का ऐसा हाँकते ही जाते हैं। पढ़े (जाते हैं)। धूल में भी उसमें कुछ नहीं है। आहाहा! एक-एक गाथा पढ़े तो खबर पड़े कि यह सब तेरा उल्टा है। अरे! ऐसे अवसर में, ऐसे काल में मनुष्यभव में भव के अभाव की बात न जँचे, और न समझे तो यह इसने क्या किया? बाकी तो सब ढोर भी खाना-पीना करते हैं।

यहाँ तो कहते हैं, जो स्वरूप आत्मा का भगवान आत्मा अथवा उसके आनन्द आदि धर्म, उसमें जो एकाकार होकर परिणमता है, उसे निश्चयसमिति कहते हैं। वह निश्चयसमिति चारित्र का मूल है अर्थात् वही चारित्र है। समझ में आया? **जो त्रसजीवों के घात से तथा स्थावरजीवों के घात से समस्त प्रकार से दूर है,...** एक पृथ्वी का एकेन्द्रिय जीव भी घात हो, उससे भी यह समिति दूर है। पानी की एक बूँद में असंख्य जीव हैं। कहते हैं कि मुनि के लिए पानी बनाया हो और ले, ऐसा है नहीं। दूरवर्ती है समिति। आहाहा! यह ईर्या की बात है परन्तु यह सब समिति में ऐसा लेना।

जीवों के घात से समस्त प्रकार से दूर है,... पृथ्वीकाय, अग्निकाय, वायुकाय, अपकाय—तेजकाय, वनस्पति और त्रस, छह काय के जीव से (जीव के घात से) दूर हैं। किसी भी एकेन्द्रिय जीव को दुःख हो, ऐसा भाव मुनि को नहीं होता। मुनि को। मुनि की बात है न? यहाँ तो सब अध मण-अध मण पानी गर्म करे उनके लिए। उठावे, डाले उसमें... क्या कहलाता है कमण्डल। मुनि को कमण्डल, और फिर पात्र। इतने-इतने बड़े पात्र भरें। भरकर मोतीशा की धर्मशाला में। वहाँ देखा था न हमारे यहाँ। हमारी बहन वहाँ रहती थी न? हरिबेन, हरकुँवरबेन नहीं? हरकुँवरबेन की नहीं वह शाला? वह हमारी बहिन थी। मोतीशा में उनके मालिक रहते थे। नाम भूल गये। लींबड़ी के थे हरकुँवरबेन, नहीं? उनकी शाला है पालीताणा में। बड़ी पाठशाला है। वह हरिबेन थी हमारी। हमारे बापू के बड़े भाई की लड़की। दादा की लड़की। वहाँ उतरे थे। मोतीशा की धर्मशाला में, संसार में थे तब हमारी बहिन थी। सब देखा था रसोड़ा-बसोड़ा। परन्तु यह तो (संवत्) १९६९ के वर्ष, हों! १९७० से पहले। भाई

साथ में थे। शिवलालभाई साथ में थे। उनके सगे भाई और हमारे दादा के लड़के होते हैं, सब देखा था। साथ में यात्रा गये थे। १९६९ में दीक्षा लेने से पहले। सब कुछ ठिकाना नहीं होता। नीचे उतरकर लड्डू खाया था और तले हुए भुजिये। इतना बड़ा था। यह तो ऐसा बड़ा। पहले बहुत था। मैं और वे भाई थे। हरकुँवरबेन के सगे भाई! पहले... देरी लगेगी चलो न यहाँ थोड़ा खा लें। फिर गये घर। बेचारे उत्साह से दें, हों! यहाँ तो फिर हमारे पहिचान थी न, अरे रे! उसमें लोग प्रसन्न हों, लो!

कहते हैं कि त्रस और स्थावर के जीव से... एकेन्द्रिय की भी हिंसा हो, उससे मुनि तो दूर हैं। आहाहा! समस्त प्रकार से (दूर हैं)। छह काय के पीहर, लिखे सही, छह काय का ग्वाल। उनके लिए कच्चरघाण, उसके लिए पानी, आहार, चाय, दूध। कहते आवें कि भाई आज आना, हों! भुजिया-बुजिया है हमारे यहाँ। दोपहर को आना। कुकर्म करते हैं न? सन्त, मुनि तो त्रस और स्थावर के घात से दूर हैं।

जो भव—दावानल के परितापरूपी क्लेश को शान्त करनेवाली... आहाहा! भव दावानल का परिताप-क्लेश सुलगा है, प्रभु! आहाहा! यह मिथ्यात्व राग-द्वेष के परिणाम दावानल हैं, कहते हैं। आहाहा! यह क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष के भाव दावानल सुलगता संसार है। आहाहा! ऐसे **भव—दावानल के परितापरूपी क्लेश को शान्त करनेवाली तथा समस्त सुकृतरूपी धान्य की राशि को (पोषण देकर) सन्तोष देनेवाली...** अनाज बोया होवे न? पश्चात् वर्षा-मेघमाला ठीक से आवे। मेघमाला ऐसी ठीक से आवे न? देखो न! छींटे ऐसे ठीक से आवें, माला जैसे लगें। ऐसे निश्चयसमिति, आत्मा की वीतराग शुद्धपरिणतिरूपी समिति, इसके सुकृत अर्थात् शुद्धता के जितने गुण के अंकुर-धान्य, ऐसी जो राशि है, उसे समिति सन्तोष देनेवाली मेघमाला है। **ऐसी यह समिति जयवन्त है।** आहाहा! मुनि ऐसा कहते हैं कि वह समिति हमारे पास है। समझ में आया? आहाहा! वह जयवन्त वर्तती है। हमारी परिणति हमारे पास है, ऐसा कहते हैं। जयवन्त वर्तती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! पद्मप्रभमलधारिदेव मुनि दिगम्बर सन्त थे। ९०० वर्ष पहले आनन्दकन्द में झूलते थे। कहते हैं कि आत्मा के अनन्त गुण के अंकुर जितने फूटे हैं, उन सबको समिति मेघमाला समान धान्य को पोषण देनेवाली है। वह जयवन्त वर्तो, कहते हैं। आहाहा! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल १०, शनिवार, दिनांक - ३-७-१९७१
गाथा-६२, श्लोक-८३-८४, प्रवचन-५७

व्यवहारचारित्र का अधिकार है। अन्दर कलशों में तो निश्चय आता है अर्थात् जिसे प्रथम आत्मा पवित्र शुद्ध आनन्द और ज्ञातादृष्टा है, ऐसा जिसे प्रथम भान हुआ हो, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव कहते हैं। तदुपरान्त यहाँ तो बात है। जिसे आत्मा का कल्याण करना है, उसे उस कल्याणस्वरूप भगवान आत्मा का पहले अनुभव करना चाहिए, अनुभव के बिना यह आत्मा क्या चीज़ है, इसकी प्रतीति या विश्वास यथार्थ नहीं हो सकता। समझ में आया? तदुपरान्त यहाँ तो व्यवहारचारित्र का अधिकार है न? जिसे आत्मदर्शन, शुद्ध चैतन्यसत्ता, पुण्य-पाप के राग से भिन्न, ऐसा भान हुआ; तदुपरान्त जिसे चारित्रदशा होती है, अर्थात् स्वरूप में रमणता, आनन्दस्वरूप में रमणतारूपी निश्चय / सच्चा चारित्र होता है, उसे ऐसे व्यवहारचारित्र के विकल्पों की मर्यादा है। आहाहा! इतनी इसमें शर्तें हैं। समझ में आया?

जिसे आत्मा की परमानन्ददशा, ऐसी मुक्ति की जिसे स्पृहा है, उसे तो प्रथम आत्मा मुक्तस्वरूप आनन्द है, ऐसी तो उसे दृष्टि अनुभव में पहले होना चाहिए। इसके बिना उसे चारित्र नहीं होता और मात्र सम्यग्दर्शन से भी कहीं मुक्ति नहीं होती। सम्यग्दर्शन उपरान्त स्वरूप में रमणतारूपी चारित्र हो, उसे ऐसे व्यवहारसमिति— देखकर चलना इत्यादि शुभभाव होता है। जिसे सम्यग्दर्शन ही नहीं, जिसे अन्तरचारित्र ही नहीं, उसे ऐसा व्यवहार ईर्यासमिति का व्यवहार भी नहीं हो सकता।

नियतमिह जनानां जन्म जन्मार्णवेऽस्मिन्,
समिति-विरहितानां काम-रोगातुराणाम्।
मुनिप कुरु ततस्त्वं त्वन्मनो-गेह-मध्ये,
ह्यपवरकममुष्याश्चारुयोषित्सुमुक्तेः ।।८३।।

श्लोकार्थ : यहाँ (विश्व में) यह निश्चित है कि इस जन्मार्णव (भवसागर में) समितिरहित.... जीव भटकते हैं। आत्मा के आनन्द के परिणमनरहित दशावाले भटकते हैं। समझ में आया? आत्मा का अतीन्द्रिय आनन्द, उसके भान बिना और उसकी

रमणता बिना (भटकते हैं)। समिति अर्थात् स्वरूप में रमणता होना। आनन्द में रमणता, वह निश्चयसमिति और वह सच्चा चारित्र कहा जाता है। ऐसा जिसे नहीं है, वे **जन्मार्णव (भवसागर में) समितिरहित कामरोगातुर (इच्छारूपी रोग से पीड़ित)...** हैं। जिसे कुछ करना ही नहीं, ऐसा स्वरूप है। ऐसा जिसे भान नहीं है, उसे तो इच्छारूपी रोग (है), उसमें आतुर है। अज्ञानी ऐसे कुछ करूँ, ऐसा करूँ, पुण्य करूँ, पाप करूँ, पर का करूँ। स्वसन्मुख की दृष्टि छोड़कर परसन्मुख के विकार परिणाम में कर्ता से पीड़ित दुःखी है वह। आहाहा! चौरासी के अवतार में भटकनेवाला वह आत्मा के स्वरूप की अन्तर रमणता के अभाव में पर की इच्छा के कार्य में रूका हुआ (है)। स्वयं ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, उसमें भान होकर रमना चाहिए कि जो मुक्ति का अथवा संसार के अन्त का उपाय है। आहाहा! उसे नहीं करके कामातुर अर्थात् **तुराणाम्** इच्छा के रोग से पीड़ित प्राणी, ऐसा कहते हैं।

इच्छा, वह दुःख है। यह करना... यह करना... यह करना... ऐसी इच्छा से पीड़ित प्राणी दुःखी होते हुए **जनों का जन्म होता है।** ऐसे जीवों का चौरासी में अवतार होता है। आहाहा! समझ में आया? **(विश्व में) यह निश्चित है...** ऐसा। निश्चित ही है कि भवसागर में तो आत्मा के स्वरूप की रमणतारहित कामातुर **जनों का जन्म होता है।** आहाहा! कलंकित अवतार। यह सब अवतार, वह कलंक है, कहते हैं। भगवान आनन्दस्वरूप ज्ञान का सागर आत्मा है, उसकी जिसे अन्तर रमणता... पहले रमणता भी क्या वस्तु है, उसका भान हो और फिर रमणता हो। अर्थात् भान और रमणता रहित प्राणी, ऐसा कहते हैं। इच्छा से पीड़ित वे जन्म धारण करते हैं। आहाहा!

इसलिए हे मुनि! मुनिप शब्द है। प अर्थात्... **मुनिप** है न? चेतनजी! परन्तु क्या? प क्यों हैं? हमारे पण्डित कहते हैं। मुनिपति ऐसा कहते हैं। हे मुनि! ऐसा। आहाहा! **तू अपने मनरूपी घर में...** है न? **कुरु ततस्त्वं त्वन्मनो-गेह-मध्ये,** आहाहा! **हे मुनि! तू अपने मनरूपी घर में इस सुमुक्तिरूपी सुन्दर स्त्री...** परमानन्द की परिणति होना, इसका नाम मुक्ति है। इसके **लिए निवासगृह...** अन्तर में मुक्ति की दशा की रमणता का समय ले, ऐसा कहते हैं। आहाहा! तेरे घर में ऐसी मुक्तिरूपी निवास का घर रख, कमरा उसके लिए रख, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा इन पुण्य-पाप के विकल्प से भी रहित है, ऐसी दृष्टि हुई है, ऐसे मुनि को कहते हैं कि अब तू तेरे स्वरूप में रमण कर। मुक्ति को तेरे घर में बसा, ऐसा कहते हैं। बन्धन के भाव की दृष्टि से तू छूटा है, अब दृष्टि सहित में स्वरूप में राग से मुक्त होने की ऐसी मुक्तिरूपी स्त्री का घर रख। आहाहा! उसका निवास-घर कमरा रख। आहाहा! यह पुण्य और पाप को रखने का भाव है न? कहते हैं, वह तेरा मिथ्यात्वभाव है। वह तेरे जन्मने के लक्षण हैं। चौरासी में जन्मना... आहाहा!

इसलिए हे मुनि! राग से रहित पूर्ण परमात्मदशा, सिद्धदशा के कारणरूप तेरे मन में-निर्मल पर्याय में उसका चिन्तन कर, उसका ध्यान कर, उसमें रमणता कर कि जिससे तुझे मुक्ति हो। भारी कठोर शर्तें। आहाहा! देखकर चल, ईर्यासमिति की बात यहाँ नहीं ली है। वह तो बीच में व्यवहार होता है, ऐसा ज्ञान कराया है। करने का तो प्रभु! तुझे अन्तर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में परिणति करना, वह तेरी समिति है। निश्चय, हों! यह व्यवहार सम्यग्दर्शन वह वापस नहीं। आहाहा! यह तो निर्भ्रान्त हूँ। निभ्रत पुरुषों का काम है, ऐसा आया था। आहाहा!

भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान की मूर्ति का जिन्हें एकाग्रपना हुआ है, वे निभ्रत पुरुष सब जगत की चिन्ताओं से मुक्त हैं। समझ में आया? ऐसी मुक्ति का तू चिन्तवन कर, ऐसा कहते हैं। चिन्तवन का अर्थ अन्दर एकाग्रता करना। ज्ञानस्वभावभाव ऐसा तू, उसमें एकाग्र हो। वह मुक्ति का उपाय है और उस मुक्ति को तेरे घर में बसाने का कारण है। आहाहा! ८४ कलश।

यह सत्य की बात तो जगत में बाहर में रही नहीं और वह व्यवहार अकेला रहा गया। खोटी लकीरें। सर्प गया और लकीरें रहीं। ऐसा चलना, ऐसा खाना, यह करना... परन्तु वह तो सब विकल्प की बात है, सुन न! शुभराग है, परन्तु उसके पहले अन्तर रागरहित स्वरूप की दृष्टि और स्वरूप के अनुभव बिना स्वरूप में रमणता की समिति कहाँ से आयेगी? आहाहा! जिसने स्वरूप ही देखा नहीं, जाना नहीं, दृष्टि में लिया नहीं; उसे स्वरूप में रमणता कहाँ से होगी? ऐसा कहते हैं। रमणता अर्थात् चारित्र। आहाहा!

कहते हैं, वरना चौरासी के अवतार में जन्मना पड़ेगा। आहाहा! कोई वहाँ तेरा

सहायक नहीं है। इसलिए आत्मा अपने निज स्वभाव की सम्हाल करके उसमें रमणतारूपी समिति प्रगट कर, जिससे तुझे जन्म-मरण मिट जाए, यहाँ यह बात है। आहाहा!

८४ वाँ कलश!

निश्चयरूपां समितिं सूते यदि मुक्तिभाग्भवेन्मोक्षः।
बत न च लभतेऽपायात् सन्सार-महार्णवे भ्रमति।।८४।।

***श्लोकार्थ :*—यदि जीव, निश्चयरूप समिति को उत्पन्न करे...** क्या कहते हैं? देखो! दिगम्बर सन्तों की सनातन परिणति की प्रणालिका। है अधिकार व्यवहार का, तो भी... होवे जाननेयोग्य। आचरणयोग्य तो स्वरूप में रमणता, वह है। नव तत्त्व में संवर-निर्जरा की मुनि की दशा कैसी होती है, उसका यहाँ ज्ञान कराते हैं। चौथे गुणस्थान में संवर-निर्जरा अल्प होती है, पाँचवें गुणस्थान में विशेष होती है, मुनि को बहुत विशेष होती है और अकेला पुण्यभाव ही होता है, ऐसा नहीं है — ऐसा कहते हैं। मात्र ईर्यासमिति-देखकर चलना, वह तो विकल्प, राग है। वह कहीं मुनिपना नहीं और वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा!

कल किसी का पत्र आया था कि ये सब मन्दिर बनाते हैं और होते हैं, इसकी अपेक्षा तो आत्मा में उतरने की बात ढूँढ़ियों को करो न अब। लो, किसी का पत्र आया था, बापू! भाई! यह शुभराग होता है। यहाँ देखो न! व्यवहारचारित्र होता है, उसका ज्ञान कराते हैं। शुभराग, भगवान की भक्ति आदि धर्म नहीं है परन्तु अशुभराग से बचने को बीच में ऐसा भाव आता है। यदि उसे कहे कि नहीं, नहीं; यह छोड़ो तो फिर यह पढ़ना, सुनने में भी शुभराग है। यह सुनना भी शुभराग है। आहाहा!

मुमुक्षु : ध्रुव का घोंटन करना।

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्रुव का घोंटन करे, वह तो पहले अन्दर विकल्प है। ऐई! उसे अन्तर में दृष्टिसहित की रमणता तो अमुक काल रह सकती नहीं; इसलिए उसे ऐसा शुभभाव होता है। यह पत्र किसी का आया था। कहाँ का था? मेरठ का। अन्तर्देशी आता है। ऐसी कि इस प्रकार... यहाँ तो भाई! हम कहते नहीं। यह तो लोग उनके अनुसार मन्दिर आदि शास्त्र में होते हैं, इसलिए बनाते हैं। होते हैं। होते हैं, वह तो

उनके कारण होते हैं। तब यहाँ कहे उतारो इसमें, ढूंढ़िया को मूर्ति जँचती नहीं, इसलिए उसे चैतन्य में उतरो, ऐसा कहते हैं परन्तु अभी चैतन्य का भान नहीं। आहाहा! अभी उसमें मूर्ति है और उसका भक्तिभाव आता है, ऐसी जिसे खबर नहीं, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! समझ में आया? तब तो यह श्रवण करना, वह भी शुभभाव है। यह पढ़ना भी शुभभाव है। णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, ऐसा करना भी एक शुभराग है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। यह तो राग की व्याख्या, बापू! उसे खबर नहीं। वे सब विकल्प आते हैं, होते हैं। वह धर्म नहीं है। आहाहा! धर्म तो उन विकल्पों से रहित चैतन्यमूर्ति भगवान का अनुभव होकर दृष्टि हो, वह धर्म की शुरुआत है और पश्चात् स्वरूप में रमणता करना, ओहो! वह तो धन्य अवतार! उनकी दशा आनन्द में झूलती होती है, उसका नाम चारित्र है। चारित्र कहीं वस्त्र छोड़कर नग्न हो गये, इसलिए चारित्र (हो गया), ऐसा नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो जिसे जन्म-मरण मिटाकर मुक्ति करनी हो, उसकी बात है, भाई! तो उसे तो कहते हैं, **यदि जीव, निश्चयरूप समिति को उत्पन्न करे...** देखो! अर्थ ऐसा है न? निश्चय भगवान आत्मा, अन्तरस्वरूप में आनन्द और ज्ञान का सागर आत्मा है। आत्मा वस्तु है न? पदार्थ है न? तो है तो उसमें कुछ शक्ति, गुण, स्वभाव होगा या नहीं? या जड़ में ही गुण और स्वभाव होते हैं और आत्मा में नहीं होते? अरे! जड़ में गुण और स्वभाव है, यह भी निर्णय किसने किया? यह तो आत्मा ने (निर्णय किया)। आत्मा अन्दर ऐसा त्रिकाली कायम रहनेवाला उसका स्वभाव है। ज्ञान और आनन्द और स्वच्छता, शुद्धता, पवित्रता, ऐसा उसका स्वभाव है। ऐसे स्वभाव में **समिति को उत्पन्न करे...** उसमें से निश्चय। शुद्धता उत्पन्न करे, शुद्धता का स्वभाव है, उसमें से शुद्धता उत्पन्न करे। पुण्य-पाप के परिणाम नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

निश्चयरूप समिति... अन्तर आत्मा आनन्द में परिणमे, आनन्द में रमे—ऐसी जो सच्ची समिति, उसे पहले तो उत्पन्न करे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उत्पाद है न? वह तो पर्याय है न? भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध और आनन्द का धाम, ध्रुवधाम में से शुद्ध

निश्चयरूप समिति प्रगट करे। यह वीतरागदशा है। कषाय के क्लेश से रहित, अकषाय के आनन्दसहित, ऐसी समिति को उत्पन्न करे, उसे धर्म कहते हैं। आहाहा! गजब धर्म की व्याख्या, भाई! **तो वह मुक्ति को प्राप्त करता है....** कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : बढ़ते-बढ़ते.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बढ़ते-बढ़ते वह उत्पन्न करता है, उसमें से ही मुक्ति होती है। यह समिति, वह समिति है और आगे बढ़ा वह। परिणमन है न! वह सब समिति का परिणमन है। थोड़ा, बहुत, ज्यादा।

परन्तु समिति के नाश से... आहाहा! कहते हैं, शुद्ध भगवान आत्मा आनन्द का स्वरूप है, उसमें जिसकी दृष्टि और रमणता नहीं, **अरेरे...** ऐसा कहते हैं। **बत** है न? **अरे रे! वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता,...** वह चौरासी के अवतार में भटकेगा। आहाहा! कौआ और कुत्ता, कंथवा और हाथी, नारकी और पशु ऐसे अवतार... आहाहा! बापू! तुझे खबर नहीं। जिसे भगवान आत्मा अन्तरस्वरूप सर्वज्ञ परमेश्वर ने देखा, तीर्थंकरदेव केवली परमात्मा ने (देखा) वह अनन्त आनन्द और ज्ञान और शान्ति से भरपूर तत्त्व है। उसका आश्रय करके निर्मल दशा करे, उसे समिति कहो, मोक्षमार्ग कहो - सब एक ही है। उसे संसार का किनारा आता है, परन्तु अरे रे! खेद है कि प्रभु! अपनी जाति को नहीं सम्हाल कर, स्वयं आनन्द का धाम आत्मा है, उसके सन्मुख में रमणता, श्रद्धा नहीं करता। अरे रे! राग की क्रिया के भाव में पड़ा, वह मोक्ष नहीं प्राप्त करता - ऐसा कहते हैं। लो, यहाँ तो आत्मा की रमणता रहित अकेली ईर्यासमिति व्यवहार, वह भी मोक्ष नहीं प्राप्त करता, भाई! ऐसा कहा है। आत्मा का अनुभव और अन्तर रमणतारहित अकेला ईर्यासमिति का शुभभाव है, वह भी संसार है, उसका फल संसार है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह तो समिति ही कहाँ है?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो लोग व्यवहार से कहते हैं न! ऐसे बराबर देखकर चलता है, किसी जीव को दुःख न हो, ऐसे चलता है। अरे! परन्तु अन्दर में वस्तु है, उसमें तो देखकर चलता नहीं। उसे देखा नहीं और देखे बिना अन्दर में रमणता कहाँ से होगी? भारी कठिन, भाई! अभी तो यह बात सुनने को मिलती नहीं। अरे रे! भाई! यह

मुनि यहाँ खेद करते हैं। प्रभु! यह तेरे ऐसे आनन्दस्वरूप में अन्तर-सन्मुख की दृष्टि और रमणता बिना अकेली राग की क्रिया से मुक्ति नहीं होगी, ऐसा कहते हैं। मोक्ष नहीं होगा, अवतार होगा। आहाहा! वह तो अवतार चाहे स्वर्ग का हो तो भी वहाँ अंगारे का दुःख है, प्रभु! कषाय की भट्टी जलती है। आहाहा!

अरे रे! वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाता, किन्तु संसाररूपी महासागर में भटकता है। आहाहा! चौरासी के अवतार अथाग, उसमें भ्रमेगा। अज्ञानी उनमें भ्रमेगा, ऐसा कहते हैं। जिसे स्वरूप भगवान आत्मा की समिति अर्थात् जिसे अन्दर शुद्धपरिणति, शुद्ध है—ऐसा भान नहीं है और इसलिए शुद्ध की परिणति दशा उसे नहीं है, ऐसा। इसलिए उसे मात्र अशुद्ध परिणति है, ऐसा कहते हैं। चाहे तो पुण्य का भाव हो या पाप के भाव हों, दोनों मलिन भाव हैं। दोनों संसार में जन्म लेने के कारण हैं। आहाहा! यह ८४वाँ कलश हुआ, लो।

संसाररूपी महासागर... भाषा तो ऐसी है न? **महार्णवे** आहाहा! संसार बड़ा समुद्र है। पृथ्वी के अवतार, जल का अवतार, अग्नि का अवतार, वायु का अवतार, चींटी, कौआ, कुत्ता—ऐसे अवतार कर-करके कचूमर निकल गया। जहाँ कुछ मनुष्य हों, उसमें फिर पाँच-पच्चीस लाख पैसे (रुपये) हों, स्त्री, पुत्र ठीक हों, धन्धा अच्छा जमे तो हम सुखी हैं। मूढ़ है, सुन न! तूझे कौन सुखी कहता है? दुःख के अंगारों में जल रहा है। ऐ.. हिम्मतभाई! आहाहा! वह दुःख के क्लेश के अंगारों में जल रहा है। ये सेठ, राजा और देव सब दुःख के अंगारों में सुलग रहे हैं। आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसकी खबर नहीं।

मुमुक्षु : तन-मन थरथरता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तन तो कुछ थरथरता न हो। अन्दर राग थरथरता है। विकार-विकार। राग और द्वेष की आकुलता होती है। आहाहा! अभी धन्धा बहुत अच्छा दमदार चलता है। लोग क्या कहें? धमाकेदार। ऐसी सब अज्ञानी की भाषा होती है। अभी धमाकेदार चलता है। लाख-लाख, दो-दो लाख की आमदनी। बीस हजार का खर्च, एक लाख अस्सी हजार बढ़ते हैं परन्तु अब क्या है? सुन न! दुःख के अंगारे सुलगते हैं, तुझे भान नहीं है। वह जड़ मेरा है और जड़ लक्ष्मी मुझे मिली, यह तेरी मान्यता ही

मूर्खता से भरपूर है। दुःख के अंगारों में सुलग रहा है और मानता है कि मैंने किया है। कैसे हैं भाई! अभी बादशाही है। ठीक। अक्ल का खां है, कहते हैं। गुणवन्तभाई! यहाँ तो ऐसा है, भाई! आहाहा! आनन्द के धाम प्रभु आत्मा पर तेरी नजर नहीं होती और नजर मात्र पुण्य और पाप के राग में, पर में मूढ़ होकर चौरासी के अवतार में जन्म लेने के तेरे लक्षण हैं। आहाहा! ऐसा यहाँ कहते हैं। शान्तिभाई! क्या होगा ऐसा? गजब भाई! धर्म बहुत कठिन।

मुमुक्षु : दुःख को दुःख मानता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख की खबर ही नहीं है। बस, पाँच-पच्चीस लाख मिले, शरीर सुन्दर, स्त्री ठीक, लड़के आज्ञाकारी, बहुएँ अच्छे घर की...

मुमुक्षु : ऐसा तो सबको होता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब होता नहीं, लो कहते हैं परन्तु यह तो किसी के यहाँ होता है।

मुमुक्षु : होवे उसमें सन्तोष माने।

पूज्य गुरुदेवश्री : दीपचन्द सेठिया है न? उनके यहाँ सब बाहर की सुविधाएँ हैं। दीपचन्द सेठिया सरदारशहर। कहते थे। अभी उन्हें सब समानता। लड़के, उनकी बहू अच्छे घर की, तेरापंथी गृहस्थों की हो, स्थानकवासी तेरापंथी, तो भी उसे बहुत वह। पाँच-सात बहुएँ हों तो सबके गहने सबको दे नहीं। सबके गहने एक जगह रखे। जिसको चाहिए हो, वह ले जाना। ऐसा कि कुछ यह मेरा-तेरा होवे तो फिर वापस विवाद उठे। अच्छे घर की लड़कियाँ हों, इसलिए विवाद टालकर शान्ति है। उनके घर में बहुत शान्ति है। उनकी लाईन ही अलग है। सेठिया के घर की। सवेरे से शाम तक सब खाने में, पीने में, सबमें धर्म के गायन होते हैं। बाहर की लाईन बहुत ऐसी है। वह तो कहते थे परन्तु कहे हमारे बर्तन उठानेवाली लड़की, महिला आती है, वह यह बोलती है - हम आनन्द में रहनेवाले हैं, राग आदि हम नहीं हैं, शरीरादि हमें नहीं है, पैसा हमारा नहीं है, स्त्री हमारी नहीं है - ऐसा कहती है। वह भी अच्छे घर की पैसेवाली... ऐसा बोलते थे। काम करनेवाली हो, उसे भी कितना ही पुण्य (होता है),

वह भी गहने पहनकर, वस्त्र, बर्तन करते। वे कहते थे। पुण्य का कहते थे कि भरत चक्रवर्ती का अंश है हमारे पास तो। परन्तु धूल में क्या है? ऐसा तो अनन्त बार मिला। वह तो दुःख का सरदार है। आहाहा! कहो, ऐसी सब समानता किसी को होती है परन्तु वह तो पुण्य की, धूल की समानता न? वह तो दुःख का हर्ष है। आहाहा!

भगवान आत्मा आनन्द का सागर प्रभु अन्दर है, उसमें जिसकी नजर नहीं है और उसमें जिसकी रमणता नहीं है। नजर नहीं अर्थात् सम्यग्दर्शन नहीं। आहाहा! वह तो संसाररूपी महासागर में भटकेगा। यह ईर्यासमिति की बात हुई। लो, अब भाषासमिति। पाँच समिति में दूसरी। यहाँ तो समिति का रूप ही दूसरे प्रकार का है। ६२वीं गाथा।

पेसुण्णहासकक्कसपरणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
परिचत्ता सपर-हिदं भासा-समिदी वदंतस्स।।६२।।

नीचे इसका हरिगीत।

पैशून्य, कर्कश, हास्य, परनिन्दा प्रशंसा आत्म की।
छोड़ें कहे हितकर वचन, उसके समिति है वचन की॥६२॥

टीका :—**यहाँ भाषासमिति का स्वरूप कहा है। चुगलखोर मनुष्य के मुँह से निकले हुए....** चुगलीखोर मनुष्य होते हैं न? किसी की कहीं भिड़ावे, किसी का कहीं भिड़ावे। आहाहा! **चुगलखोर मनुष्य के मुँह से निकले हुए और राजा के कान तक पहुँचे हुए,...** राजा के कान तक जाए। **किसी एक पुरुष,...** की चुगली खोर। किसी एक पुरुष की चुगली करे या **किसी एक कुटुम्ब अथा किसी एक ग्राम को...** ऐसा **महा विपत्ति के कारणभूत...** उस कुटुम्ब को, मनुष्य को और गाँव को बड़ी आपत्ति आ पड़े ऐसे शब्द बोलना और राजा के कान में जाए तो हैरान कर डाले।

मुमुक्षु : अभी तो राजा रहे नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह राजा रहे। परन्तु वे तो दूसरे होते हैं न, कार्यकर्ता दूसरे होते हैं, यह तो वह का वह हुआ।

महा विपत्ति के कारणभूत—ऐसे वचन, वह पैशून्य है। चुगली-चुगली। आहाहा! किसी के गुप्त ऐसे भाव हों, वह चुगलीखोर खोले और राजा के पास जाए तो लूटे। जीभ

काट डाले, हाथ काट डाले। आहाहा! ऐसे वचन धर्मात्मा नहीं बोलता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? ऐसे शब्द धर्मात्मा को नहीं होते। शब्द ही ऐसे नहीं होते अर्थात् ऐसा भाव नहीं होता, ऐसा कहना है। शब्द तो जड़ हैं। ऐसे पैशून्यभाव छोड़कर... मुनि समिति से स्व-पर के हित के वाक्य कहे, ऐसा कहते हैं।

अब हास्य की व्याख्या करते हैं। हास्य **कहीं..** किसी जगह **कभी...** किसी काल में **किन्हीं परजनों के विकृतरूप को देखकर...** तीन शब्द हैं। दूसरे जनों का विकृतरूप। भाण्ड का रूप या ऐसा रूप देखकर **कहीं कभी किन्हीं...** किसी जगह किसी काल में और कुछ भी थोड़ा **परजनों के विकृतरूप को देखकर अथवा सुनकर हास्य नामक नोकषाय से उत्पन्न होनेवाला, किञ्चित् शुभ के साथ मिश्रित होने पर भी अशुभकर्म का कारण, पुरुष के मुँह के विकार के साथ सम्बन्धवाला,...** ऐसे मुख ऐसा करके ऐसी मजाक करते हैं न? आहाहा! ऐसे शब्द बोले, सामनेवाले को मरना पड़े। लोहे के बाण जैसे कठोर लगे। अरे! सज्जनों को ऐसे शब्द होंगे? यहाँ तो मुनि की बात है। मुनि ऐसे भाव को छोड़ देते हैं। ऐसे भाव नहीं होते। **वह हास्यकर्म है।** लो।

मुमुक्षु : जरा शुभ के साथ मिश्रित....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, शुभ के साथ मिश्रित कहा। शुभ अर्थात् क्या? जरा सा अन्दर... है तो सब अशुभ। परन्तु यह बाहर के हैं न? हास्य, मस्करी करते हैं न? दाँत निकालते हैं, वह पाप ही है।

कर्ण छिद्र के निकट पहुँचनेमात्र से जो दूसरों को अप्रीति उत्पन्न करते हैं, वे कर्कश वचन हैं। कर्कश वचन। ऐसे कठोर वचन बिच्छू के डंक जैसे लगते हैं। ऐसे वचन सज्जनों को, धर्मात्मा को नहीं हो सकते। आहाहा! **दूसरे के विद्यमान—अविद्यमान दूषणपूर्वक के वचन...** अब देखो यह। दूसरे लोगों में दूषण हो या दूषण न हो। **विद्यमान—अविद्यमान दूषणपूर्वक के वचन...** निन्दा है न? उसमें पर को दुःख होता है। आहाहा! **दूसरे के विद्यमान...** दूषण और **अविद्यमान दूषण...** न भी हो। ऐसे वचन **(अर्थात्, पर के सच्चे तथा झूठे दोष कहनेवाले वचन)...** ऐसा। न हो, उसे कहना और होवे, उसका कहना। दोष होवे, उसे कहना और दोष न हो, उसे वापस दोष

लगाना। दोनों झूठे दोष कहनेवाले वचनों को परनिन्दा कहा जाता है। ऐसे शब्द उसे पाप के भाव हैं। इन सज्जनों को ऐसे शब्द नहीं हो सकते। देखा इसमें? पर में दूषण होवे, तो भी कहना, वह भी परनिन्दा है - यहाँ तो ऐसा कहते हैं। न होवे और कहना, वह तो एक दूषण है, झूठ है ही, परन्तु है, उसके दूषण कहे तो सामनेवाले को दुःख होता है न? समझ में आया? ऐसे शब्द छोड़कर, ऐसा कहते हैं। परित्यागी है न अन्तिम? यह सब अप्रशस्त वचनों को छोड़कर, ऐसा कहते हैं।

और **अपने विद्यमान-अविद्यमान गुणों की स्तुति,...** देखो! सच्चे गुण हों और अपनी स्तुति करना, वह भी एक निन्दा है। अपनी प्रशंसा है, कहते हैं। आहाहा! और अविद्यमान। नहीं गुणों को गुण कहना, वह तो दोष है ही। समझ में आया? आत्मप्रशंसा। परन्तु है, ऐसे गुणों को भी बाहर फूँकना / कहना, वह भी एक अप्रशस्त भाव है।

मुमुक्षु : खबर कैसे पड़े?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहना था उसे? खबर का क्या काम है। ऐई!

मुमुक्षु : ठगाने देना न उसे....

पूज्य गुरुदेवश्री : तुझे क्या? दूसरे को दुःख हो, ऐसा करने का कारण क्या?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन किसे ठगता है? किसी के ऐसे दूषण प्रगट करना, वह सज्जन का काम नहीं है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। होवे, ख्याल में आ जाए, तथापि कहना शोभा देता है? एक भगवानजीभाई कच्छी थे। मूली में। स्थानकवासी थे परन्तु उन्हें हमारे प्रति बहुत प्रेम था। बहुत पढ़े हुए थे। साधु को पढ़ावे ऐसे थे। मूली में भगवानजी कच्छी। वे एक बार तो ऐसा कहते थे कि वह कुत्ती आकर बैठी हो। क्या कहलाता है उसे जरा ऐसा करके? परन्तु अपने हट कहना, वह उसे तो कुछ नहीं परन्तु अपने को शोभा नहीं देता, ऐसा कहते थे। अपन हट-हट कहते हैं। एक बार बात करते थे, बहुत शास्त्र पढ़े हुए। ...शास्त्र का पठन बहुत था। उन्हें हमारे प्रति बहुत प्रेम था। स्थानकवासी में होशियार कहलाते थे। एक वे भगवानजीभाई और एक दामोदर सेठ यहाँ दामनगर दो और तीसरे वीरजीभाई के पिता ताराचन्दभाई। ये तीनों शास्त्र के पढ़नेवाले, पूरे काठियावाड़

में थे। उसमें नीति में ताराचन्दभाई अधिक। ऐसे सब तीनों में अन्तर था। वीरजीभाई के पिता, ऐसे नीतिवाले बहुत। ताराचन्दभाई शास्त्र पढ़ावे। दृष्टि खोटी, दृष्टि खोटी। ऐई! जयन्तीभाई! ताराचन्दभाई को देखा था? वीरजीभाई के पिता। ऐसे बड़े पण्डित कहलाये, हों! साधु की टोली को पढ़ावे, अर्जिकाओं को पढ़ावे परन्तु दृष्टि विपरीत थी।

एक तो हम पहले-पहले (संवत्) १९८२ में जामनगर गये थे और जती के उपाश्रय में उतरे थे। व्याख्यान दिया। लोग तो बहुत हजारों लोग। १९८२ के वर्ष की बात है। उसमें एक वाक्य आया, जो कुछ मन की सरलता, वचन की सरलता, काया की सरलता, वह क्रिया पुण्यबन्ध का कारण है, धर्म नहीं। भाई! यह आता है न? नामकर्म में। यह तो आता है। ज्ञानसागर है न? जामनगर की ज्ञानसागर पुस्तक है। ऐसा कि चार प्रकार से शुभनामकर्म बँधता है। 'मन की सरलता, कालुजोयाय सुजोयाय। यह अविसंवाद जोगाणं।' इसलिए कोई ऐसा कहे कि मन की सरलता के परिणाम हैं, वह धर्म है, यह नहीं, कहा। मन की सरलता का विकल्प है, वह पुण्य है। ऐसे तीनों काया के सरलता के भाव हैं, वे पुण्य हैं, धर्म नहीं। इसलिए उन्हें तो जरा बात उलटी बैठी हुई थी। कोई नहीं था, तब शाम को अकेले आये। महाराज! ऐसी बात तो लोगों को... मैंने कहा क्या है? लोगों को अब चाहे जो हो। तुम देखो, ज्ञानसागर में देखो। कहा चार प्रकार से शुभ नामकर्म बँधता है और चार प्रकार से अशुभ नामकर्म बँधता है। मन, वचन, काया की असरलता और विसंवाद / झगड़ा वह पाप बाँधता है। मन, वचन, काया की सरलता के परिणाम, वह पुण्य बाँधता है। पश्चात् मन, वचन, काया की सरलता के परिणाम, वे धर्म-संवर हैं, बिल्कुल नहीं। ज्ञानसागर में आता है। वे साधु भड़क गये, परन्तु अकेले, हों! लोग शान्त। कोई नहीं था, तब शाम को आये। महाराज! यह क्या? मैंने कहा, यह मार्ग है, लोगों को जँचे या न जँचे, उससे क्या हुआ? वहाँ तो अकेली क्रिया में प्रौषध करे और प्रतिक्रमण करे, वह सब भाव धर्म है, ऐसा मानते हैं। धूल में भी धर्म नहीं है, कहा। मिथ्यात्वसहित राग की मन्दता है परन्तु व्यक्ति शान्त कुछ बोले नहीं।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं। धर्म-वर्म प्राप्त करने में बाहर का कोई कारण है ही नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो एक पात्र गिना है, एक अपेक्षा से। परन्तु कौन सी सरलता? ऐसी सरलता तो अनन्त बार की है। हुआ क्यों नहीं? नामकर्म शुभभाव से पुण्य बँधता है, ऐसा पाठ है। सब... है। ज्ञानसागर में पाठ है। पहले वह ज्ञानसागर सीखे हुए थे न? १९६८ के वर्ष में। पालियाद। पालेज से आये, तब पहले ये सीखे थे। ज्ञानसागर के ये थोकड़ा सब। चार प्रकार से पुण्य बाँधे। मन की सरलता... ऐसा शब्द है। काया की सरलता, मन की सरलता, वाणी की सरलता। बापू! मार्ग तो यह है, कहा। शास्त्र में लिखा है, देखो यह। वह धर्म नहीं है। सरलता पुण्य है, वक्रता पाप है और उस सरलता तथा वक्रतारहित आत्मा की दृष्टि और अनुभव करना, वह धर्म है। परन्तु वे बेचारे भड़क गये थे। लो कितने ही साधु-आर्यिकाओं को पढ़ावे, परन्तु यह बात सुनकर भड़क गये थे। देखो! कहा, तुम्हारे ज्ञानसागर में लिखा है न? तुम्हारे पुनातर, पुनातर से प्रकाशित है न? जामनगर के पुनातर है, ज्ञानसागर छपाया है, वह बाहर चलता है। स्थानकवासी में वह बहुत चलता है। थोकड़ा सीखे उसमें पहले यही सीखना। छह काय, नव तत्त्व, गुणस्थान, सब... है अपने यहाँ सब है। प्रत्येक पुस्तक है। यहाँ तो मन, वचन और काया के झुकाववाला भाव, चाहे तो शुभ या अशुभ, वह बन्ध का कारण है। आत्मा शुद्ध चिदानन्द प्रभु की सन्मुखता का भाव, धर्म है। कहो, समझ में आया?

अपने विद्यमान-अविद्यमान गुणों की स्तुति, वह आत्मप्रशंसा है।—यह सब अप्रशस्त वचनों के परित्यागपूर्वक स्व तथा पर को शुभ और शुद्धपरिणति के कारणभूत वचन,... लो, ठीक। या सामनेवाले को शुभभाव हो, ऐसा निमित्त-वाणी और या शुद्धता हो, ऐसा निमित्त-वाणी। वाणी में यह आता है। समझ में आया? **स्व तथा पर को...** देखो न! अपने को भी शुभ और शुद्ध तथा पर को भी शुभ और शुद्ध का कारण कहा, निमित्त है न।

भगवान आत्मा राग से रहित है, पुण्य-पाप के विकल्प से रहित है, यह शुद्ध के

निमित्त के वचन हैं। स्वयं स्वरूप में स्थिर न हो, तब भगवान की भक्ति, पूजा, नाम-स्मरण का भाव होता है, यह भाषासमिति शुभ में निमित्त है। समझ में आया? कारण कहा है यहाँ तो, ऐई! शुभभाव को, शुद्धपरिणति को कारणभूत है। कारणभूत वह करे तब न? ऐसी भाषासमिति है तो शुभभाव। भाषासमिति, बोलना, वह भी एक शुभभाव है। संवर-निर्जरा नहीं है, धर्म नहीं है। आहाहा! लो, इसे भाषासमिति कहते हैं। मुनि धर्मात्मा को तो ऐसा स्व-पर की निन्दा और प्रशंसारहित, स्व-पर को शुभ और शुद्ध का निमित्त, ऐसी भाषा होती है। भाषा तो भाषा के कारण से है, परन्तु ऐसा उसका भाव है, ऐसा। ऐसा शुभभाव होता है।

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामी ने (आत्मानुशासन में २२६ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि... लो!

समधिगत-समस्ताः सर्व-सावद्य-दूराः,
स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसङ्कल्पमुक्ताः,
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः।।

श्लोकार्थ :—**जिन्होंने सब (वस्तुस्वरूप) जान लिया है,...** धर्मात्मा। मुनि ने तो जगत का सब स्वरूप जाना है। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, जीव, अजीव, प्रत्येक छह द्रव्य का स्वरूप भगवान ने जो कहा, परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने छह द्रव्य कहे, उनके अन्तर्भेद नो कहे, वह सब जिसने जान लिया है। पुण्य, वह पुण्य है; पाप, वह पाप है; आस्रव, वह आस्रव है। आत्मस्वभाव, वह स्वभाव है। उसके आश्रय से होनेवाली संवर-निर्जरादशा, वह निर्मलदशा है। अजीव वह अजीव है। ऐसे सब तत्त्वों की पृथक्-पृथक् स्थिति जैसी है, वैसी जिसने जान ली है।

जो सर्व सावद्य से दूर हैं,... मुनि की बात है न? उन्हें बिल्कुल सावद्य के परिणाम (नहीं हैं)। आहाहा! यह तो मकान बनावे, वहाँ स्वयं खड़ा रहे। कितने पत्थर आये? धूल कहाँ आयी? व्यवहार का भी ठिकाना नहीं होता। आहाहा! गजब बात है। अपने नाम के दो-दो लाख, पाँच-पाँच लाख के मकान बनाये। अकेला सावद्य-पाप है।

ऐसे पाप के वचन मुनि को नहीं होते। **जिन्होंने स्वहित में चित्त को स्थापित किया है,...** आहाहा! अपने ज्ञान की दशा और स्वहित में है। उस ज्ञान में स्वहित का स्थापन है। **स्वहित में चित्त को स्थापित किया है,...** मेरा स्वभाव शुद्ध आनन्द, उसमें मुझे रहना, ऐसा स्वहित जिसने चित्त में स्थापित किया है। देखा?

जिन्होंने सर्व प्रचार शान्त हुआ है,... अर्थात्? कुछ साज-सम्हाल करनी हो कि भाई! यह पाठशाला करनी हो तो इसकी सम्हाल मैं करूँगा। ऐसा मुनि को नहीं हो सकता। आहाहा! एक पुस्तक बनाओ, यह सब व्यवस्था मैं करूँगा। मैं प्रूफ देख दूँगा।

मुमुक्षु : बराबर है या नहीं, ऐसा तो निश्चित करना चाहिए न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बराबर है, यह कोई कहे उसे कहे परन्तु वहाँ साज-सम्हाल सिर पर काम ले ले कि इतना काम तो तुम्हारे करना पड़ेगा। मुनि के सिर पर कोई बोझा नहीं हो सकता, ऐसा कहते हैं। भाई! यह तुम्हारे नाम का पत्रक बाहर लगाते हैं, इसलिए तुम्हें इस पत्र में एक-दो लेख देने पड़ेंगे। यह बोझा मुनि को नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रचार का इनकार करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : देखो न, क्या कहते हैं यह? **प्रचार=व्यवस्था; कार्य सिर पर लेना; आरम्भ; बाह्य प्रवृत्ति।** इतना काम करना पड़ेगा। ये लड़के हैं। अपन छात्र करते हैं। छह छात्र हैं, इनमें से सवेरे आधे घण्टे तुम्हें यहाँ हमेशा उपदेश देना। मुनि ऐसा काम सिर पर लेते ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हं... ऐसा है। और फिर भी शुभ आता है, परन्तु तो भी काम सिर पर लेना, इतना काम तो हर रोज तुम्हें करना ही पड़ेगा। अच्छे लोगों पर हमेशा दो पत्र तो तुम्हें लिखने ही पड़ेंगे, यह काम मुनियों का नहीं है। आहाहा! अपने आता है न? प्रवचनसार में नहीं आता। क्या कहते हैं उसे? क्रमप्रक्रम? मुनि तो ऐसे आनन्द में मौज करते हैं। हलवा, हलवा, हलवा उन्हें अब यह करना, यह करना, पत्र लिखना... पत्र आवे तब उनके उत्तर देना, यह बोझ मुनि को नहीं होता। आहाहा! थोक के थोक

आवे। सवेरे के पचास सौ पत्र, वापस उसके जवाब लिखे हों। उसे व्यक्ति रखा हो। लिखो। यह तो अकेला संसार का धन्धा है। संसार की दुकानें चली हैं। आहाहा! प्रभु का मार्ग ऐसा है। मुनि तो निवृत्त... निवृत्त... निवृत्त... निवृत्त... निवृत्त... निवृत्त... रागरहित शुद्धता में जहाँ रम रहे हैं, उन्हें ऐसे काम सिर पर बोझा, वह हो ही नहीं सकता। समझ में आया?

कार्य सिर पर लेना; आरम्भ; बाह्य प्रवृत्ति। यह मुनि को नहीं हो सकता। यहाँ एक पाँच लाख का मन्दिर बनता है, वहाँ हमेशा तुम्हें क्लास लेने आना है, देखने आना है, बस। यह काम मुनियों का नहीं है। आहाहा! ऐसा काम मुनि सिर पर नहीं लेते। आहाहा! **जिनकी भाषा स्व-पर को सफल (हितरूप) है,...** ऐसा कहते हैं। जिसमें अपना हित हो, ऐसा हो अथवा पर का हित हो, ऐसी ही भाषा होती है। जिसमें एकेन्द्रिय प्राणी भी मरे, हिंसा हो, ऐसी भाषा मुनि को नहीं होती। **जो सर्व संकल्परहित हैं,...** भाषा देखो, आहाहा! संकल्प ही यहाँ नहीं है। आनन्द की लहर में जहाँ उछले, जहाँ सन्त-नग्न दिगम्बर मुनि वे तो जंगल में बसते हैं। आहाहा! वीतरागी मुनि तो संसार से पर, पार होते हैं। यह जब मकान में हो, तब वे वन में होते हैं। ये बोलचाल करे, तब प्रसन्न हो, वे मौन हों। आहाहा! पन्थ ही अलग है। **वे विमुक्त पुरुष इस लोक में विमुक्ति का भाजन क्यों नहीं होंगे?** आहाहा! ऐसे मुक्ति में क्यों नहीं जाएँगे? **(अर्थात्, ऐसे मुनिजन अवश्य मोक्ष के पात्र हैं।)** लो, आहाहा! जिनकी दशा अन्तर में आनन्द का उछाल, लहरें उछल रही हैं। जिन्हें कभी शुभ विकल्प आता है, तथापि उनका आदर नहीं है, ऐसे मुनि मुक्ति में क्यों नहीं जाएँगे? कहते हैं। आहाहा! जरूर जाते हैं। लो! इसके अतिरिक्त अज्ञानी बन्ध के भाव ले, और मुनिपना माने, वह संसार में क्यों नहीं जाएगा? अवश्य संसार में जाएगा।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल ११, रविवार, दिनांक - ४-७-१९७१
गाथा-६३, श्लोक-८५, प्रवचन-५८

पुण्य और पाप के शुभ-अशुभ रागभाव को एकत्वरूप से (अनुभव करता है)। स्वभाव शुद्ध है और विभाव अशुद्ध है, दो का एकपने मानना, वह बन्ध है, वह मिथ्यात्व है, वह अज्ञान है। उससे—राग और विकल्प से मेरी चीज़ शुद्ध चिदानन्द आत्मा भिन्न है—ऐसी जिसने राग से भिन्नता की और अपने स्वभाव की एकता अन्तर में श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति द्वारा साधी है, उसे मोक्षमार्ग कहते हैं। अटपटा जैसा लगे। लोगों को तत्त्व का अभ्यास नहीं होता। शान्तिभाई! आत्मा क्या वस्तु है? अन्दर क्यों दु:खी है? बन्ध क्यों है और बन्धरहित कैसे हुआ जाए, यह बात इसने अनन्त काल में बराबर सुनी नहीं, विचार नहीं की। अन्दर में प्रभु आत्मा...

यह अधिकार तो अपने भाषासमिति का चलता है परन्तु मोक्षमार्ग में आत्मा, यह विभाव के विकल्पों की वृत्ति जो पुण्य-पाप और दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम से भिन्न अपना जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसका आश्रय लेकर जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं, उसे मोक्षमार्ग कहते हैं। उस मोक्षमार्ग को साधनेवाले सन्त होते हैं। उन्हें भाषा समिति होती है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। यद्यपि निश्चय से तो वे विकल्परहित ही अपनी शुद्धपरिणति को साधते हैं। वही सच्ची अन्तर शुद्ध स्वभाव की एकता, वह उनकी सच्ची समिति है। समिति—स्वरूप की परिणति शुद्धगति, विकाररहित आत्मा शुद्धचिदानन्द की शुद्ध परमपवित्र परिणति, गति, रमणता ही सच्ची समिति गिनने में आयी है। ऐसा है। इसे भाषासमिति विकल्प होता है, तो बराबर हित-मित बोलना; वीतराग कहते हैं, उस प्रकार से सत्य बात कहना, उसे व्यवहारसमिति, पुण्यबन्ध का कारण है। मनसुखभाई! यह गजब बात है। यह अगम्य बातें हैं। अब यहाँ तो अपने निश्चय का है, देखो! ८५वाँ कलश।

पर-ब्रह्मण्यनुष्ठान-निरतानां मनीषिणाम्।
अन्तरैरप्यलं जल्पै: बहिर्जल्पैश्च किं पुन:।।८५।।

आहाहा! **श्लोकार्थ : परब्रह्म के अनुष्ठान में निरत...** भगवान आत्मा परमात्मस्वरूप

ही शुद्ध आनन्द है। ऐसा जो परमब्रह्म। ब्रह्म क्यों कहा?—कि परम आनन्दस्वरूप आत्मा है। वह अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु आत्मा है, इसलिए परमब्रह्म, ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाव में-अनुष्ठान में यह उनका अनुष्ठान। आहाहा! परमानन्दस्वरूप भगवान आत्मा में आचरण करना अर्थात् एकाग्र होना, वह उसका अनुष्ठान, यह धर्मी का आचरण है। आहाहा!

परब्रह्म के अनुष्ठान में निरत... निरत अर्थात् लीन। आहाहा! अनादि से अज्ञान में अपने निजानन्दस्वरूप के भान बिना, यह पुण्य और पाप के रागभाव, दुःखभाव में यह रत था, लीन था। यह संसार में भटकने का रास्ता है। आहाहा! समझ में आया? यह उसकी लीनता बदलना। परमब्रह्म का अनुष्ठान किया। आहाहा! अनादि से... यह देह तो जड़, मिट्टी, धूल, अजीव है। इसे और आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है। दोनों परिणति निराली है। दोनों की दशा ही अलग है। यह (शरीर) तो जड़, मिट्टी, अजीव है। इस अजीव की पर्याय करता हुआ अजीव स्वयं से टिक रहा है।

आत्मा में जो अनादि के पुण्य और पाप के भाव जो विभावभाव, उनमें जो अनादि से रत था, लीन था, वह दुःख के पन्थ में, बन्ध के पन्थ में था। शान्तिभाई! ऐसा स्वरूप है। बहुत सूक्ष्म है। अनजाने को तो अटपटा जैसा लगे। अटपटी भाषा होवे न, ऐसा लगे। वस्तु का कभी परिचय किया नहीं। अन्दर देह में रजकण से, मिट्टी से भिन्न। जिसका चैतन्य का तेज, ज्ञान और आनन्द के तेज से दिप्त, ओपता-शोभता आत्मा है। ऐसे आत्मा को यहाँ परमब्रह्म कहते हैं। परम आनन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। इन विषयों में, पैसे में, शरीर में, स्त्री के भोग में सुख मानता है, वह तो मूढ़ अज्ञानी कल्पना करके मानता है। उनमें है नहीं। कल्पना करके, मूढ़ अपने आनन्द को भूलकर, उनमें ठीक लगता है, मजा आता है, ऐसा वह मानता है। यह मान्यता मिथ्याभ्रम और दुःखरूप है। उसे टालकर जिसने परमब्रह्म भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के सागर प्रभु का जिसने अनुष्ठान किया, उसके अन्तर के आचरण में जो लीन है। यह क्या कहते हैं?

इसका अनादि का आचरण विकारी, पुण्य और पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध आदि भाव, ये सब विकारी भाव हैं, उनका इसे आचरण था। यह आचरण

मिथ्या आचरण, मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-आचरण है। इस आचरण की दृष्टि छोड़कर, जो परमब्रह्म भगवान आत्मा के अनुष्ठान में लीन है। सच्चिदानन्द प्रभु—सत् शाश्वत चिद् ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द के अनुष्ठान में लीन है। इनकी भाषा देखो! आहाहा! भगवान पूर्णानन्द का नाथ आत्मा, उसके आचरण में-अनुष्ठान में-आचरण में लीन है, यह मुक्ति का मार्ग है। कहो, समझ में आया? शशीभाई! यह शब्द तो बहुत सरस आया है। मांगलिक में पहला ही आया है। लो, तुम्हारे। आहाहा!

कहते हैं, अरे! एक बार सत्य क्या है, तेरा सत्पना, सत्यपना। पुण्य-पाप के भाव, वे तो सब असत्य और दुःखकारी, विकारी हैं। शरीर, मन, वाणी तो सब जड़ और अजीव हैं, वे कोई तुझमें नहीं हैं, तेरे नहीं हैं, तेरे होकर रहे नहीं हैं। वे तो उनके (जड़ के) होकर रहे हैं। तू आनन्द और ज्ञान का, तेज का सागर प्रभु है। उसरूप अनादि से न रहकर, शुभ-अशुभ के विकल्प, पुण्य, पाप के राग के आचरणरूप रहना, वह दुःखदायक आचरण है। समझ में आया? आहाहा! आचरण तो इसकी दशा में होता है न? हैं?

भगवान आत्मा अनादि से विकार के, पुण्य-पाप के भाव के आचरण में है, वह तो बन्धभाव है, दुःखभाव है, संसारभाव है, भटकने का भाव है। दुःख के जाल में उलझने का वह भाव है। जिसे मोक्ष करना हो, उसे भगवान आत्मा परमब्रह्म, परम आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर स्वरूप, ध्रुव अनादि-अनन्त अविनाशी जो चीज़ है, उस परमब्रह्म का अनुष्ठान, यह पर्याय है। परमब्रह्म, यह त्रिकाली आनन्दस्वरूप, वह ध्रुव है... है... और है आत्मा। आदि नहीं, अन्त नहीं; अनादि है, है और है। ऐसा जो अतीन्द्रिय परमब्रह्म आनन्दस्वरूप का अनुष्ठान अर्थात् उसमें एकाग्रता, जिसे मोक्षमार्ग कहते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह परमब्रह्म का अनुष्ठान है। समझ में आया? आहाहा! बात सुनने पर बैठना कठिन पड़ती है। अरे! सम्प्रदाय में यह बात नहीं चलती।

यह बात ही दूसरी है, भगवान! बात ही बापू! अपूर्व बात अनन्त काल में जिसे सुनी नहीं, ग्रहण नहीं की, रुचि नहीं, परिणमी नहीं। वह चीज तो कैसी होगी? भाषा

ही पहले ऐसी ली है। देखो न! भाषासमिति का कहते हैं। यह भाषा बोलना, वह नहीं, कहते हैं। आहाहा! यह व्यवहारसमिति का विकल्प, वह तो व्यवहार आचरण है परन्तु जिसे ऐसा निश्चय आचरण होवे, उसे होता है परन्तु यह व्यवहार आचरण का भी विकल्प है, उसे छोड़कर, भगवान परमानन्द प्रभु ध्रुव अविनाशी अनादि-अनन्त सत् आत्मा का जो आनन्दस्वरूप ध्रुव में एकाग्र होना, वह परमब्रह्म का अनुष्ठान है, वह आत्मा का अनुष्ठान है, वह आत्मा का आचरण है, वह आत्मा की मोक्षमार्ग की दशा है। समझ में आया?

ऐसे धर्मात्मा ने **निरत (अर्थात्, परमात्मा के आचरण में लीन) ऐसे बुद्धिमान् पुरुषों को...** देखो! उन्हें चतुर कहा। ये दुनिया के चतुर, वे चतुर नहीं। महीने में पाँच-पाँच हजार, दस-दस हजार का वेतन, वे चतुर होंगे या नहीं? इन रामजीभाई के लड़के को पढ़ाकर कितना बड़ा किया है, सुमनभाई (को)। आठ हजार का वेतन, ऐसा लोग कहते हैं। अपने को कुछ खबर नहीं। ऐसा लोग कहते हैं कि इनके लड़के का आठ हजार का मासिक वेतन है। नौ हजार है। लो, उसके पिता को खबर नहीं।

मुमुक्षु : मुझे खबर नहीं और सरकार का कानून हुआ है कि पाँच हजार से अधिक किसी को नहीं दिया जाएगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह गुप्त होगा। आहाहा!

कहते हैं कि यह चतुराई नहीं है, ऐसा कहते हैं। यह तो भटकने की चतुराई है। आहाहा! देखो न! यह क्या कहते हैं?

भगवान आत्मा आनन्द की मूर्ति, प्रभु! वस्तु हो, वह दुःखरूप होगी? दुःख तो उससे उल्टी विकृत दशा करे, वह दुःख है। दुःख नहीं शरीर, वाणी, मन में; दुःख नहीं अन्तरस्वरूप में। अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ भगवान को भूलकर पुण्य और पाप के भाव में रुकता है, वह दुःख है। समझ में आया? आहाहा! वह रुचि छोड़कर जिसे परमब्रह्म भगवान आनन्दमूर्ति, प्रभु, इन आस्रव के राग से निराला; पुण्य-पाप के विकल्प, वह तो बन्धन के कारण, आस्रव, विकार है। उनसे निराला ध्रुवतत्त्व है। उसके अनुष्ठान में एक स्वभाव में स्वाश्रय में लीन है, उन चतुर पुरुषों को... उन्हें चतुर पुरुष

कहा। बाकी सब पागल और मूर्ख हैं। महीने में दस-दस हजार का वेतन हो। समझ में आया? आहाहा!

अरे! प्रभु अपना स्वरूप आनन्द का धाम, मृग की नाभि में कस्तूरी है, कस्तूरी की मृग को कीमत नहीं होती। इसी प्रकार अन्तर आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द की कस्तूरी भरी है, उसकी उसे कीमत नहीं है। पुण्य और पाप अथवा पुण्य का फल यह कुछ धूल मिली हो, पैसा पाँच-पचास लाख, स्त्री, पुत्र कुछ रूपवान और अच्छे (हुए हों), यह उसकी-धूल की लक्ष्मी। आहाहा! उसकी इसे महिमा है, यह मूढ़ है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। ऐई! मलूपचन्दभाई! आहाहा! न्याय से समझना पड़ेगा या नहीं? 'नि' धातु है न? वस्तु का स्वरूप जैसा है, उसे नि धातु, ले जाना। जैसा है, उसे ज्ञान में ले जाना, इसका नाम न्याय कहा जाता है। आहाहा!

भगवान ने... श्लोक रखा है न! टीका का, स्वयं का नहीं? टीकाकार का अपना। अरे! जिसका आचरण विकार का आचरण जो पर की ओर के आश्रयवाले, ऐसी आश्रयदृष्टि जिसे पर की छूट गयी है और स्व भगवान नित्यानन्द प्रभु, ध्रुवस्वरूप भगवान आत्मा का जिसे अनुष्ठान-लीनता है... आहाहा! **ऐसे बुद्धिमान् पुरुषों को अर्थात् मुनिजनों को...** ऐसे धर्मात्मा को... आहाहा! **अन्तर्जल्प से (विकल्परूप अन्तरंग उत्थान से)...** अन्दर विकल्पवृत्ति उठती है न? मैं ऐसा हूँ, या वैसा हूँ। ऐसा विकल्प उठे, वह अन्तर्जल्प है, विकार है, कहते हैं। उससे धर्मात्मा को क्या प्रयोजन है? कहते हैं। आहाहा! देखो! यह मुनि की दशा। अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द में लीन है, ऐसी दशा जिसे है, उस धर्मात्मा को अन्तर्जल्प, अन्तर्मुख की वृत्ति का उत्थान, विकल्प उठना, उसका क्या प्रयोजन है? वह तो राग, विकार है।

उस उत्थान से **भी बस होओ,...** क्या कहते हैं? अन्तर्जल्प से भी बस होओ। अर्थात् क्या? बाहर से तो बोलना बन्द है। उससे तो क्या कहना? ऐसा कहते हैं। भाषा बोलना, वह तो जड़ अवस्था है, परन्तु उसमें विकल्प उठता है कि ऐसे बोलना, वह राग है। आहाहा! कहते हैं कि धर्मात्मा मुनि सन्त जंगल में बसते हों, उनकी बात है न? उन्हें, जिनके आनन्द में, अनुभव में लीन है, ऐसे सन्तों को अन्तरवृत्ति का क्या काम है,

कहते हैं। अन्तर्जल्प उठे, ऐसा कहूँ, ऐसा बोलना, ऐसी बात ऐसी वृत्ति से बस होओ। है न? **अन्तरैरप्यलं जल्पैः... अन्तरैरप्यलं जल्पैः** अलम् बस होओ। यह अन्दर में राग की वृत्ति का विकल्प उठता है, वह दुःखरूप है। आहाहा! समझ में आया?

कितने ही वापस ऐसा कहते हैं, शास्त्र में बहुत ऊँची बात आयी है, उत्कृष्ट। इसलिए हमारा आचरण जघन्य-मध्यम है। परन्तु अब यह तो मूल चीज़ ही यह है। आहाहा! अभी आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसमें पुण्य-पाप के विकल्प नहीं हैं और अजीव तो मिट्टी-जड़ है, वह तो इसमें है ही नहीं। इतना भी जिसे अभी भान नहीं, उसे सम्यग्दर्शन बिना स्वरूप में लीनता की चारित्र की दशा नहीं हो सकती। समझ में आया? वह चौरासी के अवतार में लुटाया है, कहते हैं। भाई! तेरी निधि। तेरा निधान सच्चिदानन्द प्रभु अन्दर पड़ा रहा है। उसके सामने देखे बिना, शत्रु के सामने देखकर तूने शत्रु को प्रिय किया है। आहाहा! यह शुभ और अशुभ का राग, वह शत्रु है, उसे तूने प्रिय किया, भगवान! अब छोड़ न, कहते हैं। आहाहा! पहले दृष्टि तो निर्मल कर कि यह पुण्य और पाप का राग, वह विभाव अधर्म है। मेरी चीज़ उससे भिन्न है। ऐसा आनन्दमूर्ति का अनुभव करके प्रतीति करना, इसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन, धर्म की पहली शुरुआत की दशा कहने में आती है।

तदुपरान्त यहाँ तो अब मुनि की दशा का वर्णन है। मुनि तो स्वरूप में इतने अधिक लीन होते हैं कि जिन्हें अन्तर्जल्प के विकल्प से अलम्—बस होओ। बस होओ... बस होओ... समझाना है न? बस होओ, ऐसा कहते हैं, वह भी एक विकल्प है। समझ में आया? **मुनिजनों को अन्तर्जल्प से (विकल्परूप अन्तरंग उत्थान से)...** अन्दर वृत्ति उठे, वह उत्थान हुआ न? विकल्प उठे, राग, यह हूँ, वह हूँ, यह नहीं, वह नहीं, सब अन्तर में मन का विकल्प, हों! वह दुःखरूप है। बन्द करो। भगवान! अब तेरे घर में जा - ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

और बहिर्जल्प। **बहिर्जल्प की (भाषा बोलने की) तो बात ही क्या?** कहते हैं। बोलना, ऐसा जो विकल्प उठे, बोलने का, वह तो मुनि को क्या काम है? आहाहा! समाधिशतक में लिया है न? किसके साथ बोलना? यह दिखता है, वह जड़ है। अन्दर

आत्मा, वह तो रागरहित भिन्न चीज़ है। मैं किसके साथ बोलूँ? वह सुनता नहीं और इस जड़ को भान नहीं। चैतन्य है, वह तो जाननहार-देखनहार प्रभु है। मौन रहने की बात में आता है न? समाधिशतक में आता है। मैं किसके साथ बोलूँ? मेरा स्वभाव ही अन्तर में... अन्तर विकल्प उत्थान करना, वह भी मेरा स्वरूप नहीं, तो बोलना और बोल करके करना, यह मैं किसे कहूँ? क्या कहूँ? समझ में आया? **बहिर्जल्प की तो बात ही क्या?** यह व्यवहारसमिति की व्याख्या। वापस उड़ा दी। टीकाकार ने उड़ा दी। इसलिए लोगों को यह टीका कठोर पड़ती है न। लो, यह भाषासमिति की बात हुई।

अब मुनि की ऐषणासमिति। मुनि आत्मा के आनन्द में रमनेवाले होते हैं। उन्हें निर्दोष आहार होता है। उनके लिए बनाया आहार चौका करके ले, वह आहार नहीं होता। नहीं होता? तुम्हारे करते हैं न? आहाहा! मुनि की दशा... लोग कहते हैं कि तुम मुनि को मानो, परन्तु मुनि आगम से तो देख। आगम की दृष्टि से मुनि किसे कहना, इसकी खबर बिना मुनि किसे मानना? ऐई! ऐषणासमिति कहते हैं। पहले ईर्यासमिति की बात आ गयी, पंच महाव्रत की बात आ गयी। पश्चात् ईर्या की, भाषा की (बात हुई)। अब ऐषणासमिति। ६३ वीं गाथा।

कदकारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं सम-भुत्ती एसणा-समिदी।।६३।।

नीचे हरिगीत। मूल श्लोक का नीचे हरिगीत।

आहार प्रासुक शुद्ध लें परदत्त कृत कारित बिना।
करते नहिं अनुमोदना मुनि, समिति जिनके एषणा।।६३।।

एषणासमिति। एषणा अर्थात् क्या? शोधना। मेरे लिए बनाया हुआ नहीं न? मुनि के लिए किया, कराया और अनुमोदन, वह कोई भी आहार नहीं लेते। मुनिदशा है। नीचे है, देखो। **मन, वचन और काय में से प्रत्येक को कृत, कारित और अनुमोदनासहित मानकर उनके नौ भेद होते हैं;...** मन, वचन और काया। मन, वचन, काया से करना, कराना और अनुमोदना, इसके नौ भेद होते हैं। नौ भेद से उन्हें आहार का त्याग होता है। मन से किया हुआ, कराया हुआ और अनुमोदना तथा वचन से और काया से (कृत-

कारित अनुमोदना, ऐसे) नौ भेद से सदोष आहार का त्याग होता है। समझ में आया? **उनसे संयुक्त अन्न नव कोटिरूप से विशुद्ध नहीं है...** देखो! जिसमें उनके लिए किया हो, कराया हो और करता को ले। वह ले, वही अनुमोदना है, भाई! खबर है कि यह मेरे लिए बनाया है। यह पानी (प्रासुक) बनाया है। पानी कहाँ वहाँ पाँच-दस सेर था? गर्म पानी कर रखा था। समझ में आया? वह लेते हैं, वही पाप का अनुमोदन करते हैं।

मुमुक्षु : लल्लूभाई के भाई।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, लल्लूभाई। यह प्रश्न हमारे (संवत्) १९६९ के वर्ष में उठा था। दीक्षा लेने से पहले। १९७० के वर्ष में दीक्षा ली। ५८वाँ वर्ष चलता है? संवत् १९६९ के वर्ष में यह प्रश्न उठा था। हीराजी महाराज के साथ। हीराजी महाराज को तुमने नहीं देखा होगा। तुमने देखा है? नहीं देखा होगा। १९७४ के वर्ष में गुजर गये। उनसे मैंने पहला प्रश्न किया था। संवत् १९६९ के वर्ष में-वैशाख में। संवत् १९६९, राणपुर में प्रश्न किया था। कहा, महाराज!... अभी दीक्षा नहीं ली थी, परन्तु सब निर्णय करता था। (तो प्रश्न किया) कि महाराज! यह साधु के लिए मकान बनाया हो। यह उपाश्रय बनाते हैं न? तो कहा, उसे नो कोटि में से कौन सी कोटि टूटती है? ऐसा मैंने प्रश्न किया था। नौ कोटि समझ में आयी? मन, वचन और काया, करना, कराना, और अनुमोदन करना। नौ आये न नौ? यह तो तब प्रश्न हुआ था। संवत् १९६९। १९६९ के वर्ष, ५८ वर्ष पहले, राणपुर में प्रश्न किया था। कहा, यह साधु के लिए उपाश्रय-कमरा, उपाश्रय पाटू बनावे। क्योंकि आहार तो वे नहीं लेते थे। बहुत कड़क। हीराजी महाराज बहुत स्पष्ट थे। उनके लिए आहार किया हो, कराया हो, वह लेते ही नहीं। अभी तो यह कुछ ठिकाना नहीं है। अभी तो चाय-पानी बनावे, दूध बनावे, दूसरा बनावे। ले जाते हैं। वह तो एकदम मार्ग ही नहीं है। वे तो बहुत निर्दोष लेते थे परन्तु उपाश्रय सेवन करते थे। उसके लिए करे, ये प्रश्न उठा था। एक गुलाबचन्द गाँधी थे। नाम नहीं सुना होगा। राजकोट के साधु गुलाबचन्द गाँधी, वह क्या कहलाता है तुम्हारा? जरीफ था। गाँधी गुलाबचन्द। यह १९६९ के वर्ष में भाद्र शुक्ल चार के दिन राजकोट में गुजर गये। परन्तु वे उपाश्रय नहीं प्रयोग करते थे। उनके लिए बनाया हुआ उपाश्रय, मकान, कमरा, पाट वे नहीं प्रयोग करते थे। १९६८ के वर्ष में मैंने उनसे पहले सुना कि साधु को नहीं

चलता। कहा, अपने को तो यह खबर नहीं थी। साधु को उसके लिए बनाया हुआ पाट (पटिया) नहीं चलता। ठीक। करो अपने निर्णय, हीराजी महाराज को पूछकर और उन्होंने गाथा कही। तब कण्ठस्थ थी। इसलिए उस दिन दशवैकालिक की गाथा थी। अठारह बोल में एक भी बोल तोड़े तो साधुपने से भ्रष्ट होता है, तो वहाँ उसमें ऐसा था कि उसके लिए मकान, उपाश्रय, पाट बनाया हुआ हो, यदि ले तो वह साधुपने से भ्रष्ट होता है। ऐसा उस श्लोक में था। वह श्लोक तब कण्ठस्थ था। १९६९ के वर्ष की बात है। और मैंने उसे कहा बात सच्ची लगती है, हों! तुमने कहा यह। ऐई! दास! तुमने देखा है न? वढ़वाण के चातुरमास में। १९६९ में वहाँ था। १९७० के वर्ष में राजकोट। कहा, यह क्या? हीराजी महाराज को कहा, हमारे गुरु थे, बहुत शान्त थे परन्तु अब यह बात... उनके निकट दीक्षा लेता है, यह और वह यह पूछता है। मैं कहूँ नहीं। वह नहीं बेचारे को। मैं कहूँगा तो रुकेगा, ऐसा कुछ नहीं है। उनने ऐसा माना था कि मुझे कहे। मैंने कहा, महाराज! मेरा एक प्रश्न है कि यह साधु के लिए मकान, उपाश्रय या पाट बनाया हो, आहार-पानी वहाँ ले तो उसे मन, वचन और काया; करना, कराना और अनुमोदन—नौ कोटि आयी न यहाँ? उनमें से कौन सी कोटि टूटती है, कहो। तो नव टूटती है? इसलिए ऐसा बोले कि उसमें एक भी नहीं टूटती। उनके सामने तो कुछ बोला नहीं जाए। मन में हो गया कि यह बात अपने को जँचती नहीं है। बहुत इज्जतदार थे। हीराजी महाराज तो बहुत इज्जतदार। बहुत 'हीरा इतना हीर' ऐसी उनके आचरण की क्रिया, परन्तु दृष्टि अत्यन्त मिथ्या, परन्तु उनका सम्प्रदाय के आचरण में... फिर दृष्टान्त दिया कि तुम्हारे भाई खुशालभाई हैं... मुझे दृष्टान्त दिया। उन्होंने एक मकान बनाया, और उसमें तुम रहो, उसमें कौन सी कोटि टूटेगी? मेरे मन में तो ऐसा कि वह प्रयोग करे, वही अनुमोदन है। नौ कोटि में यह अनुमोदन हुआ, वह कोटि ही टूट गयी। ऐई! तुम्हारे गुलाबचन्दजी का था न? आहाहा! यह तो १९६९ के वर्ष की बात हे। ५९ वर्ष पहले की बात है। कितनों का तो जन्म भी नहीं होगा? अपने को जँचता नहीं, भाई! क्योंकि दशवैकालिक कण्ठस्थ था, उसमें एक गाथा थी कि जो कोई उसके लिए बनाया हुआ हो, वह अनुमोदना करता है, तो उसे नौ कोटि निर्दोष नहीं रहती। वह साधु नहीं है। आहाहा! यह यहाँ कहते हैं, देखो!

नौ भेद—करना, कराना, अनुमोदन; मन से, वचन से और काया से। **उनसे संयुक्त अन्न...** ऐसे नव भंग से दोषवाला अन्न। **नव कोटिरूप से विशुद्ध नहीं है...** वह नौ प्रकार से निर्दोष नहीं है। **ऐसा (शास्त्र में) कहा है;...** इसलिए ऐसा आहार-पानी, मकान साधु नहीं लेते। आहाहा! यहाँ तो अब दो-दो लाख के, पाँच-पाँच लाख के मकान बनावे और सामने खड़े रहें। आहाहा! सब... गृहस्थों को खबर नहीं होती। **अतिप्रशस्त; अर्थात्, मनोहर (अन्न);...** चाहिए, ऐसा कहते हैं। एक तो निर्दोष चाहिए और अतिप्रशस्त अर्थात् **प्रमादादि का या रोगादि का निमित्त न हो ऐसा।** रोग का कारण न हो, प्रमाद ऐसा... गरिष्ट आहार मैसूर (पाक) आदि कि जिसमें प्रमाद हो, ऐसा आहार नहीं लेना चाहिए। निभाने के लिए, शरीर निभानेमात्र विकल्प होता है।

मनोहर... अर्थात् **अतिप्रशस्त; अर्थात्, मनोहर (अन्न);...** शरीर में रोग और प्रमाद का कारण न हो, ऐसा निर्दोष। उसके लिए बनाया हुआ, बिल्कुल किया हुआ, कराया हुआ, अनुमोदन नहीं। **हरितकायमय सूक्ष्म प्राणियों के सञ्चार को अगोचर...** जिसमें हरितकाय का जीव हरितकाय, एकेन्द्रिय का एक दाना भी उसमें छुआ हुआ न हो। ये वनस्पति एकेन्द्रिय जीव है न? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आता है न? एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीइन्द्रिया, चौइन्द्रिया, पंचेन्द्रिया - यह आता है न, इच्छामि पडिक्कमण में। सामायिक में इर्या, ववरोविया यह आता है न? अर्थ की किसे खबर होती है! भगवान जाने। एकेन्द्रिया, दोइन्द्रिया, त्रीइन्द्रिया, चौइन्द्रिया,... जीवियाओ, ववरोविया... मिच्छामी दुक्कडम् जाओ। ऐई! जयन्तीभाई! किया है या नहीं कुछ? सामायिक-वामायिक की है या नहीं? आहाहा!

यहाँ कहते हैं, जिसमें हरितकाय का एक दाना सचेत, जो अनाज को छुआ न हो, ऐसा अनाज प्रासुक गिनने में आता है। ऐसा प्रासुक मुनि लेते हैं। यदि एक दाना भी बाजरे का, गेहूँ का दाना पड़ा हो और निर्दोष आहार देने के लिए बहिन उठे, यदि उसकी साड़ी या पैर दाने को छू जाए तो मुनि आहार नहीं लेते। ऐसा हमने सम्प्रदाय में बहुत वर्ष किया है। चिल्लाते थे। समझ में आया? यह सब क्रियाकाण्ड, तत्त्वदृष्टिरहित। यहाँ तो सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित मुनिपने की दशा की बात है। उसे जानना पड़ेगा या नहीं

कि मुनिपना कैसा होता है ? अभी मुनिपना, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की खबर न हो और ऐसे समकित कहाँ से हो ?

वह प्रासुक (अन्न) – ऐसा (शास्त्र में) कहा है। लो, जिसे एक दाना भी स्पर्शित न हो। वनस्पति शब्द प्रयोग किया है न ? देखो न ! हरितकाय सूक्ष्म। सूक्ष्म टुकड़ा। एक यह ग्वार आती है न ? ग्वार नहीं ? उसे काटे और बारीक सूक्ष्म टुकड़ा होता है न ? जरा ऐसे पड़ा हो तो भी उसे आहार छूना नहीं चाहिए। वह छुआ हुआ आहार चलता नहीं है। यह ग्वार... ग्वार। अन्तिम क्या कहलाती है अणी। ग्वार की सब्जी बनावे, तब उसकी अन्तिम अणी गँठल निकाल डालते हैं। वह यदि यहाँ पड़ी हो और उसमें आहार देनेवाले का पैर पड़े तो वह साधु को चलता नहीं। वह हरितकाय संचारवाला आहार है। अरे रे ! ऐसा शास्त्र में भगवान ने कहा है।

मुमुक्षु : वह टुकड़ा-गँठल तो अजीव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अजीव होगा ? जीव है। इतनी भी खबर नहीं ? यह हरा ग्वार होता है न, उसके टुकड़े में असंख्य हरे जीव हैं। हरितकाय लीलोतरी है। यह हरितकाय कहा नहीं ? एक टुकड़ा इतना हरा, यह भिण्डी लो न ! उसकी भी अन्तिम अणी निकाल डालते हैं न ? उस अणी में असंख्य जीव हैं। भगवान केवली ने कहे हुए एकेन्द्रिय जीव हैं। जैन में रहे, उन्हें भी कहाँ खबर है। जय नारायण। भगवान सच्चे। करो धर्म। क्यों ? कान्तिभाई !

यहाँ तो कहते हैं कि उस हरितकाय का एक टुकड़ा.. भिण्डी का, ग्वार का.. हमारे हीराजी महाराज की क्रिया बहुत ऐसी। हमारी क्रिया भी पन्द्रह वर्ष बहुत कड़क थी। आहार लेने जाएँ और इस हरितकाय का टुकड़ा पड़ा हो, और उस महिला का पैर छू जाए तो आहार न लें। अपने गृहस्थ रायचन्द गाँधी जैसे बड़े दशाश्रीमाली हैं न ? रायचन्द गाँधी बोटाद में बड़े गृहस्थ है, उनके यहाँ आहार लेने जाएँ, वहाँ बड़ा मकान। एक टुकड़ा ऐसे पड़ा हो, उसे छूए, वहाँ ध्यान रखना, महाराज आये हैं, ऐसा कहे। यदि कहीं छू जाओगे तो नहीं लेंगे, चिल्लाहट करे, हों ! रायचन्द गाँधी... ८५ वर्ष की उम्र, ९० हुए होंगे। वह बेचारे उसे देखकर डरे। हम आहार लेने जाएँ वहाँ। यह क्रिया उस

समय सख्त मानी थी, वह की थी। डरे, ऐसे डरे। कहाँ वस्तु... होगी। कहीं हरितकाय को छू जाएँगे तो महाराज चले जाएँगे।

यहाँ मुनि सच्चे सन्त आत्मज्ञानसहित, जिन्हें आत्मा के आनन्द का अनुष्ठान प्रगट हुआ है, उन्हें आहार की विधि में इस प्रकार से होता है। कहो, समझ में आया? आहाहा! एक बात।

अब देनेवाला। अब उसे देनेवाला कैसा हो? आहार ऐसा हो, लेनेवाले ऐसे हों, दो बात हो गयी न? अब देनेवाला कैसा हो? आहाहा! **प्रतिग्रह, उच्च स्थान, पादप्रक्षालन, अर्चन, प्रणाम, योगशुद्धि (मन-वचन-काया की शुद्धि) और भिक्षाशुद्धि - इस नवविध पुण्य से (नवधा भक्ति से) आदर करके,...** लो। वही गृहस्थ ऐसा कहे, आहार -पानी शुद्ध है। बात सूक्ष्म है। सच्चे सन्त की बात है। सच्चे मुनि हों, वे तो नग्न होते हैं, दिगम्बर होते हैं, जंगल में बसते हैं।

जैन परमेश्वर ने स्वीकार किये हुए सन्त, मुनि... णमो लोए सव्व साहूणं—यह पद तो शरीर में नग्न हो; अन्दर तीन कषायरहित हो, वह जंगल में बसता है। भिक्षा के लिए किसी समय गाँव में आवे। ऐसी स्थिति वीतराग के मार्ग में अनादि की है। बीच में गड़बड़ की है, वह उसके घर की। भगवान के घर की नहीं। आहार-पानी शुद्ध है, ऐसा पहले कहे। मुनि निकले, दिगम्बर सन्त, आत्मध्यानी-ज्ञानी, उसमें आहार का विकल्प होता है। उसमें गृहस्थ... निर्दोष आहार-पानी पड़ा हो वह, हों! उनके लिए बनाया हो (वह नहीं), यह बात तो की है। निर्दोष हो। तथा पाँच-दस हो और एक-दो लोगों को हो इतना तो पहले रखते थे। पहले कहाँ रोटी की बहुत कीमत नहीं थी। अब यह बहुत कीमत हो गयी। पहले तो दो-तीन रुपये का महीने में खाते थे। विधवा को पाँच सौ रुपये आवे और ढाई बाँध दे तो बहुत होता था। साठ वर्ष पहले सुना था। क्या कहलाता है वह? पोत.. पोत। पोत कहते थे या नहीं? सब देखा है न? साठ वर्ष पहले। पाँच सौ रुपये हों। कहे, ओहो.. बहुत। उसके ढाई रुपये... तब आठ आना नहीं था न, अब यह डेढ़ रुपया हुआ। तब आठ आना ब्याज था। ढाई रुपये बस है, उसे। स्पष्ट लेते थे।

यहाँ कहते हैं कि एकदम घर का आहार हो, उसमें मुनि आये हों। पधारो महाराज, कृपा करो। ऐसा कहे तो वे खड़े रहें। ऐसे के ऐसे घर में नहीं घुस जाएँ, ऐसा कहते हैं। दुनिया में सब फेरफार-फेरफार है। **उच्च स्थान,...** है न? **ऐसा कहकर आहारग्रहण की प्रार्थना करना; कृपा करने के लिये प्रार्थना;...** प्रभु पधारो! **आदरसन्मान। [इस प्रकार प्रतिग्रह किया जाने पर, यदि मुनि कृपा करके ठहर जाएँ तो दाता के सात गुणों से युक्त श्रावक उन्हें अपने घर में ले जाकर, उच्च-आसन पर विराजमान करके,...]** पटिया-वटिया रखकर। **[पाँव धोकर, पूजन करता है...]** ऐसी वीतरागमार्ग में अनादि की विधि है। उसके बाद यह सब फेरफार हो गया है। यह मार्ग अनादि का है। महाविदेहक्षेत्र में तो यही मार्ग वर्तता है। भगवान सीमन्धर परमात्मा महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं। वहाँ ऐसा ही मार्ग है। समझ में आया? अरे रे!

[पाँव धोकर, पूजन करता है और प्रणाम करता है, फिर मन-वचन-काया की शुद्धिपूर्वक शुद्ध भिक्षा देता है।] है न? **अर्चन, प्रणाम, योगशुद्धि (मन-वचन-काया की शुद्धि) और भिक्षाशुद्धि - इस नवविध पुण्य से (नवधा भक्ति से) आदर करके,...** देनेवाला कैसा होगा? श्रद्धावाला हो, उसके घर में आहार लेते हैं, ऐसा कहते हैं। जिस-तिस के घर में नहीं चढ़ जाते। अरे रे! गजब बात! यह बात तो सुनना कठिन पड़ती है। यह तो अनादि का यह मार्ग था, मार्ग यह है। समझ में आया?

शक्ति,... अपनी खड़े रहने की शक्ति हो। मूढ़ हो ऐसा नहीं। **अलुब्धता,...** देनेवाले को गृद्धि न हो। ऐसा आहार-पानी दे सकता है। लेनेवाला ऐसा धर्मी हो, धर्मात्मा सन्त नग्न मुनि, स्वरूप के अनुष्ठान में लीनवाला हो, थोड़ा विकल्प है लेने आवें तब। **भक्ति...** सहित दे। **ज्ञान...** सहित हो और भानवाला हो। देनेवाले को भान हो। मुनिपना ऐसा हो, उसे देने की विधि ऐसी हो। ऐसा उसे ज्ञान हो। भानरहित अन्ध न हो। उसके हृदय में दया हो। श्रावक को, सच्चे श्रावक की बात चलती है, हों! यह वाड़ा की बात नहीं है। **दया और क्षमा - इन (दाता के) सात गुणों...** लो। देनेवाले के सात गुण होते हैं। आहाहा! **सहित शुद्ध योग्य-आचारवाले उपासक द्वारा दिया गया...** लो। शुद्ध योग्य आचारवाले उपासक द्वारा। देखा न? श्रावक स्वयं ऐसा होता है - ऐसा कहते हैं। ऐसे गुणवाले **शुद्ध योग्य-आचारवाले उपासक...** श्रावक, उसके **द्वारा दिया**

गया (नव कोटिरूप से शुद्ध, प्रशस्त और प्रासुक)... यह सब आ गया न? तीन बोल आ गये। नव कोटि से शुद्ध **प्रशस्त...** अर्थात् प्रमाद और रोग न हो, ऐसा आहार और **प्रासुक...** अर्थात् उसमें हरितकाय का संचार, एकेन्द्रिय जीव उसे स्पर्श न हुआ हो, ऐसा **भोजन जो परम तपोधन लेते हैं,** लो! **उन्हें एषणासमिति होती है। ऐसा व्यवहारसमिति क्रम है।** वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा सर्वज्ञदेव परमेश्वर तीर्थंकर के मार्ग में यह विधि है। इसमें है या नहीं?

अब, निश्चय से ऐसा है कि जीव को परमार्थ से अशन नहीं है;... यह तो मुनि को शरीर निभाने के लिए जरा विकल्प आया, तो यह होता है। परन्तु वास्तव में तो आहार-पानी तो जड़ है। आत्मा में है ही नहीं और आत्मा में वे स्पर्श भी नहीं करते। आहाहा! वह तो मिट्टी है। दाल, भात, सब्जी, वह तो अजीवतत्त्व है। वह जीवतत्त्व में है ही नहीं। आहाहा! **परमार्थ से अशन नहीं है; छह प्रकार का अशन व्यवहार से संसारियों को ही होता है।** विकल्प है, इसलिए कहा जाता है। बहुत प्रकार निकलते हैं। समयसार में कहा है या प्रवचनसार में। समयसार में गाथा नहीं आती। ४१५ गाथा है न? टीका में है। **नोकर्म-आहार, कर्म-आहार, लेप-आहार, कवल-आहार, ओज-आहार और मन-आहार...** और इस गाथा का... सरीखा नहीं है प्रवचनसार में। इस गाथा के जो शब्द हैं, ऐसे शब्द उसमें नहीं हैं। प्रवचनसार में थोड़ा अन्तर है। २०वीं गाथा में है न यह? २०वीं गाथा।

णोकम्मकम्महारो लेपाहारो य कवलमाहारो।
उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो।।

कम्महारो लेपाहारो इतना अन्तर है इसमें है। **णोकम्मकम्महारो लेपाहारो** मुनिपना कैसा होता है, उसका ज्ञान, श्रद्धा कराते हैं। जिसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की भी खबर न हो, उसे आत्मा क्या है, उसकी खबर नहीं होती। आहाहा! छह प्रकार के नाम लिए हैं, देखो! **नोकर्म-आहार,...** नोकर्म अर्थात्? शरीर के ये परमाणु हैं न वे? औदारिक के रजकण होते हैं न? वह नोकर्म। केवली को भी वे रजकण आते हैं न? **कर्म-आहार,...** ये कर्म के रजकण। **लेप-आहार,...** अन्दर चोपड़े **कवल-आहार,...** ग्रास ले। **ओज-**

आहार... यह पंखी (पक्षी) जैसे पंक्षी पंख द्वारा बच्चे को पोसता है न? वह ओज आहार कहलाता है। **मन-आहार...** देवों को मन का आहार होता है। उन्हें हजार वर्ष में इच्छा होती है, उन्हें मन से आहार आता है। यह छह प्रकार आहार है, लो।

अशुद्ध जीवों के विभावधर्म सम्बन्ध में व्यवहारनय का यह (अवतरण की हुई गाथा में) उदाहरण है। आहार लेना, यह विकल्प है, ऐसा अशुद्धभाव है, उसके द्वारा यहाँ बात है। अथवा छह प्रकार का आहार के लिए सब है। **अब, (श्री प्रवचनसार की २२७ वीं गाथा द्वारा) निश्चय का उदाहरण कहा जाता है।** लो यह २२७ गाथा है।

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्ख-मणेसणमध ते समणा अणाहारा।।

जिसका आत्मा एषणारहित है (अर्थात्, जो अनशनस्वभावी आत्मा को जानने के कारण स्वभाव से आहार की इच्छारहित है),... क्या कहते हैं? मुनि को तो आत्मा में आहार है ही नहीं। आहार तो जड़-धूल है। वह आत्मा में है नहीं। यह आत्मा आहाररहित है, ऐसी जो दशा, ऐसा आत्मा का भान, उसे ही एषणा कहा जाता है। वह **एषणारहित है (अर्थात्, जो अनशनस्वभावी आत्मा को जानने के कारण स्वभाव से आहार की इच्छारहित है),...** ऐसा कहते हैं। उसे आहार की इच्छा नहीं है। आहाहा! इच्छा तो राग है।

मुमुक्षु : आत्मा को होवे कब?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा में कैसी वह वस्तु। वह तो विकल्प उठा था, ऐसे जीव की बात की थी। वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है।

उसे वह भी तप है;... क्या कहा? यह आत्मा अनशनस्वभावी है अर्थात् आहार-पानी रहित स्वभाववाला है—ऐसा जो भान वही, एक तप है। भगवान आत्मा में जहाँ विकल्प नहीं, वहाँ ऐसा आहार और पानी उसमें अन्दर है नहीं। आहाहा! ऐसा जो चैतन्यतत्त्व है। कहते हैं, **(अनशनस्वभावी आत्मा को...)** अर्थात्, अशन, अनशन। अशन रहित अनशनस्वभावी ऐसा। अशन अर्थात् आहार-पानी। अनशन अर्थात् आहार-पानी रहित। ऐसे आत्मा को जानता होने के कारण। अरे! मैं तो आहार के रजकण और

रागरहित हूँ। आहार के रजकण तो अजीव हैं और राग है, वह तो आस्रवतत्त्व है। मैं तो उस आस्रव और अजीव रजकण से मेरी चीज़ भिन्न है। आहाहा! ऐसे आत्मा को अशनरहित स्वभाववाला जानता हुआ, वही एक तप है, कहते हैं। क्या कहा? समझ में आया?

आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु, सिद्धस्वरूप परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने कहा, देह के रजकणों से भिन्न है, कर्म से भिन्न है। कर्म जड़ है, पुण्य-पाप के विकल्प / आस्रव से भिन्न है तो इस आहार-पानी से भिन्न है, ऐसी जो आत्मा की स्थिति... आहार-पानी कुछ भी स्वरूप में नहीं है, ऐसा मैं हूँ। ऐसा जो ज्ञान-ध्यान, वह तप है। कहा या नहीं? क्या कहा? अनशनस्वभावी आत्मा को जानता हुआ। अर्थात्? अनशनस्वभावी अर्थात्? अशन, अनशन। अशन-अनशन। अशन—आहार-पानी से रहित अनशन। ऐसा अशनरहित आत्मा। जैसे शरीररहित आत्मा, वैसे आहार-पानीरहित आत्मा, ऐसे आत्मा की अनुभव दृष्टि होने से उसकी स्थिरता अन्तर में है। उसे ही तप कहा जाता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? विशेष बात लेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल १२, सोमवार, दिनांक - ५-७-१९७१
गाथा-६४, श्लोक-८६, प्रवचन-५९

नियमसार, १२५ पृष्ठ है। प्रवचनसार का श्लोक है। मुनि का अधिकार है। मुनि एषणासमिति से आहार ले, वह उनका व्यवहार है। उन्हें मुनि कहते हैं कि जिन्हें आत्मा का पहले ज्ञान, अनुभव हुआ हो। वीतरागमार्ग में व्यवहारचारित्र किसे होता है? - कि जिसे अन्दर आत्मा राग से, विकल्प से, अत्यन्त भिन्न; शरीर, वाणी, मन तो जड़ है, उनसे तो भिन्न है, परन्तु एक राग का दया, दान का विकल्प उठे, उससे चीज़ भिन्न है। ऐसा जिसे अन्तर में राग से और पर से अधिक अर्थात् भिन्न आत्मा जानने में आवे, अनुभव में आवे, उसे समकित कहने में आता है। प्रथम में प्रथम धर्म। तदुपरान्त यहाँ तो मुनि की बात है। अब मुनि कैसे होते हैं? २२७ गाथा का उद्धरण दिया है।

जिसका आत्मा एषणारहित है... क्या कहते हैं? यह आत्मा है, वह अनशन, अशन। आहार-पानी से रहित आत्मा है। अनशनस्वभावी आत्मा है। अर्थ में है? एषणारहित अर्थात् अनशनस्वभावी आत्मा, ऐसा। उसे एषणा-खोजना कि यह है, ऐसा उसके स्वरूप में नहीं है। आहार लेना या छोड़ना, वह वस्तु के स्वरूप में ही नहीं है क्योंकि आहार तो पुद्गल जड़ है। जड़ का लेना या छोड़ना, वह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। वह तो अनशनस्वभावी आत्मा को जाने। धर्मी जीव अपना आत्मा अनशन अर्थात् अशनरहित अनशनस्वभावी जाने। समकिती भी ऐसा जाने, परन्तु तदुपरान्त यहाँ विशेष बात मुनि की है।

आत्मा वस्तु है, वह ज्ञानानन्दस्वभाव से भरपूर तत्त्व है। यह अशन अर्थात् आहार-पानी, अशणं, पाणं, खाईमं, साईमं - आता है न सब? इन सब चीज़ों से रहित आत्मा है। आत्मा में यह वस्तु, आहार-पानी, पुद्गल का तो अभाव है। मुनि उसे कहते हैं कि जिसका आत्मा एषणारहित है। यह आत्मा है आत्मा, वह तो आनन्द और ज्ञानस्वभावसहित है। उसमें आहार-पानी का तो अभाव है, वह तो जड़ है। आहार, अशरणं, पाणं, खाईमं, साईमं-कोई भी चीज़, उसका तो आत्म स्वभाव में अभाव है। धर्मी की दृष्टि उस अनशनरहित ऐसे आत्मा पर उसकी दृष्टि है। धर्मी की दृष्टि वह है।

आहार ले या न ले, वह चीज़ आत्मा में नहीं है। आहाहा! क्योंकि जो चीज़ उसमें नहीं, उसे लेने-देने की बात कहाँ से होगी? आहाहा! यह सम्यग्दृष्टि की पहली बात है। धर्मी पहले सम्यग्दृष्टि होता है, तब वह अपने आत्मा को... अशन तो पुद्गल, जड़, अजीव है। आत्मा तो अजीवरहित स्वभाववाला है। अनशनस्वभावी। अशन-अशन अर्थात् आहार-पानी, उनसे रहित, वह अनशन। अनशनस्वभावी आत्मा। आहाहा! जिसमें आहार-पानी का एक रजकण भी नहीं। ऐसा आत्मा धर्मी ने, सम्यग्दृष्टि ने, प्रथम धर्म की श्रेणीवाले जीव ने पहले ऐसा आत्मा जाना है कि आत्मा में आहार-पानी आदि वस्तु नहीं है।

(आहार की इच्छारहित है)। इस अपेक्षा से तो समकिती भी आहार की इच्छारहित है। समझ में आया? अब यहाँ तो मुनि की विशेष बात है न? मुनि को **(अनशनस्वभावी आत्मा को जानने के कारण स्वभाव से आहार की इच्छारहित है), उसे वह भी तप है;...** वह तप। मैं अनाहारी वस्तु हूँ। आहार की चीज़ मुझमें है ही नहीं, ऐसे आत्मा में दृष्टि और अनुभव में स्थिरता (होवे), उसे ही तप कहते हैं। समझ में आया? वह उपवास है, ऐसा कहते हैं। लो, ठीक। मुनि आहार लेते हैं तथापि, विकल्प होने पर भी, दृष्टि में विकल्प और आहाररहित चीज़ मैं हूँ, ऐसी दृष्टि के कारण आत्मा अनाहारी, आहाररहित चीज़ है, ऐसी अनुभव में स्थिरता है, वह आहार करने पर भी और आहार का विकल्प होने पर भी वह उपवासी है। गजब काम।

क्योंकि आत्मा आहार-पानी रहित चीज़ है। उसके उप अर्थात् समीप में धर्मात्मा बसता है। आत्मा आनन्दमूर्ति ज्ञानस्वरूप, वह आहार-पानी की चीज़ पुद्गल से रहित है, ऐसी चीज़ में धर्मी की दृष्टि पड़ी है। धर्मी तो अपने शुद्ध आत्मा के उप अर्थात् समीप में बसता है, तो वही उपवास है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? और तदुपरान्त **उसे प्राप्त करने के लिए...** भगवान आत्मा अशन—आहार, पानी, मेवा आदि कोई भी चीज़ से रहित (आत्मा है), ऐसी दृष्टि हुई है, ऐसा आत्मा का अन्तरभान हुआ है और उसी आत्मा को प्राप्त करने हेतु प्रयत्नवान है। ऐसा अनशनस्वभावी आत्मा, पूर्ण **प्राप्त करने के लिए...** जिसका प्रयत्न है। है?

(और) उसे प्राप्त करने के लिये (अनशनस्वभावी आत्मा को परिपूर्णरूप से

प्राप्त करने के लिये)... अर्थात् मुक्ति। जैसी आहार-पानीरहित चीज़ है, वैसा अनुभव दृष्टि में हुआ, परन्तु पूर्ण निर्मल ऐसी मुक्ति करने में उसका प्रयत्न है। **प्रयत्न करनेवाले ऐसे जो श्रमण, उन्हें अन्य (स्वरूप से भिन्न ऐसी) भिक्षा, एषणा बिना (एषणादोष रहित)...** तो मुनि आहार लेते हैं। उनके लिए चौका बनावे, आहार-पानी बनावे और ले, वे तो मुनि नहीं हैं। समझ में आया? उनके लिए गर्म पानी, आहार बनाया हो, उससे रहित लेते हैं। उनका दोष होवे तो वे लेते नहीं।

(एषणादोष रहित) होती है; इसलिए वे श्रमण अनाहारी हैं। देखो! जरा सूक्ष्म है। यह प्रवचनसार की गाथा है। यह नियमसार चलता है। भगवान आत्मा रजकण और राग के भाव से रहित है, ऐसी जिसे दृष्टि हुई और उस चीज़ को प्राप्त करने का स्वसन्मुख का प्रयत्न चालू है, तो वह आहार लेने पर भी... बाहर से तो व्यवहार से ऐसा कहे न? और आहार का विकल्प होने पर भी उसे अनाहारी कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा!

धर्मी को भी पहले से ऐसी भावना होनी चाहिए। मैं तो आत्मा एक रजकण और राग के अंश से रहित मैं हूँ। ऐसे आत्मा की जिसे दृष्टि (हुई है), आत्मा के समीप दृष्टि है, वह तो समकिती अनाहारी ही है परन्तु यहाँ तो मुनिपने की अनाहारी दशा लेना है, तो वह आहार लेते हैं तो एषणादोषरहित लेते हैं, इसलिए वे अनाहारी हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? समकिती दृष्टि अपेक्षा से अनाहारी हैं और मुनि स्थिरता की अपेक्षा से अनाहारी हैं - ऐसा सिद्ध करना है। ऐई! समझ में आया?

धर्मी जीव को अपना वस्तुस्वरूप, राग और रजकण कोई भी परमाणु से भिन्न अपनी चीज़ अनुभव में आयी है, इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी अनाहारी है। उसे आहार नहीं है और इच्छा उत्पन्न होती है, वह भी उसकी चीज़ नहीं है। आहाहा! परन्तु सम्यग्दृष्टि को आहार का भाग लेने का राग तीव्र है, इस अपेक्षा से, स्थिरता की अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि अनाहारी नहीं है। दृष्टि की अपेक्षा से अनाहारी है, चारित्र की अपेक्षा से अनाहारी नहीं है।

मुनि जो आत्मज्ञानी, ध्यानी, आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में मस्त हैं, अतीन्द्रिय

आनन्द का प्रचुर स्वसंवेदन जिन्हें प्रगट हुआ है। उन मुनि को तो, आहार-पानी की चीज़ मुझमें नहीं है परन्तु लेने का भाव है, उसमें एषणादोषरहित लेते हैं इसलिए साक्षात् अनाहारी हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाराज का श्लोक है। दिगम्बर मुनि, सन्त... आहाहा! इस टीका में एक बोल अधिक लिया है। अमृतचन्द्राचार्य। कि जैसे मुनि अनाहारी हैं, वैसे मुनि अविहारी हैं। क्योंकि विहार करना, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। हिलना, चलना, गमन करना, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। ऐसी दृष्टि का ख्याल आया है कि मैं तो अविहारी हूँ। विहार करना, गति करना, गमन करना, वह तो मेरे स्वभाव में है ही नहीं। आहाहा! इस अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि भी अविहारी है। समझ में आया? परन्तु मुनि तो साक्षात् अविहारी है क्योंकि विहार करने में ईर्यासमिति का दोष टालकर करते हैं, इतनी स्थिरता उसमें जमी है, इस अपेक्षा से मुनि को अविहारी कहा जाता है। समझ में आया? आहाहा! मार्ग वह तो यह, बापू! अन्तर चैतन्यस्वरूप, जिसे पर का अवलम्बन ही नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़...

कहते हैं कि आहार की इच्छा और आहार लेते हैं, तथापि अनशनस्वभावी की दृष्टि होने से और निर्दोष आहार लेने की भावना होने से अनाहारी हैं। इसी प्रकार अविहारी, विहाररहित आत्मा है, ऐसा जानने से और विहार में भी समितिसहित जानने से ईर्यासमिति का दोष बिल्कुल नहीं लगता; इस कारण मुनि को अविहारी कहा जाता है। समझ में आया? निश्चय से तो सम्यग्दृष्टि भी अविहारी है। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा का स्वभाव ही जहाँ नहीं....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वभाव ही नहीं। हलन-चलन करे, वह तो जड़ की क्रिया है। आहाहा! ऐसी बात है। समझ में आया?

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री गुणभद्रस्वामी ने (आत्मानुशासन में २२५ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि — लो! गुणभद्रस्वामी मुनि, दिगम्बर सन्त हुए न? उन्होंने यह बात की है, लो!

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा,
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।

विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं,
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ।।

श्लोकार्थ : आहाहा! **जिसने अध्यात्म के सार का निश्चय किया है;...** पहले समकित की बात करते हैं। आहाहा! मुनि ऐसे होते हैं कि जिन्हें पहले सम्यग्दर्शन हुआ होता है। सम्यग्दर्शन बिना मुनि नहीं होते। सम्यग्दर्शन में ऐसा निर्णय किया है। **अध्यात्म के सार का निश्चय किया है;...** ओहो! मैं तो राग का विकल्प, शरीर के रजकण, कर्म के रजकण से अत्यन्त रहित हूँ। मैं पूर्ण आनन्द और ज्ञान से पूर्ण भरपूर हूँ। मेरी चीज़ में राग और शरीर तो है नहीं परन्तु एक समय की पर्याय भी त्रिकाल में है नहीं। ऐसा सम्यग्दृष्टि ने पहले अपनी पूर्ण चीज़ का निर्णय किया है। आहाहा! समझ में आया?

भाषा क्या है? **अध्यात्म के सार का...** आहाहा! भगवान आत्मा धर्मी, सम्यग्दृष्टि होने से उसने अध्यात्म के सार का निर्णय किया है। तत्त्वार्थसार। कल आया था न? तत्त्व में सार, ऐसा आत्मतत्त्व। यहाँ अध्यात्म सार लिया है। अपना आत्मा, कहते हैं कि जो पुण्य-पाप के आस्रव हैं, उनसे रहित तो है ही और कर्म तथा शरीर से रहित है ही, परन्तु संवर-निर्जरा और मोक्ष जो तत्त्व है, वह भी पर्यायरूप तत्त्व है, उनसे भी द्रव्यतत्त्व भिन्न है। आहाहा!

जयपुर में मंगलाचरण में पहले यह कहा था। दस हजार लोग थे। स्वागत था न, बैशाख कृष्ण छह। दस हजार लोग। रामलीला मैदान। कहा, मार्ग यह है। दस हजार लोग थे। तत्त्व में सार तत्त्व... तत्त्व तो पुण्य-पाप के विकल्प वह तत्त्व है और संवर-निर्जरा और मोक्ष, वह निर्मल दशा, वह भी तत्त्व है। परन्तु उस तत्त्व में सारतत्त्व द्रव्यतत्त्व है। समझ में आया? ऐसी बात रह गयी है कि उसे अनन्त काल में ख्याल में आयी ही नहीं। यह नियमसार है न? इसकी ही गाथा यहाँ है न? ३८ में, ३९ में। शुद्धभाव अधिकार है न? लो, आया।

सर्व तत्त्वों में जो एक सार है... पृष्ठ ७८ है। ५४वाँ कलश **सर्व तत्त्वों में जो एक सार है, जो समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है...** ओहोहो! यह अध्यात्मसार। क्या कहते हैं? कि जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा (बन्ध), मोक्ष, इन सब तत्त्वों में एक तत्त्व—जीवतत्त्व सार है। उन पर्याय तत्त्व से भी जीवद्रव्य तत्त्व सार है।

संवर-निर्जरा मोक्षतत्त्व में भी जीवतत्त्व सार है। **जो समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से...** आहाहा! क्षायिकभाव, उपशमभाव, उदयभाव, क्षयोपशमभाव ये सब पर्यायें हैं। क्षायिकभाव भी पर्याय है। वह भी नाशवान है। **जो समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है...** कायम रहनेवाला तत्त्व भगवान है। समझ में आया? क्षायिक समकित की पर्याय, वह भी नष्ट होनेयोग्य है क्योंकि पर्याय है, एक समय की स्थिति है। उससे भी तत्त्व-आत्मा दूर है। प्रेमचन्दभाई! आहाहा! ऐसा भारी कठिन काम। देव-गुरु-शास्त्र से तो कहीं पार रह गया। उनसे उठा विकल्प, उससे भी पार, परन्तु यहाँ तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा प्रगट हुई, अन्तर में स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-शान्ति-चारित्र वीतरागता (प्रगट हुए), वह भी पर्याय है और वह पर्याय नष्ट होनेयोग्य है, तो नष्ट होनेयोग्य से दूर है। ध्रुवतत्त्व तो नष्ट होनेयोग्य से दूर है, वह आत्मतत्त्व है। आहाहा! समझ में आया? भाई! मार्ग तो यह है। कहा भाई! समझो, न समझो, तुम्हें यह करना ही होगा। बाहर से कुछ हाथ आवे, ऐसा नहीं है।

समस्त नष्ट होनेयोग्य भावों से दूर है... शुद्ध ज्ञान का अवतार और सुख-सागर की बाढ़ है। अकेला सुख-सागर और ज्ञान की अन्दर बाढ़ आवे, ऐसी वह तो चीज़ है। आहाहा! बाढ़ कहते हैं न? अन्तर में तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन की बाढ़ आती है, ऐसी वह चीज़ है। पर्याय आती है, वह नाशवान है, परन्तु जिसमें से आती है, वह महाध्रुव तत्त्व है, उस तत्त्व को यहाँ सार तत्त्व और अध्यात्म का सार, सम्यग्दर्शन का विषय कहते हैं। समझ में आया? लो!

जिसने अध्यात्म के सार का... मुनि ने पहले तो नव तत्त्व में सार तत्त्व एक आत्मा ध्रुव का निर्णय अनुभव किया हो, पश्चात् वे मुनि होने योग्य हैं। जिसे अभी सम्यग्दर्शन के निर्णय का ठिकाना नहीं, वह तो मुनि होने के योग्य ही नहीं है। आहाहा! **जिसने अध्यात्म के सार का निश्चय किया है; जो अत्यन्त यमनियमसहित है;...** अब उपरान्त। सम्यग्दर्शन उपरान्त अब। समझ में आया? आहाहा! प्रथम तो मैं ध्रुव नित्य आनन्द, एक समय की पर्याय से भी दूर वर्तनेवाला, वीतरागी धर्मदशा से भी दूर वर्तनेवाला मैं आत्मा हूँ। ऐसा पहले अनुभव में निर्णय होना, उसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन कहते हैं। पहले सम्यग्दर्शन होता है, पश्चात् **अत्यन्त यमनियमसहित है;...** अब मुनि

की बात आयी। ऐसे सम्यग्दर्शनसहित जो पंच महाव्रतादि नियमसहित है। अन्तर में स्वरूप में अतीन्द्रिय आनन्द की जिन्हें बाढ़ आयी हो। आहाहा! सिद्ध का आनन्द, सिद्ध परमात्मा का जो आनन्द, ऐसा ही आनन्द। उससे थोड़ा कम, परन्तु अत्यन्त अतीन्द्रिय आनन्द में ध्रुव में बहुत एकाग्रता हुई है, तो पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द आया है, तो अन्तर के निश्चय यम-नियमसहित है। व्यवहार में पंच महाव्रतादि का ऐसा विकल्प उठता है।

जिसका आत्मा, बाहर से और भीतर से शान्त हुआ है;... पर्याय में भी शान्ति और द्रव्य में भी शान्ति। वस्तु शान्त आनन्द प्रभु और पर्याय में भी शान्त अतीन्द्रिय आनन्द, उपशमरस, उपशमरस जिसकी पर्याय में ढल गया है, ऐसे मुनि। **जिसे समाधि परिणमित हुई है;...** देखो, **जिसे समाधि परिणमित हुई है;...** आनन्द की शान्ति समाधि... समाधि... समाधि...। आधि-व्याधि-उपाधि से रहित, वह समाधि है। आधि अर्थात् संकल्प-विकल्प; व्याधि अर्थात् शरीर का रोग आदि; उपाधि अर्थात् ये संयोग। आधि-व्याधि-उपाधि से रहित आत्मा के आनन्द की शान्ति की समाधि। आहाहा! वीतरागभावरूप जिसकी समाधि परिणमित हो गयी है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? उसे वीतरागमार्ग में मुनि कहने में आता है। आहाहा! उसे अन्तर में ऐसी समाधि परिणमित हो गयी है, बाहर में नग्नदशा हो और अभ्यन्तर में कदाचित् विकल्प आवे तो पंच महाव्रतादि का विकल्प हो। वह भी हेयबुद्धि से (आता है)।

जिसे समाधि परिणमित हुई है;... ओहोहो! गुणभद्रस्वामी दिगम्बर सन्त कहते हैं। सन्त की ऐसी दशा। 'सन्त निरन्तर चिन्तत ऐसे...' आता है न? अभी पूजा होती थी न। अभी बोलते थे। इसमें कहीं है। 'सन्त निरन्तर चिन्तत ऐसे...' मैं तो सदा निरन्तर। देहक्रिया, विकल्प-राग की क्रिया से रहित मैं सदा निरन्तर भिन्न हूँ। ऐसे सन्त स्वभाव में अपनी भावनारूप एकाग्रता करते हैं।

'आतम भावना भावतां जीव लहै...' यह आता है न? भावना अर्थात् यह। वे रटन ही रखे। 'आतम भावना भावतां जीव लहै केवलज्ञान' परन्तु आत्मा पर्याय और राग से भिन्न ऐसी चीज़ की भावना का अर्थ इसमें एकाग्रता। ध्रुव भगवान में एकाग्रता, वह आत्मभावना, वह आत्मभावना भाते जीव लहे केवलज्ञान। उस स्वरूप में एकाग्रता

से केवलज्ञान लेता है। अन्तर के स्वरूप की एकाग्रता। अतीन्द्रिय आनन्दधाम भगवान में एकाग्रता की वीतरागी दशा, वह भावना। भावना अर्थात् कोई कल्पना, चिन्तवना, या विकल्प, ऐसा नहीं। आत्मभाव की भावना। अतः आत्मभाव ध्रुव चिदानन्द आनन्दमूर्ति की भावना अर्थात् एकाग्रता। अर्थ की खबर नहीं होती और पहाड़े बोले जाते हैं। रटन (किये जाते हैं)। आतम भावना भावतां... परन्तु आत्मा किसे कहना? भावना किसे कहना? उसका फल केवलज्ञान किसे कहना? यह अपन नहीं जानते हैं।

जिसे समाधि... आनन्द... आनन्द... आनन्द की शान्ति। तीन कषाय के अभावरूप शान्ति... शान्ति... शान्ति...। आकुलता बहुत टल गयी है। अनाकुलता की समाधि। मुनि को पर्याय में शान्ति परिणमित हो गयी है। वीतरागता प्रगट हुई है। आहाहा!

जिसे सर्व जीवों के प्रति अनुकम्पा है;... एकेन्द्रिय पृथ्वी, अग्नि, वायु, वनस्पति से लेकर सब जीवों के प्रति अनुकम्पा। किसी को दुःख देने का भाव नहीं। **जो विहित (शास्त्राज्ञा के अनुसार)...** वीतराग ने आज्ञा की है, वैसे निर्दोष आहार-पानी; उसके लिए बनाया हो, वह ले नहीं। प्राण जाए तो भी ले नहीं। **(शास्त्राज्ञा के अनुसार) हित-मित... हितकर और उचित मात्रा में।** मित और मर्यादित। **भोजन करनेवाला है;...** ऐसे सम्यग्दर्शन में आत्मा का निर्णय हुआ हो सार और पश्चात् समाधिरूप परिणमा और बाहर में अभ्यन्तर शान्तरूप है, अनुकम्पा है। वह शास्त्र की आज्ञा प्रमाण विहित-विधि से निर्दोष आहार पाने आदि हो तो हित और मित भोजन लेता है।

जिसने निद्रा का नाश किया है,... देखो! मुनि को निद्रा कैसी, कहते हैं। आहार जहाँ अल्प है, शान्ति जहाँ बहुत है। निद्रा का नाश किया है। एक अल्प निद्रा आती है, ऐसा कहते हैं। सच्चे मुनि हों उन्हें तो पौन सैकेण्ड की अन्दर निद्रा आवे। एक सैकेण्ड निद्रा आवे तो मुनिपना रहता नहीं। ऐसी दशा है। इस अपेक्षा से निद्रा का नाश किया, ऐसा कहा, भाई! यह दो घण्टे-चार घण्टे सोते हों, वे मुनि नहीं हैं। ऐई! गजब! समझ में आया? तीन काल में सन्त की व्याख्या यह है। तीनों काल के वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव के मार्ग में ऐसा मुनिपना है। भाषा देखो न, कैसी की है! स्वयं मुनि हैं।

जिसने निद्रा का नाश किया है,... पाठ है न, देखो न '**निहतनिद्रो**' इसका अर्थ ही यह है। बहुत अल्प, रात्रि के अन्तिम भाग में। छहढाला में आता है न? 'पिछली रयनि'... छहढाला, दौलतराम (जी कृत)। पिछली रात्रि के चौथे पहर में जरा एक करवट बदले ऐसी की ऐसी पौन सैकेण्ड में निद्रा ले। फिर अप्रमत्तदशा हो जाए। छठा गुणस्थान हो, वहाँ तक थोड़ी निद्रा जरा आ जाती है। एकदम सातवें गुणस्थान में। फिर छठा, फिर सातवाँ - इस अपेक्षा से मुनि ने निद्रा का नाश किया है, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! कहो, समझ में आया? यह गृहस्थ तो रात्रि में आठ बजे सोवे और सवेरे छह बजे उठे। चाय-पानी का समय हो, तब सवेरे उठे। नौ बजे। जल्दी सोवे, जल्दी जागे वीर-ऐसे शब्द पहले आते थे। नहीं? ऐसा आता था हमारे उमराला में। यह हमारे यहाँ उमराला में ही था। उमराला में पाणीयारू था, उस पणीयारो पर एक कागज था, तब की बात है, यह तो ७० वर्ष पहले की (बात है)। हमारे दीपचन्दभाई थे, वे बहुत होशियार थे। वे बड़े भाई थे। वे सब बहुत... पाणीयारा पर एक ऐसा कागज था। तब की बात है। जल्दी उठे वह वीर। यह तो गृहस्थाश्रम की बात है। मुनि को जल्दी-देरी से सोने का है ही नहीं। आहाहा!

यहाँ तो स्वयं मुनि गुणभद्राचार्य दिगम्बर सन्त, स्वयं की व्याख्या करते हुए ऐसा कहते हैं। मुनि को निद्रा का नाश हुआ। आहाहा! जिन्हें तीन कषाय का अभाव हुआ है—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी का नाश हो गया है। एक कषाय जरा... संज्वलन की अल्प कषाय है। महाव्रत का विकल्प आदि कषायभाव है। आहाहा! **जिसने निद्रा का नाश किया है,...** देखो! मुनि कैसी बात करते हैं! स्वयं करते हैं। यह अल्प निद्रा जरा होती है, इसका अर्थ गिनती नहीं, ऐसा कहते हैं। जगत के प्राणी निद्रा लेते हैं, वैसी निद्रा इन्हें (मुनि को) होती नहीं।

मुमुक्षु : नींद की गोलियाँ लें।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो तुम्हारे सब व्यापार का धन्धा ठीक न हो, वह ले। नींद की गोली ले। बात सत्य है।

मुमुक्षु : ऐसा कहते हैं, गृहस्थ भी आज तो सोते नहीं, गोली रखते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो उपाधि के कारण उसे नींद नहीं आती। यह तो समाधि इतनी प्रगटी है कि जिन्हें निद्रा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यापारी है, वह तो गोली का बेचनेवाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : है न? ऐसी गोली रखते होंगे? आहाहा!

वह (मुनि) क्लेशजाल को समूल जला देता है। आहाहा! कषाय के अंश को तो जलाकर राख कर डालता है। आहाहा! उसे यहाँ मुनि कहा जाता है। यह मुनिपना है। वहाँ (श्वेताम्बर में) कहते हैं गृहस्थाश्रम में हो गया केवलज्ञान। कैसा? कर्मापुत्र। श्वेताम्बर में आता है। गृहस्थाश्रम में केवलज्ञान हो गया।

मुमुक्षु : भरत महाराज को हुआ, फिर इसे न हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : भरत महाराज को कुछ हुआ नहीं। नग्न हुए पश्चात् मुनिपना आया है। नग्नदशा बिना अन्तर से मुनिपना प्रगट ही नहीं होता, और अकेला नग्नपना हो, उसे मुनिपना होता नहीं। अन्तरदशा के भान अनुभव बिना, वीतरागता बिना मुनिपना नहीं हो सकता। कर्मापुत्र केवली था, माँ-बाप के कारण गृहस्थाश्रम में रहा। लोग सब्जी लाये, छुरी नहीं मिलती थी। केवली ने कहा, एक छुरी कोठी के पीछे है। कहो, ये कोई बातें... ऐसे केवलज्ञानी? श्वेताम्बर में यह बात है।

मुमुक्षु : फिर परीक्षा में....

पूज्य गुरुदेवश्री : पढ़ने में उसकी परीक्षा ले। उसकी टीका की थी। बहुत वर्ष की बात है। हम भावनगर थे। (संवत्) १९७७ के बाद १९८३। वह बेरिस्टर नहीं था? कोई खुशाल। उसने टीका की थी। १९७३ के वर्ष में हम मुम्बई से भावनगर आये थे तब। कि ऐसे केवली सिद्ध किये हैं कोई गप्प मारी है या नहीं? कुछ विचार नहीं करते? यह कुँवरजीभाई ने मुझे कहा। कुँवरजी आनन्दजी उनने लिखा परन्तु यह विचार तो करो। केवलज्ञानी गृहस्थाश्रम में रहे और वह छुरी बतावे, सब्जी को काटने के लिए चाहिए थी। क्या कहते हो तुम यह?

मुनि किसे कहे, बापू! वे तो वन में बसनेवाले, वन के बाघ। आहाहा! जिन्हें वस्त्र का एक टुकड़ा नहीं होता। और समाधि... समाधि... समाधि... आनन्द में लवलीन।

उन्हें कहते हैं कि क्लेशजाल का तो नाश कर देते हैं। आहाहा! शान्ति.. शान्ति.. शान्ति..

लो! **और ६३ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं—** पद्मप्रभमलधारिदेव। ८६ कलश है न? ८६

भुक्त्वा भक्तं भक्तहस्ताग्रदत्तं ध्यात्वात्मानं पूर्णबोधप्रकाशम्।
तप्त्वा चैवं सत्तपः सत्तपस्वी प्राप्नोतीद्धां मुक्तिवाराङ्गनां सः।।८६।।

कहते हैं कि धर्मात्मा सन्त वीतराग के मार्ग में ऐसे सन्त होते हैं, उसकी पहले समझ, श्रद्धा तो करनी पड़ेगी या नहीं? जिसे-तिसे साधु माने और जिसे-तिसे गुरु माने, (वह) मिथ्यात्व में पड़ा है, कहते हैं। आहाहा!

श्लोकार्थ : भक्त के हस्ताग्र से (हाथ की उङ्गलियों से) दिया गया भोजन लेकर,... देखो! आत्मज्ञानी शान्ति समाधि में झूलते हैं और भिक्षा लेने जाते हैं वहाँ, **भक्त के हस्ताग्र से...** ऐसा लिया। जैसे-तैसे के घर में नहीं। गुणधारी श्रावक हो, भक्त हो वहाँ आहार लें, ऐसा कहते हैं। यह पहले आ गया है न? आठ गुणसहित। आठ गुण आ गया। श्रावक के आठ गुणसहित। जैन सच्चे श्रावक हों और भक्ति करनेवाले। भक्ति। जबरदस्ती दे या ऐसा करे, ऐसा नहीं। **भक्त के हस्ताग्र से...** दो बात। एक तो धर्मात्मा का भक्त हो और हस्ताग्र से-हाथ से। दूसरे को हुकम करे, ऐसा नहीं। लो, महाराज पधारे हैं, आहार दो, ऐसा नहीं। वे वहाँ आते ही नहीं। वह तो पधारो... पधारो... पधारो... ऐसे मान से... यह तो मुनि परमेश्वर हैं। अन्तर आनन्द में कल्लोल करते हैं। आहाहा! आहार का एक विकल्प आया, वह भी विकल्प का स्वामी और आहार लेने का स्वामी नहीं। उसके ज्ञाता-दृष्टा हैं। देखो! यह वीतराग के मुनि। आहाहा! यह साधुपना।

भोजन लेकर **दिया गया भोजन लेकर,...** देखा न? **(हाथ की उङ्गलियों से)...** वापस ऐसा। ऐसे हाथ से देते हैं न? हाथ की अंगुलियों से देते हैं। ऐसे हाथ में देते हैं। **पूर्ण ज्ञानप्रकाशवाले आत्मा का ध्यान करके,...** देखो! बाहर बात ली है जरा आहार की। भगवान आत्मा पूर्ण ज्ञान का पिण्ड प्रभु, उसका ध्यान करके, उसके आनन्द का ध्यान करके। आहाहा! पूर्ण ज्ञानप्रकाशवाला आत्मा—द्रव्य लिया। द्रव्य-द्रव्यवस्तु।

ध्रुव नित्यानन्द प्रभु। **पूर्ण ज्ञानप्रकाशवाले आत्मा...** आहाहा! पर्याय में तो अपूर्ण ज्ञान है। पूर्ण त्रिकाल है, ऐसा पूर्ण स्वभाव भगवान का ध्यान-निजस्वरूप का ध्यान। यहाँ तो यह कहते हैं, देखो!

यान करके, इस प्रकार सत् तप को (सम्यक् तप को) तपकर,... लो, यह सत् तप। यह सम्यक् तप। सच्चा मुनिपना। आहाहा! आत्मा पूर्ण ज्ञानप्रकाश का पिण्ड है, उसमें एकाग्रता, ध्यान करना, वही सत् तप है, वही मुनिपना है, ऐसा कहते हैं। अन्दर शब्द है? देखो! **इस प्रकार सत् तप को (सम्यक् तप को) तपकर,...** इस प्रकार अर्थात्? ज्ञानप्रकाश ऐसा भगवान आत्मा नित्यानन्द प्रभु का ध्यान करके। देखो! देव-गुरु का नहीं, राग का नहीं, एक समय की पर्याय का ध्यान नहीं। समझ में आया? परमेश्वर का मार्ग, वीतराग का मार्ग अनादि-अनन्त सत्यमार्ग ऐसा है। इस प्रकार से अपना भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान और पूर्ण शान्ति आदि, ऐसा तत्त्व भगवान का अन्तरध्यान, उसे ध्येय करके पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा को ध्येय करके ध्यान करता है, वह सत् तपस्वी है, वह सच्चा तपस्वी है, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार सत् तप को (सम्यक् तप को) तपकर,... यह सत् तप। दो, पाँच, दस, पच्चीस अपवास-वपवास करे, उसे आत्मा का भान नहीं। वह तो अज्ञान मूखाई से भरपूर तप है। बालतप और बालव्रत (है)। समझ में आया? **वह सत् तपस्वी...** देखो भाषा। वह सच्चा तपस्वी है। सच्चा तपस्वी है। मात्र आहार छोड़ा, पानी छोड़ा और तपस्वी हो गया, ऐसा नहीं। वह तपस्वी नहीं। यह तो सच्चा तपस्वी उसे कहते हैं, ऐसा कहते हैं। वे (बाकी) सब खोटे तपस्वी। आहाहा! जो आत्मा के अन्तर पूर्ण स्वरूप के ध्यान में उसे ध्येय करके पड़ा है, वह सच्चा तपस्वी है। आहाहा! तपस्वी अर्थात् सच्चा मुनि, ऐसा। तप अर्थात् मुनिपना गिना है न? भगवान का तपकल्याणक नहीं? तपकल्याणक कहो या मुनिपना कहो। यह सच्चा मुनिपना, सच्चा मुनिपना यह है, ऐसा कहते हैं।

ऐसे **दैदीप्यमान मुक्तिवाराङ्गना को...** आहाहा! पूर्णानन्द प्रभु ऐसे आत्मा को ध्येय बनाकर ध्यान में लिया, विषय किया, अपने सम्यग्ज्ञान में ध्रुव को विषय बनाया और ध्यान किया। ऐसे ध्यानी मुनि **दैदीप्यमान मुक्तिवाराङ्गना को (मुक्तिरूपी स्त्री**

को) प्राप्त करता है। लो। यह केवलज्ञानरूपी दैदीप्यमान शोभित मुक्ति, ऐसी वारांगना अर्थात् स्त्री, मुक्तिरूपी स्त्री को प्राप्त करते हैं। आहाहा! भाषा ही... कहो, ऐसे सच्चे मुनि को **दैदीप्यमान मुक्तिवाराङ्गना...** केवलज्ञान, अनन्त आनन्द ऐसी मुक्तिरूपी स्त्री, उसे ऐसे सच्चे ध्यानी, आत्मा का ध्यान करनेवाले ध्यानी मुक्ति प्राप्त करते हैं। कहो, समझ में आया? यह पहले व्यवहार लिया परन्तु ध्यान तो इसका करते हैं। आहार लिए हस्ताग्र से परन्तु ध्यान तो यहाँ का यहाँ है। वहाँ नहीं कि आहार लेना है और अमुक है और... आहाहा! यह ६३ गाथा हुई।

मुनि की आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं। मुनि ले-रखे क्या? व्यवहार से, हों! उसकी व्याख्या है।

पोत्थइकमंडलाइं गहणविसग्गेसु पयतपरिणामो।
आदावण-णिक्खेवण-समिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा।।६४।।

पुस्तक कमण्डल आदि निक्षेपणग्रहण करते यती।
होता प्रयत परिणाम वह, आदाननिक्षेपण समिति॥ ६४॥

ऐसा निदिष्ठान कहा न! भगवान ने ऐसा कहा है। आगम में ऐसा कहा है।

टीका : यहाँ आदान निक्षेपणसमिति का स्वरूप कहा है। यह, अपहृतसंयमियों को संयमज्ञानादिक के उपकरण लेते-रखते समय... व्यवहारसंयमी की बात है। जिसे विकल्प उठा है। आत्मा के अनुभवसहित अन्दर शान्ति तो है, परन्तु शुभराग विकल्प उठा है, उसे अपहृतसंयमी कहते हैं। अपवादी संयमी। नीचे है न, **अपहृतसंयमवाले मुनि। (अपवाद, व्यवहारनय, एकदेशपरित्याग, अपहृतसंयम, हीन-न्यूनतावाला संयम), सरागचारित्र और शुभोपयोग – ये सब एकार्थ हैं।** देखो! अब यहाँ विशिष्टता क्या कहते हैं? कि मुनि को तीन कषाय का अभाव तो है और अनुभव सम्यग्दर्शन तो साथ में है ही। अब उन्हें शुभभाव का विकल्प आता है, उसे व्यवहारसंयमी कहा है। ऐसा निश्चय तो है। भाई! वह व्यवहार अर्थात् सम्यग्दर्शन और शान्ति नहीं है, और यह व्यवहार है, उसकी बात यहाँ है ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : छठवें वाले को अपहृतसंयमी कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, छठवें गुणस्थानवाला अपहृत सराग संयमी व्यवहारनय का संयमी, आस्रववाला संयमी कहने में आया है। आहाहा! वापस आत्मज्ञान नहीं, अनुभव नहीं, शान्ति नहीं, तीन कषाय का अभाव नहीं, वह व्यवहार, उस व्यवहार को व्यवहार कहते ही नहीं। वह तो अज्ञानी है। आहाहा! राग के विकल्प का कर्ता होता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। उसे व्यवहार कैसा? यहाँ तो अपहृतसंयमी को अर्थात् कि जो शुभोपयोग में आया है। मैं चीज़ को लेने-रखने के भाव में यत्न करता है, ऐसे शुभराग से, अन्तर में तीन कषाय की निरागी दशा है, ऐसे साधु को जो विकल्प आया है, उसे अपहृतसंयमी कहते हैं। आहाहा! देखो न! कैसा स्पष्टीकरण किया है!

संयमज्ञानादिक के उपकरण लेते-रखते समय... देखो! संयम और ज्ञान है तो सही। अन्तर का संयम भी है और अन्तर सम्यग्ज्ञान भी है। उसके **उपकरण लेते-रखते समय उत्पन्न होनेवाली समिति का प्रकार कहा है।** लो! उसे पुस्तकादि लेने-रखने में। वह उपकरण है न? **पुस्तक, कमण्डल आदि...** यह उपकरण की बात है। जिसे अपना शुद्ध अनुभव सम्यग्दर्शन है और जिसे संयम और ज्ञान अन्तर परिणमित हुआ है, उसे जब छठवें गुणस्थान में शुभराग आता है। लेने-रखने की चीज़ को, पुस्तक लेना-रखना। वह क्रिया तो जड़ की है, परन्तु शुभभाव का विकल्प उठता है, उस शुभभाववाले जीव को सरागसंयमी, व्यवहारनय के संयमी, अपहृतसंयमी, अपवादीसंयमी, एकदेशपरित्याग (कहते हैं)। देखो! अशुभराग छूटा है, शुभराग छूटा नहीं है तो एकदेशपरित्याग है। आहाहा!

पंचम गुणस्थान में एकदेशपरित्याग और यह एकदेशपरित्याग, दोनों में अन्तर है, भाई! आहाहा! सम्यग्दृष्टि श्रावक आत्मा का अनुभवी है। उसमें एकदेश राग का त्याग है, तो वह एकदेशसंयमी कहलाता है। यह दूसरी चीज़ है। यहाँ तो सातवीं भूमिका का (गुणस्थान का) अभाव है। सर्व राग के अभावरूप निर्विकल्प उपयोग का अभाव है और अशुभराग गया और शुभराग में आया, तो उसे एकदेशत्यागी कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया?

(एकदेशपरित्याग, अपहृतसंयम, हीन-न्यूनतावाला संयम)... छठे गुणस्थान

में... बाह्य में नग्नदशा। समझ में आया? अभ्यन्तर में दर्शन-ज्ञान और चारित्र प्रगट हुआ है, परन्तु पूर्ण शुद्ध निर्विकल्प उपयोगरूप चारित्र नहीं तो उसे यहाँ न्यून-हीन संयम कहा है। आहाहा! **सरागचारित्र...** आहाहा! क्या करे? यहाँ तो अन्तर आत्मा का अनुभव और अन्दर स्थिरता-शान्ति तो है, उसमें सप्तम गुणस्थानयोग्य निर्विकल्प उपयोग नहीं और रागभाग है तो एकदेशत्याग कहा। यह बात है। पक्ष से बात करे तो नहीं जँचे, भाई! यह तो वस्तु का स्वभाव ऐसा है। आहाहा!

जिसे सम्यग्दर्शन, आत्म-अनुभव नहीं है और राग का कर्ता होता है, उसे व्यवहार कहाँ से आया? निश्चय का भान नहीं, वहाँ तो व्यवहार ही नहीं है, उसे तो सरागसंयमी भी नहीं कहते। आहाहा! वह तो मिथ्यादृष्टि असंयमी है। यहाँ तो आत्मा के आनन्द का अनुभव है और शान्ति, समाधि, तीन कषाय के अभावरूप परिणमित हुई है, परन्तु निर्विकल्प शुद्ध उपयोग में जमे नहीं तो शुभराग आया, उसे न्यून संयमी, सरागसंयमी, शुभ उपयोगवाला संयमी कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? है तो वह हेय, परन्तु आये बिना नहीं रहता। पहले, छठवें गुणस्थान में आता है, ऐई! यह तो छठे गुणस्थानवाले को ही व्यवहार कहा। वे कहते हैं न, व्यवहार पहले और निश्चय बाद में, भाई! आता है न? उसका अर्थ यह। छठे गुणस्थानवाले को शुभ उपयोग आया है, वह व्यवहार है। पश्चात् अभाव करके सातवें में जाएगा। मिथ्यादृष्टि को पहले व्यवहार और पश्चात् समकित हो, यह बात ही कहाँ है? कैसे संयमी मुनि... यह समिति का प्रकार कहा, उसे व्यवहारसमिति, लेने-छोड़ने का विकल्प ऐसा होता है, यह बात की। उपेक्षासंयमी अब कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल १३, मंगलवार, दिनांक - ६-७-१९७१
गाथा-६४-६५, श्लोक-८७ से ९०, प्रवचन-६०

आदाननिक्षेपणसमिति। मुनि को वस्तु लेने-रखने की विधि की पद्धति। इसकी टीका।

यह, अपहृतसंयमियों को... अर्थात् न्यून संयमवाले को, ऐसा। **(अपवाद, व्यवहारनय, एकदेशपरित्याग,...)** सरागचारित्र कहो या शुभोपयोग में आया, ऐसा कहो। **उपकरण लेते-रखते समय...** परन्तु **संयमज्ञानादिक के उपकरण लेते-रखते समय...** ऐसा। संयम और ज्ञान तो है, परन्तु न्यून है। सातवें गुणस्थान में जैसा चाहिए, वैसा छठवें में नहीं है। इससे उसे समिति का प्रकार कहा है। जिसे विकल्प है और अन्दर दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी है, उसे यह आदाननिक्षेपणसमिति कही गयी है। **उपेक्षासंयमियों को...** जिसे अन्दर में शुद्धोपयोग हुआ है, उत्सर्ग है, निश्चयनय सर्व परित्याग है। उपेक्षासंयमी **(उपेक्षासंयम, वीतरागचारित्र और शुद्धोपयोग - ये सब एकार्थ हैं।) पुस्तक, कमण्डल आदि नहीं होते;....** वे तो आत्मा के ध्यान में होते हैं। सातवें गुणस्थान में अप्रमत्तदशा है। शुद्ध आनन्द के अनुभव में होते हैं। उन्हें यह पुस्तक, कमण्डल होते नहीं।

वे परमजिनमुनि एकान्त में (सर्वथा) निस्पृह होते हैं; इसीलिए वे बाह्य उपकरणरहित होते हैं। अन्तर के ध्यान में होवे, उन्हें बाह्य उपकरण नहीं होते। **अभ्यन्तर उपकरणभूत,...** उन्हें होता है कितना? ध्यान में मुनि छठवें गुणस्थान से आगे जाकर सातवें गुणस्थान में ध्यान में आते हैं, तब उन्हें **अभ्यन्तर उपकरणभूत, निज परमतत्त्व को प्रकाशित करने में चतुर ऐसा जो निरुपाधिस्वरूप सहज ज्ञान, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ उन्हें उपादेय नहीं है।** लो। निज परमतत्त्व आनन्दस्वरूप को प्रकाशित करने में चतुर **ऐसा जो निरुपाधिस्वरूप सहज ज्ञान,...** वह उनका उपकरण है। अन्तर-ज्ञान जो स्वरूप को पकड़कर अनुभवता है, वह ज्ञान उनका उपकरण है, ऐसा कहते हैं। क्योंकि ज्ञान की पर्याय द्वारा पूरा आत्मा अनुभव में लिया; इसलिए उसे-ज्ञान को उपकरण कहने में आता है। अपेक्षा संयमी वीतरागी शुद्धोपयोगी है, उनको। **अन्य कुछ उन्हें उपादेय नहीं है।** लो।

अपहृतसंयमधरों को... परन्तु जो छठवें गुणस्थान में जिसे शुभराग का विकल्प उत्पन्न हुआ है, वह व्यवहारनय में आया है, उसे **परमागम के अर्थ का पुनः पुनः...** परम-आगम सिद्धान्त सर्वज्ञ कथित। **पुनः पुनः... प्रत्यभिज्ञान होने में कारणभूत ऐसी पुस्तक...** प्रत्यभिज्ञान अर्थात् था, उसे यही है - ऐसा निर्णय होने में विशेष पुस्तक निमित्त है, ऐसा कहते हैं। मुनि को व्यवहार में वह ज्ञान का उपकरण है।

शौच का उपकरण कायविशुद्धि के हेतुभूत कमण्डल है;... जंगल (दस्त) आदि साफ होने के लिए कायविशुद्धि के निमित्त पानी का कमण्डल होता है, बस। मुनि को पात्रा-बात्रा होते नहीं। भारी कठिन काम।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आदान... यहाँ आदाननिक्षेपण। बीच में वे शब्द डाले हैं न। ... समिति है न! खबर है न! खोटी है।

यहाँ तो आदाननिक्षेपण, बस। किसका? कि ज्ञान के उपकरणरूपी पुस्तक का और कमण्डल का तथा **संयम का उपकरण-हेतु, पींछी है।** ऐसा मार्ग है। फिर कोई ऐसा कहते हैं, यह तो दिगम्बर के शास्त्रों में है। हमारे शास्त्रों में तो अनादि का यह है, ऐसा कहे।

मुमुक्षु : इन दो में से सच्चे कौन, यह निर्णय करना पड़े न। जब दोनों परस्पर विरुद्ध कहनेवाले हों तो सत्य के शोधक को निर्णय करना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो मार्ग ही अनादि का यह है। बीच में निकले, इसलिए फिर पूरा मार्ग ही बदल डाला। परन्तु अब यह बात तो जिसे मध्यस्थ के विचारना हो, सत्य को शोधना हो तो यह बात है। मुनि को तो एक पुस्तक होती है, कमण्डल होता है और पींछी, बस।

इन उपकरणों को लेते-रखते समय... लो! इस मुनिपने की श्रद्धा का भी ठिकाना नहीं। किसे मुनि कहना? आहाहा! **उत्पन्न होनेवाली प्रयत्नपरिणामरूप विशुद्धि ही...** लो! यहाँ शुभभाव को विशुद्धि कहा। वही आदाननिक्षेपणसमिति है। समिति का नाम ही यह है-आदाननिक्षेपण। लेना-रखना, बस इतना। क्या? कि ये तीन। पुस्तक, कमण्डल,

पिच्छी। **ऐसा (शास्त्र में) कहा है।** है न? '**निर्दिष्टेति**' है न पाठ में? भवति, ऐसा। '**निर्दिष्टेति**' ऐसा भगवान ने सिद्धान्त में यह कहा है। इससे विरुद्ध, वह सिद्धान्त का कथन नहीं है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं न, देखो न! '**होदि त्ति णिद्दिट्ठा**' - भगवान ने ऐसा कहा है और भगवान के सिद्धान्त में इतना है। उन्हें (मुनि को) तीन उपकरण के अतिरिक्त दूसरा होता नहीं।

अब, ६४ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं— अब, स्वयं पद्मप्रभमलधारिदेव (श्लोक कहते हैं)।

समितिषु समितीयं राजते सोत्तमानां,
परम-जिनमुनीनां संहतौ क्षान्तिमैत्री।
त्वमपि कुरु मनःपङ्केरुहे भव्य नित्यं,
भवसि हि परमश्रीकामिनीकान्तकान्तः ।।८७।।

श्लोकार्थ : उत्तम परमजिनमुनियों की यह समिति,... उत्तम परमजिनमुनियों की यह समिति। आहाहा! **यह समिति, समितियों में शोभती है।** सब समितियों में यह समिति शोभती है - ऐसा कहते हैं। **उसके संग में क्षान्ति और मैत्री होते हैं;...** जिसे ऐसी समिति हो, उसे धीरज होती है, सहनशीलता होती है। धीरज अर्थात् सहनशीलता। **(क्षमा और मैत्रीभाव होते हैं।)** धीरज अर्थात् सहनशीलता और क्षमा, ऐसा। इसका नाम क्षमा। धीरज होती है। उतावल नहीं। शान्त है। अहो! वीतराग कहते हैं कि सन्त-मुनिपना ऐसा है। अन्तर में जिन्हें आत्मानुभव होता है; तदुपरान्त संयम और स्थिरता भी होती है और ऐसी समिति का भाव जिन्हें होता है, उसके साथ क्षमा और मैत्रीभाव होता है।

हे भव्य! तू भी मन-कमल में... हे भव्य! तू भी मन-कमल में **सदा वह समिति धारण कर,...** ऐसी समिति हो, उसे धारण कर। यहाँ तो मुनि की बात है न! दूसरे को समझाते हैं कि मुनिपना ऐसा होता है। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से मुनिपना माने तो यह गुरु में - उसकी श्रद्धा में भूल है और देव में भी उसकी भूल हुई। देव ने ऐसा कहा न! शास्त्र में वैसा (अन्य प्रकार) कहा नहीं और शास्त्र में वैसा कहा - ऐसा माने, यह तीनों में उसकी भूल है। मन, वचन और काया। **मन-कमल में सदा वह समिति धारण कर, कि जिससे तू परमश्रीरूपी कामिनी का प्रिय...** परमानन्दरूपीदशा, अतीन्द्रिय

परम आनन्दरूपी मुक्तदशा, ऐसी तेरी परिणति, उसका **प्रिय कान्त होगा;...** वह परिणति तुझे एक समय भी छोड़ेगी नहीं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : यह उत्सर्गमार्ग है, वह अपवादमार्ग।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह विकल्प आया, वह अपवाद; विकल्परहित यह उत्सर्ग। विकल्प आया, वह व्यवहारनय; यह स्थिरता हुई, वह निश्चयनय। विकल्प आया, वह अपहृत; यह उपेक्षा। विकल्प आया, वह शुभोपयोग; यह शुद्धोपयोग। कहो, समझ में आया? विकल्प आया, वह एकदेश परित्याग, यह सर्वदेश परित्याग। कहो, एकदेश परित्याग। और एकदेश परित्याग, तो श्रावक कहलाता है। महाव्रत, वे अणुव्रत हैं। महाव्रत, वह अणुव्रत है। विकल्प है न? मार्ग बहुत अलग। पूरा मार्ग बदल डाला। लोगों को खबर भी नहीं होती कि वीतराग का मार्ग क्या है? जिसमें जन्में, वह उनका धर्म। हो गया, जाओ। उस कुल में गिने। ६५ वीं गाथा।

प्रतिष्ठापन। पाँचवीं है न?

पासुग-भूमि-पदेसे गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो पइट्ठासमिदी हवे तस्स।।६५।।

पइट्ठा प्रतिष्ठा। छोड़ना।

जो गूढ़ प्रासुक और पर-उपरोध बिन भू पर यती।
मल त्याग करते हैं उन्हें, समिति प्रतिष्ठापन कही॥ ६५॥

टीका : यह, मुनियों को कायमलादित्याग के स्थान की शुद्धि का कथन है। कायमलादि, दिशा / दस्त जाना आदि। **शुद्धनिश्चय से जीव को देह का अभाव होने से...** मूल तो शुद्धनिश्चय से तो देह, आत्मा को है नहीं। इसलिए **अन्नग्रहणरूप परिणति नहीं है।** इसलिए अन्नग्रहण करने का विकल्प भी उसे नहीं है। वह आत्मा में है ही नहीं। **व्यवहार से (जीव को) देह है;...** निमित्तरूप से। संयोगी चीज़ है। **इसलिए उसी को देह होने से आहारग्रहण है;...** विकल्प है न? उतना। आहारग्रहण तो आहार के कारण से है, परन्तु वह विकल्प है न! आहारग्रहण करने का विकल्प है। **आहारग्रहण के कारण मलमूत्रादिक सम्भवित हैं ही।** आहार किया, इसलिए फिर मलमूत्रादि होते हैं।

इसीलिए संयमियों को मलमूत्रादिक के उत्सर्ग का (त्याग का) स्थान जन्तुरहित... जहाँ एकेन्द्रियादि जीव न हों **तथा पर के उपरोधरहित होता है।** वहाँ किसी की आज्ञा विरुद्ध न हो कि इतने क्षेत्र में तुम्हें कहीं विसर्जित नहीं करना। ऐसी आज्ञा उपरोधरहित हो। किसी का विरोध नहीं हो।

उस स्थान पर शरीरधर्म करके... लो, मल या मूत्र वह शरीर धर्म है-शरीर का स्वभाव है। **फिर जो परसंयमी उस स्थान से उत्तर दिशा में कुछ डग जाकर उत्तरमुख खड़े रहकर, कायकर्मों का (शरीर की क्रियाओं का), संसार के कारणभूत हों ऐसे परिणामों का...** लो, यह संसार के कारणभूत परिणाम थे। यह ऐसे करना... ऐसे करना... यह विकल्प था न वह? **संसार के निमित्तभूत मन का उत्सर्ग करके,...** उस मन को भी जरा ध्यान में होकर छोड़ दे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कायोत्सर्ग अर्थात् काया और मन को छोड़कर स्वरूप में स्थिर हो, उसे यहाँ कायोत्सर्ग कहा जाता है। मन का संग छोड़े। आहाहा!

निज आत्मा को अव्यग्र (एकाग्र) होकर ध्याता है... मल और मूत्र (विसर्जित) करने के पश्चात् अपने ध्यान में आत्मा को लेकर अव्यग्ररूप से एकाग्र होकर, आनन्दस्वरूप आत्मा का ध्यान करे। उसे ध्येय में लेकर स्थिर हो, ऐसा कहते हैं। देखो! उस समिति के पश्चात् यह। व्यवहारसमिति के विकल्प के बाद यह कर्तव्य है। आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पूरी बात ही बदल डाली। सब बदल गयी एक-एक बात। परम्परा से वीतराग का मार्ग था, वह सब बदल डाला। नये कल्पित शास्त्र ही बनाये न! कल्पित। ईरियावही करना, वह तो वापस विकल्प है। भाषा है न वह? वह भाषा का विकल्प है। यह तो कहते हैं, मन का संग छोड़कर अन्दर ध्यान में जाना, ऐसा कहते हैं। इतना भी विकल्प शरीर है, तो अन्न ग्रहण है, तो मल-मूत्र है, वह भी स्वरूप में तो है नहीं; इसलिए यह विकल्प आया, वह संसार का कारण है, बन्धन का कारण है-ऐसा कहते हैं। आहाहा! मन का संग करके परिणाम उत्पन्न हुए, वह भी बन्ध का कारण है। भारी सूक्ष्म (बात है)।

निज आत्मा को अव्यग्र (एकाग्र) होकर ध्याता है... भगवान को ध्यावे और

अरिहन्त को ध्यावे, ऐसा नहीं कहा। अरिहन्त का ध्यान करे, अरिहन्त का ध्यान करे, वे तो पर हैं। पर का ध्यान करे, वहाँ तो राग है। आहाहा! मार्ग बहुत कठिन है। **अथवा पुनः पुनः कलेवर की (शरीर की) भी अशुचिता...** अहो! यह शरीर! जिसमें माँस, हड्डियाँ, चमड़ी, विष्टा, पेशाब (भरा हुआ है)। आहाहा! आत्मा का ऐसे ध्यान करे और या यह विकल्प / विचार करे। **अशुचिता सर्व ओर से भाता है,...** शरीर का, शरीर के प्रत्येक अवयवों की अशुचिपने की भावना करे। **उसे वास्तव में प्रतिष्ठापनसमिति होती है।** ऐसे सन्त को यह प्रतिष्ठापन-छोड़ना, बोसराना होता है। अस्ति-नास्ति करते हैं।

दूसरे स्वच्छन्दवृत्तिवाले यतिनामधारियों को कोई समिति नहीं होती। आहाहा! स्वच्छन्दवृत्ति-वीतरागमार्ग को छोड़कर अपनी कल्पना से मार्ग में पड़े होते हैं, ऐसे **स्वच्छन्दवृत्तिवाले यतिनामधारियों को...** यति अर्थात् साधु। **कोई समिति...** एक भी **नहीं होती।** आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य स्वयं यह कहते हैं। लो! **पइट्ठासमिदी हवे तस्स**- है न? उसमें से निकाला कि दूसरों को नहीं होती। पाठ है न **पइट्ठासमिदी हवे तस्स** इन्हें होती है; स्वच्छन्दियों को नहीं होती, ऐसा इसमें से निकाला। अस्ति-नास्ति। आहाहा! देखो! ऐसा मुनिपना होता है। गृहस्थाश्रम में वस्त्र पहने हों, गृहस्थाश्रम में हो और मुनिपना आवे, ऐसा तीन काल में नहीं होता, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : आदान अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री : लेना, कहा न। निक्षेप अर्थात् छोड़ना। पुस्तक लेना और रखना। लेना और रखना।

मुमुक्षु : आदान-प्रदान के बाद....

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्न कहा न, अभी बात हो गयी। कहाँ ध्यान था। भण्डमति इसमें नहीं। आदाननिक्षेपण एक ही नाम है।... अर्थात् वासण होता है। तब कहाँ थे?.... यह श्वेताम्बर की शैली की भाषा है। सनातनमार्ग में यह वस्तु थी ही नहीं। आहाहा! आदान निक्षेपणा समिति बस। उसमें वापस पुस्तक का नाम नहीं दिया। यह तो बीच में आती है। अन्दर उसको पात्र होवे ही, वस्त्र होवे ही, वह तो मुनि ही नहीं है। वस्त्र-पात्र रखे और मुनि माने, वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! भारी कठिन काम।

मुमुक्षु : अपवादमार्ग होता ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अपवाद इस विकल्प का होता है।

मुमुक्षु : उत्सर्ग का तो इस काल में अभाव ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उत्सर्ग बिना अपवाद होता ही नहीं। है न, तर्क है न? आहाहा! इसके लिए तो यह कथन है कि जिसे अन्तर निश्चय संयम तो प्रगट हुआ है। निश्चयदर्शन भी है परन्तु जो चारित्र की पूर्णता चाहिए, वह नहीं है; इसलिए उसे विकल्प उठता है, उसे अपवादी संयम कहा जाता है। अपवाद है। चाहे जैसा निमित्त हो, कहा था न? चाहे जैसा क्या न हो? मुनि को तो इतना ही होता है, इसके अतिरिक्त... चाहे जैसा निमित्त नहीं होता। खबर है न? ऐसा कहते हैं। अपवाद क्या कहा था न यहाँ? अपवादी मुनि कहे हैं। खबर है न? लींबड़ीवाले केशवलाल ने कहा था। परन्तु क्या करे? रहना उसमें तो बचाव किये बिना चलता नहीं। मार्ग तो ऐसा है, भाई! सत्य तो यह है। वस्तु का स्वरूप यह है। वाद-विवाद करनेयोग्य नहीं है। किसके साथ वाद-विवाद करे?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : तो भी वह विकल्प है, उतना अपवाद है। वस्तु तो जो अनुभव और स्थिरता संयम है, वही है। ऐसे को ऐसा अपवादी होता है। इसके अतिरिक्त होता नहीं।

अब, ६५ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं —

समितिरिह यतीनां मुक्तिसाम्राज्यमूलं,
जिनमतकुशलानां स्वात्मचिन्तापराणाम्।
मधुसख-निशितास्त्र-व्रातसम्भिन्नचेतः,
सहितमुनिगणानां नैव सा गोचरा स्यात्॥८८॥

श्लोकार्थ : जिनमत में कुशल... है मुनि। देखा? वीतराग का मार्ग ऐसा है सन्त का, ऐसे जैनमत में सन्त कुशल हैं। वह यह जैनमत है, यह वीतराग मत है। **और**

स्वात्मचिन्तन में परायण,... वापस। अकेले ज्ञान कुशल हैं इतना नहीं—यहाँ ऐसा कहते हैं। वीतराग परमात्मा ने गुरुपना, देवपना, धर्मपना जो कहा, उसमें वे कुशल हैं, विचक्षण हैं, समझदार हैं। **और स्वात्मचिन्तन में परायण,...** आत्मध्यान अन्तर आनन्दस्वरूप परायण तत्पर ही हैं। आत्मा के आनन्द के ध्यान में तत्पर हैं। अकेला कुशलपना नहीं, ऐसा। तदुपरान्त स्वरूप की स्थिरता के ध्यान में परायण हैं।

ऐसे यतियों को... यति अर्थात् स्वरूप का यत्न करनेवाले को, रागरहित आत्मा के स्वभाव का यत्न करनेवाले को। **यह समिति मुक्तिसाम्राज्य का मूल है।** मुक्तिरूपी साम्राज्य का यह मूल है। लो, यह साम्राज्य। **कामदेव के तीक्ष्ण अस्त्र समूह से भिदे हुए हृदयवाले मुनिगणों को वह (समिति) गोचर होती ही नहीं।** आहाहा! कहते हैं कि जिसे वासना, कामदेव की वृत्ति उठती है, ऐसे अस्त्रसमूह से भिदे हुए, (अर्थात्) जिसका हृदय विषय-वासना के भाव से भिद गया है। जहाँ-तहाँ अनुकूलता, स्त्री आदि के शरीर को देखकर और उसे प्रेम उत्पन्न होता है, वह कामबाण से घाते गये हैं। आहाहा!

कामदेव के तीक्ष्ण अस्त्र समूह से भिदे हुए हृदयवाले मुनिगणों को वह (समिति) गोचर होती ही नहीं। उन्हें समिति नहीं होती और समिति का ज्ञान भी उन्हें नहीं होता। ऐसी समिति का ऐसा ज्ञान भी नहीं और वह समिति भी नहीं। आहाहा! गजब भाई! **तीक्ष्ण अस्त्र समूह...** वे ही वृत्तियाँ बारम्बार उठती हों। स्त्री के परिचय में रहे, संग में रहे, ऐसी वृत्यिाँ उठे, कहते हैं कि उनसे उसका हृदय भिंद गया है। उसे इस समिति का, निश्चय का आचरण नहीं होता। तो व्यवहार भी उसे नहीं होता।

ब्रह्मानन्द भगवान आत्मा के स्वरूप में जिनकी रमणता है, ऐसे सन्तों को ऐसी समिति होती है। आहाहा! पूरी दुनिया से उदास हो गया है। विकल्प के शुभभाव से भी उदास है। उसे ऐसी वासना उत्पन्न नहीं होती। जिसे यह वासना-आत्मा के आनन्द से उल्टी वृत्तियाँ-उदभवित होती है, ऐसे घायल हृदयवाले को समिति नहीं होती।

८९ वाँ कलश।

समितिसमितिं बुद्ध्वा मुक्त्यङ्गनाभिमतामिमां,
भवभवभयध्वान्तप्रध्वन्सपूर्णशशिप्रभाम्।

मुनिप तव सद्दीक्षा-कान्तासखी-मधुना मुदा,
जिनमततपःसिद्धं याया: फलं किमपि ध्रुवम् ।।८९।।

श्लोकार्थ : हे मुनि! समितियों में की इस समिति को कि जो मुक्तिरूपी स्त्री को प्यारी है,... लो, ठीक। अन्तर का शुद्ध निर्मल परिणमन समिति, वह मुक्त अर्थात् आनन्दरूप की पूर्ण दशा, उसे प्रिय है अर्थात् उस दशा से उसे मुक्ति होगी। आहाहा! **हे मुनि! समितियों में की इस समिति को कि जो मुक्तिरूपी स्त्री को प्यारी है, जो भव-भव के भयरूपी अन्धकार को नष्ट करने की लिये पूर्ण चन्द्र की प्रभा समान है...** अहो! सम-इति। आत्मा में एकाग्र होकर आनन्द की परिणति होना। कल दो प्रकार आये थे न? कि आत्मा में एकाग्र होना या धर्मस्वभाव में एकाग्र होना, सब एक ही है। भाषा दो आयी। वही वास्तविक समिति है।

भव-भव के भय... अहो! चौरासी लाख का। भव-भव अर्थात् चौरासी लाख का **भयरूपी अन्धकार को नष्ट करने की लिये...** आनन्दस्वरूप भगवान की अन्तर में एकाग्रता, लगन, अन्दर एकाग्रता होना, वह **पूर्ण चन्द्र की प्रभा समान है...** आहाहा! **तेरी सत्-दीक्षारूपी कान्ता की (सच्ची दीक्षारूपी प्रिय स्त्री की) सखी है;...** तेरी दीक्षा जो अकषायपरिणति, वीतरागभाव की दशा, वह दीक्षा है। उसकी यह कान्ता सखी है। दीक्षारूपी कान्ता, उसकी यह सखी है। समिति उसकी सखी है। यह तो निरालम्बी मार्ग है। जहाँ विकल्प का भी आश्रय नहीं। आहाहा! मार्ग की श्रद्धा खबर नहीं होती। आचरण तो बाद में। आहाहा!

तेरी सत्-दीक्षा... देखो! सत्-दीक्षा। वस्त्र छोड़ दिये और नग्न हुए, वह नहीं। सत्-दीक्षा। आत्मा के आनन्दस्वरूप की परिणति जिसने प्रगट की है, ऐसी सच्ची दीक्षा। यह तो वस्त्र छोड़े और हो गयी दीक्षा। यह तो सत्स्वरूप भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द के स्वरूप से सत् है, उसकी वीतराग परिणति प्रगट होना, उसे यहाँ सत्-दीक्षा कहने में आता है। उस **सत्-दीक्षारूपी कान्ता की (सच्ची दीक्षारूपी प्रिय स्त्री की)...** मुनि को तो वीतराग परिणति प्रिय है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! व्यवहारनय के विकल्प आदि अट्ठाईस मूलगुण उन्हें प्रिय नहीं हैं। आहाहा! ऐसा कहते हैं। (वे तो) हेयबुद्धि से आते हैं। आहाहा!

यहाँ तो दीक्षारूपी प्रिय स्त्री, सच्ची दीक्षा, ऐसा। जिसे आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप की परिणति में जिसे निर्मलता प्रगट हुई है। वीतरागभावरूपी दशा प्रगट हुई है, उसे यहाँ दीक्षा कहा जाता है। उसे सच्ची दीक्षा कहते हैं। बाकी सब मिथ्या दीक्षा है। अरे रे! गजब! उसकी सखी है। ऐसी वीतरागदशारूपी आत्मा की परिणति—सच्ची दीक्षा, वह समिति इसकी सखी है, सहेली है, साथ रहनेवाली है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **उसे अब प्रमोद से जानकर,...** जानकर, प्रमोद से जानकर। उकताहट न लावे। अहो!

मुमुक्षु : पर्याय को, और प्रमोद से जानना।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यहाँ ऐसा मार्ग है।

मुमुक्षु : पर्याय के सन्मुख तो देखना नहीं और फिर....

पूज्य गुरुदेवश्री : देखना नहीं, परन्तु आता है या नहीं? ऐई! ऐई! क्या कहते हैं यह? अन्दर सब बातें चलती हो न। पर्याय वह उत्पन्न करने की अपेक्षा से उपादेय है। वीतरागभाव। आदरणीय की अपेक्षा से द्रव्य उपादेय है। ऐसी बात है। त्रिकाली भगवान आत्मा तो खास उपादेय... उपादेय... उपादेय... है। वह श्रद्धा में यह, ज्ञान में वह और चारित्र में भी वही है।

मुमुक्षु : परिणमे तब या पहले?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु परिणमन बिना कहाँ से उपादेय आया? उसका आश्रय किया, इसलिए उपादेय हुआ, तब उसे श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का परिणमन हुआ।

मुमुक्षु : परन्तु परिणमन की बात किसलिए करते हो? वह तो पर्याय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय आती नहीं? जानने योग्य नहीं? पर्याय होती नहीं? और कार्य तो सब पर्याय में होता है। कार्य द्रव्य-गुण में होता है? निर्मल वीतरागी पर्याय की यहाँ बात है। द्रव्य के ज्ञान के साथ पर्याय ऐसी होती है, उसका ज्ञान हो, उसे प्रमाणज्ञान कहते हैं।

मुमुक्षु : प्रमाणज्ञान तो हेय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हेय है, परन्तु है उसे हेय है या नहीं है, उसे हेय? प्रमाण में इसका-पर्याय का आश्रय है, वह हेय है। वस्तु हेय है? वस्तु तो त्रिकाल है। प्रमाणज्ञान

में प्रमाण नहीं आता? जाननेयोग्य नहीं? व्यवहार से जाना हुआ प्रयोजनवान का अर्थ क्या हुआ? शक्ति के वर्णन में तो ऐसा भी आया है। भगवान आत्मा द्रव्य से शुद्ध, गुण से शुद्ध, उसका भान होने पर पर्याय से शुद्ध होता है, तब उसे प्रमाणज्ञान कहने में आता है। अशुद्धता की बात नहीं है।

मुमुक्षु : सब शक्तियों में ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब शक्तियों का वर्णन है। शक्ति में सैंतालीस शक्ति त्रिकाली गुण है और गुण का धारक आत्मा का जहाँ आश्रय किया, उसमें शुद्धता ही परिणमती है। उसका - व्यवहारनय का विषय उसकी पर्याय है। शुद्धदशा, वह व्यवहारनय का विषय है। सद्भूतव्यवहारनय (का विषय है)। रागादि की बात यहाँ नहीं है। सत्शक्ति है न? ज्ञानानन्द आदि अनन्त शक्तियाँ हैं, उनका धारक एक द्रव्य है, ऐसे द्रव्य का आश्रय लिया, अनन्त गुण की शक्ति सत् है, वह शुद्ध परिणमती है।

'सर्व गुणांश, वह समकित।' श्रीमद् ने ऐसा संक्षिप्त वाक्य कहा। 'सर्व गुणांश, वह समकित।' जितने अनन्त गुण हैं, उनमें द्रव्य की जहाँ दृष्टि हुई, वे जितने गुण हैं, वे सब निर्मलरूप से-आंशिक शुद्धरूप से हुए। वह सर्व गुणांश, वह समकित। राग, वह समकित और अमुक, वह समकित-ऐसा वहाँ नहीं कहा। समझ में आया? देव-शास्त्र-गुरु, वह समकित-ऐसा वहाँ नहीं कहा। ऐई! है न अपने यहाँ? 'सर्व गुणांश, वह समकित।' बाहर दरवाजे पर (लिखा है)। एक ओर समकित है तथा एक ओर चारित्र। बाहर दोनों दरवाजों पर दोनों हैं। स्वरूप में रमना, वह चारित्र। पाँच महाव्रत का विकल्प-विकल्प वह व्यवहारचारित्र है। गजब मार्ग भाई! मार्ग ऐसा है, वह जिसे रुचता नहीं न, वह ऐसा कहता है कि यह नहीं... नहीं... अपने को...

जिनमतकथित तप से सिद्ध होनेवाले ऐसे... ....वीतराग अभिप्राय से त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने परमेश्वर देवाधिदेव जिसे आत्मा कहा और उसकी समिति निर्मल कही, ऐसे जिनमतकथित—वीतराग भगवान ने कहे हुए तप अर्थात् मुनिपना। ऐसा मुनिपना। स्वरूप की रमणता के आनन्द के लहर में जो स्थित होता है, ऐसा जो तप अर्थात् मुनि, ऐसा मुनिपना। उससे **सिद्ध होनेवाले ऐसे किसी (अनुपम) ध्रुव फल को तू प्राप्त करेगा।** भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने आत्मा वीतराग कहा, उसके सब गुण भी वीतरागी

कहे और उनका आश्रय लेकर प्रगट होनेवाली दशाएँ भी वीतरागी दशा है। तीनों वीतरागरूप हुए हैं। ऐसा जो जिनमत का कथन अथवा वाच्य जो है, ऐसे मुनिपने की दशा... आहाहा! एक सेकेण्ड भी मुनि की दशा... भवजल तारणहार। अन्दर में जहाज शीघ्रता से चला। मुक्ति के प्रयाण में चारित्र का जहाज शीघ्रता से चला। आहाहा! एकदम पूर्ण परमात्मा के सुख को प्राप्त करेगा, ऐसा कहते हैं। देखो न! ऐसे मुनिपने से सिद्ध होनेवाले, साबित होनेवाले फलरूप से आनेवाले **ऐसे किसी (अनुपम) ध्रुव फल को तू प्राप्त करेगा।** देखो! पर्याय को ध्रुव कहा। ऐसी पर्याय मिलेगी कि वह पर्याय बाद में छूटेगी नहीं - ऐसा कहते हैं। चार गति तो छूट जाती है। देवगति कहे, अमर कहे। अमर कहे, वह भी मर जाते हैं। तैंतीस सागर में, इकतीस सागर में। यह तो लम्बा काल रहते हैं, इसलिए उन्हें अमर कहा जाता है। वह तो व्यवहार से अमर है। बहुत लम्बा आयुष्य है... अमर तो भगवान आत्मा की मुक्त गति, वह अमर है। उसे यहाँ ध्रुव कहा है। कहो, ध्रुव, अचल, अनुपम आया न? (समयसार) पहली गाथा। वह शब्द प्रयोग किया है। सन्तों की मर्यादा है न? उसी और उसी में से लेकर बातें करते हैं। आहाहा!

भगवान आत्मा नित्यानन्द ध्रुवस्वरूप की एकाग्रता करने से, स्वरूप की रमणतारूप मुनिपना प्रगट होने पर, उससे निश्चित और अनुपम, जो पर्याय वापिस नहीं हटती, ऐसी दशा / ध्रुवपर्याय को प्राप्त करेगा। सिद्ध की पर्याय कहो या ध्रुवपर्याय कहो, एक ही बात है। ध्रुव का अर्थ (यह कि) वह पर्याय वापिस फिरकर संसार आवे, ऐसा है नहीं। समझ में आया?

जिनमतकथित तप से... वापिस ऐसा। वीतराग भगवान ने-परमेश्वर ने कहा हुआ। अज्ञानी कहें आत्मा का और मोक्ष का मार्ग, वह बात अज्ञानी में सच्ची होती नहीं। सब कल्पित बातें होती हैं। **जिनमतकथित... 'जिनमततपःसिद्धं याया: फलं किमपि ध्रुवम्' 'याया:'** अर्थात् प्राप्त करेगा न? **'याया:'** प्राप्त करेगा। अहो! अनाकुल आनन्द की मूर्ति, प्रभु! ऐसे आत्मा में एकाग्र होकर, जो वीतरागदशा, तेरी सत् दीक्षा, उसकी यह समिति एकाग्रता अन्दर में, यह उसकी सखी है और ऐसे अभिप्रायसहित स्थिरता। त्रिकाली द्रव्य में द्रव्यदृष्टिसहित स्वरूप में स्थिरता, वीतरागी परिणति से तो तुझे ध्रुव

फल मिलेगा। बदलना पड़े, ऐसी गति नहीं मिलेगी, ऐसा कहते हैं। वहीं का वहीं स्थिर रहेगा। वह सिद्ध की गति सादि-अनन्त पर्याय में ही ऐसा का ऐसा रह जाएगा। आहाहा!

देखो न... सवेरे एक खरगोश था न? खरगोश का छोटा बच्चा था। इस चपेट में आ गया होगा? क्या कहलाता है? इतना छोटा था बेचारा। भगवान अन्दर से निकल गया। जीवित था, तब तक आऊँ... आऊँ... आऊँ... कहाँ धूल में है तू? यह तो मिट्टी है। ऐसे पड़ा था। ट्रक में बहुत मर जाते हैं। सियाल, चूहे, सर्प, मेंढ़क। बेचारे मेंढ़क का चूरा हो जाता है, पक्षी... आहाहा! स्थिति पूरी होवे, तब प्रभु अन्दर से चल निकलता है। शरीर यहाँ पड़ा रहता है। था वहाँ तक यही मैं हूँ, ऐसा मानता था। कहते हैं कि वीतरागभाव से शरीर छूटे, उसे ध्रुवफल मुक्ति प्राप्त करे, ऐसा कहते हैं। यह तो स्वयं की मान्यता वहाँ थी और शरीर तो चला गया। शरीर छोड़ा नहीं, छूट गया है। आहाहा! ऐसे फल तो तू प्राप्त करेगा।

९०वाँ कलश।

समितिसंहतितः फल-मुत्तमं सपदि याति मुनिः परमार्थतः।
न च मनोवचसामपि गोचरं किमपि केवलसौख्यसुधामयम्।।९०।।

आहाहा! क्या कहते हैं? **श्लोकार्थ : समिति की संगति द्वारा...** भाषा देखो! जिसने आत्मा में वीतरागता की पर्याय के साथ संगति की है। आहाहा! जिसने राग का संग छोड़ दिया है। **समिति की संगति द्वारा वास्तव में मुनि,...** ऐसे सन्त... आहाहा! केवली का तो विरह पड़ा, परन्तु ऐसे सन्त-मुनियों का विरह पड़ा। आहाहा! कहते हैं कि **समिति की संगति द्वारा....** राग का संग नहीं, निमित्त का संग नहीं - ऐसा कहते हैं। शुद्ध भगवान पवित्र आनन्द के संग द्वारा, उसकी संगति।

मुमुक्षु : व्यवहार में से निश्चय निकालते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; निकालते हैं, तब उनको रुचता नहीं। व्यवहार कहने का हेतु क्या है? निश्चय है। उसे (व्यवहार को) छोड़कर स्थिर होने के लिए व्यवहार का हेतु है। ...मुनि तो मुक्त ही हैं परन्तु विकल्प है, उतनी अस्थिरता है। उसे छोड़कर

स्थिरता में जा। इसके लिए व्यवहार बतलाते हैं। यह व्यवहार आता है, उसे बतावे तो सही न! ज्ञान तो करावे न! जाना हुआ प्रयोजनवान है।

समिति की संगति द्वारा... वे इसमें से व्यवहारसमिति ले लेते हैं। ऐई! यहाँ तो समिति की संगति अन्दर वीतराग परिणति का परिचय, उसकी संगति। आहाहा! इस बात को भी सुनते हुए इसे प्रमोद आवे, ऐसी यह तो चीज़ है। आहाहा! **समिति की संगति द्वारा...** पद्मप्रभमलधारिदेव ने भी व्यवहार के स्थान में निश्चय वस्तु आदरणीय तो वही है। व्यवहार आता है, वह जाननेयोग्य है। ऐसा होता है। जब व्यवहार विकल्प होता है, तब होता है, बस इतना।

वास्तव में मुनि, मन-वाणी को भी अगोचर... आहाहा! मन के विकल्प को और वाणी से अगम्य, ऐसी चीज़। **(मन से अचिन्त्य और वाणी से अकथ्य)...** ऐसे दो अर्थ किये। मन से तो अचिन्त्य हैं। मन से ज्ञात हो, ऐसी चीज़ नहीं है। आहाहा! वाणी से अकथ्य है। क्या कहे इसे? पुण्य-पाप के रागरहित वीतरागपरिणति। उस वीतरागपरिणति को क्या कहना? कुछ दृष्टान्त दो, कहते हैं, लो! परन्तु इसमें दृष्टान्त क्या? वस्तु वीतराग... राग से छूटकर उसमें एकाग्र होना, उसका नाम वैराग्य परिणति है। उसका नाम मन से अचिन्त्य और वाणी से अकथ्य। **ऐसा कोई...** ऐसा कोई, आहाहा! ऐसा कि अलौकिक। **केवलसुखामृतमय...** आहाहा! ऐसी रमणता द्वारा भगवान तुझे केवलसुखामृत अकेला सुख और अमृत का सागर, ऐसे **उत्तम फल...** तू प्राप्त करेगा। वह भी **शीघ्र प्राप्त करता है।** वापस ऐसा। शीघ्र प्राप्त करता है, उसमें क्रमबद्ध कहाँ गयी? इसका अर्थ कि ऐसा होवे, उसे अल्प काल में क्रम में वही मुक्ति होती है, ऐसा कहते हैं। जिसे ऐसी दशा अन्दर हो, उसे अल्प काल में उसके क्रम में मुक्ति आती ही है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

कोई केवलसुखामृतमय उत्तम फल... वह भी सपदि... सपदि है न? भाषा तो बहुत सब आयी है, हों! **शीघ्र प्राप्त करता है।** आहाहा! ऐसी चारित्र की सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित की रमणता, उसे तो मुक्ति अल्प काल में प्राप्त होगी। संसार का अल्प काल में अन्त आयेगा। समिति की व्याख्या करते हुए समिति का-भावसमिति का प्रमोद और उसका फल बताया। लो! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ शुक्ल १४, बुधवार, दिनांक - ७-७-१९७१
गाथा-६६-६७, श्लोक-९१, प्रवचन-६१

कालुष्य, संज्ञा, मोह, राग, द्वेष के परिहार से।
होती मनोगुप्ति श्रमण को, कथन नय व्यवहार से ॥६६॥

टीका : यह, व्यवहारमनोगुप्ति के स्वरूप का कथन है। नीचे नोट। व्यवहारचारित्र का अधिकार है न? जिसे अन्तर में आत्मदर्शन, शुद्ध चैतन्य आनन्दस्वरूप का जिसे अन्तर में भान हो गया है; तदुपरान्त जिसकी स्वरूप में स्थिरता, चारित्र की कितनी ही स्थिरता हुई है; उसे ऐसी मनोगुप्ति व्यवहार से हो सकती है। मनोगुप्ति का विकल्प है। **मुनि को मुनित्वोचित...** नोट में (फुटनोट में) मुनि की व्याख्या है। वास्तविक मुनिपना कैसा होता है, उसमें व्यवहार कैसा होता है? जिसने अन्तरस्वरूप आनन्दस्वरूप की प्राप्ति की है। सम्यग्दर्शन में आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, ऐसी आत्मा की उपलब्धि-प्राप्ति की है। तदुपरान्त स्वरूप में शान्ति और स्थिरता की कितनी ही जागृति हुई है, उसे अशुभ से गोपकर शुभभाव होता है, उसे व्यवहार मनोगुप्ति कहते हैं। इतनी शर्तों सहित।

यह **मुनि को मुनित्वोचित...** उसके योग्य **शुद्धपरिणति के साथ वर्तता हुआ...** अर्थात् कि आत्मा पवित्र आनन्द है, उसकी अवस्था / परिणति शुद्ध तो हुई है। सम्यग्दर्शन में भी आत्मा आनन्द है, उसकी शुद्ध अवस्था थोड़ी हुई है; मुनि को विशेष शुद्ध अवस्था हुई है। आनन्द और शान्ति की पवित्रता उन्हें बहुत परिणमित हो गयी है। आहाहा! उन्हें **साथ वर्तता हुआ...** ऐसी शुद्धदशा के साथ रहनेवाला **(हठरहित) मन-आश्रित,...** भाव शुभोपयोग **वचन-आश्रित अथवा काय-आश्रित शुभोपयोग,...** राग। **शुभोपयोग, उसे व्यवहारगुप्ति कहा जाता है,...** लो! व्यवहारगुप्ति, वचनगुप्ति, मन को अशुभ से गोपा है और शुभ में प्रवर्तता है।

क्योंकि शुभोपयोग में मन, वचन या काय के साथ अशुभोपयोगरूप युक्तता नहीं है। ऐसा। इसलिए गुप्ति, ऐसा कहते हैं। शुभराग में अशुभराग नहीं है। शुद्धपरिणति न हो, जहाँ पहले आत्मा की पवित्रता—श्रद्धा-ज्ञान और शान्तिरूप परिणमन न हो, उसका शुभोपयोग जो होता है, वह हठसहित होता है। वह शुभोपयोग, व्यवहारगुप्ति भी

नहीं कहलाता। आहाहा! क्या कहा? कि व्यवहारगुप्ति उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा का आनन्द और ज्ञान और पवित्रता की प्रभुता श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति में परिणमित हुई है। स्वभाव के आश्रय से वीतरागी परिणति, वीतरागी अवस्था हुई है, उसे हठरहित अशुभ से गोपनरूप मन का शुभभाव, उसे व्यवहारगुप्ति कहा जाता है; परन्तु जिसे उस शुद्धपरिणति का अनुभव ही नहीं, जिसे आत्मा-आनन्द की शुद्धपरिणति ही प्रगट नहीं हुई, ऐसे अज्ञानी के शुभभाव को... वह तो हठवाला शुभभाव है, इसलिए उसे व्यवहारगुप्ति भी नहीं कहा जाता। आहाहा! भारी शर्तें। ऐसा मार्ग है, भाई! इसे, मार्ग क्या है - ऐसा जानना तो पड़ेगा न? क्योंकि आत्मा का सम्यग्दर्शन, आत्मज्ञान और उसका चारित्र, वह मुक्ति का कारण है। स्वरूप में रमणता, आनन्द में रमणता, चरना-रमना-जमना, आनन्द का अनुभव करना, ऐसा जो चारित्र होता है, उसे सच्चा चारित्र और मुक्ति का कारण कहते हैं। ऐसी चारित्रदशा में शुद्धोपयोगरूप परिणमन जब न हो, तब उसे ऐसा अशुभ से गोपनरूप शुभ के भावरूप शुभोपयोगरूप मन व्यवहार से गुप्ति कहलाती है। चेतन का अरूपी मधुर जिसका आनन्द स्वाद है। आहाहा! आता है न? यह नीचे (फुट) नोट की व्याख्या हुई।

अब **क्रोध, मान, माया और लोभ नामक चार कषायों से क्षुब्ध हुआ चित्त, सो कलुषता है।** पहले कलुषता की व्याख्या है। मलिन परिणाम। क्रोध, मान, कपट और लोभ, इन चार कषायों से कम्पायमान, अस्थिर हुई क्षुब्धता, ऐसा चित्त, उसे कलुषता कहते हैं। व्याख्या करते हैं। यह कलुषता तो अशुभभाव है, उसे छोड़ना। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के कितने ही भावसहित ऐसे कलुषभाव को मन में (से) छोड़ना और शुभभाव का होना, उसे मन की व्यवहारगुप्ति कहने में आता है।

पश्चात् **दर्शनमोह और चारित्रमोह—ऐसे (दो) भेदों के कारण मोह दो प्रकार का है।** ऐसे देखो तो चारित्र के भाग में कोई भी राग नहीं, ऐसा कहा। दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों इसमें आ गये। शुभ और अशुभराग दोनों इसमें आ जाते हैं। परन्तु इसकी व्याख्या लेना, और चारित्रमोह में तो राग शुभ भी आ जाता है और अशुभ भी आ जाता है। अब इन दो की निवृत्ति तो निश्चयमनोगुप्ति हुई, परन्तु उसमें से अशुभ का त्याग लेना। शैली तो यह सब है। राग-द्वेषादि अशुभभावन। इसलिए टीका भी उसी

प्रकार की है। उसमें से अशुभभाव ऐसा नहीं। यह अशुभभावन, ऐसा है। ऐसे जो अशुभभाव, उन्हें छोड़ना। छोड़ना और यह सब व्यवहार है न?

आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा—ऐसे (चार) भेदों के... यह तो अशुभभाव ही है। ये चार तो अशुभभाव ही हैं। चारित्रमोह में तो अभी शुभराग भी आ जाता है, परन्तु उसमें से अशुभराग को छोड़ना और शुभराग में रहना, उसे यहाँ व्यवहार -मनोगुप्ति कहते हैं। रहना अर्थात् है, ऐसा। आहाहा! एक ओर सम्यग्दृष्टि शुभ-अशुभराग से मुक्त है। आत्मा ज्ञानानन्द है, ऐसा भान होने पर सम्यग्दृष्टि शुभ-अशुभ विकल्प से तो भिन्न ही है परन्तु यहाँ चारित्र की अपेक्षा से अस्थिरता का जो भाव, उसके दो भाग। शुभ की और अशुभ की... इस अशुभ की अस्थिरता छोड़कर शुभ में रहता है। ज्ञान करता है कि यह भाव है। व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है न? उसे यहाँ व्यवहार से मनोगुप्ति कहा जाता है।

आहारसंज्ञा,... हों! आहार करने का विकल्प है, वह संज्ञा नहीं। आहार करने का विकल्प है, वह संज्ञा नहीं। वह तो अशुभभाव है। मुनि को आहार लेने की वृत्ति होती है। वैसे तो शास्त्र इन्कार करते हैं कि अशुभभाव तो उन्हें होते ही नहीं अर्थात् आहारसंज्ञा वह तो गृद्धि बताती है। वह गृद्धि उन्हें नहीं होती। आहार लेने का भाव, वह आहारसंज्ञा है-ऐसा नहीं है। समझ में आया?

प्रशस्तराग और अप्रशस्तराग—ऐसे (दो) भेदों के कारण राग दो प्रकार का है। एक शुभराग और एक अशुभराग। उसमें से अशुभराग को छोड़ना और शुभराग में व्यवहार कहलाता है, उसे मनोगुप्ति कहने में आता है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं, इत्यादि सबको छोड़ना। ये सब अशुभ परिणाम हैं। ध्वनि तो यह है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी गड़बड़ी नहीं चलती। यहाँ तो पाठ तो स्पष्ट छोड़ना ऐसा कहता है परन्तु इसका अर्थ इतना करना। अशुभ छोड़ना और शुभ में होवे, इतनी बात है। बस। बात होवे, वैसे आयेगी न? उल्टी-सीधी कुछ होगी? पाठ ऐसा है न? देखो न! इसमें ऐसा कहाँ कहा! **रागद्दोसाइअसुहभावाणं** ऐसा शब्द है न? स्पष्ट पाठ है,

परन्तु उसमें से ऐसा लेना। उसमें जो अशुभभाव है, उसे छोड़ना, इतनी बात है। पाठ वापस व्यवहार है न? पाठ वापस व्यवहारनय और **ववहार-णयेण परिकहियं** ऐसा। इसका अर्थ कि अशुभ को छोड़ने पर शुभ रहता है, उसे व्यवहार से मनोगुप्ति है। बस, इतनी ही बात है। उसमें कोई दूसरा उल्टा-सीधा चले ऐसा नहीं है। समझ में आया? उस राग के दो प्रकार किये। इतना यहाँ लेना चाहिए परन्तु वे दोनों छोड़े हैं। दोनों छोड़े तब तो निश्चयमनोगुप्ति हो जाए। यहाँ पाठ व्यवहारनय का है। उसमें जो समुचित हो, उसका अर्थ होना चाहिए न।

द्वेष की व्याख्या। **असह्य जनों के प्रति...** ऐसे मनुष्य हों कि ऐसी कठोर गाली दे, मार मारे, ऐसे के प्रति द्वेष, ऐसे के प्रति उसे वैर के परिणाम द्वेष, वह छोड़ देना। ऐसे मनुष्य होते हैं न? ऐसी गाली दे, बिच्छु के डंक जैसा मारे। आंकरा मारे ऐसे कठोर शब्द कहे, उनका द्वेष नहीं करना, तो भी उनके प्रति द्वेष, वैर के परिणाम नहीं हों। **अथवा असह्य पदार्थसमूहों के प्रति...** दोनों। असह्य जनों और असह्य पदार्थ। बाहर में सहन न हो, ऐसे काँटे, लोहे के पत्र, कितने ही होते हैं न। जमीन में अन्दर पत्र चिपट हो। अब टक्कर लगे, वह तो उखड़े नहीं और यहाँ चमड़ी उखाड़ दे। फिर उस पर द्वेष करे। जमीन में गहरा पत्थर चिपटा होता है न? बाहर में जरा निकला हुआ हो। वह जरा ऐसे ठोकर मारे तो निकल जाए। क्या निकले? वह तो गहरा होवे न, अंगूठे से मारने जाए तो अंगूठा छिल जाए। उस पदार्थ के प्रति द्वेष (नहीं) करे, ऐसा कहते हैं। काँटे होते हैं, देखो न! यह बबूल के, क्या कहलाते हैं यह गोरडा के। ऐसे चुभें कि उन बबूल के काँटों पर द्वेष करे, कहते हैं मुनि ऐसे द्वेष का त्याग करते हैं।

वैर का परिणाम, वह द्वेष है।—इत्यादि... पाठ है सही न, इसलिए तद्नुसार ही टीका की है। **अशुभपरिणामप्रत्ययों का...** अशुभ परिणामरूपी आस्रवों का परिहार। उसमें से इतना लेना। सम्यग्दर्शन शुद्ध है, तीन कषाय के अभाव का चारित्र भी शुद्ध है, उनकी भूमिका में उन्हें अशुभ से छूटकर योग्य शुभराग होता है, उसे यहाँ मनोगुप्ति व्यवहार से कहते हैं। पाठ में ऐसा लिया न **द्वेसाइअसुहभावाणं परिहारो ववहार-णयेण परिकहियं** पाठ स्वयं ऐसा बोलता है। फिर टीका तत्प्रमाण करनी पड़े न? परन्तु इसका अर्थ ऐसा ले लेना।

फिर अर्थ किया है **(अर्थात् अशुभपरिणामरूप भावपापास्त्रवों का त्याग)...** अशुभपरिणाम भावपापास्त्रव। पूर्ण आस्त्रव का त्याग हो जाए, तब तो निश्चयगुप्ति हो जाती है। पाप के परिणाम का त्याग, स्वरूप की दृष्टि और चारित्र की भूमिका और शुभपरिणाम का भाव आवे, उसे व्यवहारनय के अभिप्राय से मनोगुप्ति कही है। लो, अब जरा नीचे इसका अर्थ देखें तो नीचे आएगा। पाठ अशुभपरिणाम प्रत्ययों का परिहार है। अब नीचे अर्थ में वापस पाप-पुण्यास्त्रव भी डाला है।

प्रत्यय = आस्त्रव; कारण। (संसार के कारणों से आत्मा का गोपन-रक्षण करना सो गुप्ति है।) यह निश्चय का अर्थ। **(भावपापास्त्रव तथा भावपुण्यास्त्रव संसार के कारण हैं।)** दोनों से गोपन, वह निश्चयगुप्ति है और पापास्त्रव से गुप्ति, वह व्यवहारगुप्ति है। आहाहा! लोगों को शास्त्र का अभ्यास घट गया है और इसके बिना सब लगा रखा है। वास्तविक तत्त्व क्या है? किस प्रकार परिणाम हैं? शुभ क्या है? शुद्ध क्या है? त्रिकाली शुद्ध क्या है? उसके वास्तविक द्रव्य-गुण-पर्याय के ज्ञान बिना ऐसे के ऐसे चल निकलते हैं, चारित्र और दीक्षा, दख्या है। वह बेचार दख्या है। कुन्दकुन्दाचार्य की कितनी स्पष्ट बात है।

भावपुण्यास्त्रव और भावपापास्त्रव दोनों बन्ध के कारण हैं। उन दोनों को छोड़े तो निश्चयगुप्ति कहलाये। सम्यग्दर्शन तो है, सम्यग्ज्ञान है, तीन कषाय के अभाव का चारित्र भी है। उसमें पाप के परिणाम छोड़े तो व्यवहारगुप्ति कहलाये और पुण्य-पाप छोड़कर सातवीं भूमिका में जाए तो निश्चयगुप्ति कहलाये। गजब! दीक्षा ले, इसलिए उसे छह काय के बोल और नव तत्त्व और ऐसा सिखाने लगे। दण्डक की गतागति। उसका भी कितनों को ठिकाना नहीं होता। हमारे एक 'अंजवालीबाई' थे। उमराला के भावसार। अंजवालीबाई थे। वरवाला में दीक्षा नहीं ली थी? अंजवालीबाई थे। व्याख्यान बहुत करे और लोग बेचारे यह भोंठ जैसे हों। ये बनिये अभी के क्या हैं? गढडा में, उसकी आठ वर्ष की दीक्षा। उसमें मैं दुकान छोड़कर वहाँ आठ महीने रहा था। पश्चात् उसने वहाँ तो वोराण्यो, दीवालीबाई, वे विशाश्रीमाली थे न तुम्हारे नागनेस के हैं। विशाश्रीमाली। उपाश्रय के बाहर दुकान थी। उसके गोराणी थे। उसे बेचारे को कुछ आता नहीं। आठ वर्ष की दीक्षा (संवत्) १९६० में दीक्षा ली। १९६९ में मैं गया।

इसलिए वह .... कहे, भाई! कानजीभाई! इसे गति के बोल सिखाओ। अब वह आठ वर्ष से व्याख्यान पढ़े। गतागति के बोल, थोकड़ा आता है न? वह तो हमने पहले १९६८ में सीखे थे। इसलिए १९६९ में आठ महीने रहे थे। फिर जो नीचे बैठ कहे,... गोराणी कहे। कानजीभाई! नीचे बैठे तू नीचे बैठ। सीखना है तो कुछ कोई पटिये पर बैठे और ये नीचे बैठें, ऐसे सीखा जाता है? भावसार था। अंजवालीबाई थे। हमारे गाँव के थे। उमराला के थे। संघवी भावसार थे, पोरबन्दर रहते थे। उनके बड़े भाई की बहू। परन्तु आठ वर्ष से तो गतागती के थोकड़ा मुझे से सीखे थे। देखो! यह कितना चलता है उस सम्प्रदाय में। ओहोहो! मुझे उस समय ऐसा लगा था, परन्तु यह पढ़ते हैं, क्यों पढ़ें, कैसा पढ़ें, यह बोल सीखे हुए हों। वे क्या कहलाते हैं अलावा... ... अलग निकाले हों। .... के बोल हों न उसमें से ले। .... वे सीखे हों, वह पढ़े। अब गतागती की खबर नहीं होती। कहाँ से कौन जाए? आठ वर्ष की बात है। उसे मूल बात ऐसी हो गयी कि बस, वस्त्र बदलकर हो जाओ त्यागी। अभी तत्त्व क्या है, श्रद्धा-ज्ञान तो एक ओर रहा, परन्तु व्यवहार का ज्ञान (कि) यह जीव कहाँ जाए और कहाँ से आवे और क्या हो, इसकी खबर नहीं होती।

यहाँ कहते हैं **व्यवहारनय के अभिप्राय से मनोगुप्ति है।** ऐसा कहा न? पाठ में ऐसा है न, अभिप्राय अधिक डाला। **व्यवहारनयाभिप्रायेण** आहाहा! सम्यग्दर्शन आत्मा के भानपूर्वक सच्चा चारित्र वर्तता हो, उसे शुद्धोपयोग का जब अभाव हो, तब उसे ऐसा शुभभाव होता है। उसे व्यवहार मनोगुप्ति कहने में आता है। उस शुभ से भी छूटकर शुद्धोपयोग में रमे, वह तो निश्चयमनोगुप्ति हो गयी। यह व्यवहारमनोगुप्ति आस्रव का कारण है, उससे पुण्यास्रव आवे। मन को अशुभ से गोपना, उससे पुण्यास्रव आवे; धर्म नहीं। आहाहा!

अब ६६ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं — ९१ वाँ श्लोक

गुप्तिर्भविष्यति सदा परमागमार्थ-
चिन्तासनाथमनसो विजितेन्द्रियस्य।

बाह्यान्तरङ्गपरिषङ्गविवर्जितस्य,
श्रीमज्जिनेन्द्रचरणस्मरणान्वितस्य ।।९१।।

व्यवहार डाला है, लो।

जो मुनि, सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दर्शनी, सम्यक्चारित्री **जिसका मन परमागम के अर्थों के चिन्तनयुक्त है,...** भाषा देखी? परमागम। सर्वज्ञ से कथित, परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने कहे हुए परमागम। समझ में आया? उसमें **जिसका मन परमागम के अर्थों के चिन्तनयुक्त है,...** है शुभविकल्प। देखो! भगवान के नहीं कहे हुए ऐसे शास्त्रों की यहाँ बात नहीं ली है क्योंकि उसकी वस्तु की दृष्टि ही मिथ्या है। परमागम। लो, अपने इसका नाम भी परमागममन्दिर है न? कोई कल पूछता था, कब बनेगा? क्या खबर पड़े कब बनेगा? अपने को क्या खबर पड़े, इसमें किस जगह है। बीस महीने हो गये। वजुभाई क्या करे अन्दर जलते हों तो भी। यह कोई कल पूछता था। दो वर्ष में होगा? होवे तब ठीक। परन्तु यह परमागम आया न?

परमागम के अर्थों के चिन्तनयुक्त... यह सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित, चारित्रसहित को शुभविकल्प और शुभराग (आवे वह) व्यवहारमनोगुप्ति कहने में आता है। शास्त्र का चिन्तवन, शास्त्र का वाँचन, शास्त्र में मन को रोके, उसका नाम शुभभाव है। मुनि को भी... वे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र सहित हों उन्हें। जिन्हें मिथ्या आगम की श्रद्धा है, उस आगम के मिथ्या साधु की श्रद्धा है, उसे तो दर्शन ही जहाँ सच्चा नहीं, वहाँ चारित्र तो होता नहीं। इसलिए उसे मनोगुप्ति व्यवहार से भी नहीं होती। आहाहा! भारी शर्तें, भाई!

जिसका मन... वीतराग परमेश्वर के कहे हुए परमागम की चिन्ता, उनके अर्थों की विचारने में रुकता है, वह शुभभाव है। वह शुभभाव है। अब उसमें ऐसा कहा कि स्वाध्याय करे तो असंख्यगुनी निर्जरा होती है। ऐई! धवल में (ऐसा आता है)। वे उसे सामने रखते हैं। आता है या नहीं? धवल में ऐसा आता है। यहाँ कहते हैं कि उस परमागम का चिन्तवन करे, वह शुभभाव है, ऐसा कहते हैं। वहाँ तो अन्दर आनन्दस्वरूप में-ध्येय में एकाग्रता है, उसके लक्ष्य से स्वाध्याय करता है। विकल्प से भले हो परन्तु जोर है स्वभावसन्मुख का। उसके कारण निर्जरा होती है। यह शुभभाव तो चिन्तवन है।

परमागम की विचारणा का विकल्प है, लोग ये डालते है। यह लोग कहे, यह डाले और वह हमारा डालते नहीं, फिर ऐसा कहे। भाई! स्मरण करते हैं, नहीं डालते कहाँ? ऐई!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : परमागम में कहीं कहा है। स्वाध्याय करते हुए असंख्यगुनी निर्जरा कही है। यहाँ परमागम का चिन्तवन करने से शुभभाव कहा है। वह तो स्वाध्याय में स्व का आश्रय है, उसके लक्ष्य से, शुद्धि के लक्ष्य से होता है। वह तो प्रवचनसार में नहीं कहा? ज्ञान के लक्ष्य से ज्ञेयों का ज्ञान करना। आता है न? भाई! प्रवचनसार, ज्ञान अधिकार पूरा हुआ। .... अन्तर में आत्मा का ज्ञान हुआ है, इसके लक्ष्य से अब ज्ञेय, छह द्रव्य आदि का लेते हैं। यहाँ दर्शन का अधिकार है। ज्ञेय अधिकार कहो, दर्शन अधिकार कहो, इसके वाँचन-श्रवण में उपयोग जुड़ता है आत्मा में। उसकी प्रतीति से आत्मा का चिन्तवन, शास्त्र का चिन्तवन करता है, तो उसे स्व के आश्रय से निर्जरा होती है। यहाँ पर का अकेला विकल्प है, इतनी बात लेनी है।

जिसका मन परमागम के अर्थों के चिन्तन... क्या कहते हैं? ऐसे अर्थ, शब्दों का भाव, विचारने में मन (रुकता है)।

मुमुक्षु : तो मुनियों को अर्थ नहीं आता होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : आता है परन्तु विशेष, स्वाध्याय करते हुए विशेष है या नहीं? ... आता है न। चाहे जितना हो, सर्वार्थसिद्धि के देव तैंतीस-तैंतीस सागर तक स्वाध्याय करते हैं, लो।

मुमुक्षु : वह तो चौथे गुणस्थान में....

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे गुणस्थान में, तो भी उसका पार नहीं आता, ऐसी स्वाध्याय। तैंतीस सागर किसे कहते हैं? एक सागर में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम और एक पल्योपम में असंख्यात अरब वर्ष। एक पल्य के असंख्यातवें भाग में। एक पल्य के असंख्य भाग में असंख्यात अरब वर्ष, ऐसे-ऐसे असंख्यगुने पल्योपम, ऐसे दस कोड़ाकोड़ी का एक सागरोपम, उसकी तैंतीस सागर की स्थिति सर्वार्थसिद्धि के देव की है। अभी एकावतारी है। स्वर्ग का देव सर्वार्थसिद्धि में है। वहाँ से निकलकर मनुष्य होकर मोक्ष

जानेवाला है। यह तैंतीस सागर तक स्वाध्याय करते हैं। शुभविकल्प है। वहाँ उन्हें कोई स्त्री नहीं, व्यापार नहीं। आहाहा! देव इकट्ठे होकर स्वाध्याय किया करते हैं, चर्चा-वार्ता। स्त्री नहीं, पुत्र नहीं, धन्धा नहीं, दुकान नहीं, तारटपाल नहीं, वकालात की पढ़ाई नहीं। वकालात के नियम निकालना वह कुछ वहाँ है? आहाहा! तो भी अन्त में अन्दर जाकर मुनि होऊँगा और वीतरागता प्रगट करके श्रेणी माँडूगा, तब केवलज्ञान होगा। इस कारण से (स्वाध्याय आदि से) केवल (ज्ञान) होगा नहीं। आहाहा!

यहाँ तो शुभभाव सिद्ध करना है न? यह शुभभाव है, ऐसा। एकावतारी है। एक भव में मोक्ष जानेवाले असंख्यात देव सर्वार्थसिद्धि में हैं। मुनि-भावलिंगी सन्त थे, वे वहाँ जाते हैं। अकेले समकिती नहीं जा सकते। समकितसहित चारित्र हो, ऐसे वहाँ एकावतारी होकर सर्वार्थसिद्धि में असंख्यात देव हैं। सब एकवतारी हैं। एक ही भव अन्तिम मनुष्य का देह। तैंतीस सागर तक स्वाध्याय करें, परन्तु वह शुभोपयोग है, ऐसा कहना है। जितना स्व का लक्ष्य रहता है, उतनी वहाँ निर्जरा होती है। कहते हैं कि धर्मात्मा मुनि की व्याख्या है न अभी तो?

जिसका मन परमागम के अर्थों के चिन्तनयुक्त है, जो विजितेन्द्रिय है (अर्थात् जिसने इन्द्रियों को विशेषरूप से जीता है),... जो इंदियेजिणित्ता... जो बाह्य तथा अभ्यन्तर संगरहित है... लो, तो भी यहाँ उसे व्यवहार कहेंगे। **और जो श्री जिनेन्द्रचरण के स्मरण से संयुक्त है,...** अहो! जिनेश्वरदेव वीतरागपरमात्मा सर्वज्ञ अरिहन्तदेव वीतराग ऐसे होते हैं, उनका जिसे स्मरण वर्तता है। याद करे तो वीतराग को याद करता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **श्री जिनेन्द्रचरण के स्मरण से संयुक्त है,...** सहित है, देखा? यही स्मरण है। अहो! जिनने वीतरागता प्रगट की है, जिन्हें राग का अंश रहा नहीं ऐसे जिनेन्द्रदेव का मुनियों को भी शुभभाव में स्मरण वर्तता है।

उसे सदा गुप्ति होती है। लो! उसे यह व्यवहारगुप्ति होती है। व्यवहारगुप्ति की बात है न यहाँ तो? क्योंकि जिनेन्द्र का स्मरण है, परमागम के अर्थ का चिन्तवन है तो देव और शास्त्र दो आ गये। गुरु तो स्वयं है। यह बात आ गयी। बाह्य और अभ्यन्तर संगरहित हैं। दिगम्बर सन्तों की कथनी कोई अलौकिक है। एक-एक भाव में परम

रहस्य भरा हुआ है। **उसे सदा गुप्ति होती है।** देखो! निश्चयगुप्ति तो होती है परन्तु साथ में यह शुभराग, वह व्यवहारगुप्ति है, ऐसा। जितनी रागरहित परिणति हो गयी है, वह तो निश्चयगुप्ति है परन्तु जो व्यवहार है, उसकी गुप्ति हुई नहीं। इसलिए उसका भाव व्यवहार कहने में आता है।

६७ गाथा।

अब वचनगुप्ति का स्वरूप। पहले मनोगुप्ति का स्वरूप कहा।

थीराजचोरभत्तकहादि-वयणस्स पाव-हेउस्स।
परिहारो वयगुत्ती अलियादिणियत्तिवयणं वा।।६७।।

जो पापकारण चोर, भोजन, राज दारा की कथा।
एवं मृषा-परिहार यह लक्षण वचन की गुप्ति का॥६७॥

आहाहा! एक ओर ऐसा कहते हैं कि राग के त्याग का कर्ता भी आत्मा नहीं है, ऐसा उसका स्वरूप ही है। राग का त्याग कर्ता कहना, वह भी व्यवहारनय का कथन है। लो, इस त्याग का यह। आत्मा राग का त्याग करता है, वह भी एक व्यवहारनय का कथन अन्यथा है, ऐसा कहते हैं। परमार्थ से देखें तो भगवान आत्मा राग के त्याग का कर्ता भी नहीं है। राग के भाव का कर्ता तो नहीं परन्तु उसके त्याग का कर्ता नहीं। आहाहा! यहाँ कहना है कि वचन का त्याग करे। यह सब व्यवहारनय के कथन हैं। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : विरोध नहीं आया न।

पूज्य गुरुदेवश्री : विरोध बिल्कुल नहीं। दो नय का कथन ही विरुद्ध होता है। दो नय के कथन ही विरुद्ध हैं। दो नय किसके पड़े? आहाहा! भारी सूक्ष्म, भाई! वस्तु की स्थिति ही ऐसी है '**एवं मृषा-परिहार**' त्यागगुप्ति वचन की कहो। यह कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। समयसार में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, राग का त्याग आत्मा नहीं करता। क्या त्याग करे? स्वरूप में आनन्द में पड़ा है, वहाँ राग उत्पन्न नहीं होता, इसका नाम राग (का) त्याग करता है, यह व्यवहार के कथन हैं। आहाहा! भारी कठिन। यहाँ कहते हैं कि वचन का त्याग करे। इसका अर्थ वाणी। तो वाणी का त्याग कब है कि बोलने में

अशुभभाव नहीं तो उसने उस प्रकार की वाणी का त्याग किया, ऐसा कहा जाता है। वाणी का त्याग असद्भूतव्यवहारनय कहा है ? आत्मा वाणी कहाँ बोलता है और वाणी को आत्मा कहाँ छोड़ता है ? मैं मौन रहूँ। मौन कौन रहे ? आत्मा वाणी बोल सकता है ? वाणी होना रोक सकता है ? आहाहा!

टीका : यहाँ वचनगुप्ति का स्वरूप कहा है। लो, स्त्रीकथा की व्याख्या करते हैं। ऐसी स्त्रीकथा, मुनि अशुभभाव को छोड़ देते है, ऐसा कहते हैं। **जिन्हें काम अति वृद्धि को प्राप्त हुआ हो...** जिन्हें काम की वासना अतिवृद्धि को प्राप्त हुई हो **ऐसे कामी जनों द्वारा की जानेवाली और सुनी जानेवाली—ऐसी जो स्त्रियों की संयोगवियोगजनित विविध वचनरचना...** ऐसी जो स्त्रियों की संयोगवियोगजनित। ऐसी स्त्री का संग हो, ऐसी स्त्री न हो तो ऐसा हो, ऐसी **विविध वचनरचना (स्त्रियों सम्बन्धी बात), वही स्त्रीकथा है;...** आहाहा! मुनि को ऐसी स्त्रीकथा नहीं होती। आहाहा! मुनि को स्त्री का परिचय ही नहीं होता, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? फिर उसे सिखाना, आधे घण्टे दो गाथा सीखो। यह धन्धा तेरा ? यह तो स्त्रीकथा विशेष हो गयी। राग और प्रेम... आहाहा! ऐसा भाव मुनि को नहीं होता।

राजाओं का युद्धहेतुक कथन... राजकथा। युद्ध में ऐसे लड़ाई हुई, ऐसा हुआ, ऐसा हुआ। आहाहा! **(अर्थात् राजाओं द्वारा किये जानेवाले युद्धादिक का कथन), वह राजकथाप्रपञ्च है;...** राजकथा का प्रपंच मुनि छोड़ देते हैं। उन्हें व्यवहारवचनगुप्ति कहा जाता है। राजकथाप्रपंच। देखो न! अभी बँगले का कुछ होता है न, लेख... लेख... लेख इतना आता है। उसमें भी आता है। जैनपत्रों में। सर्वत्र मारा-मारी है। परस्पर में मुसलमान काट डालते हैं। कोई देशवाले ने वापस कुछ किया। युद्ध के शस्त्र विमान में आते थे, उसमें केनाडा ने नहीं जाने दिया, उसे शाबासी दी। ऐसा उसमें कुछ आया था। आहाहा! यह सब प्रसन्न होते हैं, यह होता है, वह सब पापकथा है। इसने उसे हथियार दिये, इस हथियार से लड़ता है, ऐसा है, इसलिए इसकी जय होगी। अब धूल में जय किसे कहना ? आहाहा! लोगों का संहार, बालक का संहार कुकर्म होता है। ऐसी युद्ध की कथा का त्याग करे। मुनि ऐसी कथा में पड़े नहीं। यहाँ तो शास्त्र की कथा करना, वह भी शुभभाव है। आहाहा! शास्त्र का स्वाध्याय, व्याख्यान। समकित सहित

ज्ञानी को, हों! वह भी व्यख्यान आदि का शुभभाव है। वह कोई धर्म नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : निर्जरा तो होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी निर्जरा नहीं है। शुभभाव से निर्जरा होगी? परन्तु उस समय उस प्रकार का विकल्प होता है। प्रभु का मार्ग तो निवृत्ति मार्ग है। आहाहा! ऐसे राग से भी निवर्तना, ऐसा स्वभावमार्ग है। समझ में आया? परन्तु कहते हैं कि इतना न हो तो वह परमागम आदि की स्वाध्याय में मन को रोके। आहाहा! मार्ग से मार्ग समझ में आये।

चोरों का चोरप्रयोग कथन,... चोर ऐसे संताप, फिर ऐसे हो, फिर ऐसा हो, ऐसी बातें आवे तो सब लोग प्रसन्न हो जाते हैं। **चोरप्रयोग कथन, वह चोरकथाविधान है (अर्थात् चोरों द्वारा किये जानेवाले चोरी के प्रयोगों की बात...)** पहले ऐसा करना, फिर ऐसा करना, ऐसा करना। ऐसी विकथायें, पाप कथा है। यह ढालसागर को पढ़ते हैं न, उसमें ही सब प्रसन्न हो जाते हैं। रावण को मारा ऐसा है, अमुक को ऐसे मारा। कल अब रावण को राम मारेंगे। वार्ता कहते थे। वहाँ वे अरे! ऐसी की ऐसी बातें। ढालसागर पढ़ते हैं। ढालसागर तब नहीं कहा था? फिर नाम आया। ढालसागर कहलाता है। यह कृष्ण की बात हो उसे ढालसागर कहते हैं और राम की बात को रामराज कहा जाता है। तब कहा था न, (संवत्) १९७० के वर्ष में अषाढ़ शुक्ल १५, आज चौदश है, तब शुरु की थी। ढालसागर। बोटाद में रतनसिंह भावसार पटेल थे। महाराज! नीचे आना। अब सब विकथा है। बड़ा रगड़ा खींचना और इकट्ठा करना। अरे! इतनी सामायिक तो हो न, परन्तु सामायिक... इसमें ऐसी विकथा सुने।

मुमुक्षु : बैठे न उतनी देर सामायिक में।

पूज्य गुरुदेवश्री : इतनी बार बैठे। आहाहा! उसने ऐसा मारा, उसने ऐसा मारा, उसने ऐसा किया, वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए। ये सब विकथाएँ मुनि नहीं करते। वे पापवृत्ति को छोड़ देते हैं। आहाहा!

अति वृद्धि को प्राप्त भोजन की... कथा आती है। **प्रीति द्वारा मैदा की पूरी और शक्कर,...** पोची ऐसी मैदा की पूरी थी और शक्कर और खाण्ड, ओहोहो! परन्तु अब

क्या है ? सब पाप कथा है। आहाहा! **अति वृद्धि को प्राप्त भोजन की प्रीति...** ऐसा कहते हैं। किसकी ? **मैदा की पूरी और शक्कर, दही-शक्कर,...** ऐसा बढ़िया श्रीखण्ड हो। ऐसा दही... उसमें शक्कर डालकर... श्रीखण्ड। परन्तु अब है क्या ? विष्टा है। छह घण्टे बाद उसकी विष्टा होगी। विष्टा का पूर्वरूप है यह। आहाहा! उसकी इतनी प्रीति क्या ? उसका उत्साह। आज तो ऐसा था। आज तो मैसूर और अरबी के (भुजिया) थे, हों! ओहो! तेल में तो तले परन्तु यह तो घी में तले हुए और ऐसे लाल किये हुए। अरबी के पत्ते होते हैं न ? उन्हें अरबी के पान कहते हैं न ? उन पर आटा लगाकर फिर छुरी से टुकड़े करे। टुकड़ा करनेवाला गजब होशियार था। ठीक से किये। अर र र! बापू! ऐसी बात! आत्मा के आनन्द की बात छोड़कर अथवा परमागम के चिन्तवन के अर्थ छोड़कर ऐसी कथाएँ मुनि को नहीं होती। खाने की बात तुच्छ है। वह तुच्छ नहीं कहा श्रीमद् ने ? ऐसी तुच्छ वार्ता धर्मात्मा को नहीं होती।

दही-शक्कर, मिसरी इत्यादि अनेक प्रकार के अशन-पान की प्रशंसा,... ऐसा आहार हो। बढ़िया पानी हो, मौसम्बी का, अनार का, क्या कहलाता है, वह बढ़िया अनार का ? दिल्ली के... दिल्ली के अनार बड़े आते हैं। ऐसे बड़े दाने। वहाँ रखते हैं। पड़े हो उसमें से थोड़ा-थोड़ा खाये। मजा करे। बड़े.. बड़े.. अरे! ऐसी तेरी धूल की बातें ? ऐसी विकथा। **प्रशंसा, वह भक्तकथा (भोजनकथा) है।—इन समस्त कथाओं का परिहार, सो वचनगुप्ति है। असत्य की निवृत्ति भी वचनगुप्ति है।** झूठ बोलने की निवृत्ति और सत्य बोलना, वह भी एक निवृत्ति है। **अथवा (असत्य उपरान्त) अन्य प्रशस्त वचनों की निवृत्ति,...** खराब वचन ऐसे। जिन वचनों से परिणाम खराब हों, ऐसे वचनों की निवृत्ति, वह भी एक वचनगुप्ति है। व्यवहार वचनगुप्ति है। आत्मा को पूछे, आत्मा को पढ़े, आत्मा की कथा करे, वह कथा भी एक शुभराग है। समझ में आया ? उसमें भी उसे व्यवहार वचनगुप्ति कहा जाता है। पाठ में अशुभ में नहीं जाता, इस अपेक्षा से। वचनगुप्ति की व्याख्या हुई।

इस प्रकार (आचार्यवर) श्री पूज्यपादस्वामी ने (समाधितन्त्र में १७ वें श्लोक द्वारा) कहा है कि —

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः।
एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः।।

यह निश्चय है। यह निश्चय की बात है।

इस प्रकार बहिर्वचनों को त्यागकर... भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसमें जोड़ दे न! यहाँ कहाँ व्यर्थ का जोड़ा? ऐसा कहते हैं। आहाहा! **अन्तर्वचनों को अशेषतः...** अन्तर के जल्प-विकल्प को भी सर्वथा छोड़कर **अशेषतः...** अर्थात् सब प्रकार से, पूर्णरूप से **यह संक्षेप से योग (अर्थात् समाधि) है...** वह यह संक्षेप से समाधि है। समाधि। 'समाधि वर मुत्तमं दिंतु'—ऐसा लोगस्स में नहीं आता? अर्थ की खबर नहीं होती। पहाड़े बोलते हैं। 'समाधि वर मुत्तमं दिंतु चंदेश निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा' जाओ, खड़े हो जाओ प्रतिक्रमण हो गया। समाधि... समाधि... समाधि...। आधि—मन के संकल्प से रहित; व्याधि—शरीर की व्याधि से रहित; उपाधि—बाहर के संयोग से रहित। आत्मा की अन्तर शान्ति, समाधि—**जो कि योग परमात्मा का प्रदीप है...** लो! आत्मा आनन्दस्वरूप में जुड़ान करना, मन का संग छोड़ना, वाणी का संग छोड़ना, स्वभाव का संग करना। आहाहा! शुद्ध आनन्द का धाम भगवान का संग करना। असंग का संग, ऐसा जो योग। स्वरूप की एकाग्रता, वह **परमात्मा का प्रदीप है (अर्थात् परमात्मा को प्रकाशित करनेवाला दीपक है)।** सम्यग्ज्ञान के नेत्र द्वारा, समाधि द्वारा आत्मा को देखे, वह परमात्मा का प्रकाशित करनेवाला दीपक है। पुण्य-पाप के विकल्प में कुछ परमात्मा का विकास नहीं होता, ऐसा कहते हैं। पाठ ही है न, देखो न!

एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ऐसा कहते हैं कि वाणी का योग, विकल्प है, वह भी कहीं आत्मा का प्रकाश करने में कारण नहीं है, ऐसा कहते हैं। वचनगुप्ति में डाला है न यह? चाहे जैसा स्वाध्याय करे, उपदेश करे, वह तो वस्तु का विकल्प है। आहाहा! आत्मा में जुड़ान कर देना, वही परमात्मा का प्रकाश करनेवाला योग है कि जिसे यहाँ समाधि की शान्ति कहते हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण १, शुक्रवार, दिनांक - ९-७-१९७१
गाथा-६८-६९, श्लोक-९२ से ९४, प्रवचन-६२

आज भगवान महावीरस्वामी का दिव्यध्वनि का दिन है। भगवान महावीर परमात्मा को वैशाख शुक्ल दसवीं को चार ज्ञान का नाश होकर केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था, तब वाणी नहीं निकली, क्योंकि उनकी वाणी हो और धर्म प्राप्त करनेवाले न हों, ऐसा नहीं होता क्योंकि जब तीर्थंकरगोत्र बाँधा, बँधा, तब भाव में ऐसा था कि मैं पूर्ण होऊँ अथवा जीव धर्म प्राप्त करे। इसलिए तीर्थंकर की वाणी निकलती है, तब धर्म प्राप्त करनेवाले होते ही हैं, ऐसा ही उसका सम्बन्ध है। वैशाख शुक्ल दसवीं को धर्म प्राप्त करनेवाले गणधर जो मुख्य चाहिए, वे नहीं थे। इसलिए ६६ दिन तक वाणी नहीं निकली। उस वाणी को निकलने का काल नहीं था। उसमें आज श्रावण कृष्ण एकम... सिद्धान्त की श्रावण कृष्ण एकम आज है। तब इन्द्र, गणधर को-गौतम को लाये। लाये और यहाँ वाणी खिरी। इसलिए (वे) आये, इसलिए वाणी निकली, यह निमित्त है। वाणी उस समय निकलने का काल था। यह सिद्धान्त चला है। इन्द्र पहले गौतम को क्यों नहीं लाये? कि भाई! काललब्धि नहीं थी। उनका समझने का काल नहीं था और यहाँ वाणी निकलने का। वह वाणी आज श्रावण कृष्ण एकम को भगवान के मुख से दिव्यध्वनि निकली। उस वाणी के-सिद्धान्त के अर्थ के करनेवाले भगवान महावीर, वह द्रव्य-वस्तु हुआ, क्षेत्र विपुलाचल पर्वत। राजगृहीनगरी के निकट पाँच पर्वत हैं, उनमें एक विपुलाचल पर्वत है, उस क्षेत्र में भगवान की वाणी निकली। काल, यह श्रावण कृष्ण एकम था, वह काल है। श्रावण कृष्ण एकम को दिव्यध्वनि खिरी। प्रभु ने भावश्रुतज्ञान की प्ररूपणा की। हैं तो केवलज्ञानी, परन्तु भावश्रुत की प्ररूपणा की, क्योंकि जो गणधर भावश्रुत को प्राप्त करनेवाले, उन्हें निमित्त तो भावश्रुत हो, ऐसा। उस भावश्रुत की प्ररूपणा परमात्मा ने की है। आज श्रावण कृष्ण एकम (को की है।) अर्थ के करनेवाले भगवान और पश्चात् सूत्र की रचना के करनेवाले गणधर। इस सूत्र की रचना अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग की रचना की, वह भी आज का दिन है। यह आज वाणी का—दिव्यध्वनि का दिन है। श्रावण कृष्ण एकम। सिद्धान्त से यह श्रावण कृष्ण एकम है। सिद्धान्त के

हिसाब से कृष्ण (पक्ष) पहले आता है। शुक्ल पक्ष बाद में क्योंकि यह पूर्णिमा कल गयी न? पूर्णिता अर्थात् पूर्ण महीना। पूनम अर्थात् पूरा महीना कल पूरा हुआ। और यह कृष्ण (पक्ष) लगा। महीने का पहला दिन। अमावस्या हो, तब आधा महीना होता है। अ-मास है न? आधा महीना होता है। पूर्णिमा हो, तब पूर्ण मास होता है। अर्थात् युग का पहला दिन श्रावण कृष्ण एकम। उस दिन भगवान की दिव्यध्वनि निकली और गणधर भगवान ने रचना की। भावश्रुत के परिणमन से, गणधरदेव ने भावश्रुत से परिणम कर द्रव्यश्रुत की रचना की है। समझ में आया?

भगवान की वाणी में भावश्रुत का अर्थ आया। गणधर भावश्रुत को परिणमित हुए, उन्होंने द्रव्यश्रुत की रचना की। अर्थ के कर्ता भगवान हैं; सूत्र के कर्ता गणधरदेव हैं, यह उस दिव्यध्वनि का दिन है। उस समय होंगे, तब तो गणधर, इन्द्र, विपुलाचल पर्वत पर साक्षात् दिव्यध्वनि (जो) ६६ दिन से बन्द थी। भगवान को केवलज्ञान हुआ तो भी, गणधर मुख्य है, वे नहीं थे; इसलिए वाणी नहीं निकली, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वे लोग कहते हैं-नहीं, देखो! गणधर नहीं थे, इसलिए वाणी नहीं निकली। गणधर का निमित्त हुआ, इसलिए वाणी निकली। ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया? वाणी तो वाणी के काल में ही निकली है, गणधर का निमित्त था।

यह भगवान के कहे हुए सिद्धान्त, उन्हें सन्तों ने शास्त्र रचना की। उसमें से यह एक नियमसार सिद्धान्त है। यह नियमसार है न? नियमसार अर्थात् मोक्ष का मार्ग। नियम का अर्थ ही मोक्ष का मार्ग होता है। आत्मा आनन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यस्वभाव का अन्तर अनुभव में सम्यग्दर्शन प्रगट करके ज्ञान और स्वरूप की रमणता प्रगट की, ऐसा जो मोक्षमार्ग है, उसके फलरूप मोक्ष है। यह मार्ग और मार्ग के फल दोनों की व्याख्या इसमें है। पहले गाथा में आ गयी है। कल सज्झाय थी। मार्ग और मार्ग के फल में....

और इस ६७ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं - ९२ वाँ श्लोक, नियमसार।

त्यक्त्वा वाचं भवभयकरीं भव्यजीवः समस्तां,
ध्यात्वा शुद्धं सहजविलसच्चिच्चमत्कारमेकम्।

पश्चान्मुक्तिं सहज-महिमानन्द-सौख्याकरीं तां,
प्राप्नोत्युच्चैः प्रहत-दुरितध्वान्तसङ्घातरूपः ।।९२।।

यह ६७ वीं गाथा। वचनगुप्ति की बात चलती है। लो, भगवान ने वाणी कही, अब उसमें ऐसा आया कि वचनगुप्ति किसे कहना? समझ में आया? कहते हैं, श्लोकार्थ है न?

श्लोकार्थ : भव्यजीव,... पहली ही बात ली है। पात्र जीव जो है वह। आत्मा की शान्ति मोक्ष के मार्ग को पाने के योग्य है। **भव्यजीव, भवभय की करनेवाली समस्त वाणी...** लो। वाणी है, वह तो जड़ है, परन्तु उसमें बोलने का विकल्प है, वह भवभय को करनेवाली विकल्प दशा है। वाणी तो जड़ है। भाषा तो ऐसी है, देखो! **भव्यजीव, भवभय की करनेवाली समस्त वाणी को छोड़कर...** इसका अर्थ कि विकल्प को छोड़कर। वाणी बोलने में जो विकल्प / राग है, उसे छोड़कर, ऐसा इसका अर्थ है। यह संस्कृत प्रमाण तो ऐसा अर्थ नहीं होता। वाणी को छोड़कर, ऐसा लिख है। लो, वाणी क्या छोड़े? वाणी करता कब है, वह वाणी छोड़े? वह तो जड़ है परन्तु वाणी बोलने का जो भाव है, वह राग है। आहाहा! छद्मस्थ को, हों! केवली को कुछ है नहीं। राग नहीं है। वह तो इच्छा बिना भगवान की दिव्यध्वनि वाणी निकलती है परन्तु छद्मस्थ हैं, रागी हैं, इसलिए वाणी के योग में राग का परिणाम निमित्त है।

उस परिणाम को छोड़कर। देखो! यह व्याख्यान करने की वाणी में भी शुभराग है, कहते हैं। आहाहा! छद्मस्थ को। उसे वाणी की गुप्ति की बात है न। वह **भवभय की करनेवाली समस्त वाणी को छोड़कर...** शुभराग। वाणी में जो अशुभराग वह तो ठीक, परन्तु धर्म की वाणी में जो कहने में राग है... आहाहा! उसे भी छोड़कर। **शुद्ध सहज—विलसते चैतन्य चमत्कार का एक का ध्यान करके,...** यह वाणी का विकल्प है, उसे छोड़कर, स्वाभाविक शुद्ध सहज विलसते। भगवान आत्मा स्वभाविक विलसता-खिलता प्रभु चैतन्य अन्दर है। ऐसा चैतन्य चमत्कार। भगवान आत्मा में चैतन्य चमत्कार भरा हुआ है। ऐसा चैतन्य चमत्कार आत्मा का तत्त्व **एक का ध्यान...** उसका एक का ध्यान। आहाहा!

वाणी के राग को छोड़कर। वह राग तो भवभय का करनेवाला है, कहते हैं।

आहाहा! रचना तो देखो! उपदेश में शुभराग, वह भवभय का कारण है। आहाहा! मुनि का। वे कहे, उपदेश देने में निर्जरा है। कितना अन्तर! उपदेश से दूसरे धर्म प्राप्त करें, उसका जीव को लाभ होगा। यहाँ कहते हैं, वह सब बात मिथ्या है। छद्मस्थ की उपदेश की वाणी है, उसमें राग आता है। उस राग को छोड़कर वीतराग सहज विलसता प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर आत्मा, चैतन्य चमत्कार मूर्ति प्रभु स्वयं है, उसका एक का ध्यान करके। देखो! उस आत्मा का एक का ध्यान। उसके द्रव्य-गुण-पर्याय भेद या भगवान का ध्यान, वह नहीं। भगवान का ध्यान करने जाए तो विकल्प, राग उठता है क्योंकि भगवान परवस्तु है। आहाहा! समझ में आया?

एक भगवान वापस। एक शब्द क्यों प्रयोग किया है? कि यह वस्तु आत्मा है, इसमें अनन्त गुण है और दशा है, ऐसे भेद नहीं हैं। अकेला चैतन्यबिम्ब प्रभु एक का ध्यान करके। यह मोक्ष का मार्ग है। यह नियमसार है न? अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनन्द। इन्द्रियों में कल्पित आनन्द, वह तो दुःख है। इन्द्रियों के विषयों में कल्पित सुख, वह तो दुःख है, जहर है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय अमृत का रस है। आहाहा! ऐसा आत्मा, उसका एक का ध्यान करना। उसी ध्यान को यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहते हैं।

चैतन्य चमत्कार का एक का... यह द्रव्य हुआ, वस्तु। **ध्यान करके,...** यह पर्याय हुई। समझ में आया? जिसे आत्मा का हित करना हो और इन चार गतियों के दुःख मिटाने हों, उसे क्या करना, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा स्वाभाविक विलसता... आहाहा! चैतन्य चमत्कार प्रभु आत्मा है। उसका वह एक स्वरूप है, एकरूप है, उसका ध्यान करके... आहाहा! सम्यग्दर्शन में भी उसे ध्येय बनाकर, ज्ञान में भी उसे ध्येय बनाकर, चारित्र में भी उसे विषय बनाकर... आहाहा! वीतराग का मार्ग ऐसा है। दिव्यध्वनि में यह आया था। विपुलाचल पर्वत पर भगवान की वाणी इन्द्र, गणधरों के समक्ष वाणी खिरी, वह यह निकली। आहाहा!

भगवान! तेरा स्वरूप सहज चैतन्य चमत्कार, ऐसी चीज़ तू अन्दर है। उसका ध्यान कर, उसे ध्येय बना, उसे विषय बना। राग और पर का विषय लक्ष्य में से छोड़ दे। आहाहा! चैतन्य भगवान आत्मा, अकेला अमृत के, शान्ति के रस से भरपूर समुद्र

है। आहाहा! उसे पामररूप से लोगों ने माना है। मृग की नाभि में कस्तूरी, मृग को उसकी कीमत नहीं। इसी प्रकार परमात्मा कहते हैं कि तेरे स्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्द की कस्तूरी पड़ी है। आहाहा! उसे न मानकर बाहर खोजता है। कुछ विषयों में सुख है, पैसे में सुख है, इज्जत में (सुख है)... जहर है। आहाहा! समझ में आया? परन्तु जँचे कैसे? यह लहर है। ऐई! धीरुभाई! लड्डू खाते हों, पैसा कुछ पचास हजार पैदा होता हो। कल कोई कहता था कि पचास हजार कमाते हैं। कोई कहता था। मुझे तो पैसा बहुत बढ़ गया। दुःख का निमित्त। यह कोई कल कहता था। बारह महीने में पचास हजार कमाते हैं। यह कोई कहता था। बहुत लोग आते हैं। लाख, दो लाख, दस लाख कमाते हैं, परन्तु उसमें क्या हुआ। धूल, वह तो जड़ है। वह तो मिट्टी-धूल है। धूल में सुख है? उस पर लक्ष्य जाता है, वह राग और आकुलता है। आहाहा! धीरुभाई! मार्ग गजब।

यहाँ तो कहते हैं, तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव परमात्मा साक्षात् समवसरण में विराजते हों और उनका लक्ष्य करे और ध्यान करने जाए तो राग है क्योंकि परद्रव्य पर लक्ष्य जाए, वहाँ राग ही होता है। आहाहा! आत्मा अखण्डानन्द प्रभु, चैतन्यमूर्ति प्रभु अन्दर है। उसका ध्यान करने से शान्ति और आनन्द होता है, उसे धर्म होता है। परद्रव्य के लक्ष्य से और ध्यान से धर्म नहीं होता। आहाहा!

उसका **ध्यान करके, फिर,...** उसे क्या फल आता है, ऐसा कहते हैं। दोनों लेते हैं। मार्ग और मार्ग का फल। **पापरूपी तिमिरसमूह को नष्ट करके...** पाप शब्द से पुण्य और पाप के दोनों भावों को यहाँ पाप कहा है। कहो, समझ में आया? भगवान अन्दर अमृतस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द से डोलता नाथ, प्रभु अन्दर है। आहाहा! अरे! कहते हैं कि उसे पकड़ न, उसे ध्यान में ले न, उसका ध्यान रख न, उसका ध्यान रख न, उसका ध्यान रख न। आहाहा! तो तुझे शान्ति होगी और उसके फलरूप से पुण्य और पाप का अन्धकार... भाषा देखो! पुण्य और पाप के भाव, वह तो अज्ञान अन्धकार है। वह चैतन्य चमत्कार नहीं, ऐसा सामने डालना है न? यहाँ चैतन्य चमत्कार—भगवान आत्मा चैतन्य चमत्कार का नूर, उसका पूर आत्मा है। आहाहा! और पुण्य तथा पाप तिमिर है, अज्ञान अन्धकार है। भाव में, हों! फल की बात, धूल की बात नहीं है।

आहाहा! यह तो शुभ और अशुभभाव, वाणी को छोड़कर... राग, वह तो पाप है, कहते हैं, अन्धकार है। आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्य के प्रकाश के चमत्कार का नूर, उसका ध्यान करने से, उसका आश्रय करने से, उसे अवलम्बन में लेने से जो दशा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वीतरागी दशा होती है, वह पुण्य-पाप के अन्धकार का नाश करनेवाली है। कहो, समझ में आया? **पापरूपी तिमिरसमूह को...** आहाहा! असंख्य प्रकार के पुण्य-पाप के विकल्प; यहाँ तो वाणी बोलने में राग (होता है), वह अन्धकार है, कहते हैं। विकल्प है न? वह तिमिर है। अन्धकार के समूह को **नष्ट करके...** आहाहा! एक-एक बोल समझने में अभी विवाद। धर्म तो बाद में परन्तु अभी क्या कहते हैं और कैसा है, यह समझने का ठिकाना नहीं होता और धर्म हो गया। जिन्दगी ऐसी की ऐसी चली जाती है। आहाहा!

अरे! **सहजमहिमावंत...** आनन्दसुख की खानरूप ऐसी मुक्ति। यह मुक्ति का विशेष है। पहले **सहज-विलसते चैतन्य चमत्कार...** द्रव्य का विशेषण था। उसका ध्यान, वह पर्याय। अब मुक्ति होती है, वह भी पर्याय है। ऐसे अन्तरस्वरूप को ध्यान में लेने से, उसके फल में सहज महिमावन्त मुक्ति सहज महिमा है। सिद्धपद **सहजमहिमावंत आनन्दसौख्य की खानरूप...** भाषा देखो! आनन्दरूप सुख। आहाहा! आनन्द की-सुख की खान है। कौन? मुक्ति, हों! आहाहा! ऐसे तो लोगस्स में शोर मचाते रहते हैं, 'सिद्धा सिद्धिं मम दिशंतु' ऐई! लोगस्स में आता है या नहीं? लोगस्स के अर्थ कुछ समझे नहीं। तूमड़ी में कंकड़। पहाड़े बोले जाएँ। पहले लोगस्स-बोगस्स किया था या नहीं? किया होगा। 'सिद्धा सिद्धिं मम दिशंतु' हे सिद्ध भगवान! हमें सिद्धपद दिखाओ। दिखाओं का अर्थ हमें केवलज्ञान होओ, ऐसी प्रार्थना करता है। आहाहा! सामायिक में सात पाठ आते हैं, नहीं? १. णमो अरिहंताणं, २. तिख्खुत्तो, ३. इच्छामि पडिक्कमणुं, ४. तस्स उत्तरी, ५. लोगस्स, ६. करेमि भन्ते, ७. णमोत्थुणं सात पाठ। अर्थ की कुछ खबर नहीं होती। अभी अर्थ की खबर नहीं होती, उसे भाव का भासन होना, अन्तर में आत्मा (कैसे) भासित हो? बस, सात बार बोले तो सामायिक हो गयी। हम भी पहले वहाँ ऐसा सब करते थे। पालेज में पर्यूषण आवे तो फिर शाम को इकट्ठे होकर

प्रतिक्रमण करें। पूरे दिन दुकान चले। अपवास किया हो, चतुर्विध आहारत्यागवाला अपवास हो तो भी दुकान में बैठें। शाम को सब इकट्ठे होकर प्रतिक्रमण करें। एक-दो गायन गायें। हो गया धर्म, लो! धूल में भी नहीं होता था।

गाते थे 'देखो रे... देखो रे... जैनों कैसे व्रत धारी...' ऐसा आता है न? जम्बूस्वामी। ऐसा गाते। सब कण्ठस्थ किये हुए थे। सब बैठे हों वहाँ गाते। नहीं खबर... हमारे सब सुननेवाले आवे। फावाभाई और धीरुभाई ये थे न? धीरजलाल, मनहर का पिता। सब भोले-भट्ट जैसे। आहाहा! फिर वह सत्यनारायण की कथा बैठावे।

मुमुक्षु : आत्मा सत्यनारायण है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु सत्यनारायण तो यह है। वह तो सत्यनारायण, वह ब्राह्मण करे और फिर उसकी प्रसादी नहीं ली, उसका जहाज डूब गया, अमुक हुआ, ऐसी बातें आती हैं। आती हैं या नहीं? अन्तिम वह प्रसादी... इसलिए तब तक उसे बैठना, ऐसा। इसलिए ब्राह्मण ने ऐसी रचना कर रखी है। चला नहीं जाए ऐसा। जिसने प्रसादी नहीं ली, उसका जहाज डूब गया, ऐसा हुआ। इसलिए तब तक सुनने बैठना। वह चाहे जैसा गप्प मारे। हमने यह सब वहाँ सुना है, हों! किया नहीं परन्तु सुना है। आहाहा! जैन में नाम धरावे तो भी उसे कोई भान नहीं होता।

कहते हैं, आहाहा! जिसने आत्मा अखण्डानन्द प्रभु, परमात्मा जिसका अन्तरस्वरूप है, उसे जिसने ध्यान में लेकर पकड़ा, उसे मुक्ति सहज महिमावन्त आनन्दसुख की खान, **ऐसी उस मुक्ति को अतिशयरूप से प्राप्त करता है।** खास करके (प्राप्त करता है)। उसे मुक्ति होती ही है; दूसरा नहीं होता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! उसे गति-वति नहीं होती। मोक्ष के मार्ग से तो मोक्ष ही मिलता है। यह मार्ग है, इस मार्ग से जाए तो वहाँ मोक्ष आवे। मुक्तस्वरूप भगवान आत्मा मुक्तस्वरूप वह तो है। उसका ध्यान करने से पर्याय में मुक्ति प्रगट होती है। आहाहा! यह उसकी मोक्ष की क्रिया, मोक्षमार्ग की यह क्रिया। इस क्रिया की सूझ नहीं पड़ती। एक बार यात्रा कर आओ। चलो, अषाढ़ शुक्ल चौदस की। पालीताणा। बारह महीने के पाप धूल जाएँगे। फिर वापस नया पाप बाँधने का। आहाहा! धर्म के नाम से अनादि से ठगाया है न। धर्म क्या चीज़ है, उसकी

खबर नहीं होती। यह ६७वीं गाथा हुई। ६८ वीं गाथा।

यह कायगुप्ति की व्याख्या है। ६८ वीं गाथा।

बंधणछेदणमारण आकुंचण तह पसारणादीया।
काय-किरिया-णियत्ती णिद्दिट्ठा कायगुत्ति त्ति।।६८।।

नीचे हरिगीत—

मारन, प्रतारण, बन्ध छेदन और आकुंचन सभी।
करते सदा परिहार मुनिजन, गुप्ति पालें काय की॥६८॥

यह अन्तरंग कारण आया, भाई! **यहाँ कायगुप्ति का स्वरूप कहा है।** यह अन्तरंग कारण।

मुमुक्षु : निमित्त को अन्तरंग कारण कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो दूसरी बात है।

टीका : किसी पुरुष को बन्धन का अन्तरंग निमित्त कर्म है,... उसे कोई बाँधे, परन्तु उस बाँधने में अन्तरंग कारण तो उसका कर्म है। उसे कर्म है, इसलिए उसे कोई बाँधता है। अन्तरंग कारण कर्म है। समझ में आया? **बन्धन का बहिरंग हेतु किसी का काय व्यापार है;...** बाँधे न, इसलिए काया का व्यापार, वह बाहर का निमित्त है। समझ में आया? **किसी पुरुष को बन्धन का अन्तरंग निमित्त...** उसे बाँधे, कोई वृक्ष के साथ बाँधे, डोरी से बाँधे, पैर बाँधे, लोहे के सरिये से बाँधे परन्तु उस बाँधने में मूल कारण तो असाता का कर्म अन्दर है, वह वास्तविक निमित्त है। बाहर में काय का व्यापार दूसरे का बाँधने का।

छेदन का भी अन्तरंग कारण कर्मोदय है,... कोई छेदे, शरीर के टुकड़े करे, कान काटे, नाक काटे। अन्तरंग कारण तो कर्मोदय है... वीरजीभाई बस में थे। उसमें लुटेरे आये थे। 'ढसा' के पास। वीरजीभाई अन्दर थे। सबको नीचे उतारा, उसमें जो बस का ड्राईवर था, उसका नाक काट दिया। वीरजीभाई सबको कहे, मुख उस ओर रखो, इसलिए वापस अपने को इस ओर भागना है न। मुख सबका उस ओर रखाया। वीरजीभाई कहे, इसका बेचारे का नाक कट गया। डाल दिया है तो लाओ न, खोजें।

परन्तु वह नाक भी साथ में ले गया। वीरजीभाई कहे मैं भी साथ में था। सबको उस ओर उतार डालो। भाई! हमारे पास पैसा होवे तो ले लो। वह नहीं लिया। उसके साथ वैर था, इसलिए उसका नाक काटा। अन्तरंग हेतु तो उसका असाता का उदय है। निमित्त (है)।

बाह्य छेदने का **बहिरंग कारण प्रमत्त जीव की कायक्रिया है;...** भाषा देखो! कोई जीव भी छेदा जाए। प्रमत्त मुनि चलते हों, उनकी कायक्रिया। उन्हें पाप लगता है, यह प्रश्न अभी नहीं है। यहाँ तो उसे निमित्त कौन? प्रमत्त जीव हो वहाँ तक... चलता हो प्रमत्त में चलते हैं न? अप्रमत्त में तो स्थिर होते हैं। इसलिए पहले गुणस्थान तो प्रमत्त क्रिया होती है, उसके छेदन में काय का व्यापार निमित्त होता है। ....**मारन का भी अन्तरंग हेतु आन्तरिक (निकट) सम्बन्ध का (आयु का)...** है। मारण का अन्तरंग हेतु अन्दर आयुष्य है। आयुष्य पूरा हुआ तो मरता है। बाहर में कोई मार सके, ऐसा है नहीं। आहाहा!

बहिरंग कारण किसी की कायविकृति है;... काया का व्यापार निमित्त होता है और वह मर जाता है। आयुष्य पूरा हो, वह अन्तरंग कारण, यह बाह्य निमित्त। **आकुंचन, प्रसारण आदि का हेतु संकोचविस्तारादिक के हेतुभूत समुद्घात है।** समुद्घात होता है न? ये प्रदेश बाहर निकलें। **इन कायक्रियाओं की निवृत्ति, वह कायगुप्ति है।** तीनों से निवृत्त होना और अन्तर आत्मा के ध्यान में जाना, इसका नाम कायगुप्ति कहने में आती है। पहले समझे तो सही कि यह कायगुप्ति किसे कहना? कर सके, न कर सके—यह प्रश्न बाद में, परन्तु काया का व्यापार-विकल्प जो है, उसे छोड़ना और अन्तर के आत्मा के आनन्द के ध्यान में आना, उसे कायगुप्ति कहा जाता है। आहाहा!

अब ६८ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं —

मुक्त्वा कायविकारं यः शुद्धात्मानं मुहुर्मुहुः।
सम्भावयति तस्यैव सफलं जन्म सन्सृतौ।।९३।।

श्लोकार्थ : कायविकार को छोड़कर,... कायविकार को छोड़कर, **जो पुनः**

पुनः शुद्धात्मा की सम्भावना (सम्यक् भावना) करता है,... लो, आहाहा! शुद्ध प्रभु चैतन्य आनन्दमूर्ति की भावना करता है। उसमें एकाग्र होता है, **उसी का जन्म संसार में सफल है।** बाकी सबके जन्म (निरर्थक हैं)। जन्मे, वे निरर्थक मरेंगे और वापस जन्मेंगे। आहाहा! **कायविकार को छोड़कर, जो पुनः पुनः शुद्धात्मा की सम्भावना (सम्यक् भावना)...** ऐसा। अर्थात् चैतन्यवस्तु भगवान आत्मा की अन्तर की बराबर एकाग्रता (हो) उसे सम्भावना-भावना कहने में आता है। **उसी का जन्म संसार में सफल है।** जन्मकर फिर से न जन्मना, ऐसा उसने किया। कायागुप्ति है न? शरीर नहीं मिले, ऐसा कहते हैं। उसे जन्म ही नहीं होगा। आहाहा!

अन्तर वस्तु भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप का जिसने ध्यान (किया), वर्तमान ध्यान की दशा में उसे जिसने विषय बनाया, उसे जन्म कैसा? कहते हैं। उसका मिला हुआ जन्म सफल है। फिर से काया नहीं मिलेगी। आहाहा! **उसी का जन्म संसार में सफल है।** कायागुप्ति में यह डाला है, लो! अब यह मन-वचनगुप्ति की-निश्चय की बात करते हैं। पहले व्यवहार की बात थी। मन-वचनगुप्ति की, व्यवहार की बात थी। अब निश्चय की बात करते हैं। ६९ गाथा।

जा रायादिणियत्ती मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती।
अलियादि णियत्तिं वा मोणं वा होइ वइगुत्ती।।६९।।

हो राग की निवृत्ति मन से नियत मनगुप्ति वही।
होवे असत्य-निवृत्ति अथवा मौन वच गुप्ति कही॥ ६९॥

दो प्रकार। **टीका : यह, निश्चयनय से...** अर्थात् सच्ची दृष्टि से। **मनोगुप्ति और वचनगुप्ति की सूचना है।** सच्ची मनोगुप्ति और सच्ची वचनगुप्ति की व्याख्या है। वह व्यवहार थी, सच्ची नहीं थी; व्यवहार था, विकल्प था।

मुमुक्षु : इस अधिकार में ही निश्चय दिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यहाँ ही दिया है। आहाहा! निश्चय के बिना व्यवहार कैसा? ऐसा सिद्ध करते हैं। पहले व्यवहार की बात की थी, पश्चात् निश्चय की। विकल्प किया अशुभ से छूटना और शुभ में आना, यह व्यवहार मनोगुप्ति है। यहाँ से

छूटकर स्वरूप में आना, यह निश्चयगुप्ति है। आहाहा! **यह, निश्चयनय से मनोगुप्ति और वचनगुप्ति की सूचना है।**

सकल मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप में सम्यक्रूप से अवस्थित रहना ही निश्चयमनोगुप्ति है। लो, पहले में ऐसा आया था कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, शान्ति की भूमिका में अशुभ से हटकर शुभ में आना, यह व्यवहार मनोगुप्ति है। यहाँ तो शुभ और अशुभ दोनों विकल्प से हटकर अन्दर में जाना। देखो! **सकल मोह-राग-द्वेष के अभाव...** उसमें राग था। व्यवहार मनोगुप्ति में धर्मी को भी शुभराग था। यह तो **सकल मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण...** जिसने मोह अर्थात् मिथ्यात्वभाव छोड़ा है और राग तथा द्वेष का विकल्प छोड़ा है।

अखण्ड अद्वैत परमचिद्रूप में... लो! भगवान आत्मा अखण्ड आत्मा है, अद्वैत है। जिसमें दो भेद ही नहीं। लो, यह अद्वैत आत्मा आया। सब होकर आत्मा एक, ऐसा नहीं। जिसमें गुण-गुणी का भेद भी नहीं, ऐसा कहते हैं। अखण्ड है और द्वैत नहीं। अद्वैत है, एक स्वरूप है, परमचिद्रूप-परमज्ञानरूप प्रभु। ज्ञानस्वभावरूप परम ज्ञानस्वभावरूप। **सम्यक्रूप से अवस्थित रहना...** यथार्थरूप से अन्तर में अखण्ड चिद्रूप में स्थिर रहना, **वही निश्चयमनोगुप्ति है।** लो, इसका नाम धर्म है। समझ में आया? सच्ची मनोगुप्ति इसका नाम है। तब कोई कहे, यह तो सब केवली की बात है। केवली की कहाँ, यहाँ तो मुनि की बात है।

मुमुक्षु : केवली होने की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : केवली होने का उपाय, ऐसा जो मुनिमार्ग, उसकी ऐसी दशा होती है, उसकी बात है। उसे पहले श्रद्धा में तो लेना पड़े न? सच्चा साधुपना कैसा होता है, सच्चा मुनिपना कैसा होता है, यह तो कुछ भान नहीं होता और हो गये साधु। आचार्य भगवन्त... आहाहा! भाई! इसमें तो वस्तु के स्वरूप के भान बिना तो नुकसान है। यह तो तेरे अहित के नाश की बात है। हितपना तो भगवान आत्मा का...

अपना शुद्ध आनन्दस्वभाव अखण्ड अद्वैत परमज्ञानरूप। परमज्ञानरूप। वह तो ज्ञानरूप ही है। जानने के स्वभाव का रूप है। उसमें **सम्यक्रूप से अवस्थित रहना...**

स्थिर रहना। **वही निश्चयमनोगुप्ति है। हे शिष्य!... जाणीहि** है सही न? दूसरे पद में। **जाणीहि** है न? इसलिए निकाला। **हे शिष्य!...**

यहाँ कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं न? **मणस्स जाणीहि तं मणोगुत्ती।** आहाहा! इसे तो जान कि इसका नाम मनोगुप्ति कहलाता है। वाणी नहीं, मन का विकल्प नहीं और अन्तर में अखण्ड आनन्द अभेद चिद्रूप में लीनता है, उसे यहाँ सच्ची मनोगुप्ति कहा जाता है।

हे शिष्य! तू उसे वास्तव में अचलित मनोगुप्ति जान। ऐसा। **जाणीहि** था न, उसमें से निकाला। **जाणीहि** तो यह किसी को कहते हैं या नहीं? इसका अर्थ हुआ कि कुन्दकुन्दाचार्य शिष्य को कहते हैं, सन्तों को कहते हैं। **तू उसे वास्तव में अचलित...** अन्दर आत्मा के आनन्द में स्थिर होना, उसे मन का शुभविकल्प भी नहीं। उसे **अचलित मनोगुप्ति जान।** और वही धर्म और वही मोक्ष का मार्ग है। आहाहा! रूखा लगे, कोई वार्ता हो, कथा हो तो मन भी भींगे। क्योंकि... ऐसी बात आवे तो मन भींगे। भींगे न? (यह तो) रूखी बात लगे।

अन्दर वीतराग मूर्ति भगवान में राग नहीं है, ऐसा चैतन्यस्वरूप का विकल्प छोड़कर ध्यान करे, उसका नाम मनोगुप्ति कहने में आता है। आहाहा! कभी सुना नहीं होगा, विचार में लिया नहीं होगा, प्रयोग तो किया नहीं होगा। मार्ग बहुत अलौकिक है। वीतरागमार्ग परमेश्वर तीर्थंकर त्रिलोकनाथ परमात्मा ने कहा हुआ मार्ग कोई दूसरा प्रकार है। अभी सब गड़बड़ बहुत चलती है। बाहर में सर्वत्र धर्म मना लिया गया है। आहाहा! बापू! यह तो तेरा काल जाता है, प्रभु! यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

परम अद्वैत अखण्ड चिद्रूप में अन्दर में स्थिति करना, अन्दर में आसन लगा देना, उसे हे शिष्य! तू मन की गुप्ति की, ऐसा तू जान। देखो! निश्चय में ऐसा आया। इसका ज्ञान... मनोगुप्ति इसे कहा जाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अब ऐसा सब धन्धा कब करना? कमाना कब?

मुमुक्षु : यह एक ही कमाई है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी कुछ नहीं वहाँ, सुन न! सब पाप के हैरान के रास्ते

हैं। पुण्य और पाप दोनों पाप है। उनके रास्ते जाने से चार गति के दु:ख हैं। यहाँ तो मोक्ष के मार्ग की व्याख्या है न? यह मन की बात की। निश्चयमनोगुप्ति की बात की, सच्ची मनोगुप्ति की बात की। अब सच्ची असत्य वाणी की बात करते हैं।

समस्त असत्य भाषा का परिहार... एक बात। **समस्त असत्य भाषा का परिहार अथवा मौनव्रत, सो वचनगुप्ति है। मूर्तद्रव्य को चेतना का अभाव होने के कारण...** लो, मूर्तद्रव्य को चेतना का भाषा में अभाव है। **और अमूर्तद्रव्य इन्द्रियज्ञान से अगोचर होने के कारण दोनों के प्रति वचनप्रवृत्ति नहीं होती।** यहाँ समाधिशतक की शैली ली है। कहते हैं कि मैं किससे बोलूँ? भाषा तो जड़ है। उसमें-इस जड़ में तो चेतना का अभाव है। आहाहा! वाणी में आत्मा नहीं है। चेतना का अभाव वाणी में है अर्थात् जड़ वाणी में चेतना का अभाव होने के कारण **अमूर्तद्रव्य इन्द्रियज्ञान से अगोचर होने के कारण...** यह आत्मा है, वह अमूर्त है। इन्द्रियज्ञान के अगोचर है। किसके साथ मैं बात करूँ, ऐसा कहते हैं। वचन गोपन की पद्धति है। यहाँ तो (ऐसा कहे) उपदेश देने से लाभ होता है। लोग धर्म समझें, उसका लाभ मिलता है। यह बात मिथ्या है, कहते हैं। समझ में आया? उपदेश में लाभ मिलता है न? दो-दो घण्टे, तीन-तीन घण्टे सवेरे समझाना। कुछ दे या नहीं? दसवाँ भाग नहीं मिलता होगा? इन गरासिया को मिलता है।

मुमुक्षु : दरबार को मिले।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिलता है। गरासिया को कहे कि हमारी जमीन में धर्म हो, उसका दसवाँ भाग हम देंगे। यहाँ तब हुआ था न? जब प्रवचन हाल का खातमुहूर्त हुआ, तब एक भाई थे, गुजर गये। केशूभाई के भाई (थे) वह कहे, इन गरासिया की जमीन में धर्म होता है तो दसवाँ भाग मिलेगा। यह जमीन तुम्हारी कहाँ रही अब? परन्तु तुम्हारी हो तो भी करनेवाले के परिणाम प्रमाण उसे भाव होते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : जमीन-जमीन की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह कहे न भाई! एक मन्दिर बनाओ। उसमें जो कुछ धर्मध्यान होगा, उस मन्दिर बनानेवाले को लाभ होगा। धूल में भी नहीं होगा, सुन न! कैसे होगा यह।

मुमुक्षु : अब अहमदाबाद का मन्दिर हो गया, दिक्कत नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी बहुत बाकी है। ऐसे के ऐसे यह सब अन्यत्र भटका करे और प्रमुख रूप से सामने नाम आवे। अन्दर कुछ काम करे नहीं। ऐई! तीन-तीन महीने मुम्बई भटका करे। ऐई! कितना काम है? एक लाख रुपये का दरवाजा बनाना है, अन्दर काम बहुत है। अभी जा आये हैं न दो महीने। पहली बात... फिर सब लोग बात करे न? तब तुम नहीं थे। कहे यहाँ बहुत काम करना बाकी है परन्तु कोई ध्यान नहीं देता। लड़के की लड़की का विवाह करना हो तो वहाँ महीना, दो महीना रुकता है। कोई ऐसी बातें करे, डॉक्टर!

मुमुक्षु : न करे तो भी करने बराबर ही है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़की के विवाह में पाँच-छह लाख खर्च किये। न्यालभाई और इनके पिता ने कहा, अहमदाबाद के लिए तुम्हें पचास हजार-लाख कुछ देना है या नहीं? परन्तु यह मानता नहीं।

मुमुक्षु : जिसे वास्तव में धर्म समझना हो, उसे पैसा खर्च करना चाहिए न, मुझे किसका कहते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या कहते हैं? मलूपचन्दभाई! ऐसा कहे तुम्हें करना है, हमें कहाँ करना है? इतना सब पैसा उसके पास न हो तो कहाँ से दे? आहाहा! कौन पैसा दे और ले? वह तो पैसा जहाँ जानेवाला हो, वहाँ जाता है। आहाहा! देनेवाला दे, इसलिए प्रयोग करे? वह तो जड़ के रजकण जिस जगह लगने हैं-खर्च होने हैं, वहाँ वे खर्च होंगे। कौन खर्च कर सकता है? आहाहा! ऐसी बात है।

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा इन्द्रिय के अगम्य और इस जड़-वाणी में चैतन्य नहीं। **दोनों के प्रति वचनप्रवृत्ति नहीं होती।** जाओ। **इस प्रकार निश्चयवचनगुप्ति का स्वरूप कहा गया।** लो! वाणी में आत्मा नहीं, आत्मा इन्द्रिय से ज्ञात नहीं होता। किसके साथ बात करना? वचन को गोपना, ऐसा कहते हैं। विकल्प नहीं करना, ऐसा। वचन तो... विकल्प... वाणी में आत्मा नहीं है, वहाँ विकल्प क्या करे और आत्मा इन्द्रिय से गम्य नहीं, तो मैं किससे बात करूँ?

मुमुक्षु : वाणी सुनना या नहीं सुनना?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी बातें हैं। अगम्यगम्य की बातें हैं। सुनने में आवे, परन्तु वह शुभराग है। सुनने में है, वह तो शुभराग है। उसे कोई राग से ज्ञान नहीं होता। सुनने से नहीं होता। ऐसी गजब बात, भाई! यह तो वीतरागमार्ग ऐसा है। अन्तर के आत्मा के ज्ञानस्वरूप का स्पर्श करने से ज्ञान होता है। उसे छूने से, अनुभव से ज्ञान होता है, ऐसी बात है।

अब ६९ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं—

शस्ताशस्तमनोवचस्समुदयं त्यक्त्वात्मनिष्ठापरः,
शुद्धाशुद्धनयातिरिक्तमनघं चिन्मात्रचिन्तामणिम्।
प्राप्यानन्तचतुष्टयात्मकतया सार्धं स्थितां सर्वदा,
जीवन्मुक्तिमुपैति योगितिलकः पापाटवीपावकः ।।९४।।

मुनिपना कैसा होता है? योगी में तिलक। आहाहा! **पापरूपी अटवी को जलाने में अग्नि समान...** हैं। मुनि तो उन्हें कहते हैं कि पुण्य और पाप के विकल्प को जलाने में समर्थ है। आहाहा! पाप अर्थात् पुण्य और पाप दोनों, हों! **अग्नि समान ऐसा योगितिलक...** आहाहा! **प्रशस्त-अप्रशस्त, मन-वाणी के समुदाय को छोड़कर...** देखो! शुभ और अशुभ, मन का व्यापार और वाणी का व्यापार छोड़कर। मन सम्बन्धी और वाणी सम्बन्धी वह शुभविकल्प भी छोड़कर, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

पापरूपी अटवी को... बड़ा वन। पुण्य-पाप के संकल्प-विकल्प के जाल, वह बड़ी वन अग्नि है। उसे जलाने में मुनि अग्नि है। ऐसा कि वह तो बड़ी अटवी है। ओहो! स्वरूप में आनन्द में रहनेवाले, अतीन्द्रिय आनन्द में रहनेवाले, ऐसे मुनि पुण्य-पाप के वन को जलाकर राख करते हैं। **(मुनिशिरोमणि)...** है न? तिलक। योगी में भी शिरोमणि। **प्रशस्त-अप्रशस्त, मन-वाणी के समुदाय को छोड़कर आत्मनिष्ठा में परायण रहता हुआ,...** भाषा देखो! बदलकर व्यवहारचारित्र में भी यह अधिकार लिया। मुनियों की पद्धति ही सन्तों की अलग बात है।

आत्मनिष्ठा में परायण... शुद्धचैतन्य आनन्दस्वभाव ऐसे आत्मा में तत्पर हैं। मुनि तो उसमें तत्पर हैं। आहाहा! **शुद्धनय और अशुद्धनय से रहित ऐसे अनघ (निर्दोष) चैतन्यमात्र चिन्तामणि को प्राप्त करके,...** शुद्धनय और अशुद्धनय से रहित। शुद्धनय अर्थात् विकल्प। मैं शुद्ध आनन्द हूँ, ऐसा विकल्प और अशुद्धराग की पर्याय स्वभाव में है नहीं। दोनों से रहित। **शुद्धनय और अशुद्धनय... के विकल्प से रहित ऐसे अनघ (निर्दोष)...** लो! अघ अर्थात् पुण्य और पाप दोनों। उनसे अनघ-निर्दोष **चैतन्यमात्र चिन्तामणि को प्राप्त करके,...** चैतन्यस्वरूप भगवान चिन्तामणि रत्न आत्मा है। आहाहा! उसे प्राप्त करके। वह चिन्तामणि है। जितना उसमें एकाग्र हो, उतनी उसमें शान्ति और आनन्द मिले, ऐसा चिन्तामणिरत्न भगवान है। उसे पामररूप से माना है। इसने माना है। आहाहा! शुभ और अशुभभाव, उल्लसित होकर उनमें रुका है, उसे आत्मा के चिन्तामणिरत्न की कीमत नहीं है।

अनन्तचतुष्टयात्मकपने के साथ... सार्ध है न, सार्ध? उसमें भी सार्ध है न? १५वीं गाथा में। परिणति के साथ सार्ध, वह पर्याय है न अन्दर? कारणपर्याय। वहाँ भी सार्ध है। **अनन्तचतुष्टयात्मकपने के साथ सर्वदा स्थित...** मुक्ति-मुक्ति। जो आत्मा में परायण है, उसे ऐसी दशा प्राप्त होती है। **अनन्तचतुष्टयात्मकपने के साथ सर्वदा स्थित ऐसी जीवनमुक्ति को प्राप्त करता है।** जीते जी मुक्ति हो गया। राग से, विकल्प से, वाणी से (मुक्त हो गया)। जिसे आत्मा के स्वभाव का ध्यान है, उस ध्यानी को ऐसी दशा प्रगट होती है अर्थात् मुक्ति मिलती है, मोक्ष का मार्ग मिलता है, उसका फल मोक्ष। इसमें दोनों बातें हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण २, शनिवार, दिनांक - १०-७-१९७१
गाथा-७०-७१, श्लोक-९५-९६, प्रवचन-६३

व्यवहारचारित्र के अधिकार में निश्चयशरीर की गुप्ति की व्याख्या है। कायोत्सर्ग किसे कहना? ७० वीं गाथा।

कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती।
हिंसाइ-णियत्ती वा सरीर-गुत्ति त्ति णिद्दिट्ठा।।७०।।

नीचे इसका हरिगीत

कायिक क्रिया निवृत्ति कायोत्सर्ग तन की गुप्ति है।
हिंसादि से निवृत्ति भी होती नियत तनगुप्ति है॥७०॥

टीका : यह निश्चयशरीरगुप्ति के स्वरूप का कथन है। सर्वजनों को कायासम्बन्धी बहु क्रियाएँ होती हैं;... यह देह / शरीर जड़ है, उस सम्बन्धी की बहुत प्रवृत्ति शरीर में शरीर के कारण होती है। **उनकी निवृत्ति,...** उस शरीर की क्रिया की ओर के राग के विकल्प का झुकाव जो है, उससे निवृत्ति, वह शरीर की क्रिया से निवृत्ति, ऐसा कहा जाता है। **सर्वजनों को...** यह शरीर है, वह तो जड़ है, अजीव है। इसकी जो बहुत प्रकार की क्रियाएँ **उनकी निवृत्ति, सो कायोत्सर्ग है;...** अर्थात् अन्दर में शुभ-अशुभराग हो, राग, उससे भी निवृत्ति करके स्वरूप में एकाग्र होना, इसका नाम शरीरगुप्ति अथवा कायोत्सर्ग कहा जाता है।

काया का उत्सर्ग अर्थात् आत्मा में शरीर है नहीं और शरीर की क्रिया की ओर के झुकाववाला भाग भी आत्मा में नहीं है। ऐसा जो शुभ-अशुभराग / विकल्प, काया की क्रिया के सम्बन्ध में हो वह, उससे निवृत्ति करके अखण्ड आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द में एकाग्र होना, उसका नाम सच्चा कायोत्सर्ग कहते हैं। तस्सउत्तरी में आता है न? ताव कायं ठाणेणं माणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामी। काया की ओर का झुकाव छोड़ता हूँ। वचन का और ध्यान में मन का। ठाणेणां, माणेणं, झाणेणं - ऐसे तीन हैं न? काया, मन और वाणी, तीनों से मैं छूटता हूँ। कायोत्सर्ग आता

है न? तस्सउत्तरी! ऐई! बाबूभाई! अर्थ भी नहीं आता होगा। ऐसे के ऐसे पहाड़े बोलते हों। उसमें चौथे पाठ में आता है। ताव काय ठाणेणं माणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामी।

यहाँ परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा तीर्थकरदेव कहते हैं कि कायोत्सर्ग तो उसे कहते हैं, कि जो आत्मा आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप है, उसमें लीन होकर काया की क्रियाओं सम्बन्धी के विकल्प की वृत्तियों का अभाव करके स्वरूप में स्थिर होना, आनन्द का वेदन करना, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन करना, इसका नाम कायोत्सर्ग है।

मुमुक्षु : अन्दर के आनन्द में...

पूज्य गुरुदेवश्री : आनन्द के अतिरिक्त क्या करता है, वह भाव आनन्द का है। यह दुःख का है। कायासम्बन्धी, क्रियासम्बन्धी का विकल्प है, वह सब दुःख है। शुभ-अशुभ राग की वृत्ति, विकल्प उठे-कायासम्बन्धी, मनसम्बन्धी या वचनसम्बन्धी, वह दुःख है। धर्म कहीं दुःखरूप होगा? यह दुःख के विकल्प जो राग, उससे निवृत्ति अर्थात् स्वरूप में प्रवृत्ति, ऐसा। स्वरूप आनन्द... अभी आगे कहेंगे।

उनकी निवृत्ति, सो कायोत्सर्ग है; वही गुप्ति (अर्थात् कायगुप्ति) है। उसे भगवान गुप्ति कहते हैं। आहाहा! स्वरूप में अन्दर में जाना और विकल्पों का नाश होना, उसका नाम परमात्मा कायोत्सर्ग की गुप्ति कहते हैं। कहो, समझ में आया? यह कायोत्सर्गरूपी गुप्ति है। **अथवा पाँच स्थावरों की और त्रसों की हिंसानिवृत्ति, सो कायगुप्ति है।** पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, त्रस (ये) छह काय है न? पाँच स्थावर और त्रस, उनके ओर की हिंसा की निवृत्ति का नाम कायगुप्ति है। पर की ओर के झुकाव का हिंसा का भाव, उससे छूटना और अन्तरस्वभाव आत्मा का, उसमें एकाग्र होना, इसका नाम कायगुप्ति कहा जाता है।

जो परमसंयमधर... मुनि की मुख्यता से बात ली है न? **जो परमसंयमधर...** परम आत्मा के आनन्द में जिसे संयमदशा प्रगट हुई है, उसे मुनि कहते हैं। जिन्हें विकल्प से छह काय की हिंसा छूट गयी है, तथा अव्रत का भाव भी जिन्हें छूट गया है। आत्मा के अतीन्द्रिय निजस्वरूप में जो परम योगीश्वर स्थित हैं। **परमसंयमधर...** हैं ऐसे **परमजिनयोगीश्वर...** आहाहा! परमजिनयोगीश्वर। जिनयोगीश्वर अर्थात् जिन्होंने राग

के विकल्प को जीता है, उत्पन्न होने नहीं देते। वीतरागभावना उत्पन्न करते हैं, उन्हें परमजिनयोगीश्वर, उन्हें सन्त-मुनि कहा जाता है।

परमसंयमधर परमजिनयोगीश्वर अपने (चैतन्यरूप) शरीर में अपने (चैतन्यरूप) शरीर से प्रविष्ट हो गये,... देखो! आहाहा! कहते हैं कि यह शरीर की गुप्ति की व्याख्या चलती है न? तो यह शरीर है, वह तो अजीव-जड़ है। उस ओर की प्रवृत्ति का विकल्प है, वह भी विकार है। उससे आत्मा में प्रवेश नहीं होता, परन्तु उस विकल्प की, विकार की वृत्तियों से रहित शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा, ऐसा जो अपना निजशरीर। शरीरगुप्ति है न? इसलिए यहाँ शरीर लिया। इस शरीर की प्रवृत्ति के विकल्प-राग से छूटकर और निजशरीर... वीतरागस्वभावस्वरूप आत्मा, वह निजशरीर है। आहाहा! निजशरीर में अपने शरीर से अर्थात् चैतन्यरूप शरीर से प्रवेश कर गये हैं। क्या कहते हैं? पुण्य-पाप का शुभ-अशुभ विकल्प है, वह तो विकार है, वह कोई आत्मा नहीं। आत्मा शुद्ध आनन्द और ज्ञान की मूर्ति, ऐसा अपना स्वरूप, वह अपना शरीर, उसमें चैतन्यरूप शरीर से-निर्मल वीतरागी परिणति से प्रवेश कर गये हैं। भाषा भी समझना कठिन पड़े। ऐसा हो, उसकी अपेक्षा एक जात्रा-वात्रा कर आवें और कल्याण हो गया, जाओ। आहाहा! कल्याण पूरी चीज़ अलग है। समझ में आया?

सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकरदेव, परमजिनयोगीश्वर सन्तों की गुप्ति का वर्णन करते हैं। आहाहा! यह शरीर जड़-मिट्टी है, इसकी क्रियाओं से निवृत्त हुआ हो, इसलिए उस ओर के झुकाववाला विकल्प, उससे निवृत्त हुआ; इसलिए शरीर की क्रिया से निवृत्त हुआ, ऐसा कहने में आता है। वहाँ से निवृत्त हुआ, तब अब गया कहाँ? कि भगवान ज्ञानस्वरूप -आनन्दस्वरूप आत्मा, उसने निर्मल वीतरागी परिणति से अन्दर में प्रवेश किया। आहाहा! यह बात! ऐसा प्रभु का मार्ग है, भाई! आहाहा! दुनिया कुछ की कुछ माने, मार्ग कहीं रह गया।

त्रिलोकनाथ परमात्मा, इन्द्रों और नरेन्द्रों के समक्ष इस शरीर की गुप्ति का वर्णन करते थे। आहा! भाई! यह शरीर है, वह तो मिट्टी-जड़ है। उसकी प्रवृत्ति की क्रिया तो जड़ से जड़ में है परन्तु तुझे विकल्प था कि मैं शरीर का ऐसा करूँ, ऐसा करूँ - ऐसा

जो पुण्य-पाप का जो विकल्प है, वह भी वास्तव में तो काया है, पर काया है। आहाहा! वह आस्रव -तत्त्व है, वह पर काया है अर्थात् वह पर का समूह है, वह चैतन्य नहीं। आहाहा!

चैतन्य तो आनन्द और ज्ञान की मूर्ति प्रभु! ऐसे चैतन्य में चैतन्य द्वारा, स्वशरीर में स्वशरीर द्वारा। स्वशरीर अर्थात् चैतन्य ज्ञानमूर्ति में ज्ञान और वीतराग की वीतरागी शुद्ध परिणति द्वारा चैतन्य के द्रव्य में प्रवेश किया, उसका नाम कायोत्सर्ग कहा जाता है। बाबूभाई! बाप-दादा ने किसी ने कभी सुना भी नहीं होगा। यह कर डाली सामायिक। यह तो अब कभी सुनने आते हैं, इनके पिता तो सुनते ही नहीं। पुरानी रूढ़ि। क्यों चिमनभाई! ऐसा ही है न। प्रत्येक में वह जहाँ-जहाँ पड़ा हो... आहाहा! पारसनाथ परचा पूरे। ऐसा हमारे बारम्बार बोलते। पिताजी दातून करके... इतना बोलते।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : बस, इतना समझे। पारसनाथ परचा पूरे, शान्तिनाथ साता करे। उन्हें कुछ दूसरी खबर नहीं। भोले व्यक्ति हैं। भोले अर्थात् धर्म के लिए भोले, हों! संसार में तो... पारसनाथ परचा पूरे, शान्तिनाथ साता करे - ऐसा बोलते अवश्य दो-तीन लाइन। आहाहा! यह पारसनाथ तो तू है। आनन्द का धाम सच्चिदानन्द प्रभु ऐसा जो आत्मा, उसमें निर्मल परिणति द्वारा प्रवेश करना अर्थात् अभेद होना। आहाहा! क्या कहते हैं, यह अभी पकड़ना कठिन। शान्तिभाई! आहाहा! इसका नाम कायोत्सर्ग और इसका नाम शरीर की गुप्ति। इस शरीर की ओर के लक्ष्य को छोड़कर, चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, आनन्द का धाम आत्मा है, उसमें निर्मल वीतरागी पर्याय द्वारा अन्तर में प्रवेश करना, इसका नाम कायोत्सर्ग कहते हैं। कायोत्सर्ग कभी किया तो नहीं, परन्तु कायोत्सर्ग कैसे हो, इसकी खबर भी नहीं। आहाहा! ऐसे का ऐसे मान बैठे। भगवान के सामने खड़ा रहे। 'ताऊ काये ठाठणं' भगवान के दर्शन करने सामने खड़े रहते हैं न? वह तो सब शुभराग है, वह तो विकल्प है, पुण्यभाव है; वह धर्म नहीं, वह कायोत्सर्ग नहीं। आहाहा!

कायोत्सर्ग तो उसे कहते हैं कि जो कायासम्बन्धी की वृत्तियों को छोड़कर-

उत्सर्ग, उनका उत्सर्ग किया - छोड़ा। उसे छोड़ा, तब गया कहाँ? ऐसा कहते हैं। इसलिए ऐसा अर्थ किया। कायोत्सर्ग है न, इसलिए उसमें यह बात की। मन की वाणी-देह की जो विकल्पदशा राग है, उससे निवृत्त हुआ। निवृत्त हुआ, तब गया कहाँ? कि आनन्दस्वरूप जो आत्मा चैतन्यमूर्ति प्रभु (है), उसे निर्मल परिणति द्वारा अन्तर में अभेद हुआ, इसका नाम कायोत्सर्ग कहने में आता है। आहाहा! गजब बात, भाई! ऐसा सुने, गुणवन्तभाई! बाहर में तो सुनने में आता नहीं। बस ऐसा करो, सामायिक करो, इच्छामि पडिक्कमियू ईरिया वहियाये। लो, तस्स मिच्छामि दुक्कडं। क्या कहा? यह भाषा जड़ है। इसमें विकल्प हुआ, वह राग है। कोई खबर नहीं होती। अनन्त काल ऐसा का ऐसा वास्तविक तत्त्व के भान बिना व्यतीत किया और चौरासी के अवतार में गल गया। कैसी बात की? देखो! आहाहा!

इस शरीर के प्रति लक्ष्य छोड़कर... शरीर तो शरीर है, वह तो जड़ की क्रिया है। वह कहीं तुझसे नहीं छूटता और तुझसे होता भी नहीं परन्तु यहाँ उसकी ओर का लक्ष्य छोड़ा तो शरीर की क्रिया छोड़ी, ऐसा कहने में आया। उसकी ओर का लक्ष्य छोड़ा, तब उसका अर्थ हुआ कि पुण्य और पाप के विकल्प से भी लक्ष्य छोड़ा और उनसे लक्ष्य छोड़ा, तब गया कहाँ? प्रवेश कहाँ किया? राग में प्रवेश था, शुभ-अशुभ राग में प्रवेश था, वह तो अकायोत्सर्ग था-मिथ्यात्वभाव था। राग में एकाकार, वह तो मिथ्यात्वभाव था। सम्यक्भाव? भगवान चैतन्यशरीर स्व इसकी वस्तु है। ज्ञान, आनन्द, जाननस्वभाव ऐसा जो चैतन्य का निज, अनादि शरीर अर्थात् स्वरूप, उसमें निज शरीर से और निज स्वरूप से। निज स्वरूप से प्रवेश करे, इसका नाम कायोत्सर्ग है। आहाहा! जैन के वाड़ा में जन्मे हों, तथापि यह बात क्या है, वह सुनी नहीं होगी। बालचन्दभाई! वृद्ध ने सुनी थी? आहाहा!

तीर्थंकर त्रिलोकनाथ, इन्द्र के पूजनीक, पूर्णानन्दस्वरूप प्राप्त, उनकी वाणी में आया, वह बात सन्त कहते हैं। पाठ में है न? '**स्वकीयं वपुः स्वस्य वपुषा विवेश**' '**स्वकीयं वपुः**' संस्कृत है। '**स्वकीयं वपुः**' अपना जो '**वपुः**' अर्थात् शरीर। आनन्द और ज्ञान का धाम आत्मा, वह इसका शरीर। आहाहा! उसे यह (जड़) शरीर नहीं, यह तो मिट्टी जड़

है। पुण्य-पाप के विकल्प / भाव उठें, वह भी विकार है, अचेतन है। वह कहीं चैतन्य की जाति नहीं है। उस विकार के पुण्य-पाप के राग से रहित चैतन्य ज्योति भगवान आत्मा वस्तु पदार्थ है, सत्व है, तत्त्व है, वस्तु है, ऐसा निज स्वकीय शरीर, ज्ञान और आनन्द का सागर, ऐसा स्वकीय शरीर, उसमें '**स्वकीयं वपुः स्वस्य वपुषा**' संस्कृत में है न? आहाहा! गजब टीका करते हैं। यह कठिन पड़े, इसलिए वे लोग निकाल डालते हैं। अपूर्व बात है। बाबूभाई! अपूर्व कहते थे न कल? बात तो ऐसी है। यह तो वीतराग की है। यह बात अन्यत्र कहीं तीन काल में सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकर के अतिरिक्त ऐसा स्वरूप कहीं नहीं हो सकता। आहाहा! देखो पद्धति!

शरीर की गुप्ति अर्थात् शरीर की ओर के राग के पुण्य-पाप के भाव को छोड़कर इसने काया की क्रियाएँ छोड़ी, ऐसा कहने में आता है। तब ग्रहण क्या किया? कि चैतन्य भगवान आत्मा अन्तर आनन्द और ज्ञान का सागर प्रभु है, ऐसा निज स्वशरीर अर्थात् स्वस्वरूप, उस स्वस्वरूप द्वारा प्रवेश किया। निर्मल दशा द्वारा अन्दर एकाकार हुआ। आहाहा! उस पुण्य के विकल्प से भी अन्तर एकाकार नहीं हुआ जाता। उससे तो निवृत्त हो, तब यहाँ प्रवेश होता है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया? पहले समझ तो करे। सत्य क्या है? प्रभु का मार्ग क्या है? वीतराग क्या कहना चाहते हैं। खबर नहीं होती और ऐसी की ऐसी जिन्दगी चली जाती है। शरीर मृत्यु के समीप होता जाता है। जो अवधि लेकर आया है, उसके निकट होता जाता है। है या नहीं? आहाहा!

यह जीवती ज्योति चैतन्य है। आहाहा! ज्ञान और शान्ति, आनन्द और स्वच्छता, प्रभुता से भरपूर प्रभु! ऐसा इसका स्वस्वरूप कहो या स्वशरीर कहो। उसे राग से विमुख करके और रागरहित निर्मल पर्याय / निर्मलदशा द्वारा निर्मलानन्द प्रभु को पकड़ना, उसमें प्रवेश करना, उसका नाम शरीरगुप्ति और कायोत्सर्ग है। आहाहा! यह निवृत्ति का अर्थ है। उस ओर का लक्ष्य छोड़ना अर्थात् कि यहाँ निवृत्ति हो गयी। यहाँ निवृत्ति है, वहाँ कहाँ उसमें घुस गयी है? वह निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। शरीर से ऐसा करना, ऐसा राग है, उसे और उस क्रिया को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध

को छोड़ा, उसने काया की क्रिया को छोड़ा, निवृत्ति (हुई), ऐसा कहने में आता है। क्या हो? भाषा में कहना हो तो उसकी पद्धति अनुसार भाषा में आवे। पाठ में है न **'कायकिरियाणियत्ती।'**

भगवान आत्मा... आहाहा! परन्तु कौन है, इसकी खबर बिना अन्दर स्थिर कहाँ से हो? अन्दर जाए कहाँ से? यह चीज़ है कौन? मैं आत्मा... आत्मा... आत्मा कहलाता है। वह कोई वस्तु है या उसमें क्या है? क्या है वह? जैसे ये जड़ादि वस्तु है, वैसे ही भगवान आत्मा भी वस्तु है और जैसे जड़ में जड़ की शक्तियाँ हैं, वैसे भगवान आत्मा में उसकी अरूपी चैतन्य अनन्त शक्तियाँ हैं। ऐसी अनन्त शक्ति का स्वरूप एकरूप भगवान में निर्मल दशा द्वारा अन्दर में जाना, उसे कायोत्सर्ग और उसे योग तथा उसे गुप्ति कहा जाता है। इसका नाम धर्म है। आहाहा!

श्रीमद् कहते हैं न कि अप्पाणं बोसरामि। पूरा आत्मा छोड़ दे। ताऊ काय ठाणेणं, माणेणं, झाणेणं, अप्पाणं बोसरामि। यह कौन सा आत्मा छोड़ना है और किस आत्मा को ग्रहण करना है, इसकी कुछ खबर नहीं। अप्पाणं बोसरामि, श्रीमद् कहते हैं। आत्मा को छोड़ दिया, परन्तु कौन सा आत्मा? क्या कहता है तू? यह पुण्य और पाप की वृत्तियाँ हैं, वे अनात्मा हैं, वे यथार्थ आत्मा नहीं। उन्हें छोड़ना, उन्हें छोड़ा और आत्मा त्रिकाल आनन्द स्वरूप है, उसे पकड़ा। आहाहा! कहो, मोहनभाई! आता है न? अप्पाणं बोसरामि। श्रीमद् ने टीका की है। बोलनेवाले को भान नहीं होता कि मैं अप्पाणं बोसरामि—आत्मा को छोड़ूँ परन्तु किस आत्मा को छोड़ूँ और किस आत्मा को ग्रहण करूँ? हिम्मतभाई! आता है न? पाठ कण्ठस्थ किया है? नहीं किया? कपूरभाई ने किया होगा। पहले के पुराने वृद्ध हों, उन्होंने (किया होगा)। तुमने नहीं किया होगा अरविन्दभाई? किया है? आहाहा!

कहते हैं कि अप्पाणं बोसरामि का अर्थ क्या? – कि काया, मन और वाणी की ओर के पुण्य-पाप के विकल्प जो राग, वह अशुद्ध आत्मा, वह व्यवहार आत्मा, वह विकार आत्मा; उसे मैं छोड़ता हूँ। परन्तु क्या बराबर? अभी तक कभी ध्यान रखा है? उस व्यापार में अन्दर कितने लवलीन हो जाए। शरीर अच्छा न हो तो भी वहाँ जाए।

मुमुक्षु : उसमें समझ पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें समझ पड़ती है। शरीर को ठीक नहीं था न, कितने ही महीने; तो भी झट अच्छा हो जाए तो काम में जाएँ। झट हो जाए। ऐसे साधारण रीति से लोगों को होता है कि शीघ्र मिट जाए, फिर दुकान में घाणी के बैल की तरह मजदूरी में जुड़ जाएँ। आहाहा! बात तो यहाँ विशिष्टता यह की है।

शरीर में अपने (चैतन्यरूप) शरीर से प्रविष्ट हो गये,... धर्मात्मा का कायोत्सर्ग काल ऐसा है कि... आहाहा! भगवान आत्मा... इस शरीर से छूटा, तब निज शरीर क्या? कि ज्ञान आनन्द, शान्ति, स्वच्छता का धाम प्रभु अन्दर आत्मा है। सिद्ध भगवान को जो दशाएँ प्रगट हुईं, वे सब दशाएँ आत्मा में भरी हैं। आहाहा! वे दशाएँ आयी कहाँ से? कहीं बाहर से आती है? सिद्ध भगवान, अरिहन्त भगवान को जो केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य प्रगट हुआ, वह कहाँ से आया? कोई देह में से आता है? वाणी में से, मन में से, राग में से वह दशा आती है? आहाहा! एक समय की पर्याय में से आती है? पर्याय तो एक समय की है। वस्तु है ध्रुव, चैतन्य भगवान। अनन्त ऐसी निर्मल पर्याय का पिण्ड है, उसे यहाँ निर्मल पर्याय द्वारा अन्दर पर्यायवान को पहुँच जाना। आहाहा! कितनों ने तो ऐसे शब्द भी पूरी जिन्दगी में सुने नहीं होंगे। क्यों भाई! मूलचन्दजी! सत्य बात है? ऐसी स्थिति है, बापू! आहाहा! यह जन्म-जरा और मरण का अन्त लाने की बातें हैं, बापू! जन्म-मरण तो अनादि से कर रहा है। ये धूल के सेठ, ये देव, वे सब बेचारे दुःखी हैं। ऐसा होगा? बालचन्दभाई! मलूपचन्दभाई! दुःखी होंगे ये? पूनमचन्द दुःखी होगा? आहाहा!

यहाँ तो परसन्मुख के झुकाव का विकार, वह दुःख और वह आकुलता है। आहाहा! उसे छोड़कर अर्थात् उस ओर का आश्रय तथा झुकाव छोड़कर, यहाँ भगवान चैतन्य द्रव्यस्वरूप में निर्मल दशा... यहाँ राग से छूटा तो निर्मलदशा हुई। उस निर्मल दशा द्वारा अन्दर में गया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! यह कायोत्सर्ग की व्याख्या है। वे तो सामने खड़े रहें (और बोले) काऊ ठाय झाणेण, माणेणं णमो अरिहन्ताणं - लो हो गया दो मिनिट में कायोत्सर्ग। आहाहा! बापू! एक सेकेण्ड का कायोत्सर्ग जन्म-

मरण के अन्त को लावे, वह बात यहाँ है। आहाहा! जिसमें जन्म-मरण और जन्म-मरण के भाव जिसमें नहीं, ऐसे आत्मा में... आहाहा! **'हिसाइणियत्ती वा सरीरगुप्ति ति णिदिट्ठा।'**

उनकी अपरिस्पंदमूर्ति ही (अकम्पदशा ही) निश्चयकायगुप्ति है। लो, भगवान आत्मा निज ज्ञान और आनन्दस्वरूप में स्थिर हो, कँपे नहीं। अपरिस्पन्द अर्थात् पुण्य-पाप की कम्पन दशा जहाँ नहीं। ऐसी **अपरिस्पंदमूर्ति ही (अकम्पदशा ही) निश्चयकायगुप्ति है।** उसे भगवान (द्वारा) शरीर की गुप्ति और कायगुप्ति कहा जाता है। अब, **इसी प्रकार श्री तत्त्वानुशासन में (श्लोक द्वारा) कहा है कि —** है न ऊपर श्लोक, १३७ पृष्ठ पर

उत्सृज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणम्।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते।।

इसका अर्थ। १३७ पृष्ठ पर अर्थ है।

श्लोकार्थ : कायक्रियाओं को... यह निमित्त की बात ली है। जड़ की क्रिया। उसमें निमित्त-नैमित्त सम्बन्ध है न? इसलिए कायक्रिया नैमित्तिक और विकार निमित्त। **कायक्रियाओं को तथा भव के कारणभूत (विकारी) भाव को...** देखो! भव का कारण। पुण्य और पाप के विकल्प / राग, वह तो भव का कारण है। आहाहा! भगवान परमात्मा की भक्ति का भाव, वह शुभभाव, वह भव का कारण है। आहाहा! बापू! यह तो वीतरागमार्ग है। वीतरागमार्ग में राग, वह वीतरागमार्ग में नहीं हो सकता। होवे, उसे जाननेयोग्य आवे परन्तु आदरणीय है, ऐसा नहीं है। भाव होता अवश्य है। आहाहा!

दो बातें ली हैं। **कायक्रियाओं को तथा भव के कारणभूत...** पुण्य-पाप का विकल्प जो शुभ-अशुभराग, वह भव का कारण है। वह कायक्रिया निमित्त जड़ की, वह कहीं भव का कारण नहीं है, कारण यह है। आहाहा! **छोड़कर,...** उस विकारीभाव को (छोड़कर।) चाहे तो भगवान की भक्ति का विकल्प हो या दया-दान का हो, व्रत का हो, वह सब राग है। वह राग भव का कारण है। वे शोर मचाते हैं कि समकिती का पुण्य भव का कारण? अब सुन न, भाई! वहाँ राग है। आहाहा! गजब मार्ग, बापू! अभी

ऐसी बात सुनना भी कठिन हो गयी है। बाहर की रूढ़ियाँ रह गयीं। सर्प गया और लकीरें रही, कहते हैं न? आहाहा!

कहते हैं, वे काय क्रियाएँ हैं, उनका लक्ष्य छोड़ दे और उनके कारणरूप जो भव का कारण ऐसे विकारीभाव, उन्हें छोड़कर अर्थात् उनका लक्ष्य छोड़कर **अव्यग्ररूप से निज आत्मा में स्थित रहना,...** आनन्दरूप से। पुण्य-पाप में व्यग्रता थी। शुभ-अशुभभाव है, वह तो व्यग्रता है, अस्थिरता है, कम्पन है, दोष है। आहाहा! **अव्यग्ररूप से निज आत्मा में...** वापस ऐसा। भगवान का आत्मा माने, वह नहीं; वह तो पर है। आहाहा! **निज आत्मा में स्थित रहना,...** भगवान आत्मा आनन्द का धाम, अतीन्द्रिय स्वभाव का सागर है। ऐसे निज आत्मा में अन्दर स्थित रहना, वह कायोत्सर्ग कहलाता है। आहाहा! उसका नाम धर्म कहो, उसका नाम कायोत्सर्ग कहो, उसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र कहो। कहो, है या नहीं अन्दर सामने? पाठ सामने है। पाठ का तो अर्थ होता है। बनिये दीवाली में नामा मिलाते हैं या नहीं? बहियों में नहीं मिलाते? दशहरा आवे, तब मिलाते हैं या नहीं? भाई! तुझमें कितना लेना है? उसमें 27835 निकलते हैं। तुझे कितने निकलते हैं, भाई? यहाँ तो तीन हजार निकलते हैं। इतना अधिक अन्तर कैसे होगा? मिलान करो। कोई रकम बाकी रह गयी। वहाँ बनिये मिलाते हैं। यहाँ मिलाने में समय नहीं मिलता।

मुमुक्षु : वहाँ लाभ दिखता है और यहाँ लाभ दिखाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी वहाँ लाभ नहीं। आहाहा! भगवान आत्मा... लाभ सवाया-बनिये लिखते हैं न? दरवाजे पर लिखते हैं। लक्ष्य लाभ अर्थात् आत्मा का लक्ष्य कर तो लाभ होगा, ऐसा है इसका अर्थ... आहाहा!

एक बार हमने कहा था न? पालेज में साथ में बहियाँ लिखी थीं, बहियों में नामा लिखते हैं न? लोटियावोरा। एक बड़ा गृहस्थ बड़ोदरा में। नामा साथ में लिखा। और माल लेने गये। मैं मुम्बई माल लेने गया था। यह तो (संवत्) १९६४-६५ के वर्ष की बात है। उसमें वह लोटियावोरा सामने था। पचास हजार का कपड़ा जल गया। लिखकर सब दे, उसका जल गया। मुम्बई। वह सेठ रास्ते में मिला। कैसे हो सेठ? सब

जल गया। नामा तो साथ में लिखा था। बहियाँ लिखकर हम वहाँ रहे। क्या कहलाता है? आतिशबाजी। आतिशबाजी करे। उस सेठिया की दुकान में सब साथ में नामा लिखने जाए, परन्तु साथ में नामा लिखा था न कहा उसमें? नहीं, भाई थे। पचास हजार का कपड़ा, हों! महिलाएँ मुश्किल से निकली। अग्नि कैसी लगी रात्रि को, बाहर से निकले, वह क्या कहलाता है कमरा न हो? दरवाजे में से बाहर निकलकर नीचे उतरे। नीचे धग.. धग.. धग.. परन्तु नामा लिखा था न? वह वहाँ क्या करता था? पाप का उदय आवे तो नामा भी पड़ा रहे। आहाहा! सुलग गया।

मुमुक्षु : कपड़े जल गये, उसमें पाप का उदय क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : पचास हजार गये। हाय.. हाय.. बाहर में भिखारी हो गया। यह तो उस समय की बात है। (संवत्) १९६४-६५-६६ के वर्ष की बात है। उस समय में पचास हजार अर्थात्? अभी तो तुम्हारे रुपये गिनती में कहाँ आते हैं। अभी के बीस लाख और पहले के एक लाख, इतना अधिक भाव बदल गया है न?

मुमुक्षु : लोगों में भी बदल गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब बदल गया। लोगों का बदल गया, दाना का बदल गया, घी का बदल गया, पानी का बदल गया। सब बदल गया। आहाहा! उसमें क्या हुआ? साथ में नामा लिखा था।

यहाँ तो कहते हैं कि वह तो पूर्व के पुण्य-पाप प्रमाण बाहर की क्रियाएँ होती हैं। वहाँ कहीं तेरे रखने से रहती नहीं। यह रखने से रहे ऐसा है, ऐसा कहता है। आत्मा में ठीक रहना। निज भगवान वस्तु है, पदार्थ है। सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा स्वयं है। सत्शाश्वत् ज्ञान और आनन्द है, उसमें स्थित रहना, पुण्य-पाप के विकल्प को छोड़कर स्थित रहना, इसका नाम भगवान, कायोत्सर्ग और शरीरगुप्ति और धर्म कहते हैं। आहाहा!

और (इस ७० वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं) — स्वयं का श्लोक है। पद्मप्रभमलधारिदेव।

अपरिस्पन्दरूपस्य परिस्पन्दात्मिका तनुः।
व्यवहाराद्भवेन्मेऽतस्त्यजामि विकृतिं तनोः ।।९५।।

श्लोकार्थ : अरे! **अपरिस्पन्दात्मक ऐसे मुझे,...** स्वयं कहते हैं, मैं तो अपरिस्पन्द अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्प में नहीं आऊँ, ऐसी मैं चीज़ हूँ। चैतन्यबिम्ब ध्रुवस्वरूप भगवान, अपरिस्पन्दात्मक स्थिर बिम्ब आत्मा है। आहाहा! कहो, समझ में आया? कहाँ गये? चेतनजी नहीं? पीछे से आये लगते हैं। **अपरिस्पन्दात्मक ऐसे मुझे,...** मैं तो अन्दर पुण्य-पाप के राग से भिन्न हूँ। यह पुण्य-पाप और शरीरादि सब परिस्पन्द, कम्पन है। मेरा निजस्वरूप अपरिस्पन्दक है। कम्पन नहीं, अस्थिरता नहीं, पुण्य-पाप का विकल्प नहीं। स्थिर बिम्ब शान्त आनन्दकन्द हूँ। आहाहा! **ऐसे मुझे, परिस्पन्दात्मक शरीर व्यवहार से है;...** ऐसा यहाँ पुण्य, पाप और शरीर वह तो व्यवहार से मुझे है, निश्चय से मुझमें है नहीं। पर्याय में निमित्त-निमित्त सम्बन्ध से है, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। व्यवहार से अर्थात् है नहीं, उसे कहना।

मुमुक्षु : 'है' उसका अर्थ 'नहीं' करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; 'है' यह? कहते हैं 'नहीं'। व्यवहार से कहलाता है कि नहीं। आहाहा!

तेरा शरीर तो अपरिस्पन्द है। ध्रुव, ध्रुव नित्यानन्द अविनाशी आदि-अन्तरहित तेरा सत्त्व, ऐसे मुझे यह परिस्पन्दक विकार और शरीर यह मुझे व्यवहार से कहने में आये हैं। परमार्थ से मुझमें है नहीं। आहाहा! गजब भाई! ऐसी क्रिया! **इसलिए मैं शरीर की विकृति को छोड़ता हूँ।** व्यवहार से परिस्पन्द है न? ऐसा। इसलिए उस व्यवहार को मैं छोड़ता हूँ, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! भगवान! मेरी चीज़ तो आनन्द का धाम, स्थिरबिम्ब है, उसमें रहकर **परिस्पन्दात्मक विकार-शरीर व्यवहार से है;...** कहने में (आता है), उसे मैं छोड़ता हूँ। इस **शरीर की विकृति को छोड़ता हूँ।** यह पुण्य-पाप का भाव सब शरीर की विकृति है। यह आत्मा का भाव नहीं है, लो, यह गुप्ति की व्याख्या की।

अब भगवान की व्याख्या करते हैं। अरिहन्त भगवान! णमो अरिहन्ताणं। ये अरिहन्त कैसे होते हैं, उनकी पहिचान कराते हैं। यह व्यवहार है न? परद्रव्य है न? पाँचों ही परमेष्ठी पर है। आत्मा के लिए पर है, इसलिए व्यवहार है। पंच परमेष्ठी पर

लक्ष्य जाने से राग ही होता है, इसलिए यहाँ व्यवहार में उनका अधिकार डाला है। समझ में आया? परद्रव्य है न? निज भगवान स्वद्रव्य का आश्रय करने से, उसके अवलम्बन में जाने से इसे धर्म होता है। पर के आश्रय में जाने से धर्म नहीं होता, शुभभाव / पुण्य होता है।

मुमुक्षु : तो भी लोग जाते हैं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : जाएँ, न जाएँ; यहाँ निश्चय की बात है। वस्तु यह है। राग है, इसलिए गए बिना रहे नहीं। यहाँ तो वस्तु की स्थिति क्या है, यह कहते हैं। वहाँ जाकर धर्म मान लेता है न? धर्म कर आये। ऊपर जाकर नीचे उतरे, लो, जाओ। वह धर्म नहीं है। पाँच परमेष्ठी का आश्रय लेकर राग ही होता है, ऐसा कहते हैं। परद्रव्य है न? वह कहाँ स्वद्रव्य है? आहाहा! वहाँ जाकर कहे, 'शिवपद हमको देजो रे महाराज' भगवान कहते हैं तेरा शिवपद तुझमें है; मेरे सामने देखकर नहीं मिलेगा। आहाहा! दुनिया से तो भारी कठिन काम है।

७१ गाथा है

घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया।
चोत्तिसअदिसयजुत्ता अरहंता एरिसा होंति।।७१।।

अरिहन्त भगवान ऐसे होते हैं? अभी अरिहन्त भगवान कैसे होते हैं, उसकी खबर नहीं होती। अरिहन्त भगवान हैं, अरिहन्त भगवान हैं। आहाहा! नीचे इसका हरिगीत है।

चौंतीस अतिशययुक्त, अरु घनघाति कर्म विमुक्त है।
अर्हंत श्री कैवल्यज्ञानादिक परमगुण युक्त हैं॥७१॥

इसकी टीका है न? **टीका : यह, भगवान अरहन्त परमेश्वर के स्वरूप का कथन है।** टीका है? **यह, भगवान...** णमो अरिहन्ताणं। वे अरिहन्त कैसे होते हैं, उनकी पहिचान देते हैं। इस ओर १३८ पृष्ठ पर।

[भगवन्त अरहन्त कैसे होते हैं?] (१) जो आत्मगुणों के घातक घातिकर्म हैं और जो घन अर्थात् गाढ़ हैं—ऐसे जो ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय

कर्म, उनसे रहित वर्णन किये गये;... अरिहन्त भगवान तो चार घातिकर्मों का नाश किया है। समझ में आया? भगवान महावीर आदि जब अरिहन्त पद में विराजमान थे, तब उन्हें चार घातिकर्मों का नाश हुआ था। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। अभी तो भगवान सिद्ध हैं। तीर्थंकर अभी तो सिद्ध हैं। वे तो अशरीरी हैं। अभी अरिहन्त नहीं हैं। अभी महाविदेह में अरिहन्त सीमन्धर भगवान हैं। चौबीस तीर्थंकर तो अभी णमो सिद्धाणं में शामिल हो गये हैं, वे तो सिद्ध हो गये। वे जब अरिहन्त थे, तब यहाँ थे। अभी अरिहन्त महाविदेह में विराजते हैं। बीस विहरमान तीर्थंकर, सीमन्धर भगवान (आदि) विद्यमान तीर्थंकर वे अभी अरिहन्तपद में हैं और तीर्थंकर (महावीरस्वामी आदि) अभी सिद्धपद में हैं। यह कहते हैं, **आत्मगुणों के घातक...** अर्थात् निमित्त घातक। घातिकर्म जो घन अर्थात् गाढ हैं। ऐसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय, मोहनीय कर्म से रहित कहने में आये हैं। भगवान अरिहन्त चार कर्मों से रहित हो गये हैं।

(२) जो पूर्व में बोये गये चार घातिकर्मों के नाश से प्राप्त होते हैं ऐसे, तीन लोक को प्रक्षोभ के हेतुभूत... आनन्द का कारण, ऐसा कहते हैं। भगवान अरिहन्त को जब केवलज्ञान होता है, तब तीन लोक में जरा साता होती है। भगवान जन्मे, केवलज्ञान प्राप्त करे, तब तीन लोक में-नारकी को भी जरा साता होती है। **तीन लोक को प्रक्षोभ के हेतुभूत...** निमित्तभूत। देखो! निमित्तभूत-हेतुभूत कहा न? **सकलविमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान,...** परमात्मा को एक समय में तीन काल-तीन लोक जाने, ऐसा केवलज्ञान होता है। आहाहा! एक 'क' के असंख्यातवें भाग में। 'क' बोले, उसमें असंख्य समय जाते हैं। उसके एक समय में तीन काल-तीन लोक भगवान जानते हैं। गत अनन्त काल की अनन्त पर्यायें, वर्तमान और भविष्य, सभी पर्यायोंसहित द्रव्य को एक समय में भगवान जानते हैं। हुआ, होता है और होगा - सब भगवान जानते हैं। भगवान के ज्ञान से कुछ अनजाना नहीं है। आहाहा! जगत में ऐसा ज्ञान होता है, वह भी अभी सत्ता का स्वीकार करना। समझकर, हों! अरिहन्त भगवान को केवलज्ञान होता है। एक समय में तीन काल, तीन लोक जाने। जिसे केवलज्ञान होने पर जगत के तीन लोक में जरा क्षोभ हो जाता है। क्षोभ अर्थात् सुख। खलबलाहट हो जाती है, अहो!

कहीं कोई परमात्मा केवलज्ञान प्राप्त हुए हैं, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

सकलविमल (सर्वथा निर्मल) केवलज्ञान,... भगवान को होता है। आहाहा! **केवलदर्शन,...** होता है। केवलवीर्य। शक्ति अर्थात् वीर्य। भगवान को अनन्त वीर्य प्रगट हुआ होता है **और केवलसुख...** अकेले आनन्दसहित भगवान हैं। भगवान को तो वहाँ कोई पैसा नहीं, मकान नहीं, स्त्री नहीं, खाना नहीं, आहार-पानी नहीं, कुर्सी-टेबल नहीं। यह सब बैठते हैं न? बढ़िया कुर्सी पर खाने बैठें। यहाँ कपड़ा लटकता हो। यह सब वहाँ नहीं है और कहते हैं कि अनन्त सुख है। बाहर में कहाँ धूल में सुख था। बाहर के लक्ष्य में जाए, इतनी तो आकुलता और राग है। भगवान तो अन्तर आनन्द की दशा शक्तिरूप है, उसे प्रगट की है। आहाहा! सुखी तो भगवान केवली हैं। पैसेवाले, बादशाह और सेठ सुखी नहीं, ऐसा कहते हैं। जिसे पूर्ण आनन्द प्रगट हुआ है, (वह सुखी है)। आहाहा!

अरे! ऐसे अस्तित्व की सत्ता का स्वीकार करने जाए, तब वह महासत्ता इतनी एक समय की केवलज्ञान आदि है। इसे द्रव्य पर दृष्टि जाए, तब उसका स्वीकार होता है। आहाहा! गजब बात, भाई! **केवलसुख सहित;...** भगवान हैं। आहाहा! ऐसा कहकर (कहते हैं), उन्हें आहार-पानी का दु:ख नहीं अब। या आहार-पानी लेना है? अरिहन्त की बात है न? शरीर सहित हैं उनकी (बात है न)। अरिहन्त की बात है न? शरीर है, तो भी आहार-पानी का दु:ख नहीं है। उन्हें आहार-पानी नहीं होता। उन्हें अन्दर में अनन्त आनन्द है। उस सहित है। मुख्य चार शक्ति से सहित है। अनन्त गुण का परिणमन है परन्तु ये चार मुख्य हैं।

स्वेदरहित,... हैं। भगवान को पसीना नहीं होता। अरिहन्त भगवान को पसीना नहीं होता। स्वेद अर्थात् पसीना। **मलरहित...** है। उन्हें दिशा—मल-मूत्र नहीं होता। उन्हें खाने का आहार नहीं है। **इत्यादि चौंतीस अतिशय गुणों के निवासस्थानरूप...** यह व्यवहार डाला है, वह (अनन्त चतुष्टय) निश्चय गुण हैं। पुण्यप्रकृति में ऐसा भाव उन्हें होता है।

चौंतीस अतिशय गुणों के निवासस्थानरूप—ऐसे भगवन्त अरिहन्त होते हैं।

वास्तविक अरिहन्त का स्वरूप द्रव्य-गुण-पर्याय से जाने तो उसे आत्मा के साथ मिलान का प्रसंग आवे। इसकी अभी कहाँ दरकार है? भगवान है... भगवान है... बस हो गया। **चौंतीस अतिशय गुणों के निवासस्थानरूप—ऐसे भगवन्त अरिहन्त होते हैं।** ऐसे अरिहन्त भगवान होते हैं। साधारण प्राणी अपने को अरिहन्त मनावे, आहार हो, पानी हो, शरीर में रोग हो और अरिहन्त हैं, ऐसा नहीं। ऐसा बताते हैं। समझ में आया?

अब ७१ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज पाँच श्लोक कहते हैं— पाँच श्लोक। ओहोहो!

जयति विदित-गात्रः स्मेर-नीरेज-नेत्रः,
सुकृतनिलयगोत्रः पण्डिताम्भोजमित्रः।
मुनि-जन-वन-चैत्रः कर्म-वाहिन्यमित्रः,
सकल-हित-चरित्रः श्रीसुसीमा-सुपुत्रः ।।९६।।

ओहोहो! **त्रः** सब **त्रः** एक-एक पद में।

पद्मप्रभ भगवान को स्मरण किया है। स्वयं पद्मप्रभमलधारिदेव हैं न? टीका करनेवाले पद्मप्रभमलधारि मुनि हैं। इसलिए पद्मप्रभु को स्मरण किया है। यह टीका करनेवाले पद्मप्रभमलधारि मुनि, दिगम्बर वनवासी सन्त थे। आचार्य नहीं थे, मुनि थे, तो अपने नाम के भगवान जो पद्मप्रभ है, उनको स्मरण करके कहते हैं। भगवान कैसे थे? अरिहन्त पद में थे तब। अभी तो सिद्ध हो गये हैं। चौबीस तीर्थंकर अभी तो सिद्ध हो गये। अभी शरीर नहीं है, आठ कर्म का नाश करके सिद्ध हो गये। यह तो थे, तब की बात है।

प्रख्यात (अर्थात् परमौदारिक) जिनका शरीर है,... जिनका परमौदारिक शरीर है। भगवान अरिहन्त हों, केवलज्ञान हो, तब उनका शरीर स्फटिक जैसा परमौदारिक रजकण हो जाते हैं। उन्हें रोग नहीं होता, आहार नहीं होता, पानी नहीं होता—ऐसा शरीर ही स्फटिक जैसा हो जाता है। आहाहा! जिसमें नजर डालने से... भामण्डल आदि साथ में होते हैं न! सप्त भव का ज्ञान हो जाता है। जिसे भव हो उसे। नहीं हो, उसके भूत के तीन और वर्तमान। ऐसा परमौदारिक शरीर भगवान को होता है। अरिहन्त

को ऐसा शरीर होता है। लो, यह तो एक पद्मप्रभ का नाम लिखा है, परन्तु सब अरिहन्तों को ऐसा ही होता है।

प्रफुल्लित कमल जैसे जिनके नेत्र हैं,... आहाहा! तीर्थंकर पुण्यवन्त होते हैं। कमल प्रस्फुटित हो लम्बे सेड हो, ऐसी आँख होती है। साधारण प्राणी की अपेक्षा तीर्थंकर का पुण्य तो सर्वोत्कृष्ट है न? इसलिए उनकी आँख भी **प्रफुल्लित कमल जैसे जिनके नेत्र...** खिला हुआ कमल हो, ऐसी उनकी आँख होती है। आँख से उन्हें कुछ देखना नहीं, हों! यह तो शरीर ऐसा होता है, ऐसा बताते हैं। वे तो केवलज्ञानी हैं। केवलज्ञान से तीन काल और तीन लोक को देखते हैं। आहाहा! **पुण्य का निवासस्थान...** है। ऐसा गोत्र है, लो। तीर्थंकर गोत्र है न? पुण्य का निवासस्थान है न। उनके पास सर्वोत्कृष्ट पुण्य का फल है।

मुमुक्षु : पुण्य फला अरिहन्ता

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यह पुण्य फला अरिहन्ता।

पण्डितरूपी कमलों को (विकसित करने के लिये) जो सूर्य हैं,... कैसे हैं तीर्थंकर भगवान अरिहन्त परमात्मा? जो कोई पण्डित चतुर और समझदार जीव होते हैं, ऐसे कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य हैं। मूढ़ को क्या करे, कहते हैं। जिसमें समझने की योग्यता और पात्रता है, ऐसे पण्डितों को, **पण्डितरूपी कमलों को (विकसित करने के लिये) जो सूर्य हैं,...** सूर्य... परमात्मा हैं। कहो, समझ में आया? जैसे यह प्रात:काल कमल खिलता है न? सूर्य के निमित्त से जैसे कमल खिलता है। वह कमल खिलता है न? लकड़ियाँ खिलेंगी? इसी प्रकार जो पात्र जीव होते हैं, ऐसे पण्डितों को, पण्डितरूपी कमलों को प्रगट होने में वे सूर्यसमान हैं।

मुनिजनरूपी वन को जो चैत्र हैं... बसन्त ऋतु। चैत्र महीने में बसन्त ऋतु होती है न? सब फूल खिल जाते हैं। पंच वर्णा फूल खिल जाते हैं। भगवान के काल में ऐसे जीव खिल उठते हैं। (**मुनिजनरूपी वन को खिलाने में...**) सन्त, लाखों मुनि होते हैं, उनके खिलने में भगवान (**बसन्तऋतु समान हैं**) आहाहा! **कर्म की सेना के जो शत्रु हैं...** अर्थात् उन्हें मार डाला है। बाकी चार मुर्दे रहे हैं। घाति को जलाया है और चार

अघाति (रह गये हैं)। भगवान को चार कर्म रह गये हैं। वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र। सिद्ध भगवान आठ कर्मरहित हैं। अरिहन्त को चार गये और चार बाकी हैं।

और सर्व को हितरूप जिनका चरित्र है,... आहाहा! चरित्र ही ऐसा है, कहते हैं। उनका चरित्र। **चरित्र है,...** ऐसा शब्द है न **सकल-हित-चरित्रः** उनका सब वर्तन ही पूरा, सरल जीव को हितकारी है। **वे श्री सुसीमा माता के सुपुत्र...** सुसीमा माता के सुपुत्र **(श्री पद्मप्रभ तीर्थङ्कर) जयवन्त हैं।** कहो, अभी तो पद्मप्रभ मोक्ष में पधारे हैं, परन्तु पूर्व के अरिहन्त पद में थे, उसे याद किया है। जयवन्त वर्तो। आहाहा! उनका कहा हुआ भाव, हमारे में जयवन्त वर्तता है। भगवान भी जयवन्त वर्तते हैं, ऐसा कहकर मांगलिक किया है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण ३, रविवार, दिनांक - ११-७-१९७१
श्लोक-९७ से ९९, प्रवचन-६४

नियमसार, व्यवहारचारित्र अधिकार। इसमें अरिहन्त भगवान का अधिकार है। अरिहन्त... अरिहन्त भी पर है न, इसलिए व्यवहार में रखा है। व्यवहारचारित्र का अधिकार है। पंच परमेष्ठी भी परद्रव्य है; इसलिए व्यवहार है रखा है।

मुमुक्षु : वे तो शुद्ध हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्ध है, परन्तु पर हैं न? भले शुद्ध हैं, परन्तु इससे (-आत्मा से) तो पर है न? उनका लक्ष्य करने से तो राग होता है; उनका आश्रय करने से कहीं धर्म नहीं होता। इसलिए व्यवहार पराश्रित है, निश्चय स्वाश्रित है; इसलिए व्यवहारचारित्र में यह अधिकार रखा है। श्लोक ९६ हो गया है। (अब), ९७ वाँ श्लोक।

स्मर-करि-मृगराजः पुण्य-कञ्जाह्निराजः,
सकल-गुण-समाजः सर्वकल्पावनीजः।
स जयति जिनराजः प्रास्त-दुःकर्मबीजः,
पद-नुत-सुर-राजस्त्यक्त-सन्सार-भूजः ।।९७।।

भुज अर्थात् क्या हुआ वापस? भुज-पृथ्वी में जन्मना। (भू अर्थात् पृथ्वी, ज अर्थात् जन्मना)। आहाहा!

स्वयं पद्मप्रभमलधारिदेव टीकाकार हैं। इससे चौबीस तीर्थंकरों में पद्मप्रभ को याद किया है। टीकाकार 'पद्मप्रभ' है न? उन चौबीस तीर्थंकरों में 'पद्मप्रभ' स्वयं के नाम से हैं, उन्हें याद करके स्तुति की है। समझ में आया?

(श्रोताओं से) थोड़े नजदीक आओ तो पीछे जगह हो। आज रविवार है न, इसलिए आज लड़कों को शामिल होना होता है न आज। भावनगर और राजकोट और...

क्या कहा? कहते हैं, पद्मप्रभ भगवान ऐसे है अर्थात् कि मैं आत्मा ऐसा हूँ। **जो कामदेवरूपी हाथी को (मारने के लिये) सिंह हैं,... स्मर** है न? **स्मर** अर्थात् कामदेव।

इच्छा – पाँच इन्द्रिय के विषयों के ओर की झुकाव की वृत्ति। ऐसा काम; **करि** अर्थात् हाथी। **मृगराजः** अर्थात् सिंह। **स्मर–करि–मृगराजः** कैसे हैं प्रभु? **कामदेवरूपी हाथी को (मारने के लिये) सिंह हैं,....**

मुमुक्षु : यह तो... होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे कहते हैं कि मारना-ऐसा नहीं बोलना। शब्दों को क्या... णमो अरिहंताणं। बड़ी चर्चा आयी है न? भगवान को फिर दुश्मन कैसे? दुश्मन को मारना – यह जैन को शोभा नहीं देता, ये शब्द लिखना शोभा नहीं देता, ऐसा और आया। ऐसे के ऐसे। शब्द के साथ क्या है?

कामदेवरूपी हाथी... करि आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा ने अतीन्द्रिय आनन्द के आश्रय से पाँच इन्द्रियों के विषय की वृत्तिया जो विकल्प हैं, उन्हें जिसने नष्ट कर दिया है, ऐसे वे सिंह हैं। भगवान आत्मा भी वैसा ही है। ऐसे स्वयं अपना नाम डालकर कहा है। पाँच इन्द्रियों के विषय की ओर की वृत्तियाँ, उनका व्यय करने के लिए। यहाँ तो उपदेश के वाक्य हैं न? वास्तव में तो व्यय करता नहीं। स्वरूप में स्थिर होता है तो विकार उत्पन्न नहीं होता, उसे व्यय / नाश करे – ऐसा कहा जाता है। परन्तु क्या हो? भाषा से बातें करना (और) वस्तु भाषातीत। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, **कामदेवरूपी हाथी को (मारने के लिये) सिंह हैं,...** ऐसे भगवान आत्मा भी अनीन्द्रिय। यह आत्मा अनीन्द्रियस्वरूप है। इसके आश्रय से इन्द्रिय की वृत्तियाँ नष्ट होती है, ऐसा आत्मा है। ऐसे पद्मप्रभ भगवान हैं और ऐसा ही यह आत्मा है। समझ में आया? **जो पुण्यरूपी कमल को (विकसित करने के लिये) भानु हैं,...** लो। **पुण्यकञ्ज** है न? पानी में उत्पन्न हुआ कमल। परमात्मा कैसे है? **पुण्यरूपी कमल को (विकसित करने के लिये) भानु हैं,...** पहला गुण लिया और दूसरा पुण्य लिया। बाहर की ऋद्धि बतायी। पुण्यरूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्य हैं। ऐसे भगवान आत्मा भी, उसका आश्रय लेने से इन्द्रियों की वृत्तियाँ तो नष्ट होती है, परन्तु उसके आश्रय में कमी रह जाए तो उसे ऐसे पुण्य विकल्प होते हैं कि जो तीर्थंकरपने को भी प्राप्त हो, ऐसा यह आत्मा है। कहो, समझ में आया?

जो सर्व गुणों के समाज (समुदाय) हैं,... लो। **सकल-गुण-समाजः** तीसरा पद है। ९७ श्लोक। भगवान सकल गुण का समाज है। लो, समाज। ऐसे भगवान आत्मा अनन्त गुण का समाज है। अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु स्वयं ही समाज है। उसे यहाँ आत्मा कहते हैं। ऐसे परमात्मा को प्रगटरूप है। सर्व गुण की पर्याय प्रगट समाज है, समुदाय है। **सर्वकल्पावनीजः जो सर्व कल्पित (चिन्तित) देनेवाले कल्पवृक्ष हैं,... कल्पावनीजः** अवनीज शब्द है न? वह कल्पवृक्ष। अवनीज पृथ्वी का उत्पन्न हुआ। अवनी अर्थात् पृथ्वी ज अर्थात् उत्पन्न हुआ। कल्पवृक्ष। **सर्वकल्पावनीजः** भगवान त्रिलोकनाथ **सर्व कल्पित (चिन्तित) देनेवाले कल्पवृक्ष हैं,...** ऐसे यह आत्मा भी अनन्त ज्ञान-आनन्द सम्पन्न है। वह **सर्व कल्पित...** अर्थात् एकाग्र हो, तो उसमें सर्व मनोरथ पूर्ण हो, ऐसा यह आत्मा है। बाबूभाई! ऐसा आत्मा है, ऐसा सुना नहीं। यह सब बाहर की लगायी है - भक्ति, पूजा, व्रत, तप। यहाँ थे न? अगास में। एक बार कहा था कि व्रत-नियम करना, वह तुम्हारा अधिकार है। ऐसा कहा, परन्तु वह सब कर्म का कार्य है। कर्मस्वरूप है, वह आत्मस्वरूप नहीं। ऐसा कहा था। अगास। ऐसे तो कहा, भाई! व्रत और नियम, वह तो सब विकल्प है और वह विकल्प वास्तव में तो कर्म का कर्तव्य है। वह जीव का स्वरूप है ही नहीं। यहाँ कल्पवृक्ष अर्थात् अपने आनन्दादि की परिणति को प्रगट करे, ऐसा आत्मा है। ऐसा कल्पवृक्ष है। **जिन्होंने स जयति जिनराजः जिन्होंने दुष्ट कर्म के बीज को नष्ट किया है,...** पीछे का पद लिया **प्रास्त-दुःकर्मबीजः, प्रास्त-दुःकर्मबीजः,..** जिसने कर्म के बीज को तो जलाकर नाश किया है। आहाहा! **जिनके चरण में सुरेन्द्र नमते हैं... पद-नुत-सुर** ऐसा। **पद-नुत-सुर जिनके चरण में... नुत** अर्थात् नमते हैं। **नुत-सुर-राज** देवों के इन्द्र भी जिनके चरणकमल में नमते हैं। ऐसे पद्मप्रभ भगवान, यहाँ अरिहन्त पद की व्याख्या है न? इसलिए उसमें उन्हें स्मरण किया है। ऐसा स्वरूप ही मेरा है, ऐसा भी साथ ही याद किया है।

और जिन्होंने संसाररूपी वृक्ष का त्याग किया है,... लो। **त्यक्त-सन्सार-भूजः** चौथा पद है न? **त्यक्त-सन्सार-भूजः** भू, पृथ्वी में उत्पन्न हुए वृक्ष। यह संसाररूपी वृक्ष, इसका जिसने नाश किया है। भगवान आत्मा संसार का नाश करनेवाला ही स्वभाव है। संसार को उत्पन्न करे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं। नाश करने का स्वभाव है,

वह भी व्यवहार है। परमार्थ से आत्मा राग के नाश का कर्ता भी नहीं। संसार विकार है, उसका नाश कर्ता कहना, वह भी परमार्थ नहीं। आत्मा का आनन्दस्वभाव, उसमें अन्तर में एकाकार होने से संसार अर्थात् राग की उत्पत्ति नहीं होती, उसे संसार का नाश किया, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! शब्द के अर्थानुसार किस नय का कथन है, यह न समझ में आये तो गड़बड़ करे। सिद्धान्त में धवल में तो ऐसा कहा, कोई भी सूत्र, कोई भी अर्थ, नय वाक्य बिना नहीं हो सकते। नय बिना नहीं हो सकते। किसी भी शास्त्र का मूल शब्द या उसका अर्थ नय वाक्य है। व्यवहारनय का वाक्य है या निश्चयनय का वाक्य है? यह इसे जानना चाहिए। जाने बिना अर्थ करे तो अर्थ का अनर्थ हो जाए।

संसाररूपी वृक्ष का त्याग किया है,... लो। और उसमें ऐसा कहते हैं कि राग का त्याग कर्ता आत्मा परमार्थ से नहीं है; नाममात्र है। यहाँ कहते हैं, नाश हो गया है न? स्वभाव परिपूर्ण अखण्ड अभेद का आश्रय लेकर, उससे उत्पन्न हुई मोक्षदशा, अरिहन्त भी मोक्ष ही है। प्रसिद्ध मोक्ष है, ऐसा कहेंगे। प्रसिद्ध जिनका मोक्ष है, बाद में कहेंगे। उन्हें मोक्षप्रसिद्ध है। भावमोक्ष हो गया है। अरिहन्त को भावमोक्ष सब गुण पर्याय में परिणम गये हैं। कहते हैं **संसाररूपी वृक्ष का त्याग किया है, वे जिनराज (श्री पद्मप्रभ भगवान) जयवन्त हैं।** वह भगवान तो अभी मोक्ष में पधारे हैं परन्तु उन्हें मानो ऐसे समवसरण में विराजते हों, ऐसे याद करके आत्मा भी मानो पूरा विद्यमान विराजमान हो, ऐसा करके आत्मा की स्तुति में पद्मप्रभ भगवान की स्तुति, वर्तमान तीर्थंकररूप ही हों, उन्हें वन्दन किया है। वरना वे तो मोक्ष में हैं, सिद्ध हैं। सौ इन्द्र नमते हैं, चरण में नमते हैं कहाँ? पाठ में तो ऐसा आया। चरण में सुरेन्द्र नमते हैं। भगवान तो सिद्ध हुए उन्हें कहाँ अभी (इन्द्र है)? परन्तु वे समवसरण में थे, तब जो विद्यमान है, उन तीर्थंकर को याद करके, मैं भी पूरा तत्त्व विद्यमान हूँ। नहीं, ऐसा नहीं। जैसे तीर्थंकर अभी नहीं हैं, ऐसा नहीं। साक्षात् विराजते हैं, ऐसा करके स्तुति करता हूँ। आहाहा!

इसी प्रकार भगवान आत्मा ऐसा का ऐसा विद्यमान, वर्तमान ध्रुव, अखण्डानन्द प्रभु है। उसमें मैं एकाग्र होता हूँ, वह मेरी मोक्ष की प्रसिद्धि का कारण है। समझ में आया? आहाहा! यह ९७ श्लोक हुआ। यहाँ तो पाठ ऐसा है न? जयवन्त वर्ते। **स जयति** ऐसा है न? तीसरे पद का। **स जयति** जयवन्त वर्तते हैं, जयवन्त हैं। इन्द्र जिनके

चरणों को नमते हैं, ऐसे भगवान जयवन्त हैं। ऐई! आहाहा! भूतकाल में जैसे भगवान थे, वैसे ही वर्तमान में मानो हैं। ऐसे पंचम काल के मुनि, उसमें अनादि का ऐसा का ऐसा हूँ, ऐसा विद्यमान भगवान हूँ, उसकी स्तुति अर्थात् उसे मैं नमता हूँ। बाहर में ऐसे पद्मप्रभ भगवान अरिहन्त पद में थे, उन्हें याद करके नमता हूँ। विकल्प से व्यवहार से। व्यवहारचारित्र है न? यह ९७वाँ कलश हुआ।

९८ वाँ कलश

जित-रतिपति-चापः सर्व-विद्या-प्रदीपः,
परिणत-सुखरूपः पाप-कीनाश-रूपः।
हत-भव-परितापः श्री-पदानम्र-भूपः,
स जयति जितकोपः प्रह्वविद्वत्कलापः ।।९८।।

प्रत्येक में कामदेव आता है। चार में। यह शब्द नया लगता है। हमारे जैसों को संस्कृत न आती हो उन्हें। **पाप-कीनाश-रूपः** अर्थात् यम जैसा। पाप को नाश करने के लिए यम। ९८।

श्लोकार्थ : कामदेव के बाण को जिन्होंने जीत लिया है,... अतीन्द्रिय आत्मा प्रगट किया है। जिसके पाँच इन्द्रिय के विषय की वृत्तियाँ नष्ट हो गयी हैं। पाँच इन्द्रिय के विषय कामबाण, हों! आहाहा! कामदेव के बाण को (जीत लिया है)। आनन्दमूर्ति प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद में, जिसे कामदेव के बाण नहीं लगते परन्तु कामदेव को मार डाला है, कहते हैं। आहाहा! जीत लिया है। अनीन्द्रिय भगवान आनन्द का नाथ, उसका अवलम्बन लेकर परसन्मुख की वृत्तियों का जिसने नाश कर डाला है। वह **कामदेव के बाण को जिन्होंने जीत लिया है,... जित-रतिपति-चापः** इस पहले पद का अर्थ है। **जित-रतिपति-चापः** बाण। **चापः** अर्थात् बाण है न? रतिपति का चाप, ऐसा। **रतिपति** अर्थात् कामदेव, उसका **चापः** अर्थात् बाण। उसे जिसने जीता है। **जित-रतिपति-चापः**

सर्व-विद्या-प्रदीपः जो **सर्व विद्याओं के जो प्रदीप (प्रकाशक) हैं,...** केवलज्ञान प्रकाशित है। यद्यपि भगवान तो श्रुतज्ञान प्रकाशते हैं परन्तु उस श्रुतज्ञान में पूरा प्रकाश

सब आ जाता है। परसों आया था न? भाई! (श्रावण कृष्ण) एकम्। भगवान हैं, वे भावश्रुत प्रकाशते हैं। भगवान केवलज्ञान प्रकाशते नहीं। धवल में आता है। भावश्रुत प्रकाशते हैं। क्यों? - कि जिसे भावश्रुत होता है, उसे यह वाणी निमित्त है, इसलिए भावश्रुत का प्रकाश है। केवलज्ञान को क्या प्रकाशे? समझ में आया?

सर्व विद्याओं के जो प्रदीप (प्रकाशक) हैं,... सब उस भावश्रुत में प्रकाशते भगवान की वाणी में आने से सब प्रकाश हो जाता है। भावश्रुत में फिर केवलज्ञानी कैसे, वह सब उसमें आ जाता है। समझ में आया? भगवान की दिव्यध्वनि केवलज्ञान को प्रकाशती है, ऐसा नहीं लिया। अर्थकर्ता है। भगवान गणधरदेव सूत्रकर्ता हैं। अर्थकर्ता का अर्थ यह भावश्रुत कहते हैं। द्रव्यश्रुत तो फिर उसकी रचना गणधर करते हैं। आहाहा! **सर्व विद्याओं के जो प्रदीप...** प्र विशेष, दीपक। प्रकाश करनेवाले हैं। लो, प्रदीप! यह नाम आया इसमें। **सर्व विद्याओं के जो प्रकाशक हैं,...** आया इसमें। उसे प्रदीप कहते हैं, ऐसा कहते हैं। जगत में अनादि की सब विद्याएँ है, उन्हें प्रकाशता है, उसे प्रदीप कहते हैं, ऐसा कहते हैं। पश्चात्?

परिणत-सुखरूप: आहाहा! जिनका स्वरूप **सुखरूप से परिणमित हुआ है,...** अनादि से दु:ख पुण्य-पाप के विकाररूप परिणमता था, वह दु:खरूप से परिणमता था। **जिनका स्वरूप सुखरूप से परिणमित हुआ है,...** सुख मिला है या प्राप्त हुआ है, ऐसा नहीं। **जिनका स्वरूप सुखरूप से परिणमित हुआ है,...** समझ में आया? आहाहा! सर्वज्ञ परमात्मा तीर्थंकरदेव पद्मप्रभ की बात याद करते हैं। जिनकी पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्दरूपी परिणमन हो गया है। आनन्द को प्राप्त होंगे और आनन्द को लेंगे, यह बात यहाँ नहीं है, कहते हैं। वह तो आनन्द की परिणति ही परिणम गयी है। जैसा अतीन्द्रिय आनन्द उनका स्वभाव, वैसी ही परिणति परिणमित हो गयी है। आहाहा!

जिनका स्वरूप सुखरूप से परिणमित हुआ है,... आहाहा! संसार के दु:खरूप जिनका परिणमन परिणमा है, वह परिणमन इस शरीर, वाणी, मन के कारण नहीं है, ऐसा कहते हैं। संसार में भी पुण्य और पाप के विकाररूप से, दु:खरूप से परिणमता है, यह उसकी दशा है, यह उसकी अवस्था है। यह भी एक सुखरूप परिणमे, वह उनकी

अवस्था है। लोकालोक को जानते हैं और सबको जानते हैं, इसलिए सुखरूप होते हैं। थोड़े को जाने तो सुख हो, तीन काल को जाने उसे कितना सुख होगा?

मुमुक्षु : ढ़ेर मोढ़े

पूज्य गुरुदेवश्री : खोटी बात है। पर को जानना वह सुख नहीं है। अन्दर आनन्द की परिणति सुखरूप हो गयी है। समझ में आया? सम्यग्दर्शन में भी धर्म की पहली दशा में सुखरूप आंशिक आनन्दरूप परिणति होती है। इन सिद्ध, अरिहन्त को पूर्ण आनन्द की परिणति हो गयी। समझ में आया? ऐसा कहकर अपनी भी बात करते हैं कि मुनियों को भी अतीन्द्रिय आनन्द की परिणतिरूप उनकी भूमिका के योग्य... उनकी भूमिका के योग्य अतीन्द्रिय आनन्द की सुखरूप परिणति है। अरिहन्त को पूर्ण है, ऐसा कहकर यह कहेंगे कि वह जयवन्त है। समझ में आया? पहले सबमें यह डाला था न?

पाप को (मार-डालने के लिये) जो यमरूप हैं,... पाप-कीनाश-रूपः.. **कीनाश** का अर्थ यम। **कीनाश** अर्थात् यम। नयी भाषा है। इन संस्कृतवालों को अधिक (खबर पड़े)। पाप और पाप का वह **कीनाश** है। पाप को नाश करने को यमरूप है। यम है यम। आहाहा! **पाप को (मार-डालने के लिये) जो यमरूप हैं,...** यम है यम। आहाहा! भगवान आत्मा भी, पाप शब्द से पुण्य और पाप के विकल्प का नाश करने के लिए यम समान भगवान आत्मा है। समझ में आया? ऐसा भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का जहाँ आश्रय लिया, कहते हैं कि वह तो विकार के लिए यम समान हैं। उसे विकार में सुखबुद्धि उड़ गयी है। इसलिए विकार का नाश करने के लिए आत्मा का स्वभाव यमरूप है। आहाहा! समझ में आया?

भव के परिताप का जिन्होंने नाश किया है,... हत-भव-परितापः भव का परिताप। देखो, विशिष्टता! चार गति का परिताप। चारों गतियों में आकुलता है, ऐसा कहते हैं। स्वर्ग में भी परिताप ही है, वहाँ सुख है नहीं। जमभाई! ये पैसेवाले सब सुखी कहलाते हैं या नहीं? तुमको वहाँ सेठसाहेब, सेठसाहेब करते हैं या नहीं? उसमें कुछ सुख होता होगा या नहीं? आकुलता होती है, कहते हैं। चारों गतियों में आकुलता है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं।

मुमुक्षु : सेठसाहेब न कहे तो आकुलता होती है। (कहे तो) मजा आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : माना है, ऐसा कहते हैं। वहाँ धूल की कल्पना उठी है। ऐई! मलूकचन्दभाई! क्या कहा यह? आकुलता है। **हत-भव-परिताप:** भव का। वापस अकेला ताप नहीं, परिताप। आहाहा! चार गति के भव में अग्नि सुलगती है, कहते हैं। समझ में आया? यह सेठाई और राजा और देव, वे सब अग्नि से, कषाय से सुलगते हैं। वे **भव-परिताप:** उसको **हत** जिन्होंने नष्ट कर दिया है। भाषा तो ऐसी ही आवे न! उपदेश में क्या आवे?

मुमुक्षु : जहाँ-तहाँ मारने की ही अकेली बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मार डालता है। वह कहे, ऐसा नहीं लेना। अब व्यर्थ का। परमात्मप्रकाश में नहीं कहा? अरे! अनादि के... हों! बन्धु का मारनेवाला तू है, ऐसा कहा। बाबूभाई! आत्मा को ऐसा कहा। 'तेरा बन्धव साथ में रहनेवाला उसे तूने मार डाला।' बेचारा साथ में रहता था। जहाँ जाए, वहाँ साथ का साथ। रास्ते में भी साथ। एक समय दूर न रहे, ऐसे तो वे मित्र थे। भगवान आत्मा अपने स्वरूप में आरूढ़ हुआ, कर्म का नाश हो गया। उस कर्म के नाश का उपाय एक स्वरूप में आरूढ़ हुआ, वह एक ही बात है। यह क्रिया कर्म के नाश की है।

भव के परिताप का जिन्होंने नाश किया है,... आकुलता। ये पैसेवाले दिखायी दें, स्त्री, पुत्र, परिवारी दिखायी दें। सब भव के परिताप हैं। समझ में आया? यह वीतराग पर्याय परिणमन में कोई राग या निमित्त या शरीर अनुकूल था, इसलिए परिणमी है, ऐसा नहीं है। आत्मा में अनादि का वीतरागभाव जो है, वह उसे परिणमने में अनुकूल था।

भूपति जिनके श्रीपद में... यह श्री की व्याख्या की है। **(महिमायुक्त पुनीत चरणों में)...** ऐसा। अकेले चरण नहीं। महिमायुक्त पुनीत चरणों-यह श्री की व्याख्या की है। **नमते हैं,...** आहाहा! इन्द्र आकर (नमते हैं)। यहाँ तो भूपति, भूपति है। **तत्त्वविज्ञानः तक्षः** वहाँ आया न? नहीं, वह तो ९८वें में। **स जयति जितकोप:** जिन्होंने कोप को तो जीता है। द्वेष का अंश नहीं। कुछ प्रतिकूलता हो तो अरुचि हो, यह

बात भगवान को रही नहीं। **जितकोपः प्रह्वविद्वत्कलापः विद्वानों का समुदाय जिनके आगे नत हो जाता...** आहाहा! बड़े विद्वान और पण्डित, उनके झुण्ड ऐसे अरिहन्त पद, सर्वज्ञ पद में विद्वान नत हो जाते हैं। ऐसे विद्वान अर्थात् ज्ञान की दशा चाहे जितनी प्रगट हुई है, वह सब स्वभाव में नम पड़ते हैं। समझ में आया? ऐसा यह अरिहन्त पद है, ऐसा वह यह आत्मपद है।

वे (श्री पद्मप्रभनाथ)जयवन्त हैं। है? **स जयति** जयवन्त हैं, ऐसा कहते हैं। ऐसे भगवान मानो साक्षात् समवसरण में विराजते हों। जिनके पद में नमते हैं, उसका अर्थ वहाँ कहाँ भगवान को पैर है अभी? सिद्ध में तो पैर नहीं, परन्तु यहाँ थे, ऐसा मानो नजर में तैरते हैं। इसी प्रकार भगवान आत्मा भी वर्तमान में पूर्ण विद्यमान आनन्द का तत्त्व दृष्टि में तैरता है, जयवन्त वर्तता है। वह वस्तु जयवन्त वर्तती है। यहाँ भगवान जयवन्त वर्तते हैं। यहाँ जिसने दृष्टि और ज्ञान से पूरी चीज़ को पकड़ा है, वह वस्तु जयवन्त वर्तती है। आहाहा! यह ९८वाँ श्लोक हुआ।

९९ श्लोक। **जयति विदितमोक्षः पद्मपत्रायताक्षः** सब 'क्ष' है। उसमें 'स' थे। उसमें 'ज' थे। पहले में 'त्र' थे। पहले में सब 'त्र' थे।

जयति विदितगात्रः स्मेरनीरेजनेत्रः
दूसरे में 'ज' थे। सब 'ज'।

स्मरकरिमृगराजः पुण्यकञ्जाह्विराजः
तीसरे में सब 'प' थे।

जितरतिपतिचापः सर्वविद्याप्रदीपः
'त्र', 'ज', 'प' और अब 'क्ष'।

जयति विदितमोक्षः पद्मपत्रायताक्षः,
प्रजित-दुरितकक्षः प्रास्तकन्दर्पपक्षः।
पदयुग-नत-यक्षः तत्त्व-विज्ञान-दक्षः,
कृतबुधजनशिक्षः प्रोक्तनिर्वाणदीक्षः ।।९९।।

श्लोकार्थ : प्रसिद्ध जिनका मोक्ष है,... सिद्धं प्रसिद्धं नहीं आता। क्या कहलाता है?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह। सिद्ध समूह तो प्रसिद्ध है। आहाहा! प्रसिद्ध सिद्धसमूह, आता है न? अनन्त सिद्ध प्रसिद्ध हैं। ऐसे अरिहन्तों का मोक्ष प्रसिद्ध है। आहाहा! ऐसे आत्मा का मोक्ष प्रसिद्ध है। मोक्ष हो, वह प्रसिद्ध है। संसार-फंसार आत्मा को रहे नहीं। उसे आत्मा कहते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? संसारवाला आत्मा मानना, वह तो मिथ्यात्व है, ऐसा कहते हैं। संसारवाला आत्मा मानना... संसार अर्थात् विकल्प और आस्रव। आस्रवसहित मानना, वह तो तत्त्व की दृष्टि विपरीत है।

प्रसिद्ध जिनका मोक्ष है,... आहाहा! जो आत्मा में प्रसिद्ध मोक्ष मुक्तस्वरूप पड़ा ही है। उसे पर्याय में प्रसिद्ध मोक्ष हो, वह कोई विशेषता, नवीनता नहीं है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : सब एक ही है। दोनों शुद्ध ही है। समयसार में आया था। ....कारण और कार्य दोनों शुद्ध ही हैं। शुद्ध हैं, इसका अर्थ कि है ही ऐसा। त्रिकाल है और त्रिकाल है, उसका जिसने आश्रय लिया, उसे शुद्धता ही पूर्ण प्रगट होगी, वह शुद्ध ही है। अशुद्धता रहेगी ही नहीं। ऐसा सूक्ष्म है। बाबूभाई! बाहर में एक यात्रा कर आये, इसलिए निपट गया, ऐसा नहीं है। यह आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा की... चौदश की करे, पूर्णिमा की न करे। फिर कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं, समय-समय यात्रा करनेवाला आत्मा है।

प्रसिद्ध जिनका मोक्ष है,... आहाहा! शुद्धस्वरूप परमानन्द की विद्यमानता जहाँ दृष्टि में आयी, (वहाँ) प्रसिद्ध मोक्ष है। प्रसिद्ध मोक्ष है... प्रसिद्ध मोक्ष है। प्रतीति में ऐसी प्रसिद्ध पर्याय में मोक्ष होगा, होगा, और होगा ही - ऐसा आत्मा है। जिसमें संसार की गन्ध नहीं रहती, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसने आत्मा पकड़ा और आत्मा जाना अथवा आत्मा है, ऐसा माना, है वह माना कब कहलाये? पूरा परिपूर्ण भगवान है, ऐसा जिसने सम्यग्दर्शन में माना, उसे प्रसिद्ध मोक्ष है। उसे भगवान को पूछने नहीं जाना पड़ता कि भाई! मेरा मोक्ष कब होगा? मोक्ष ही है। अरिहन्त को भावमोक्ष प्रसिद्ध हो गया है। कहते हैं।

पद्मपत्र (कमल के पत्ते) जैसे दीर्घ जिनके नेत्र हैं,... कमल के पत्र। पुण्यवन्त प्राणी को यहाँ से वहाँ शेड ऐसे चलती होती है। कमल-कमल होता है न? शेड चलती है। ऐसे कमल का फूल हो, ऐसी उसकी आँख होती है। तीर्थंकर तो पूर्ण पुण्य के धनी हैं न? अन्दर में पहले गुण की बात की। दूसरे, उनके शरीर की व्याख्या की। **जैसे दीर्घ जिनके नेत्र हैं,...** अन्दर केवलज्ञान के दीर्घ नेत्र हो गये हैं, बाहर में भी आँख ऐसी होती है। चक्रवर्ती, बलदेव, उसमें तीर्थंकर का तो क्या कहना?

पापकक्षा को जिन्होंने जीत लिया है,... पाप शब्द से पुण्य और पाप दोनों। उनका पहलू जीत लिया है, ऐसा कहते हैं। संसार का पहलू पुण्य-पाप है। उस पहलू में जो चढ़ गया था, उससे हट गया है। आहाहा! अनादि से शुभ और अशुभ के पक्ष में चढ़ा था, वह मिथ्यात्व और संसार था। आहाहा! उस पापकक्षा की **भूमिका; श्रेणी; स्थिति** देखो! कक्षा है न, कक्षा? एक ओर का पहलू, ऐसे। संसार का पहलू जिसने जीत लिया है, स्वभाव के पक्ष में चढ़ गया है। आहाहा! समझ में आया? जैसे अरिहन्त हैं, वैसा ही तू है - वापिस ऐसा।

तत्त्वानुशासन में आता है न? तत्त्वानुशासन न? ऐसा कि अरिहन्त का ध्यान का नहीं आता? ऐसा कहते हैं अरिहन्त का ध्यान करे तो तू व्यर्थ है। तू कहाँ अरिहन्त है। सुन न अब। हम अभी अरिहन्त हैं क्योंकि अरिहन्तस्वरूप आत्मा है, उसका ध्यान करके शान्ति मिलती है, इसलिए साक्षात् अरिहन्त बिना कहाँ से मिले? इसलिए हम अन्दर अरिहन्त ही हैं। तत्त्वानुशासन में ऐसा श्लोक है। समझ में आया? ऐसा कि अरिहन्त तो अभी नहीं हैं और तुम कौन से अरिहन्त का ध्यान करते हो? तुम्हारा मिथ्या है। तुझे खबर नहीं। हम अन्दर अरिहन्त ही हैं। आहाहा! उसका ध्यान करने से शान्ति आती है, उसका अर्थ कि मिथ्या अरिहन्त का ध्यान करने से शान्ति आयेगी? आहाहा! पाँच पद ही हम हैं। आहाहा! समझ में आया? शान्तिभाई! गजब बात ऐसी! बहुत से कहते हैं छोटे मुँह बड़ी बातें। उसे खबर नहीं है। यहाँ छोटा मुँह है ही नहीं। काम कक्षा, पापकक्षा।

संसार के पहलू से हट गया आत्मा है, उसे आत्मा कहते हैं। भगवान संसार के पहलू से हट गया है। ऐसे आत्मा भी संसार के पहलू से हट गया है, उसे आत्मा कहते

हैं। संसार के पक्ष में खड़ा है, वह अनात्मा है। आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दर्शन में संसार का पक्ष छूट गया है। संसार से मुक्त है। व्यवहार से मुक्त कहो या संसार से मुक्त कहो, सब एक ही है। सम्यग्दृष्टि—धर्म की पहली सीढ़ी, व्यवहार से मुक्त। व्यवहार अर्थात् विकल्प से मुक्त है। उसे संसार का पक्ष छूट गया है। आहाहा! पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दरूपी मुक्तस्वभाव के पक्ष में गया, तब संसारपक्ष छूटा, तब उसने आत्मा के अनुभव को माना, ऐसा कहने में आता है।

प्रजित-दुरितकक्षः.. दुरित का अर्थ पाप किया है। ऐसा। **प्रजित-दुरितकक्षः प्रास्तकन्दर्पपक्षः कामदेव के पक्ष का जिन्होंने नाश किया है,...** वह कक्षा थी। यह पक्ष है। **कामदेव के पक्ष का जिन्होंने नाश किया है,...** 'क्षः' है न? 'क्षः'। **प्रजित-दुरितकक्षः प्रास्तकन्दर्पपक्षः पदयुग-नत-यक्षः** इसमें चार शब्द हैं। **यक्ष जिनके चरणयुगल में नमते हैं,...** चँवर ढोलते हैं न? इन्द्र, यक्ष समवसरण में चौंसठ चँवर (ढोलते हैं)। हवा अच्छी आवे, इसलिए होगा? भगवान को गर्मी नहीं होती। पंखे नहीं डालते? पंखे। उन्हें क्या है? भगवान तो अनन्त आनन्द में विराजते हैं। यह तो भक्तिवाले को दिखाने का भाव है। चँवर ढोले, चँवर। यहाँ ढोलते हैं न? पंखा। कितनों के हाथ में पुस्तक होवे तो उसे लेकर हवा करते हैं। बहुत गर्मी लगती है न? छोटी पुस्तक हाथ में होवे तो उससे हवा करते हैं। यह ठीक कहलायेगा? बहुत गर्मी लगती होवे तो क्या करना? सहन करना। कागज का पंखा। कितने ही लड़कों के हाथ में छोटी पुस्तक होवे तो (पंखा करते हैं)। ऐसा नहीं किया जाता। शास्त्र की असातना कहलाती है। आहाहा! **यक्ष जिनके चरणयुगल में नमते हैं,...** यह तो पुण्य का कारण है और इन्द्र-देव आकर चँवर ढोलते हैं। इसमें उन्हें क्या है? उन्हें हवा लगे और गर्मी होती होगी, ऐसा होगा? वे तो अतीन्द्रिय आनन्द में विराजमान हैं। ये तो भक्त भक्ति के भाव से यह करते हैं।

तत्त्व-विज्ञान-दक्षः तत्त्वविज्ञान में जो दक्ष (चतुर) हैं,... अरिहन्त, सर्वज्ञ परमात्मा। जगत की जितनी विद्याएँ और ज्ञान हैं, उन सबमें प्रवीण हैं। ऐसा कहे, यह अमुक और मन्त्र को जाने, अमुक तन्त्र को जाने, अमुक ऐसी विद्या जाने। उन सबमें

भगवान प्रवीण है। कुछ करते नहीं, हों! देखो! **तत्त्वविज्ञान में जो दक्ष (चतुर) हैं,...** इतनी ही बात ली है न?

कृतबुधजनशिक्षः बुधजनों को जिन्होंने शिक्षा (सीख) दी है... कहो, अज्ञानी को, बड़थोल को नहीं। ऐसा कहते हैं। जो पात्र रूढा जैसा है, उसे भगवान ने शिक्षा दी है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! जिसे शिक्षा लागू पड़ती है, उसे शिक्षा दी है, ऐसा कहते हैं। **बुधजनों को जिन्होंने शिक्षा (सीख) दी है...** बुध तो समझे हुए हैं। समझे हुए को कहते हैं, उन्हें समझाया है। अनसमझ को समझाते नहीं, ऐई!

प्रोक्तनिर्वाणदीक्षः अन्तिम बोल। **निर्वाणदीक्षा का जिन्होंने उच्चारण किया है,...** जिन्होंने निर्वाण की ही प्राप्ति होने की ऐसी ही दीक्षा उन्होंने ली है। जिस दीक्षा में मोक्ष हो, ऐसी दीक्षा का उच्चारण किया है। आहाहा! स्वर्ग मिले या अमुक मिले, ऐसी दीक्षा नहीं-ऐसा कहते हैं। कहते हैं या नहीं? दो घड़ी दीक्षा ले तो उसे स्वर्ग कपाल में, ऐसा सुना था। (विक्रम संवत्) २००० के वर्ष में। वहाँ राजकोट। मनसुखभाई की लड़की दीक्षा लेनेवाली थी न। चिमन के भाई मनसुखभाई की दो लड़कियों की तब दीक्षा थी। राजकोट में २००० के वर्ष में ऐसी सब बातें आती थीं। वहाँ त्रम्बकभाई को लड़कियाँ मिलने आयी थीं। उनके रिश्तेदार होते हैं न! त्रम्बकलाल सेठ, नानालालभाई के बहनोई। वहाँ लड़कियाँ आयी थीं। हम वहाँ वाँकानेर थे। बातें करते थे कि यहाँ तो महाराज ऐसा कहते हैं कि यदि दो घड़ी साधुपना आवे तो उसके कपाल में स्वर्ग तो अवश्य। धूल में भी नहीं, अब सुन न! आहाहा!

यहाँ तो **निर्वाणदीक्षा का जिन्होंने उच्चारण किया है,...** स्वर्ग मिलेगा, यह बात दीक्षा के स्वभाव में है ही नहीं। आहाहा! ऐसी (स्वर्ग की) लालच देकर मूंढते हैं। ऐई! स्वर्ग मिलेगा। वहाँ फिर ऐई.. खाने-पीने का ऐसा नहीं होता, परन्तु उसे हजार वर्ष में इच्छा होती है। परन्तु उसमें क्या हुआ, धूल? वह सब भव तो परिताप वाले हैं, ऐसा कहा। क्लेश और आकुलता वाले भव हैं। तुझे उस भव में जाना है? यह दीक्षा का फल? दीक्षा तो उसे कहते हैं, जिससे निर्वाण प्राप्त हो। आहाहा! **निर्वाणदीक्षा का जिन्होंने उच्चारण किया है,...** लो।

वे (श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र) जयवन्त हैं। हमारे तो कहते हैं कि वे जयवन्त वर्तते हैं। अर्थात् कि मोक्ष का कारण ऐसी दीक्षा हमारे जयवन्त वर्तती है। ऐसा पद्मप्रभमलधारि मुनि स्वयं कहते हैं। मोक्ष का कारण ऐसी जो दीक्षा, (वह) हमारे जयवन्त वर्तती है। उसके फल में हमें मुक्ति ही आयेगी। आहाहा! पुण्य करेगा तो गति तो सुधरेगी। पाप में जाए उसकी अपेक्षा। कहते हैं, तेरी श्रद्धा और ज्ञान ही सब मिथ्या है। जिसके फल में स्वर्ग माँगे, उसके कारण में पुण्य होता है और पुण्य की इच्छावाला मिथ्यादृष्टि है।

धर्मी को तो आत्मा के स्वभाव की भावना है। उसका नाम दीक्षा। सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित स्वरूप की रमणता की दीक्षा जिसने ग्रहण की है। वह दीक्षा निर्वाण का कारण है। आहाहा! उस दीक्षा को दीक्षा कहते हैं, ऐसा कहते हैं। ऐई! जयन्तीभाई! यह तो कहते हैं, अब पाप से तो छूटें। चूल्हे के, अग्नि के और छहकाय के आरम्भ से (तो छूटे) ऐसी बात करे और कहीं तो बेचारे को हो। क्या धूल होगा। संसार है, वह का वह है। आहाहा! जिससे निर्वाण, केवल मुक्ति-ऐसी जो दीक्षा अर्थात् आत्मा के स्वभाव का आचरण, शुद्ध का आचरण, वही दीक्षा है, हों! पंच महाव्रत के विकल्प-फिकल्प, वह दीक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब मार्ग! दिगम्बर सन्तों की कथनी भी... कड़क।

निर्वाणदीक्षा का जिन्होंने उच्चारण किया है, वे (श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र) जयवन्त हैं। प्रभु! वे जयवन्त हैं। आहाहा! हमारा भाव भी मोक्ष का कारण जयवन्त है। हमारे जो परिणाम, वीतरागभाव जो मोक्ष का कारण, वह जयवन्त है - ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह पंचम काल के मुनि हैं। और कोई कहे कि यह तो सब चौथे काल की बातें हैं। काल हो या फाल, वस्तु कुछ बदलती होगी? देखो न! आचार्य-मुनि स्वयं... आहाहा! हमारी दीक्षा तो निर्वाण का कारण है। ऐसी दीक्षा हमें आयी है। भगवान को भी यही दीक्षा उच्चारण की थी और यह दीक्षा समझायी थी। समझ में आया? जिस दीक्षा में कारण होकर मोक्ष हो, ऐसी दीक्षा भगवान ने समझायी थी, ऐसा कहते हैं। बाबूभाई! आओ, मुंडाओ यहाँ साधु होओ, तुम्हें यहाँ स्वर्ग मिलेगा, ऐसे ललचाये नहीं थे, ऐसा कहते हैं। आहाहा! शिक्षा दी है, ऐसा कहा, हों! दीक्षा की ऐसी शिक्षा, जिससे मुक्ति हो, ऐसी दीक्षा—ऐसी समझायी थी। यह तो आत्मा आनन्दस्वरूप

भगवान के आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र, निर्विकारी, निर्विकल्प परिणति, वह मोक्ष का कारण है। ऐसा भगवान ने समझाया था कि तेरी दीक्षा से तुझे स्वर्ग मिलेगा और सेठाई मिलेगी, यह दीक्षा का फल ही नहीं है। आहाहा!

निर्वाणदीक्षा का जिन्होंने उच्चारण किया है,... निर्वाण का कारण ऐसी दीक्षा को जिन्होंने समझाया है, ऐसा कहते हैं। **वे (श्री पद्मप्रभ जिनेन्द्र) जयवन्त हैं।** लो। उसमें-अर्थ में लिया। यहाँ ऐसा लिया। कितना है वह? ९९। श्लोक कितना? ७१ गाथा। अन्तिम। दक्ष (चतुर) भव्य जीवों को शिक्षा... तथा जिन्होंने निर्वाण का कारण मुनिदीक्षा का स्वरूप कहा है। ऐसा भाई शीतलप्रसाद ने पहले अर्थ किया था न? निर्वाण का कारण मुनिदीक्षा, मोक्ष का कारण मुनिदीक्षा, वीतरागी परिणति, ऐसी जीवों को शिक्षा प्रदान की है। आहाहा! उसका नाम दीक्षा और उसका नाम दीक्षा का फल मोक्ष। यह तो गप्पा-गप्प मारे। क्रिया का ठिकाना नहीं और पंच महाव्रत पालते हैं और उससे मुक्ति होगी। धूल में भी नहीं होगी। लो, ९९वाँ श्लोक हुआ। १०० वाँ श्लोक बाकी रह गया।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण ४, सोमवार, दिनांक - १२-७-१९७१
गाथा-७२, श्लोक-१०० से १०२, प्रवचन-६५

यह नियमसार, व्यवहारचारित्र अधिकार है। ७१ गाथा। १००वाँ कलश। १०० कलश है न? अरिहन्त कैसे हैं - उनका स्वरूप है।

मदन-नग-सुरेशः कान्त-काय-प्रदेशः,
पदविनतयमीशः प्रास्तकीनाशपाशः।
दुरघ-वन-हुताशः कीर्ति-सम्पूरिताशः,
जयति जगदधीशः चारु-पद्म-प्रभेशः।।१००।।

पद्मप्रभ भगवान की स्तुति करते हैं। स्वयं का पद्मप्रभ नाम है न? टीकाकार का पद्मप्रभ नाम है। उस नाम से भगवान पद्मप्रभ को याद करके अरिहन्त का इस प्रकार स्तवन और स्तुति करते हैं।

श्लोकार्थ : कामदेवरूपी पर्वत के लिए (अर्थात् उसे तोड़ देने में) जो (वज्रधर) इन्द्र समान हैं,... इन्द्र के हाथ में वज्र होता है; इसलिए उसे वज्रधर कहा जाता है। इसी तरह भगवान पद्मप्रभ भगवान **कामदेवरूपी पर्वत के लिए (अर्थात् उसे तोड़ देने में) जो (वज्रधर) इन्द्र समान हैं,...** वाह! **मदन-नग-सुरेशः** मदनरूपी पर्वत को **सुरेशः** अर्थात् इन्द्र की तरह। सुरेश-इन्द्र का ईश। वज्रधर तो डाला वह... आया न, इसलिए नाम डाला। आहाहा! वज्र, वज्र से जैसे पूर्ण होता है; इसी तरह भगवान आत्मा कामदेव की वासना का तो चूर्ण कर डाला है।

कान्त (मनोहर) जिनका कायप्रदेश है,... यह बाह्यबुद्धि। जिनका मनोहर शरीर है। परमौदारिक, ऐसा कहते हैं। अरिहन्त के शरीर को व्याधि, क्षुधा, तृषा, रोग ऐसा होता नहीं। कान्त शरीर है, मनोहर शरीर है। **जिनका कायप्रदेश है,...** अर्थात् शरीर के प्रदेश। भगवान आत्मा के प्रदेश तो निर्मल, परन्तु उनके शरीर के प्रदेश भी निर्मल हैं। परमौदारिक शरीर है न? प्रत्येक अरिहन्त को ऐसा होता है। यहाँ तो अभी पद्मप्रभ नाम से याद किया है।

मुनिवर जिनके चरण में नमते हैं,... मुनिवरों-जिन्हें वीतरागता प्रगट हुई है, ऐसे मुनिवर भी सर्वज्ञ अरिहन्त परमात्मा के चरण में नमते हैं। उन्हें भी भक्ति होती है - ऐसा कहते हैं। मुनिवर—आचार्य, उपाध्याय, साधु इत्यादि अरिहन्त के चरण में, वीतरागता पूर्ण प्रगट हुई है - उनके चरणों में नमते हैं।

मुमुक्षु : हेयबुद्धि से है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आये बिना रहता है? हेय है, परन्तु आता है या नहीं? भक्ति का विकल्प है, वह तो उपयोग है, परन्तु आये बिना रहता नहीं। होगा ही इसलिए? वह तो है, वह आदरणीय नहीं, परन्तु है या नहीं? है, उसे आदरणीय नहीं, ऐसा कहना। भाव तो आता है। आदरणीय नहीं है, हेय है। हेय किसलिए करना? वह आये बिना रहता ही नहीं। सब कहे—अग्नि कहे, धगधगता अंगारा कहे, शुभभाव है, कषाय है, राग है। मुनिवरों को भी आता है, होता है, जानते हैं। ऐसा स्वरूप ही है। परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग शान्तरस से पूर्ण परिणमित हो गये हैं। उन पर मुनिवरों को भी भक्ति आती है।

जिनके चरण में नमते हैं, यम के पाश का जिन्होंने नाश किया है,... प्रास्तकीनाशपाशः यम के पाश का, बन्धन का जिन्होंने नाश किया है। भाव का बन्धन नहीं रहा - ऐसा कहते हैं। **दुष्ट पापरूपी वन को (जलाने के लिए) जो अग्नि हैं,...** दुष्ट पाप और पुण्य दोनों, ऐसा जो वन, उसे जलाने को जो अग्नि है। अर्थात् कि उन्हें है नहीं। वीतराग शान्तरस अकषायस्वभाव से जिनका परिणमन है, (उन्होंने) ऐसे पाप और पुण्य के वन को जला डाला है। जलाने को समर्थ हैं - ऐसा कहा जाता है।

सर्व दिशाओं में जिनकी कीर्ति व्याप्त हो गई है... पुण्य लिया। चारों दिशाओं में जिनकी कीर्ति पसर गयी है, व्याप्त हो गयी है। **कीर्ति-सम्पूरिताशः** तीर्थंकर (हैं), इसलिए और अरिहन्त की गुणदशा पूर्ण, उनकी पुण्यप्रकृति पूर्ण ऐसी होती है कि चारों दिशाओं में इन्द्र आदि उनका आदर करते हैं। ऐसी कीर्ति व्याप्त हो गयी है। यह तो पवित्रता और पुण्य दोनों की बात करते हैं। बतलाना होवे तो बतलावे न? **और जगत् के जो अधीश (नाथ) है,...** जो जगत के नाथ हैं। व्यवहार से नाथ कहने में आता है। तीन लोक के जाननेवाले हैं न, इसलिए उसमें नाथ हैं।

वे सुन्दर पद्मप्रभेश जयवन्त हैं। ऐसे सुन्दर पद्मप्रभ भगवान... देखो! यहाँ तो कान्त जिनका कायप्रदेश है। यह तो अरिहन्तरूप से स्मरण किया है। नहीं तो वे तो सिद्ध हो गये हैं। अभी तो सिद्ध हैं। अरिहन्त की अस्ति में थे, उसकी स्तुति है। अभी तो सिद्ध हो गये हैं। यहाँ लोगस्स में आता है न?.. तीर्थंकर मुझे प्रसन्न होओ। तीर्थंकर हो गये, तीर्थंकर तो अभी सिद्ध हो गये। ....में आया था न? लोगस्स में आता है। तीर्थंकर तो मोक्ष पधारे हैं। अभी तीर्थंकर नहीं हैं, परन्तु उन्हें तीर्थंकर की अस्ति थी, उस प्रकार से स्मरण करके वन्दन किया है। भूतकाल में तीर्थंकर थे न? 'तिथ्थयरा में पसिवंतु' - ऐसा है न उसमें? तीर्थंकर मुझे प्रसन्न होओ। प्रसन्न होते होंगे? अपना आत्मा अपने में प्रसन्न होवे, उसे भगवान मुझे प्रसन्न होओ - ऐसा कहने में आता है। ऐसी बात है। भगवान तो वीतराग हैं। वे प्रसन्न नहीं होते और अप्रसन्न भी नहीं होते। वे तो सर्वज्ञ परमेश्वर परमात्मा वीतराग हैं। अपने आत्मा में आनन्द की, शान्ति की प्रसन्नता वर्तती है; इसलिए मानो कि भगवान प्रसन्न हैं। मैं स्वयं मेरे लिए प्रसन्न हूँ, भगवान मुझे प्रसन्न है। यह ७१ गाथा हुई।

७२ वीं गाथा, सिद्ध की (है)। वह (७१वीं) अरिहन्त की गाथा थी। अब सिद्ध की गाथा। व्यवहार है न, व्यवहार? इसमें पाँचों परमेष्ठी रखे। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, व्यवहार और निश्चय दोनों डाले।

णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्ग-ठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।।७२।।

हैं अष्ट गुण संयुक्त, आठों कर्म-बन्ध विनष्ट हैं।
लोकाग्र में जो हैं प्रतिष्ठित परम शाश्वत सिद्ध हैं॥७२॥

सिद्ध का अर्थ शाश्वत बताया। लो!

टीका : सिद्धि के परम्पराहेतुभूत... सिद्ध भगवान मुक्ति के परम्परा हेतु हैं। साक्षात् हेतु तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। इनका निमित्त है, इसलिए परम्परा हेतु कहा जाता है। साक्षात् सिद्धपरमात्मा इसकी मुक्ति का साक्षात् कारण नहीं है। साक्षात् कारण तो स्वचैतन्य के आश्रय से वर्तते दर्शन, ज्ञान और चारित्र, ये साक्षात् कारण हैं। उसमें

व्यवहार श्रद्धा सिद्ध भगवान की आती है; इसलिए परम्परा हेतु कहने में आया है। परम्परा निमित्त, **ऐसे भगवन्त सिद्धपरमेष्ठियों का स्वरूप यहाँ कहा है।**

[भगवन्त सिद्ध कैसे होते हैं] अब सिद्ध कैसे हुए - यह बात साथ में कहते हैं। **(१) निरवशेषरूप से अन्तर्मुखाकार, ध्यान-ध्येय के विकल्परहित निश्चय-परमशुक्लध्यान के बल से जिन्होंने आठ कर्म के बन्ध को नष्ट किया है ऐसे;...** लो, ऐसा कहा है। अपवास करके या ऐसा करके कर्म नाश किया है, ऐसा नहीं - ऐसा कहते हैं। वह तो विकल्प है। यह तो **निरवशेषरूप से... अशेषतः; कुछ शेष रखे बिना; सम्पूर्णरूप से; सर्वथा।[परमशुक्लध्यान का आकार अर्थात् स्वरूप सम्पूर्णतया अन्तर्मुख होता है।]**

आत्मा अन्तर पूर्णानन्दस्वरूप है, उस पर शुक्लध्यान अन्तरस्वरूप है। अन्तर में स्वरूप है, वह बाह्य है नहीं। निरविशेषरूप से जिसने अन्तर्मुख **ध्यान-ध्येय के विकल्परहित...** ध्यान करना और यह ध्येय भगवान आत्मा है, ऐसे भेद का भी जहाँ विकल्प अर्थात् राग नहीं है। आहाहा! ऐसे ध्यान और ध्येय के विकल्प अर्थात् रागरहित अन्तर्मुख जिसका स्वरूप है। शुक्लध्यान का। अन्तर्मुख जिसका भाव है; जरा भी बहिर्मुख नहीं। ऐसे **निश्चय-परमशुक्लध्यान के बल से...** लो, वापस परमशुक्ल। परमशुक्ल -ध्यान, ऐसा। अन्तर के शुद्ध आनन्दस्वरूप भगवान में अन्तर्मुख होकर जो परमशुक्लध्यान प्रगट हुआ, उसके **बल से जिन्होंने आठ कर्म के बन्ध को नष्ट किया है...** वे चार तो सही परन्तु दूसरे चार नये अर्थात् आठ नष्ट किये हैं, ऐसा कहते हैं। चार घातिकर्म तो अन्तर्मुख के ध्यान द्वारा नष्ट होते हैं। अन्तर्मुख की परिणति द्वारा नाश होते हैं। बहिर्मुख के किसी भी विकल्प द्वारा किसी कर्म का नाश नहीं होता। आहाहा!

दर्शनमोह का नाश अन्तर्मुख दृष्टि के स्वरूप से वह नाश होता है। देखो! इसमें ऐसा आता है न कि जिनबिम्ब के दर्शन से निद्धत और निकाचित कर्म का नाश होता है। धवल में आता है न? वह तो निमित्त की व्याख्या है। जिनबिम्ब तो यह आत्मा अन्तर वीतरागमूर्ति प्रभु में अन्तर्मुख होकर दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया? आठों ही कर्मों का नाश कहा न? अन्तर्मुखाकार। अन्तर्मुखाकार पहले धर्मध्यान का अन्तर्मुखाकार है। यह अशेष भी अन्तर्मुखाकार है। सब पूर्ण रीति से। धर्मध्यान में

सम्यग्दर्शन होने में भी, दर्शनमोह के नाश में भी अन्तर्मुख आश्रय है। पूर्ण आनन्दस्वरूप के आश्रय से ही दर्शनमोह का नाश होता है। समझ में आया? शुभोपयोग से शुद्धोपयोग होता है, ऐसा नहीं - ऐसा कहते हैं। शुभोपयोग तो बाहर का व्यापार है। शुद्ध है, वह तो अन्तर्मुख का व्यापार है। दोनों की दिशा में अन्तर है।

निरवशेषरूप से अन्तर्मुखाकार,... तो पहले अन्तर्मुख के स्वरूप से दर्शनमोह का नाश किया, पश्चात् अन्तर्मुख में चारित्र (मोह) का भी नाश हुआ, पश्चात् पूर्ण अन्तर्मुख हुए, तो आठों का नाश हुआ। यहाँ तो उन चार अघाति का भी अन्तर्मुखाकार नाश किया। **निश्चय-परमशुक्लध्यान के बल से जिन्होंने आठ कर्म के बन्ध को नष्ट किया है...** वे सिद्ध कैसे हुए, यह बतलाते हैं। सिद्धपद इस प्रकार से प्राप्त होता है। किसी बाहर के क्रियाकाण्ड से वह प्राप्त नहीं होता। समझ में आया? यह तो आठ कर्म का नाश किया। **अट्ठमहागुणसमण्णिया—क्षायिक सम्यक्त्वादि अष्ट गुणों की पुष्टि से तुष्ट;...** हैं। आठ गुणों की पुष्टि से आनन्दमय हैं। नीचे (फुटनोट) **सिद्धभगवन्त क्षायिक सम्यक्त्व,...** समकित पहले लिया, लो! **अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध इन आठ गुणों की पुष्टि से सन्तुष्ट - आनन्दमय होते हैं।** इसमें चारित्र नहीं आया, इसलिए कितने ही ऐसा कहते हैं कि उन्हें चारित्र नहीं होता। (किन्तु) यह मिथ्या बात है। चारित्र आ गया। अनन्त सुख है न? समकित का सुख और चारित्र का सुख दोनों होकर अनन्त सुख प्रगट हुआ। सिद्ध भगवान में भी चारित्र है। अपना चारित्रगुण स्वभाव पूर्ण प्रगट हो गया है। व्यवहारचारित्र के नाम जो हैं सामायिक और... वह है। वह चारित्र नहीं आया। कोई कहे सिद्ध का चारित्र नहीं। सिद्ध को पूर्ण चारित्र है। आहाहा! वहाँ यह चारित्र क्या होता है? अपने स्वरूप के आनन्द में रमणता, वह चारित्र है। वह पूर्ण रमणता प्रगट हो गयी, वह पूर्ण चारित्र है।

तुष्टि-सन्तुष्ट हैं। तुष्ट हैं न? तुष्ट-तुष्ट हैं। आठ गुणों से सन्तुष्ट। सन्तुष्ट अर्थात् आनन्द है। अनन्त आनन्द भी साथ में है। आहा! गुण कहे हैं परन्तु वह है पर्याय। गुण कहे हैं न? क्षायिक समकित आदि अष्ट गुण। लो, कितने ही यह कहते हैं न, भगवान ने आठ गुण कहे हैं, तुम कहते हो कि वह पर्याय है। भगवान ने पर्याय कही है। पर्याय

को ही गुण कहा है। गुण प्रगट होते होंगे? गुण तो त्रिकाल है। यहाँ तो पुष्टि से तुष्ट है। सब आनन्दसहित प्रगट हुए हैं। पर्याय की बात है। सिद्ध भी पर्याय है, गुण नहीं। गुण तो त्रिकाल है, उनकी उल्टी अवस्था संसार है। पूर्ण सुल्टी अवस्था, वह मोक्ष है, पर्याय है। समकित भी पर्याय है। चारित्र भी पर्याय है, सिद्ध भी पर्याय है।

विशिष्ट गुणों के आधार होने से तत्त्व के तीन स्वरूपों में परम;... हैं। सिद्ध भगवान तो विशिष्ट गुणों के आधार होने से... गुण अर्थात् पर्याय। बहिर्तत्त्व, अन्तःतत्त्व और परमतत्त्व। ऐसे तीन तत्त्वस्वरूप में से परम तत्त्वस्वरूप पर्याय, स्वयं उत्कृष्ट पर्याय है न? वह परमतत्त्व। यहाँ ध्रुव की बात नहीं है। **विशिष्ट गुणों के आधार होने से...** विशिष्ट समस्त पर्यायें पूर्ण प्रगट हुई होने से उनकी पर्याय का आधार सिद्ध भगवान हैं। इन **तत्त्व के तीन स्वरूपों में...** बहिर्तत्त्व, अन्तःतत्त्व-द्रव्य; बहिर्तत्त्व-पर्यायें, इनमें भी परमतत्त्व अर्थात् सिद्ध की पूर्ण पर्याय उत्कृष्ट है। लो, तीन स्वरूप में परम हैं। पूर्ण दशा प्रगट हुई है।

तीन लोक के शिखर से आगे गतिहेतु का अभाव होने से लोक के अग्र में स्थित;... हैं। लो, लोक के अग्र में सिद्ध भगवान विराजते हैं। **तीन लोक के शिखर से आगे गतिहेतु का अभाव होने से...** व्यवहार से बात की है। **लोक के अग्र में स्थित;...** है, वह बराबर निश्चय है। निश्चय अर्थात्? पर के कारण से नहीं, स्वयं के कारण से स्थित हैं। इस प्रकार निश्चय तो स्वरूप में स्थित है। लोक के अग्र में स्थित हैं, यह तो व्यवहार कहने में आता है। **तीन लोक के शिखर से आगे गतिहेतु का अभाव होने से लोक के अग्र में स्थित;...** हैं। ....धर्मास्ति का अभाव होने से लोक के अग्र में स्थित हैं। इसका अर्थ ही यह है। उनकी अवस्था ही वहाँ रहने की योग्यता है, इसलिए धर्मास्ति नहीं है। व्यवहार से... व्यवहार है, परन्तु निश्चय तो यह है। लोक के अग्र में सिद्ध भी कथंचित् परतन्त्र है ऐसा (लोग) कहते हैं। ऐसा नहीं है। पूर्ण स्वतन्त्र हैं। कहते हैं न कथंचित् स्वतन्त्र, कथंचित् परतन्त्र - ऐसा लगाते हैं। अनेकान्त को जहाँ-तहाँ ऐसी विपरीतता कर देते हैं। कदाचित् शुभभाव से धर्म हो, कदाचित् शुद्ध से भी हो। कदाचित् समकित से बन्ध भी हो और समकित से मुक्ति भी हो, इसका नाम (लोग) अनेकान्त कहते हैं।

मुमुक्षु : गति मिलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : समकित से क्या गति मिले? राग से मिलती है। ऐसी भाषा समकित के साथ है, इसलिए ऐसा कहा है। समकित है, वह तो निर्मल दशा है। निर्मल दशा से स्वर्ग मिले? तीर्थंकरपना, वह भी शुभभाव का अपराध है। तीर्थंकरपना बाँधे और मुनि को आहारक शरीर बाँधे, वह शुभोपयोग का अपराध है। आहाहा!

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कल्याण करता था? स्वयं को ऐसा शुभभाव आया, हो गया। ....एक मनुष्य के दो भव होंगे। एक भव में केवल (ज्ञान) नहीं ले सकेगा। ....

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ क्या? इसका अभाव करेगा, उसे मुक्ति होगी। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बाँधा, उस भाव का भी अभाव करेगा। आहाहा! कैसी बात! वस्तु का स्वरूप ऐसा है। वाद-विवाद करे, इससे कहीं वस्तु बदल जाएगी? तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह भाव अपराध है - ऐसा पुरुषार्थसिद्धियुपाय में (गाथा २२०) पाठ है। अपराध है, ऐसा पाठ है। अमृतचन्द्राचार्य (का पाठ है)। आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम, वह अपराध है, विकल्प है, राग है। जगत को पकड़ा हो, उसमें से निकलना, भारी काम।

तीन लोक के शिखर से आगे गतिहेतु का अभाव होने से... कारण यह दिया, देखो यह। परन्तु पहले परिणमन सिद्ध किया न? समझ में आया? ....**लोक के अग्र में स्थित;...** हैं। लो, वहाँ निमित्त नहीं और वहाँ स्थित स्वयं उपादान से है। बस, उपादान बताते हैं। स्वयं को भी आगे जाने की योग्यता है ही नहीं। व्यवहार से वे सिद्ध भगवान व्यवहार से नित्य कहने में आते हैं। पाठ है न? **लोयग्ग-ठिदा णिच्चा** व्यवहार से नित्य है। निश्चय से तो परिणमन समय-समय में बदलता है। सिद्ध भी समय-समय में बदलते हैं। स्तुति में एक आता है, प्रभु! तुम तो समय-समय में बदलते हो, मैं तो असंख्य समय में बदलता हूँ। असंख्य समय का ख्याल आता है। वह भी बदलता है तो समय-समय में। असंख्य समय में ख्याल आता है। स्तुति में आता है। कहीं आता

होगा। तुम तो समय-समय में बदलते हो, परन्तु मुझे तो अन्तर्मुहूर्त में बदलता है। इसका अर्थ कि मेरी ऐसी स्थूलता है। आपको सूक्ष्मता प्रगट हो गयी है। व्यवहार से वे नित्य हैं।

अभूतपूर्व पर्याय... भगवान को पूर्व में नहीं थी, ऐसी सिद्धपर्याय प्रगट हुई। **(पहले कभी नहीं हुई ऐसी सिद्धपर्याय में से) च्युत होने का अभाव होने के कारण** यह पर्याय हुई, इसमें से नाश होने का अभाव होने से। नाश अर्थात् व्यवहार से वह नित्य कहने में आती है। कहो, समझ में आया? ऐसी की ऐसी पर्याय रहनेवाली है, इस अपेक्षा से (नित्य कही जाती है)। पर्याय तो समय-समय में बदलती ही है। **व्यवहार से अभूतपूर्व पर्याय में से (पहले कभी नहीं हुई ऐसी सिद्धपर्याय में से) च्युत होने का अभाव होने के कारण नित्य – ऐसे वे भगवन्त परमेष्ठी होते हैं।** लो, जैन में रहे हुए को भी उनके जैन सम्प्रदाय में क्या चीज़ है, उसकी खबर नहीं होती। जहाँ तहाँ भटकते हैं। यह अभी मुम्बई में करनेवाले हैं न? अठारह दिन के पर्यूषण। समाचार-पत्र में आया था। महावीर की वाणी। आठ दिन श्वेताम्बर के, दस दिगम्बर के। महावीर की वाणी का... अठारह दिन।

मुमुक्षु : ....मूर्ख हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा मूर्ख तो कोई हुआ ही नहीं, ऐसा कहते हैं। कौन जाने पहले उसमें घुस गया। फिर और इसमें... डाला। ...अठारह दिन के पर्यूषण, सौ रुपये की टिकिट। अठारह दिन व्याख्यान सुनना हो तो सौ रुपये देना पड़ेगा। कल समाचार पत्र में आया था न? पैसा उगाहना और महावीर के नाम की वाणी। कहाँ महावीर और कहाँ... महावीर तो महावीर ही हैं। आहाहा! महावीर की वे बेचारे कहते हैं, महावीर की २५०० वर्ष मनाना है। अपने जैन तो थोड़े हैं, ऐसा हम महोत्सव नहीं कर सकेंगे। जैसी विश्व में बौद्ध की हुई है, वैसी कोई हम नहीं कर सकेंगे। भगवान तो कोई... बुद्ध वह तो गृहीत मिथ्यादृष्टि था। ये तो तीन लोक के नाथ, सर्वज्ञ परमेश्वर पूर्णानन्द, इनका अपन महोत्सव क्या कर सकेंगे? और नहीं तो सब महोत्सव में इकट्ठे मिल जाएँ, ऐसा कहते हैं। ईशु का भी महोत्सव, बुद्ध का महोत्सव, गाँधी का महोत्सव और महावीर का महोत्सव।

मुमुक्षु : लौकिक के साथ मिल जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : लौकिक के साथ अपने को (समन्वय नहीं होता)... अरे! महावीर कौन और ईशु तथा बौद्ध कौन? तीन लोक के नाथ एक समय में जिन्हें परिपूर्ण ज्ञान.. परमेश्वर कृतकृत्य हो गये। उनका यह महोत्सव... तुलना करना... साधारण के साथ तुलना... एक मत है, इसकी महिमा कुछ घटे ऐसी नहीं है। यह कहा था वहाँ। वहाँ साहूजी आये न? कहा था, बात तो ऐसी है। अपने जैन चाहे जैसे हों... चाहे जितने हों परन्तु महोत्सव ईशु का किया, वैसी नहीं कर सकेंगे। वे तो करोड़ों रुपये साधारण, पूरा वर्ग ही अभी मिथ्यादृष्टि का बड़ा है। वह तो .... बड़ा होता है। मनुष्य में अधिक।

भगवान! आहाहा! एक समय में तीन काल, तीन लोक (जाने), उन्हें नहीं परन्तु पर्याय जानते हुए जानने में आ जाएँ। आहाहा! ऐसी बात की गन्ध अन्यत्र कहाँ है? ईशु और बौद्ध वे तो सब... जरा सब... आए... जैन... थोड़े, वे थोड़े भी मतभेद एक ओर रखकर एक होवे तो करो, दूसरा क्या? शुभभाव है। वह कोई शुद्ध नहीं। तब ऐसा कहा था। साहूजी... भाई। आहाहा! आत्मा अनन्त गुण और सब पूर्ण प्रगट पर्यायरूप से परिणमन हो गया। और एक समय में जिन्हें तीन काल-तीन लोक जानने में आवे और वह-वह दशा ऐसी की ऐसी कायम रहे, इसलिए उसे नित्य कहा जाता है। कूटस्थ कहा है न!

सिद्ध भगवान की पर्याय को कूटस्थ कहा। कूटस्थ का अर्थ? ऐसी की ऐसी रहती है, इस अपेक्षा से। बाकी समय-समय में बदलती है। सिद्ध का ज्ञान, केवलज्ञान समय-समय में बदलता है। केवलज्ञान तो पर्याय है, कोई गुण नहीं है। गुण तो त्रिकाल है। आहाहा! उसका महोत्सव कौन करे? अन्तर में अनुभव करके उग्रता प्रगट करे, वह महोत्सव है। आहाहा! यह प्रभु का पामर प्राणी क्या महोत्सव करे?

यहाँ कहते हैं, वह पर्याय कायम रहती है, इसलिए उसे नित्य कहा जाता है। आहाहा! ध्रुव तो नित्य है परन्तु पर्याय भी सदा ऐसी की ऐसी रहती है, इसलिए पर्याय को भी नित्य कहा जाता है। ध्रुव आया है न पहले? ध्रुव, अचल। समयसार की पहली गाथा। सिद्ध भगवान ध्रुव हैं। यह पर्याय की बात है। ध्रुव है न? '**वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं**' वह पर्याय ध्रुव है। ऐसे समय-समय में नाशवान है। यह कहा तो

भी ऐसी की ऐसी है, इसलिए ध्रुव है, ऐसा कहने में आता है। इसने कभी अनन्त काल में यह आत्मा क्या? वस्तु क्या? शक्ति क्या? दशा क्या? उसकी सम्हाल करने की इसने दरकार नहीं की। इस दुनिया की पंचायत-जंजाल, व्यवहार धन्धा, शुभ की क्रिया में रुककर... आत्मा ऐसा राग से भिन्न ऐसी अनन्त सामर्थ्यवाला तत्त्व, जिसकी एक समय की पर्याय में तीन काल ज्ञात हो, ऐसी की ऐसी पर्याय नित्य रहा करे। आहाहा!

अब ७२ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज तीन श्लोक कहते हैं —

व्यवहरण-नयेन ज्ञानपुञ्जः स सिद्धः,
त्रिभुवनशिखराग्रग्रावचूडामणिः स्यात्।
सहज-परम-चिच्चिन्तामणौ नित्य-शुद्धे,
निवसति निज-रूपे निश्चयेनैव देवः।।१०१।।

भगवान सिद्धपरमात्मा व्यवहारनय से लोक के अग्र में हैं, ऐसा कहने में आता है। पर के क्षेत्र में हैं, ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। निश्चय से तो भगवान अपने स्वरूप में ही है। लोक के अग्र में कहना, यह व्यवहार है - ऐसा कहते हैं। लोक पर है न? पराश्रय, वह व्यवहार। यह तो भगवान अपने गुण की पर्याय में बसे हुए हैं। भाव में बसे हुए हैं। अपने क्षेत्र में बसे हुए हैं। परक्षेत्र में नहीं। अपना असंख्य प्रदेश क्षेत्र है, उनके अनन्त गुण की पर्याय के परिणमन में बसे हुए है। निज क्षेत्र में बसे हैं, यह निश्चय। लोक के अग्र में रहते हैं, यह व्यवहार। वे कहें - लोक के अग्र में व्यवहार, यह खोटा है? व्यवहार अभूतार्थ है न? अभूतार्थ का अर्थ? लोक के अग्र में वास्तव में नहीं है। वास्तव में अपने स्वरूप में हैं। समझ में आया? अब इसका अर्थ करते हैं कि तुम लोक के अग्र को व्यवहार कहते हो। व्यवहार तो अभूतार्थ है। तो लोक के अग्र में नहीं? अन्यत्र हैं? ....आहाहा!

निश्चय से लोक के अग्र में नहीं हैं। निश्चय से अपने स्वरूप में हैं। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में स्वयं भगवान विराजते हैं। परक्षेत्र में नहीं, तथापि परक्षेत्र में है, ऐसा कहना व्यवहार है। व्यवहार अन्यथा कहता है। व्यवहार से व्यवहार को सच्चा सिद्ध करना है।

व्यवहारनय से ज्ञानपुंज ऐसे वे सिद्ध भगवान... वह ज्ञान का पुंज प्रभु है। अकेली ज्ञानदशा। पूर्ण ज्ञानपुंज हो गये हैं। ऐसा ही यह आत्मा है। अकेला ज्ञान का पुंज है। **व्यवहारनय से...** इतना रखना। **ज्ञानपुंज ऐसे वे सिद्ध भगवान त्रिभुवनशिखर की शिखा के...** त्रिभुवन के शिखर के ऊपर **(चैतन्यघनरूप) ठोस चूड़ामणि हैं;...** चैतन्यघन तो अपना स्वभाव है परन्तु वहाँ शिखर के ऊपर है, यह व्यवहार से कहा जाता है। ठोस-ठोस। ठोस चूड़ामणि। **कलगी का रत्न; शिखर का रत्न।** है। असंख्य प्रदेश में अनन्त गुण का पिण्ड है, उसमें विकल्प का प्रवेश नहीं। वहाँ परक्षेत्र का प्रवेश नहीं। आहाहा! लोक का अग्र कहो परन्तु उस अग्र के क्षेत्र का अन्दर प्रवेश नहीं। अपने क्षेत्र में वे स्वयं हैं। आहाहा!

निश्चय से वे देव सहजपरमचैतन्यचिन्तामणिस्वरूप नित्यशुद्ध... वह व्यवहार था। लोक के अग्र में वह (व्यवहार था)। **निश्चय से वे देव...** परमात्मा सिद्ध भगवान **सहजपरमचैतन्य...** स्वाभाविक परमचैतन्य **चिन्तामणिस्वरूप...** परमचैतन्यचिन्तामणि। आहाहा! जिसमें लोकालोक... एक समय, 'स' के बोलने में असंख्य समय जाते हैं। उसमें एक समय में लोकालोक ज्ञात हो जाए, ऐसा चैतन्यचिन्तामणिरत्न है। **निश्चय से वे देव सहजपरमचैतन्यचिन्तामणिस्वरूप नित्यशुद्ध...** पर्याय कायम अर्थात् **निजस्वरूप में ही वास करते हैं।** पर्याय निर्मल शुद्ध वहाँ बसती है, ऐसा कहते हैं। अपनी परम आनन्ददशा, अतीन्द्रिय आनन्द का अमृत, वह समय-समय में अनन्त अमृत का भोजन भगवान करते हैं। आहाहा! सिद्ध भगवान को अतीन्द्रिय अमृत का भोग समय-समय में है। यह भगवान को भोग चढ़ाते हैं न? क्या कहलाता है? थाल। वैष्णव चढ़ाते हैं। वह भोग धूल का (जड़ का) है। यह तो अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव का भोग, परमात्मा को अनन्त भोग प्रगट हुआ है। ऐसे चिन्तामणि **नित्यशुद्ध निजस्वरूप में ही वास करते हैं।** यह सब पर्याय की बात है। **नित्यशुद्ध निजस्वरूप...** परिणति में वे बसते हैं। निश्चय से उसमें बसते हैं, ऐसा कहते हैं। व्यवहार से लोक के अग्र में बसते हैं। लोक के अग्र में हैं, यह बराबर है परन्तु आत्मा लोक के अग्र में हैं, यह व्यवहार है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! देखा? परन्तु है न? इस अपेक्षा से बराबर है परन्तु आत्मा उसमें अग्र में है, यह व्यवहार है। निश्चय से तो अपने स्वरूप में है।

अपना निज मन्दिर, निरावरण, निर्मल दशा हुई, उसमें वे बसते हैं। अरे! अरूपी भी महापदार्थ है। अरूपी (का अर्थ) तो वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं है। अरूपी का स्वरूप है। अरूपी का रूप स्वरूप है। ले, स्वरूप है या नहीं अरूपी भी? वह जड़स्वरूप है। अरूपी स्वरूप है। स्वरूप पदार्थ है। विज्ञानघन चिन्तामणि रत्न ऐसा नित्य शुद्ध निजस्वरूप में ही बसता है। उसका क्षेत्र वह है। लोक के अग्र में कहना, वह पर की अपेक्षा से व्यवहार है। दूसरा श्लोक, १०२।

नीत्वास्तान् सर्व-दोषान् त्रिभुवन-शिखरे ये स्थिता देह-मुक्ताः
तान् सर्वान् सिद्धिसिद्ध्यै निरुपमविशदज्ञानदृक्शक्तियुक्तान्।
सिद्धान् नष्टाष्ट-कर्म-प्रकृति-समुदयान् नित्य-शुद्धाननन्तान्,
अव्याबाधान्नमामि त्रिभुवनतिलकान् सिद्धिसीमन्तिनीशान्।।१०२।।

यह क्या कहा... अर्थ किया है? अव्याबाध है परन्तु इसमें वापस... है वह? नमामि। अव्याबाधन नमामि। अव्याबाध ऐसे भगवान के स्वरूप को मैं नमस्कार करता हूँ।

श्लोकार्थ : जो सर्व दोषों को नष्ट करके... इसका अर्थ .... **सर्व दोषों को नष्ट करके...** लो। कितने ही सिद्ध तो अनादि के हैं। सिद्ध भी दोष का नाश करके ही सिद्ध हुए हैं। अनादि की परम्परा तो यही है। आहाहा! विवाद उठाते हैं। ऐसा कि सिद्ध अनादि के अनन्त हैं। वे पहले संसारी थे, फिर सिद्ध हुए। तब पहले संसारदशा बड़ी हुई, ... फिर सिद्ध हुए। एक-एक व्यक्ति की अपेक्षा से तो ऐसा ही कहा जाता है। अनन्त की अपेक्षा से अनन्त सिद्ध अनादि के हैं। पहले कोई सिद्ध नहीं थे और पहला हुआ, ऐसा नहीं होता। पहले कोई सिद्ध नहीं थे और संसार का नाश करके पहले हुए हैं, ऐसा नहीं होता। सिद्ध अनादि-अनन्त; संसार अनादि-अनन्त ऐसा का ऐसा है। सिद्ध हुए, ऐसा जब कहना हो, तब ऐसा ही कहा जाता है।

सर्व दोषों को नष्ट करके देहमुक्त होकर... लो! देह थी, उससे मुक्त होकर। **त्रिभुवनशिखर पर स्थित हैं,...** तीन भुवन के शिखर पर स्थित हैं। **जो निरुपम विशद (निर्मल) ज्ञानदर्शनशक्ति से युक्त हैं,...** जिसे उपमा न दी जा सके, ऐसे निर्मल ज्ञानदर्शन से युक्त हैं-सहित हैं। ज्ञानदर्शन से सहित हैं। पर से सहित हैं, ऐसा नहीं। निर्मल,

विशद, निरुपम-जिसकी उपमा नहीं मिलती। ऐसे **ज्ञानदर्शनशक्ति से युक्त हैं,...** यह पर्याय की बात है। ज्ञानदर्शन शक्ति, यह पर्याय की बात है।

जिन्होंने आठ कर्मों की प्रकृति के समुदाय को नष्ट किया है,... भाषा क्या आवे? जिन्होंने आठ कर्म की प्रकृति, वापस। उसका स्वभाव, उसके समुदाय को नष्ट किया है। अपना स्वभाव पूर्ण प्रगट किया है। **जो नित्यशुद्ध हैं,...** लो, यहाँ आया। नित्यशुद्ध हैं। जो निर्मलदशा प्रगट हुई, वह कायम ऐसी की ऐसी रहती है। व्ययरहित उत्पाद और उत्पादरहित व्यय, आता है न? भाई! प्रवचनसार में। आहाहा! व्ययरहित उत्पाद। सिद्धपर्याय प्रगट हुई, कैसी? कि व्ययरहित। उत्पाद बिना का व्यय-संसार का नाश हुआ, संसाररहित... अब उत्पाद... है? प्रवचनसार... अन्दर है। व्ययरहित उत्पाद और उत्पादरहित व्यय। आहाहा! तो ही सिद्धपना रहे न? नित्य है न? जो नित्य पर्याय प्रगट हुई, उत्पाद। व्ययरहित उत्पाद। अब उस पर्याय का व्यय-नाश नहीं होगा। इस संसार का व्यय हुआ, वह उत्पादरहित व्यय हुआ। अब फिर संसार उत्पन्न नहीं होगा। आहाहा! ऐसे भगवान-सिद्ध भगवान की जाति का तू है, कहते हैं। आहाहा! ऐसा कहाँ स्वरूप है? दूसरे सब गप्प मारते हैं। महावीर की वाणी... आहाहा! वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। जैनदर्शन अर्थात् कोई सम्प्रदाय नहीं, विश्वदर्शन है। विश्व का स्वरूप है, आत्मा का, जड़ का स्वरूप है, ऐसा इसका स्वरूप है। ऐसी जो सिद्ध भगवान की पर्याय प्रगट हुई, वह नित्य शुद्ध है, ऐसा कहते हैं।

जो अनन्त हैं,... वह पर्याय अनन्त है। ऐसी की ऐसी अन्तरहित हुआ ही करेगी। **अव्याबाध हैं,...** कोई विघ्न करनेवाला नहीं है। लो! अव्याबाध है। धर्मास्तिकाय ने सिद्ध को रोका है तो अव्याबाध नहीं रहे। सिद्ध को धर्मास्तिकाय ने रोका है न? वे क्यों नहीं ऊपर जाते?

मुमुक्षु : लोक का आत्मा लोक में रहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा लोक का द्रव्य है, लोक में रहेगा। अलोक में कहाँ जाता था? आहाहा! लोक की चीज़ है, लोक में रहती है। अलोक में कहाँ से जाए? लोक तो उसे कहते हैं—लोकयंति इति लोकः। जहाँ छह द्रव्य दिखते हैं, उसे लोक कहते हैं। अलोक अर्थात् जहाँ छह द्रव्य हैं नहीं, एक आकाश है, उसका नाम अलोक।

आहाहा! ऐसी बात देखो तो सही! सर्वज्ञ परमेश्वर ने ऐसी वस्तु की स्थिति वर्णन की, ऐसी स्थिति कहीं, कहीं अन्यत्र नहीं है। सब बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। लाखों लोग इकट्ठे हों, धूल में भी कहते हैं नहीं। आहाहा! सत्य तो यह है।

तीन लोक में प्रधान हैं... त्रिभुवन तिलक। तीन लोक के तिलक हैं। ऊपर। **और मुक्तिसुन्दरी के स्वामी हैं,...** लो। **सिद्धिसीमन्तिनीशान्** मुक्तिरूपी सुन्दरी। यह पवित्र आनन्द की दशा और पूर्ण ज्ञानदशा, ऐसी जो उसकी पर्याय, उसके वे स्वामी हैं। अपनी निर्मल पर्याय के स्वामी हैं। लोक के नाथ कहलाते हैं न? वे तो जानते हैं 'लोगनाहाणं, लोग-हिआणं, लोग-पईवाणं, लोग-पज्जोअगराणं, अभय-दयाणं, चक्खु-दयाणं, मग्ग-दयाणं...' आता है या नहीं? ...बहुत विशेषण लगाते हैं। परन्तु है क्या?, अर्थ की खबर नहीं होती। मग्ग-दयाणं व्याख्यान में करते होंगे। पहाड़े बोले। आहाहा!

मुक्तिसुन्दरी के स्वामी हैं,... लो। **उन सर्व सिद्धों को सिद्धि की प्राप्ति के हेतु मैं नमन करता हूँ।** लो। ठीक। मैं भगवान को नमस्कार करता हूँ, उससे मुझे सिद्धि प्राप्त होगी। सिद्धि को नमे, वह तो विकल्प है। वह तो बात है। उसमें नहीं आता 'वन्दे तदगुण लब्ध्ये' - हे भगवान! आपके गुणों की प्राप्ति के लिए आपको नमन करता हूँ। यह तो बात करते हैं। तुम्हारी जाति है, वह मुझे अन्तर में से प्रगट करनी है। आपको वन्दन करूँ, ऐसे विकल्प में कुछ नहीं है। यह तो समयसार में पहले नहीं कहा? यह टीका करते हुए मेरी शुद्धि बढ़ जाओ। टीका करते हुए बढ़ जाओ तो टीका का तो विकल्प है।

मुमुक्षु : अभी क्यों लिखे होवे तब लिखे।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या लिखे? लिखते हैं वह बराबर लिखते हैं। अन्तर में मेरा आश्रय चैतन्य में वर्तता है। यह लिखने के समय भी मेरा आश्रय तो चैतन्य द्रव्य ही है। इसके आश्रय की उग्रता होने से अशुद्धता टल जाओ, ऐसा कहते हैं।

यहाँ कहते हैं, उन **सिद्धों को सिद्धि की प्राप्ति के हेतु...** मुक्ति की प्राप्ति के लिए वन्दन करता हूँ। 'सिद्धासिद्धिं मम दिशंतु' आता है न? हे सिद्ध भगवान! मुझे सिद्धि दिखाओ। इसका अर्थ कि मैं केवलज्ञान प्रगट करूँ, तब तुम्हारी सिद्धि दिखेगी। लोग्गस्स

में आता है या नहीं? हिम्मतभाई! नहीं आता होगा। यह लोग्गस्स में आता है। ...उस सर्व सिद्धि की प्राप्ति के लिए, मेरा प्रयोजन मेरे स्वभाव का आश्रय लेकर पूर्ण प्राप्ति करूँ, यह मेरा हेतु है, ऐसा कहते हैं। वन्दन करने का विकल्प है, उससे होगा। ऐसे वन्दन के विकल्प के काल में भी मेरा आश्रय स्वचैतन्य पर है। वह आश्रय बढ़कर मुक्ति की प्राप्ति हो। इसलिए मैं अभी (नमता) हूँ, ऐसा कहते हैं।

के हेतु मैं नमन करता हूँ। लो! सिद्ध भगवान को नमन करना, वह परद्रव्य है। परद्रव्य को नमन, वह तो विकल्प है। विकल्प ही है, राग है। उस समय स्व के आश्रय का जोर करके मैं मुक्ति को प्राप्त करूँ, यही मेरी अभिलाषा है। राग में अटकूं और राग का फल मुझे मिलना, यह नहीं। आहाहा! भाई! वीतराग की वाणी... व्यवहार से वर्णन करे कुछ, निश्चय से वर्णन करे कुछ।

मुमुक्षु : दो नये का विरोध होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह दो नये विरुद्ध हुए।

यह १०२ श्लोक हुआ १०३ कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण ६, मंगलवार, दिनांक - १३-७-१९७१
गाथा-७३-७४, श्लोक-१०३-१०४, प्रवचन-६६

१०३ वाँ कलश।

स्वस्वरूपस्थितान् शुद्धान् प्राप्ताष्टगुणसम्पदः।
नष्टाष्टकर्मसन्दोहान् सिद्धान् वन्दे पुनः पुनः ।।१०३।।

१०३ कलश, ७३ गाथा के ऊपर।

सिद्ध भगवान **जो निज स्वरूप में स्थित हैं,...** अपने आनन्द आदि अनन्त गुण की परिणति निर्मल, उसमें सिद्ध परमात्मा स्थित हैं। **जो शुद्ध हैं;...** परिपूर्ण पवित्र हैं। **जिन्होंने आठ गुणरूपी सम्पदा प्राप्त की है...** अनन्त गुण। अनन्त समकित, अनन्त ज्ञान-दर्शन आनन्द आदि आठ गुण की पर्याय प्राप्त की है। **जिन्होंने आठ कर्मों का समूह नष्ट किया है, उन सिद्धों को मैं पुनः पुनः वन्दन करता हूँ।** ऐसे सिद्ध भगवान— णमो सिद्धाणं। ऐसे सिद्ध को पहिचानकर मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ, ऐसा टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं।

अब ७३ वीं गाथा, उसकी टीका।

टीका : यहाँ आचार्य का स्वरूप कहा है। इस ओर है न? [**भगवन्त आचार्य कैसे होते हैं?**] जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव के शासन में आचार्यों का स्वरूप कैसा होता है, उसका वर्णन करते हैं। जो **ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य नामक पाँच आचारों से परिपूर्ण;...** हैं। निश्चय आत्मा आनन्द ज्ञानस्वरूप है, उसका जिसे ज्ञान आचरण अन्तर से शुद्ध ज्ञान का परिणमन प्रगट हुआ है। **ज्ञान...** आचार, **दर्शन...** आचार। सम्यग्दर्शन का शुद्ध परिणमन जिन्हें प्रगट हुआ है। **चारित्र...** स्वरूप आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा की रमणतारूप चारित्र, उसमें अन्तर रमणता, ऐसा चारित्र जिसे प्रगट हुआ है। **तप...** शुद्ध आनन्द आदि की परिणति शोभित, तपित, विशेष परिणित निर्मल दशा हुई है, उसे तप कहते हैं। **वीर्य...** जिसका बल पाँच आचार में परिणम रहा है। शुद्ध, पुण्य-पाप के रागरहित जिसका वीर्य स्वरूप की शुद्ध शक्ति का सत्व, उसका परिणमन करने में वीर्य समर्थ रहा है। इन **नामक पाँच आचारों से परिपूर्ण;...** हैं। ऐसे

जैनदर्शन में आचार्यों का अन्त:स्वरूप ऐसा होता है। बाह्य में पंच आचार भी विकल्परूप होते हैं। जिनकी नग्नदशा होती है, जो जंगल में बसते हैं। आहाहा! तीनों काल में जैनशासन में आचार्य का ऐसा स्वरूप है।

जिसे **स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र नाम की पाँच इन्द्रियोंरूपी मदान्ध हाथी...** पाँच इन्द्रियों का मद हाथी मानो मद में आये हों, उसका **दर्प का दलन करने में दक्ष (पञ्चेन्द्रियरूपी मदमत्त हाथी के मद को चूरचूर करने में निपुण)...** ओहो! अतीन्द्रिय आनन्द जिन्हें उग्ररूप से परिणमित हुआ है। उसके द्वारा पाँच इन्द्रिय के विषयों को **पाँच इन्द्रियोंरूपी मदान्ध हाथी के दर्प का दलन करने में दक्ष (पञ्चेन्द्रियरूपी मदमत्त हाथी के मद को चूरचूर करने में निपुण)...** हैं। विषय के विकल्प की दशा उत्पन्न नहीं होती। आहाहा! निर्विकल्प—रागरहित आनन्द की दशा में रमते, अतीन्द्रिय आनन्द की परिणति में झूलते हुए उन्होंने पाँच इन्द्रिय के मद का तो नाश किया है। बहुत सूक्ष्म है। शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं। वह तो जड़-मिट्टी है। अन्दर भगवान पूर्ण शुद्ध आनन्दस्वरूप का जिन्हें परिणमन अर्थात् अवस्था अतीन्द्रिय उग्ररूप से परिणमी है, इसलिए उन्होंने पाँच इन्द्रियों को जीता है।

समस्त घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करते हैं,.. आत्मा में अकेली शान्ति, अविकारी दशा, निर्दोष पवित्रता प्रगट हुई है कि घोर उपसर्गों के प्रति भी विजय प्राप्त की है। प्रतिकूलता के अनन्त ढेर आवें, तो भी उनके प्रति यह ठीक नहीं है, ऐसा विकल्प जिन्हें नहीं होता। आनन्द में रमते हैं। आहाहा! उन्हें आचार्य कहते हैं। णमो आइरियाणं - आता है न? णमो लोए सव्व आइरियाणं। ऐसे ढाई में द्वीप सन्त, आचार्य जैनदर्शन के होते हैं। **समस्त घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करते हैं, इसलिए धीर...** हैं। एक बात। यह तीसरा बोल। **और गुणगम्भीर...** हैं। जिनके गुण की दशा इतनी गम्भीर है। साधारण जीव को उसका पता नहीं लगता, ऐसी दशा है। अतीन्द्रिय आनन्दपूर्वक निर्मल ज्ञान, श्रद्धा, आनन्द, शान्ति इत्यादि ऐसी दशा प्रगट हुई है कि जिसके गुण गम्भीर हैं। आहाहा! ऐसा जैनदर्शन के आचार्य का स्वरूप है। **ऐसे लक्षणों से लक्षित, वे भगवन्त आचार्य होते हैं।** लो, शब्द प्रयोग किया है। पहले तो कोष्ठक में डाला था। यह तो पाठ में आया। ऐसे भगवन्त आचार्य होते हैं। आहाहा!

इसी प्रकार (आचार्यवर) श्री वादिराजदेव ने कहा है कि— दूसरे का आधार देते हैं। श्लोक।

पञ्चाचारपरान्नकिञ्चनपतीन्नष्टकषायाश्रमान्,
चञ्चज्ज्ञानबलप्रपञ्चितमहापञ्चास्तिकायस्थितीन्।
स्फाराचञ्चलयोगचञ्चुरधियः सूरीनुदञ्चद्गुणान्,
अञ्चामो भवदुःखसञ्चयभिदे भक्तिक्रियाचञ्चवः।।

भक्तिक्रियाचञ्चवः चंचव। जैन साधु-आचार्य कैसे होते हैं? नीचे श्लोकार्थ।

पञ्चाचारपरायण हैं,... अन्तर के ज्ञान-दर्शन आनन्द आदि वीर्य, तप में तत्पर हैं। शुद्ध आचरण में अन्दर पुण्य-पाप के रागरहित, आनन्द का धाम भगवान के पंचाचार में वे तत्पर हैं। आत्मा का आचरण, ऐसा कहते हैं। उसमें तत्पर हैं। वीतरागी परिणति में वे तत्पर हैं, ऐसा कहते हैं। **जो अकिंचनता के स्वामी हैं,...** जिन्हें एक परिग्रह का, राग का अंश नहीं और कपड़े का टुकड़ा नहीं, ऐसे जैन के आचार्य भगवान, भगवान ने वर्णन किये हैं। **अकिंचनता के स्वामी हैं,...** बाह्य में नग्नदशा, अन्तर में राग का कण भी जिन्हें नहीं है। आहाहा!

जिन्होंने कषायस्थानों को नष्ट किया है,... शुभ-अशुभराग, ऐसे जो कषाय अर्थात् विकारभाव, उनका जिन्होंने नाश किया है। वीतराग परिणति में झूलते हैं। आहाहा! **परिणमित ज्ञान के बल द्वारा जो महा पञ्चास्तिकाय की स्थिति को समझाते हैं,...** कहते हैं कि इस जगत में पंचास्तिकाय है अर्थात् काल के अतिरिक्त आत्मा, पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति और आकाश - ऐसे पाँच अस्तिकाय। काल है, वह अस्ति है परन्तु काय नहीं है। इसलिए पाँच अस्ति में उसे नहीं लेना। ऐसा पंचास्तिकाय का स्वरूप **परिणमित ज्ञान के बल द्वारा...** मात्र धारणा में से नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा ज्ञान में परिणमन, अन्दर वीतरागी परिणमन हो गया है।

परिणमित ज्ञान के बल द्वारा... अकेली बात करने बैठे हैं, ऐसा नहीं - ऐसा कहते हैं। आहाहा! अकेले पंचास्तिकाय भगवान ने कहे हैं, ऐसी धारणा की है और कहते हैं, ऐसा भी नहीं। आहाहा! अन्तर पंचास्तिकाय जगत में हैं, उसका ज्ञान में

परिणमन हो गया है। ज्ञानस्वरूप आत्मा, चिदानन्दस्वरूप आत्मा का ज्ञान का परिणमन ही अन्दर हो गया है। परिणमन के बल द्वारा पंचास्तिकाय का कथन करते हैं, ऐसा कहते हैं। भगवान के पास सुना हुआ है, सुना हुआ कहते हैं, ऐसा नहीं। आहाहा! शुद्ध चैतन्यभगवान पवित्र की परिणति, जिसकी दशा हो गयी है, कहते हैं। उस दशा के परिणमनपूर्वक पंचास्तिकाय का कथन करते हैं।

महापंचास्तिकाय... भाषा ऐसी ली है न? आकाश लोकालोक का आकाश, आकाशास्तिकाय, एक-एक जीव असंख्य प्रदेशी- ऐसे अनन्त आत्माएँ, उससे अनन्त गुणे परमाणु, धर्मास्ति और अधर्मास्ति, ऐसी महा पंचास्तिकाय की मर्यादा - स्थिति को वे समझाते हैं। जगत में एक ही आत्मा है अथवा अनन्त आत्मा ही है, ऐसा नहीं। अनन्त आत्मा, अनन्त परमाणु, धर्मास्ति, अधर्मास्ति और आकाश—ऐसे पाँच अस्तिकाय। अस्ति अर्थात् हैं; बहुत से प्रदेशों का समूह अर्थात् काय। भाषा पूरी अलग! ऐसा स्वरूप है।

परिणमित ज्ञान के बल द्वारा जो... जिनका ज्ञानस्वरूप अन्दर वीतरागभाव से परिणम गया है। ऐसे परिणमन के बल द्वारा महापंचास्ति - ऐसी भाषा ली है न? आकाश का तो कहीं अन्त नहीं, ऐसा आकाश है। उनकी **स्थिति को समझाते हैं,...** आचार्य हैं न? **विपुल अचंचल योग में (विकसित स्थिर समाधि में) जिनकी बुद्धि निपुण है...** विपुल अचंचल योग। **(विकसित स्थिर...)** आनन्द। स्थिर समाधि-शान्ति। अकषाय शान्ति। वीतरागभाव की शान्ति का परिणमन, ऐसी समाधि अचंचल योग विपुल, **जिनकी बुद्धि निपुण है...** आनन्द की समाधि में जिनकी बुद्धि निपुण है। आनन्द की शान्ति और समाधि। समाधि अर्थात् वे बाबा जोगी करें, उनकी बात यहाँ नहीं है, हों! समाधि। लोगस्स में यह आता है...। आता है न लोगस्स में? अर्थ किसे आता है? भगवान जाने अर्थ तो '**समाहिवरमुत्तमं दिंतु। चंदेसु निम्मलयरा, आईच्चेसु अहियं पयासयरा;**' यहाँ तो '**समाहिवरमुत्तमं दिंतु।**' इसका अर्थ क्या? मुझे उत्तम समाधि दो। कौन सी समाधि? वे बाबा करते हैं वह? (नहीं)

यहाँ तो आधि, व्याधि, उपाधि रहित आत्मा की वीतरागी शान्ति को समाधि कहते हैं। आधि अर्थात् मन के संकल्प-विकल्परहित; व्याधि अर्थात् शरीर के रोगरहित

और उपाधि अर्थात् संयोगरहित - ऐसी आत्मा में शान्त.. शान्त.. शान्त.. उसे शान्ति का समुद्र उछला है। आहाहा! विकसित हुआ है न? कहा न? निपुण अर्थात् विकसित। स्थिर समाधि में बुद्धि निपुण है। उसमें वे आचार्य चतुर हैं। परम आनन्द की शान्ति, उसमें वे झूलते हैं, उसमें वे निपुण हैं।

जिनको गुण उछलते हैं,... लो। आत्मा के जो अनन्त गुण हैं, वे उछलते हैं अर्थात् पर्याय में परिणमते हैं। जैसे समुद्र में ज्वार आता है, अन्दर से उछलकर ज्वार आता है; इसी प्रकार मुनि को, आचार्यों को अन्तर में अनन्त गुण का जो समुद्र भरा है, वे गुण उछलते हैं। अन्तर के अनुभव की दृष्टि के जोर से अनन्त-अनन्त आनन्द आदि गुण की दशा उछलती है। उछाला मारती है। आहाहा! गजब बात, भाई! समुद्र उछलता है, कहते हैं। भगवान आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण हैं। एक-एक आत्मा में (अनन्त-अनन्त गुण हैं)। वे अनन्त-अनन्त गुण उछलते हैं। उसकी पर्याय में ज्वार आता है। क्या होगा यह अनादि से खबर नहीं। आहाहा!

भगवान चैतन्यस्वरूप अनन्त आनन्द और ज्ञान तथा शान्ति से भरपूर तत्त्व है। ऐसे तत्त्व का जहाँ अनुभव किया और उसमें एकाग्र हुआ तो अनन्त शक्तिरूप गुण हैं, वे उसकी पर्याय में उछलते हैं। लो, वह आया न? शक्ति उछलती है। ज्ञान में दूसरी शक्तियाँ उछलती हैं। शक्ति में आता है न? सैंतालीस शक्ति। आहाहा! ज्ञान का सम्यक् परिणमन होने पर, शुद्ध चैतन्यद्रव्य का आश्रय लेने पर सम्यग्ज्ञान का परिणमन होने पर अनन्त गुणों की पर्याय, इस ज्ञान की पर्याय में उछलती है, आती हैं। आहाहा! धर्मी को पुण्य-पाप का राग नहीं आता, नहीं उछलता। आहाहा!

जिनको गुण उछलते हैं,... अज्ञानी को विकार उछलता है। पुण्य-पाप के भाव उछाला मारते हैं। अन्धा होकर उनमें पड़ता है। अस्थिरता में जुड़ जाता है। राग में एकाकार हो जाता है। यह अन्दर आनन्द में एकाकार हो जाए, **उन आचार्यों को...** ऐसे वीतराग मार्ग के अन्तर अनुभवी सन्तों को **भक्तिक्रिया में कुशल ऐसे हम,...** स्वयं मुनि हैं न? टीका करनेवाले मुनि हैं। इसलिए ऐसे जैन के आचार्य होते हैं, उन्हें हम **भक्तिक्रिया में कुशल ऐसे हम,...** वापस ऐसा। ऐसे सन्तों की भक्ति करने में हम

कुशल हैं। हमें खबर है कि ऐसे सन्त हैं, उनका बहुमान करने में हम चतुर है, सयाने हैं, कुशल हैं, निपुण हैं, चतुर हैं।

मुमुक्षु : राग में...

पूज्य गुरुदेवश्री : राग में अर्थात् उस गुण में। उनके गुण को वन्दन करने में चतुर हैं। भले विकल्प हो। आहाहा! यह मुनि हैं, वह भी भावलिंगी सन्त हैं। जिन्हें अनन्त आनन्द उछला है। सच्चे मुनि तो उन्हें कहते हैं। वस्त्र त्यागकर बैठे, इसलिए मुनि हो गया—ऐसा नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई! यह मुनि स्वयं कहते हैं, अहो! ऐसे आचार्य जैन में!

मुमुक्षु : आचार्य, आचार्य को कहते हैं....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो मुनि, आचार्य को कहते हैं। टीकाकार मुनि हैं न? मुनि कहते हैं कि हम... पद्मप्रभमलधारि मुनि हैं। ये वादिराज आचार्य हैं। परन्तु ये स्वयं आधार देते हैं न? वादिराज पंचाचार ये करते हैं, आचार्य कहते हैं। परन्तु हम भी यह करते हैं। आहाहा! वे तो पूर्व में हो गये हैं।

ऐसे हम, भवदुःखराशि को भेदने के लिये... लो, ऐसा ही आवे। कथन क्या आवे? ऐसे सन्तों को, आचार्य, आचार्य को; आचार्य, मुनि को; मुनि, आचार्य को... आहाहा! **...भेदने के लिये पूजते हैं।** भव के दुःख, संसार का जाल, स्वर्ग-नरक के भव के दुःख का जाल.. आहाहा! उसे छेदने के लिए हम वन्दन करते हैं, ऐसा कहते हैं। उसमें भव में कुछ नरक और तिर्यंच के भव छेदने के लिए, ऐसा कुछ नहीं। सम्पूर्ण सब भवदुःख की राशि - चारों गतियाँ... आहाहा! भव के दुःख का ढ़ेर। चौरासी के अवतार में सर्वत्र दुःख है, भाई! देव दुःखी, सेठ दुःखी, राजा दुःखी, सब भिखारी, राग के भिखारी हैं। विकार के अभिलाषी सब दुःखी हैं। .....आता है न? वीतरागी मुनि भी, हों! आता है न यह? अकिंचितता के स्वामी हैं। अन्तर में अकिंचनता और बाहर में अकिंचनता। धन्य अवतार! उन्होंने अवतार सफल किया है।

चारित्रस्वरूप जिन्हें अन्तर में... नग्नदशा बाह्य और अन्तर में चारित्र परिणम गया है। आहाहा! जिन्हें पूरी दुनिया की दरकार नहीं है। ऐसा आत्मा, उसे भक्त कहते

हैं, लो, आचार्य महाराज के भी भक्त आचार्य और मुनि भी आचार्य के भक्त हैं। **भेदने के लिये पूजते हैं।** भाषा तो ऐसी ही आवे न? 'वंदे तद्गुण लब्ध्ये' आया था।

हमारे प्राप्ति। भाव तो अन्दर में यह है। भले अन्दर में विकल्प है। उससे कुछ प्राप्त नहीं होता। लो, आचार्य स्वयं अपनी बात करते हैं, और ऐसे आचार्य होते हैं, उन्हें मैं वन्दन करता हूँ, ऐसा भी कहते हैं।

व्यवहार-चारित्र का अधिकार, ७३ गाथा। आचार्य कैसे होते हैं? जैनदर्शन में वीतराग के मार्ग में पंचपरमेष्ठी कैसे होते हैं, उनका वर्णन है। अरिहन्त और सिद्ध का वर्णन आ गया। आज आचार्य का वर्णन

पंचाचारसमग्गा पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति।।७३।।

हैं धीर गुण गंभीर अरु परिपूर्ण पंचाचार हैं।
पंचेन्द्रि-गज के दर्प-उन्मूलक निपुण आचार्य हैं॥७३॥

इसकी टीका। क्या कहा? कलश बाकी है ऐसा न?

१०३, मैं पढ़ गया था इसलिए मानो ऐसा कि आ गया।

मुमुक्षु : अन्दर पढ़ लिया होवे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर पढ़ गया होऊँ न इसलिए।

और इस ७३ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं —

सकलकरणग्रामालम्बाद्विमुक्तमनाकुलं,
स्वहितनिरतं शुद्धं निर्वाणकारणकारणम्।
शम-दम-यमावासं मैत्री-दया-दम-मंदिरं,
निरुपमिदं वन्द्यं श्री-चन्द्र-कीर्ति-मुनेर्मनः।।१०४।।

कलश १०४। आचार्य ने आचार्य को नमन किया अर्थात् स्वयं मुनि अब, मेरे गुरु को वन्दन। गुरु-आचार्य को। देखो! आहाहा! उनके आचार्यगुरु भी ऐसे हैं, ऐसा

ज्ञान में निर्णय हो गया है। है न? चन्द्रकीर्ति मुनि का मन अर्थात् चैतन्यपरिणति। मेरे आचार्य के, मेरे गुरु-आचार्य को वीतराग परिणति परिणम गयी है, उन्हें मैं वन्दन करता हूँ। आहाहा!

श्लोकार्थ : सकल इन्द्रियसमूह के आलम्बनरहित,... क्या कहते हैं? अपने गुरु जो चन्द्रकीर्ति। पद्मप्रभमलधारिदेव के आचार्य हैं। ओहोहो! मुनि भी देखो न, कैसे पके हैं! आचार्य ऐसे, लो! पद्मप्रभमलधारि मुनि... आहाहा! कहते हैं, हमारे गुरु और उन्हें हमने पहिचाना है कि उनका चैतन्य परिणमन, वीतरागी दशा कैसी है? **सकल इन्द्रियसमूह के आलम्बनरहित,...** उनका परिणमन है। आहाहा! अन्तर के वीतरागी निर्दोष आनन्द का परिणमन, अवस्था जिसे इन्द्रिय के समूह के आलम्बन का अभाव है, ऐसी अतीन्द्रिय आलम्बन दशा प्रगट हुई है। **अनाकुल,...** है। हमारे गुरु का परिणमन कैसा है? आनन्दरूप है, अनाकुल है। आहाहा! दूसरे मुनि की बात जान ली? ज्ञात हो जाती है?

मुमुक्षु : केवलज्ञान होवे तब....

पूज्य गुरुदेवश्री : केवलज्ञान... यह तो अभी जानते हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : पंचम काल में...

पूज्य गुरुदेवश्री : पंचम काल में और उनकी परिणति शुद्ध है, उसे जान लिया। आहाहा!

स्व-परप्रकाशक ज्ञान का फल अन्दर है। स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुआ, उस बल में हमारे आचार्य-मुनि महाराज ऐसे थे, उनका परिणमन ऐसा जो मन। मन अर्थात् उनका परिणमन, उसे मैं वन्दन करता हूँ। पंच महाव्रत के विकल्प और वह तो राग है, वह कोई वन्दन करनेयोग्य नहीं है। गजब बात! वह कोई मुनिपना नहीं है। पंच महाव्रत वह तो विकल्प राग है। वह कहीं चारित्र नहीं है, वन्दनीय नहीं है, ऐसा कहते हैं। वन्दनीय तो भगवान आत्मा शुद्ध आनन्द के परिणमन अवस्थारूप उग्ररूप से परिणमे, वह चारित्र और वह वन्दन के योग्य है। नग्नपना हो, वह कहीं वन्दनीय नहीं है। होता है, निमित्तरूप से (दशा) ऐसी होती है परन्तु जड़ की दशा, अन्तरंग में उतरे हुए गहरे-गहरे अन्दर में जाकर जिसने चैतन्य का पता लिया... आहाहा! ऐसी जो वीतरागी

परिणति दशा है, वह अनाकुल है। बिल्कुल आकुलता है ही नहीं। आनन्द.. आनन्द.. आनन्द..।

स्वहित में लीन,... हैं। हमारे गुरु, आचार्य स्वयं के हित में लीन हैं। देखो! पर का हित कैसे... आहाहा! **स्वहित में लीन,...** है। आत्मा का शुद्ध आनन्दस्वरूप, ऐसा जो स्वहित, उसमें वे लीन हैं। **शुद्ध...** है। जिनका परिणमन / वीतरागी अनाकुल दशा, स्वहित में लीनवाली, इन्द्रियों के आलम्बनरहित शुद्धदशा है। पुण्य-पाप का भाव तो अशुद्ध है। पुण्य और पाप, शुभ और अशुभभाव तो अशुद्ध है। यह तो शुद्धदशा है। आहाहा! **निर्वाण के कारण का कारण...** है। मुक्ति का कारण तो शुक्लध्यान स्वयं का; और यह चैतन्यपरिणमन, मेरे गुरु का परिणमन, वह निमित्त है।

(मुक्ति के कारणभूत शुक्लध्यान का कारण),... भगवान हमारे गुरु, आचार्य वीतरागी हुए, हों! अकेले राग से धर्म माने और पुण्य से धर्म माने, वह तो मिथ्यादृष्टि है। वह धर्मी नहीं, साधु नहीं और आचार्य भी नहीं। आहाहा! यह तो पंचम काल के मुनि हैं, लो! **निर्वाण के कारण का कारण...** है। मोक्ष, आत्मा की पूर्ण आनन्ददशा है। उसका कारण शुक्लध्यान है। उसके आश्रय में उपादानरूप से द्रव्य और बाह्य निमित्तरूप से हमारे गुरु का चैतन्य परिणमन। लो, गाथा ही ऐसी है। उनका अभिप्राय अन्तरंग कारण, ऐसा कहा न? यहाँ अन्तरंग की ही बात ली है।

शम-दम-यम का निवासस्थान,... है। आहाहा! वीतरागी भगवान आत्मा के अवलम्बन से प्रगट हुई वीतरागी दशा शान्ति.. शान्ति.. शान्ति.. उपशम। शान्ति और उपशम (का) तो निवासस्थान है। शान्ति को रहने का घर है। आहाहा! आत्मा की शान्ति, अकषायपरिणति के रहने का, वह गुरु का चैतन्यपरिणमन, उस शान्ति का निवासस्थान है। आहाहा! **दम = इन्द्रियादि का दमन; जितेन्द्रियता।** जितेन्द्रियता का निवास है। आहाहा! और **यम = संयम।** भाव संयम का निवासस्थान है। कहो, उस समय ऐसे मुनि होंगे न! ९०० वर्ष पहले।

ऐसा भगवान आत्मा अन्तर के शुद्धस्वभाव से परिणति होकर उछल रहा है। वह **शम-दम-यम का निवासस्थान,...** है। वह रहने का घर है। आहाहा! और **मैत्री-दया-**

दम का मन्दिर (घर)... है। उसमें भी दम था और इसमें भी दम है परन्तु वह निवासस्थान है, यह मैत्री दया दम का मन्दिर है, घर है। यह निवासस्थान कहा। धर्म की निर्विकल्प शुद्ध परिणति दशा, वह **मैत्री-दया-दम का मन्दिर (घर)...** है। **ऐसा यह श्रीचन्द्रकीर्तिमुनि का निरुपम मन (चैतन्यपरिणमन) वन्द्य है।** मन की व्याख्या चैतन्यपरिणमन है। भावमन, निर्विकल्पदशा, वीतरागीदशा मुनि की, वह हमारे वन्द्य है। उनके पंच महाव्रत के विकल्प और नग्नपना वह नहीं - ऐसा कहते हैं। ऐसी दशा हमारे आदरणीय है। समझ में आया? लो, यह अरिहन्त, सिद्ध और आचार्य तीन की व्याख्या हुई। ऐसे आचार्य होते हैं। आहाहा! दिखायी देना दुर्लभ हो गया है। वीतरागमार्ग, परमेश्वर वीतराग तीर्थंकरदेव के शासन में तो ऐसे आचार्य होते हैं और आचार्य मनावे, मात्र बाह्य क्रियाकाण्ड करे, पंच महाव्रत के विकल्प हों और उसे धर्म माने, वह तो मिथ्यादृष्टि है। वे जैन के साधु भी नहीं, जैन के आचार्य भी नहीं।

मुमुक्षु : जैनधर्म में तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : जैनधर्म में कहाँ रहे? अज्ञानधर्म में हैं। आहाहा! जैनधर्म तो पुण्य-पाप के राग से रहित, स्वभाव के आश्रय से प्रगट हुई शुद्धपरिणति, वह जैनधर्म है। जैनधर्म कोई आत्मा की परिणति से दूर नहीं है। आहाहा! वह स्वयं शुद्धपरिणति, वह जैनशासन है। आहाहा! (समयसार) १५वीं गाथा में आया न? आत्मा परम आनन्द का धाम शुद्ध चैतन्यधन में से प्रगट हुई शुद्ध और वीतरागी दशा, वह वन्द्य और उसे जैनशासन कहने में आता है। ऐसा जैन शासन का परिणमन हमारे वन्दनीय है, ऐसा कहते हैं। इसमें गजब! बाहर में तो कुछ सूझ पड़े, ऐसा नहीं मिलता। यह सब करते हों, उन्हें तो कुछ नाम भी नहीं मिलता।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या करे? भगवान! यह (शरीर) मिट्टी-जड़ है, इसका हलना-चलना होता है, वह तो जड़ के कारण है। बोलना होता है, वह जड़ के कारण से है। वह कहीं तेरा नहीं है। विकल्प उठे, इसकी दया पालूँ, व्रत पालूँ, वह सब राग है; वह कहीं धर्म नहीं है, वह कहीं जैनशासन नहीं है। आहाहा! यह चन्द्रकीर्ति, अपने

गुरु को याद करके उनका परिणमन जान लिया? ऐई! आहाहा! छद्मस्थ, छद्मस्थ के परिणमन को जाने?

मुमुक्षु : इस काल में...

पूज्य गुरुदेवश्री : इस काल में जाने। यहाँ किसकी बात आयी? यह पंचम काल की तो बात है। पंचम काल के मुनि हैं और पंचम काल के गुरु को वन्दन करते हैं। आहाहा!....

अब उपाध्याय। जैन के उपाध्याय कैसे होते हैं? णमो लोए सव्व उवज्झायाणं। णमो उवज्झायाणं परन्तु इसका णमो लोए सव्व उवज्झायाणं, ऐसा किया। अन्तिम पद है, वह सबमें डालना। णमो लोए सव्व साहूणं है न? वह सबमें डालना। णमो लोए सव्व अरिहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो लोए सव्व आइरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं। अन्तिम पद सबको लागू पड़ता है।

अब उपाध्याय की व्याख्या। आहाहा!

रयणत्तयसंजुत्ता जिणकहियपयत्थदेसया सूरा।
णिक्कंखभावसहिया उवज्झाया एरिसा होंति।।७४।।

नीचे (हरिगीत)

जो रत्नत्रय से युक्त निकांक्षित्व से भरपूर हैं।
उवझाय वे जिनवर-कथित तत्वोपदेष्टा शूर हैं॥७४॥

आहाहा! **यह अध्यापक (अर्थात् उपाध्याय) नाम के परमगुरु के स्वरूप का कथन है।** जैन के **[उपाध्याय कैसे होते हैं?] (१) अविचलित अखण्ड अद्वैत परम चिद्रूप के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप शुद्ध निश्चय-स्वभावरत्नत्रयवाले;...** होते हैं। आहाहा! कहते हैं कि भगवान आत्मा अन्दर त्रिकाल अविचल है। द्रव्य अखण्ड है, अद्वैत है। गुण-गुणी का भेद भी नहीं। परमचिद्रूप—त्रिकाल ज्ञानरूप, ऐसा आत्मस्वरूप, उसका श्रद्धान। उसकी श्रद्धा, वह समकित है। नवतत्त्व की श्रद्धा या देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा, वह समकित नहीं है; वह तो विकल्प है, राग है।

परमचिद्रूप **अविचलित अखण्ड अद्वैत परम चिद्रूप...** पूर्ण ज्ञानस्वरूप भगवान

की श्रद्धा अर्थात् उसके सन्मुख होकर निर्विकल्प प्रतीति करना, इसका नाम समकित है। आहाहा! **अविचलित अखण्ड अद्वैत परम चिद्रूप के श्रद्धान, ज्ञान...** निष्कांक्ष भाव डाला, देखा? इसलिए उसमें क्या हेतु है? कि वे प्ररूपणा करते हैं, उसमें से ये मेरे शिष्य होंगे, मुझे मानेंगे, ऐसी कांक्षा नहीं होती। इसलिए निष्कांक्ष भाव डाला है। स्वाध्याय है न? ऐसे पढ़ाते हैं न? और इससे तो हमारे पास पढ़ें तो इतने तो हमें मानते होंगे, इतने तो मेरे शिष्य हुए। यह जैनदर्शन में ऐसी कांक्षा नहीं होती। कहो, समझ में आया? यह सब वजन यहाँ है।

ऐसे **निश्चय-स्वभावरत्नत्रयवाले;...** भाषा देखो! व्यवहार का निषेध किया। व्यवहाररत्नत्रय नहीं। निश्चय-स्वभावरत्नत्रय। आहाहा! त्रिकाल चैतन्यबिम्ब प्रभु, परमस्वभावभाव की श्रद्धा, ज्ञान और अनुष्ठान। स्वरूप में रमणता, वह अनुष्ठान। ऐसे आत्मा के स्वरूप में रमना, वह चारित्र, वह विधान, उसे इनने अमल में रखा, वह विधान, उसे अनुष्ठान कहते हैं। आहाहा! परम चिद्रूप अखण्ड अभेद की अन्तरश्रद्धा, उसका ज्ञान। उसका ज्ञान, वह ज्ञान। शास्त्र के पठन का ज्ञान, वह ज्ञान नहीं। यहाँ तो शास्त्र का थोड़ा कण्ठस्थ हुआ और कहने लगे तो हो गया। अब तुम दीक्षा-वीक्षा लो तो हमसे लेना। हम तुम्हें सिखायेंगे। वाड़ा बन्दी हो जाती है। दीक्षा लेना तो यहाँ लेना। कहते हैं कि ऐसा मार्ग वीतरागमार्ग नहीं हो सकता। आहाहा!

जिसे कांक्षा नहीं, इच्छा ही नहीं। यह प्ररूपणा करते हैं, समझाते हैं। यह तो निश्चयरत्नत्रयस्वभाववाले हैं। देखा? यहाँ स्वभावरत्नत्रय कहा। वह (व्यवहार) विभावरत्नत्रय हुआ। व्यवहारसमकित, व्यवहारज्ञान, वह विभाव है / राग है। ऐसे **शुद्ध निश्चय—स्वभावरत्नत्रयवाले; (२) जिनेन्द्र के मुखारविन्द से निकले हुए...** देखो! किसी ने कल्पना से शास्त्र या सूत्र बाँधे, वे नहीं। आहाहा! जिनेन्द्र के मुखरूपी अरविन्द-कमल। **उसमें से निकले हुए जीवादि समस्त पदार्थसमूह को...** जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—नौ तत्त्व। **जीवादि समस्त पदार्थसमूह का उपदेश देने में शूरवीर;...** तो भी कांक्षा नहीं।

यह **णिक्कंखभावसहिया** ऐसा शब्द है न? निकांक्षभावसहित हैं, ऐसा। आहाहा! कि इतना अपन कहते हैं, बोलना आया, सिखाया; इसलिए अपने इतने माननेवाले होंगे।

अपना पक्ष तो करेंगे, ऐसी कांक्षा धर्मात्मा को नहीं होती - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? 'ऐसा मार्ग वीतराग का, कहा श्री भगवान।' अरे! दुनिया को सुनने को नहीं मिलता और उससे उल्टा मार्ग सुनने को मिलता है और मानते हैं, अरे रे! जिन्दगी चली जाती है। बाहर में कोई शरण नहीं। शरण तो भगवान आत्मा अपना स्वरूप, वह शरण है। उसके आश्रय से प्रगट हुआ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह स्वभावरत्नत्रय, ऐसे प्रगट हुए स्वभावरत्नत्रयवाले और भगवान के मुख से निकले हुए नव पदार्थ, उस उपदेश में शूरवीर, परन्तु ऐसे हों वे। भाई! ऐसा निश्चयस्वभावरत्नत्रय नहीं और उपदेश करने में समर्थ हैं, ऐसा नहीं... आहाहा! इसलिए पहले यह छापा है। अहो! पाठ है न! **रयणत्तयसंजुत्ता,** बाद में **जिणकहिय-पयत्थदेसया** बाद में लिया है। आहाहा!

शुद्धनिश्चय स्वभावरत्नत्रयवाले, ऐसे उपाध्याय। **जिनेन्द्र के मुखारविन्द से निकले हुए जीवादि समस्त पदार्थसमूह का उपदेश देने में शूरवीर;...** उपदेश तो वाणी के कारण वाणी है परन्तु ज्ञान के क्षयोपशम में अन्दर इतनी शूरवीरता है, ऐसा कहते हैं। ज्ञान का इतना क्षयोपशम है, कि... भगवान ने कहे हुए पदार्थ को समझाने में समर्थ हैं, ऐसा। भाषा तो भाषा के कारण से है। परन्तु अन्दर के ज्ञान के क्षयोपशम में ऐसी दशा है। इस प्रकार से समझाते हैं। वे स्वभावरत्नत्रयवाले होते हैं वे।

समस्त परिग्रह के परित्यागस्वरूप जो निरञ्जन निज परमात्मतत्त्व, उसकी भावना से उत्पन्न होनेवाले परम वीतराग सुखामृत के पान में सन्मुख होने से... लो, वे निकाँक्ष क्यों हैं? आहाहा! वे **निज परमात्मतत्त्व,...** वापस। भगवान का तत्त्व नहीं। निज परमतत्त्व की भावना। देखो! यह भावना आयी। ध्रुव आनन्द प्रभु में एकाग्रता, वही भावना। कल्पना ऐसा कहे कि यह पुण्य करना, यह करना, ऐसा नहीं। निज परमात्मतत्त्व निरंजन, जिसमें पर का बिल्कुल अभाव है। **उसकी भावना से उत्पन्न...** ऐसा आनन्दस्वरूप भगवान स्वयं निज, उसकी एकाग्रता से **होनेवाले परम वीतराग सुखामृत के पान में सन्मुख...** हैं वे तो। ओहोहो!

परम वीतराग सुखरूपी अमृत। परम वीतरागी सुखरूपी अमृत के निर्विकल्प पान में वे तो सन्मुख हैं। अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव करने में, पान करने में सन्मुख

हैं; इसलिए उन्हें कांक्षा नहीं होती, ऐसा कहते हैं। गजब बातें, भाई! उसमें घण्टे भर में ऐसा आया कि भगवान के भक्ति करना, पूजा करना, दया करना, व्रत करना, ऐसा तो आया नहीं इसमें। यह वस्तु है, इसकी श्रद्धा-ज्ञान हुए और इसमें स्थिरता हो, उसमें रह न सके, उसे... शुभविकल्प आता है, परन्तु उसकी यहाँ बात नहीं है।

परम वीतराग सुखामृत के पान में... आहाहा! सन्त, उपाध्याय निर्विकल्प आनन्दरस के पान में तत्पर हैं, वहाँ सन्मुख हैं। इच्छा से तो विमुख हैं। आहाहा! यहाँ तो जहाँ थोड़ा बोलना आवे, कहना आवे, वहाँ स्वयं उपाध्याय का पद ले ले। उपाध्याय का ठिकाना (स्थान) ले ले। ऐसा नहीं, भाई! बापू! यह वस्तु अलग है। यह तो वीतरागमार्ग है। अन्तर वीतरागता... आहाहा! निश्चयदर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभावरत्नत्रय और भगवान के कहे हुए पदार्थों में शूरवीर और स्वयं निज परमात्मतत्त्व, शुद्ध भगवान त्रिकाली ध्रुव में एकाग्रता, वह पर्याय है। निज परमात्मतत्त्व, वह तो त्रिकाली ध्रुव; उसकी भावना, वह पर्याय है। उसमें एकाग्र होने से, एकाग्रता से उत्पन्न होता, वापस ऐसा (कहा)। परम वीतराग सुखामृत। सुखरूपी अमृत अन्तर से प्रकट हुआ। यह मुनियों की दशा होती है, इसे मुनि कहा जाता है।

परम वीतराग सुखामृत के पान में... सुखीरूपी अमृत के पान में **सन्मुख होने से...** वे तो आनन्द के पान में सन्मुख हैं। **होने से ही...** इस कारण से **निष्काँक्षभावनासहित...** लो। **निष्काँक्षभावनासहित...** निष्काँक्षभाव कहा है न? इच्छारहित की भावनासहित है। उसमें उन्हें इच्छा नहीं होती। आहाहा! ऐसा उपदेश करे, बड़ी सभा भरे, अपने मार्ग में नाम निकले। अरे! भगवान! नाम कहाँ? नाम कहाँ था? अन्तर आनन्द के पान में **सन्मुख होने से ही निष्काँक्षभावनासहित — ऐसे लक्षणों से लक्षित, वे जैनों के उपाध्याय होते हैं।** वीतरागमार्ग में जैन में... अन्य में तो कोई है नहीं। परमेश्वर सर्वज्ञ वीतराग के अतिरिक्त अन्यत्र तो कहीं है ही नहीं। परन्तु जैनों में ऐसे उपाध्याय होते हैं। इसका श्लोक कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

आषाढ़ कृष्ण ७, बुधवार, दिनांक - १४-७-१९७१
गाथा-७५-७६, श्लोक-१०५-१०६, प्रवचन-६७

७५ गाथा के ऊपर एक कलश बाकी है। उपाध्याय कैसे होते हैं, उनकी व्याख्या हो गयी। अब उसका कलश है।

रत्नत्रयमयान् शुद्धान् भव्याम्भोजदिवाकरान्।
उपदेष्टृनुपाध्यायान् नित्यं वन्दे पुनः पुनः।।१०५।।

रत्नत्रयमय,... जैन के उपाध्याय उन्हें कहते हैं, जिन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र, तीन रत्नोमय जिनकी अभेद परिणति हुई है। शुद्ध आत्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप का आश्रय लेकर निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय उनकी अभेद परिणति हुई है, उन्हें उपाध्याय कहते हैं। साधु को वह होता है, अन्तर इतना इसका। **भव्यकमल के सूर्य और (जिनकथित पदार्थों के), उपदेशक...** इतना यहाँ लेंगे। शुद्ध-शुद्ध है। रत्नत्रयमय वीतरागी परिणति जिन्हें शुद्ध हुई है। **भव्यकमल के सूर्य...** योग्य प्राणी, उसके सूर्य। जिसकी अन्तर योग्यता चैतन्य के प्रकाश की प्रगट होने की योग्यता है, उसे उपाध्याय सूर्य समान हैं। वीतराग ने कहे हुए पदार्थों के उपदेशक, ऐसा। उन्हें उपदेशक कहा है न? सर्वज्ञ परमात्मा परमेश्वर ने जो पदार्थ कहे, उन्हें उपदेश करने में समर्थ हैं।

ऐसे उपाध्यायों को मैं नित्य... मुनि कहते हैं। **पुनः पुनः वन्दन करता हूँ।** ऐसी दशावान परिणति वीतरागदशा जिन्हें हुई है और जैनपदार्थों के उपदेशक हैं, उन्हें मैं बारम्बार वन्दन करता हूँ। व्यवहार अधिकार है न? पाँचों परमेष्ठी स्वद्रव्य की अपेक्षा से तो व्यवहार, पर है। पाँच को मानना, वन्दन आदि सब व्यवहार शुभराग है; इसलिए व्यवहारचारित्र में उन्हें रखा है।

अब ७५वीं गाथा। साधु, जैन के साधु।

मुमुक्षु : दूसरी जाति में साधु होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैन में भी बहुत लोग साधु कहते हैं न? ये लोग कहते हैं न? णमो लोए सव्व साहूणं। जगत के सब साधु उसमें आये। लोए सव्व साहूणं। जैन के वे ही साधु हैं, बाकी कोई साधु नहीं। अन्य में है ही नहीं।

मुमुक्षु : अर्थ बहुत संकुचित है।

पूज्य गुरुदेवश्री : संकुचित अर्थ है। वीतराग परमेश्वर ने जो आत्मा वीतरागस्वरूप कहा, ऐसे वीतरागस्वरूप में जिसकी अन्तर्मुख दृष्टि और अनुभव की स्थिरता है, उसे साधु कहते हैं। वह अन्य में नहीं होता। जैन परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य में वह नहीं होता। णमो लोए सव्व साहूणं। ऐसे सब साधु हों वे इसमें आते हैं। चाहे जो वेश धारण किया हो (और) जैन में भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि पुण्य से धर्म माननेवाले, व्यवहारक्रिया के माननेवाले, वे भी साधुपने में नहीं आते।

मुमुक्षु : पुण्य को धर्म न माने, पुण्य को उपादेय माने।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वह का वही हुआ न? आहाहा! भगवान आत्मा आनन्द वीतराग की मूर्ति, वही उपादेय है। उसके अतिरिक्त विकल्प जो राग, वह तो हेय है। ऐसा न मानता हो, वह तो मिथ्यादृष्टि है। उसे जैन साधु में गिनने में नहीं आता, इसलिए कहते हैं, देखो! पहला शब्द है। ७५वीं गाथा।

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू दे एरिसा होंति।।७५।।

ऐसे साधु वीतरागमार्ग में होते हैं।

निर्ग्रन्थ हैं निर्मोह हैं व्यापार से प्रविमुक्त हैं।
हैं साधु, चउआराधना में जो सदा अनुरक्त हैं॥७५॥

टीका : यह, निरन्तर अखण्डित परम तपश्चरण में निरत... देखो! **निरन्तर अखण्डित परम तपश्चरण में...** अतीन्द्रिय आनन्द में उग्ररूप से पुरुषार्थ से जो एकाग्र हो गये हैं, वे निरन्तर अखण्डित। परम इच्छा बिना अमृतस्वरूप भगवान आत्मा में जो निरत-लीन हैं। देखो! पंच महाव्रत में लीन हैं, अट्ठाईस मूलगुण में लीन हैं, यह नहीं लिया है, क्योंकि पंच महाव्रतादि तो विकल्प है, वह तो आस्रव है; उसमें लीन नहीं होते। ऐसी बहुत कठिन बात है। **निरन्तर अखण्डित परम तपश्चरण में निरत...** ठीक। तपश्चरण अर्थात् मुनिपना। मुनिपना अर्थात् चारित्र। परमचारित्र। यह तो वस्तु की स्थिति है। यह कोई सम्प्रदाय नहीं है। आत्मा ही वीतरागमूर्ति... आहाहा! उसकी जिसे

निरन्तर अखण्डस्वरूप में परम स्थिरता, परम लीनता (हुई है)। **ऐसे सर्व साधुओं के स्वरूप का कथन है।** ऐसे सर्व साधुओं के...

[साधु कैसे होते हैं ?](१) परमसंयमी महापुरुष होने से... परमसंयमी महापुरुष होने से **त्रिकाल-निरावरण निरञ्जन परम पञ्चम भाव की भावना में परिणमित होने के कारण...** आहाहा! व्यापार से प्रविमुक्त की व्याख्या करते हैं। आहाहा! जिन्हें विकल्प का व्यापार भी छूट गया है। आहाहा! **परमसंयमी महापुरुष होने से...** ऐसे होने के कारण, ऐसा। **त्रिकाल-निरावरण निरञ्जन परम पञ्चम भाव...** अपना त्रिकाली परम पंचम भाव.. आहाहा! ध्रुव ध्रुवभाव। भगवान आत्मा का त्रिकाली नित्यस्वरूप, ऐसे **पञ्चम भाव की भावना...** भावना शब्द से एकाग्रता। उसमें **परिणमित होने के कारण...** अकेली पंचम भाव की विकल्प की भावना, ऐसा नहीं। देखो! इसमें भावना में परिणमित लिए हैं। ध्रुव शुद्ध चैतन्यद्रव्य, त्रिकाली आनन्द का धाम, परम पंचम भाव, वस्तु की अस्ति का त्रिकाल भाव, उसकी भावना में परिणमित हैं। पंचम भाव, वह त्रिकाली भाव है और उसकी भावना, वह वर्तमान पर्याय है। आहाहा! ऐसे साधु होते हैं। जैन परमेश्वर तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ के शासन में ऐसे साधु होते हैं। उन्हें साधु कहा जाता है।

इसके **कारण ही समस्त बाह्य व्यापार से विमुक्त;...** व्यापार प्रविमुक्त कैसे? विकल्प का व्यापार प्रविमुक्त छूट गया है। आहाहा! निर्विकल्प अखण्ड त्रिकाली पंचम स्वभाव की भावना में परिणमित, उस अवस्थारूप हो गये होने के कारण, आहाहा! इस कारण उन्हें बाह्य का व्यापार छूट गया है। **बाह्य व्यापार से विमुक्त;...** वास्तव में तो वे पंच महाव्रत के विकल्प से भी विमुक्त हैं। आहाहा! वीतराग का स्वरूप बहुत सूक्ष्म है। अलौकिक परमात्मा स्वयं ही ध्रुव नित्य को भावना में परिणमित कराकर, ऐसा नित्य भगवान उसकी भावना-एकाग्रता में वर्तमानदशा में परिणमित होकर बाह्य व्यापार से छूट गये हैं। आहाहा! ऐसी परिणति खड़ी हुई, इसलिए बाह्य विकल्प का व्यापार रुक गया है। देखो! यह साधु।

जिन्हें परमानन्द की पूर्ण प्राप्ति करनी है, उन्हें तो ऐसी आराधना में त्रिकाली आनन्द में लीन हो, उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है। अर्थात् मुक्ति होती है, ऐसा।

समस्त बाह्य व्यापार, ऐसा। '**विप्पमुक्का**' है न? उसमें यह कहा। समस्त शब्द ले लिया। समस्त बाह्य व्यापार। आहाहा! क्योंकि मुनि को तो उपदेश भी नहीं। उपदेश तो आचार्य, उपाध्याय को होता है। आहाहा! मुनि तो अपने स्वरूप को साधते हैं। **बाह्य व्यापार से विमुक्त;...** हैं। उन्हें अकेला वीतरागभाव का परिणमन है, ऐसा कहते हैं। आत्मा स्वयं त्रिकाली वीतरागस्वभाव है, उसकी भावना वीतराग परिणति। बस, यह उनका स्वरूप है। अब आराधना में लीन हैं, यह बताते हैं।

(२) ज्ञान, दर्शन, चारित्र और परम तप नाम की चतुर्विध आराधना में सदा अनुरक्त;... है। भगवान आत्मा के ओर की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति तथा इच्छानिरोध, अमृतस्वरूप भगवान में आराधना में लीन हैं। आहाहा! दुनिया धर्म प्राप्त करे या न करे, ऐसा विकल्प यहाँ है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आत्मा का ज्ञान, आत्मा का दर्शन, आत्मचारित्र और आत्मा में विशेष उग्र पुरुषार्थ से लीन, ऐसी **चतुर्विध आराधना में सदा अनुरक्त;...** ऐसा। '**चउव्विहाराहणासयारत्ता**' है न पाठ? तब अब खावे-पीवे कब? सदा अनुरक्त। वे खाते नहीं और पीते भी नहीं। आहाहा! यह क्रिया होती है और विकल्प आता है, उसके जाननेवाले रहते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह णमो लोए सव्व साहूणं की व्याख्या है।

जिन्हें चार प्रकार की आराधना, सेवन है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के सेवन में लीन हैं। आहाहा! 'साधे इति साधु।' पूर्ण स्वरूप का अन्तर में साधन करे, वे साधु हैं। ऐसा पूर्ण स्वरूप तो सर्वज्ञ वीतरागमार्ग में होता है और ऐसे पूर्ण शक्ति को धरनेवाला आत्मा भी ऐसे वीतरागमार्ग में ही होता है। ऐसे पूर्ण स्वरूप की आराधना में तत्पर हैं कि जिससे उसकी—पूर्ण स्वरूप की पर्याय में प्राप्ति होती है। निर्ग्रन्थ हैं। साधु निर्ग्रन्थ हैं।

बाह्य-अभ्यन्तर समस्त परिग्रह के ग्रहण-रहित होने के कारण... बाह्य में वस्त्र का धागा भी नहीं होता। मुनि को वस्त्र का एक टुकड़ा भी नहीं होता। तिलतुष कहा है न? तिल का छिलका जितना भी परिग्रह होवे तो भी वह मुनि नहीं है। आहाहा! और वह स्वयं को मुनि माने तो कहते हैं कि निगोद में जाता है। आहाहा! वस्तु की स्थिति ऐसी है। मुनिदशा में वस्त्र-पात्र ग्रहण करने का विकल्प उन्हें नहीं होता। मुनि किसे कहते हैं? आहाहा! धन्य दशा..! धन्य अवतार..! जिन्होंने केवलज्ञान को हथेली में

लेने की तैयारी की है, ऐसे मुनि बाह्य में वस्त्र नहीं, अभ्यन्तर में राग का कण नहीं। आहाहा!

समस्त परिग्रह के ग्रहण-रहित होने के कारण... इस कारण से निर्ग्रन्थ हैं, ऐसा कहते हैं। निर्ग्रन्थ क्यों हैं? बाह्य अभ्यन्तर का ग्रन्थ-राग छूट गया है। अभ्यन्तर राग, परिग्रह और बाह्य में वस्त्र का टुकड़ा सब छूट गया है; इसलिए उन्हें निर्ग्रन्थ कहा जाता है। अब उन्हें निर्मोह कहते हैं। मुनि निर्मोह होते हैं।

(४) सदा निरञ्जन निज कारणसमयसार... लो! सदा निरंजन निज कारण प्रभु, निरंजन त्रिकाल शुद्ध आत्मा है। ऐसा निज कारणसमयसार। त्रिकाल परमात्मस्वरूप ध्रुव, उसके **स्वरूप के सम्यक् श्रद्धान,...** ऐसा कारणसमयसार भगवान नित्य, उसके स्वरूप का श्रद्धान, सम्यक् श्रद्धान परिणमनरूप, ऐसा कहते हैं। सम्यक् परिज्ञान। आहाहा! **निरञ्जन निज कारणसमयसार के स्वरूप के...** परिज्ञान। इससे उन्हें निर्मोह कहने में आता है, ऐसा कहते हैं। कहो, **सदा निरञ्जन निज कारणसमयसार के स्वरूप के...** ऐसा जो त्रिकाली भगवान आत्मा का वीतरागीस्वरूप आत्मा का ध्रुव, उसका **सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् परिज्ञान और सम्यक् आचरण से प्रतिपक्ष ऐसे मिथ्यादर्शन,...** इसमें ऐसा लिया। नहीं तो कितने ही कहते हैं न? वह व्यवहार प्रतिपक्ष। व्यवहार प्रतिपक्ष नहीं, यह प्रतिपक्ष। क्या करे? यह तो दो की बात है। वह कहे, निश्चय, व्यवहार के प्रतिपक्षरहित है। व्यवहार के परिहार के लिए 'सार' पद जोड़ा है। वहाँ तो व्यवहार के विकल्प का अभाव बतलाकर अकेला बतलाना है। यहाँ तो दूसरी बात है। निर्मोह है न? निर्मोहदशा प्रगट की है, उसे ऐसे भाव का जिसे अभाव है, परन्तु वह कहते हैं उसमें से। उसमें देखो उसमें। क्या कहा? शान्तिभाई! क्या कहा?

यहाँ **सदा निरञ्जन निज कारणसमयसार के स्वरूप के...** सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् ज्ञान **और सम्यक् आचरण से प्रतिपक्ष ऐसे मिथ्यादर्शन,...** लिया है। उससे प्रतिपक्ष मिथ्याज्ञान। **ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का अभाव होने के कारण निर्मोह...** हैं। लो, और पहले आया था, वह व्यवहार के परिहार के लिए सारपद जोड़ा है।

मुमुक्षु : वह प्रतिपक्ष कहाँ अभी पावे, वह तो ४९ में लिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सब आता है। यह तो सब आता ही है न? व्यवहार का फल और व्यवहार दो से प्रतिपक्ष निश्चय। लोगों को अन्दर ऐसा आग्रह हो जाता है न? और उस निश्चय का भान नहीं होता, फिर व्यवहार है, वह सर्वस्व मान लिया गया कि यह सब हमारा मुनिपना ही यह है और साधुपना यह है। मोक्ष का मार्ग यह है। भाई! मार्ग ऐसे नहीं मिलता। वह तो उपशमरस, शान्तरस। भगवान शान्तरस है, अकषायरस है। उस अकषायरस का परिणमन, वह मोक्ष का मार्ग है। मिथ्या व्यवहार कषाय है, वह कहीं मोक्ष का मार्ग नहीं है।

वहाँ तो नियमसार शब्द था न? नियमसार शब्द था। सार शब्द को... रखा है। सार क्यों कहा है? कि व्यवहार के परिहार के लिए (कहा है), विपरीत के परिहार के लिए (कहा है)। वहाँ व्यवहार होता है तो उसे... विपरीत के परिहार के लिए। ऐसा विपरीत के परिहार के लिए। विपरीत अर्थात् मिथ्यादर्शन-ज्ञान ऐसा कहते हैं। यहाँ तो नियम जैसे आत्मा, समय-सार द्रव्यकर्म-भावकर्म रहित, वह समयसार। उसमें भावकर्म आया। पुण्य-पाप दोनों विकल्प आये। उनसे रहित जो समयसार। इसी प्रकार नियमसार स्वाभाविक आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो स्व आश्रय से निर्मल प्रगट हुआ, उससे विरुद्ध व्यवहार का विकल्प, उससे रहित इसलिए सार। जैसे समयसार में सार क्यों? भावकर्मरहित, इसलिए सार, ऐसा। द्रव्यकर्मरहित तो है ही। यहाँ सार क्यों? व्यवहार के विकल्परहित, इसलिए सार। यह यहाँ अर्थ नहीं है। यहाँ तो निर्मोह कहना है। आहाहा! शास्त्रों का अर्थ करने में अपने स्वार्थ से अपना पक्ष पोषण करने के लिए (ऐसे अर्थ करते हैं)। आहाहा! अरे रे! क्या करता है? जीव को नुकसान (होता है)। उसकी इसे खबर नहीं है।

सदा निरञ्जन निज कारणसमयसार के स्वरूप के सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् परिज्ञान और सम्यक् आचरण से प्रतिपक्ष ऐसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का अभाव होने के कारण निर्मोह... मुनि हैं। **ऐसे परमनिर्वाणसुन्दरी की सुन्दर माँग की शोभारूप कोमल केशर के रज-पुञ्ज के सुवर्णरङ्गी अलङ्कार को...** यहाँ विशेष **केशर के रज-पुञ्ज के सुवर्णरङ्गी अलङ्कार को (केशर-रज की कनकरङ्गी शोभा को) देखने में...** आनन्द की दशा को अवलोकन करने में, अनुपमता अवलोकन करने

में आतुर बुद्धिवाले, ऐसा। पूर्ण आनन्द की दशा को प्राप्त करने में आतुर बुद्धिवाले। उन्हें पुण्य होगा और स्वर्ग में जाऊँगा, लोग मानेंगे या पूजेंगे, यह बात है नहीं। आहाहा! पूर्ण आनन्द की प्राप्तिरूपी मुक्ति को **देखने में कौतूहलबुद्धिवाले वे समस्त साधु होते हैं...** लो, ऐसे सब साधु होते हैं।

(अर्थात् पूर्वोक्त लक्षणवाले, मुक्तिसुन्दरी की अनुपमता का अवलोकन करने में आतुर बुद्धिवाले समस्त साधु होते हैं)। जैन के ऐसे साधु होते हैं। अन्यत्र ऐसे साधु नहीं होते। णमो लोए सव्व साहूणं में सब समाहित हो जाएँ, ऐसा नहीं है। अन्यमत के भी साधु डालोगे, तब ऐसा कहे... कोई एक व्यक्ति ऐसा कहता था। संख्या पूरी होगी। करोड़ साधु कहे हैं। ढाई द्वीप में इतने सब कहाँ से लाओगे - ऐसा कहता है। वह तो अन्यमत के डालोगे तब होगा। डाला। अन्यमत तो मिथ्यादृष्टि है, उसे क्या डाले? यहाँ तो चौथे-पाँचवें गुणस्थानवाले भी इसमें नहीं आते। चौथे और पाँचवें गुणस्थानवाले इस पद में (साधु के पद में) नहीं आते। आहाहा!

ऐसे साधु स्वरूप का आराधन, आनन्द की सेवा, अतीन्द्रिय आनन्द की सेवा करते हैं। उसकी आराधना में तत्पर / लीन हैं, उन्हें यहाँ साधु कहने में आता है। जितने साधु के भाव हैं, उनमें एकदेश श्रावक को भी लागू पड़ता है। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में कहा है न? जितने साधु के भाव कहे, उनका एकदेश, एक भाग सब श्रावक को लागू पड़ता है। समझ में आया? अब उसे निश्चयरत्नत्रय आया या नहीं? ऐसा मेरा कहना है। भले एकदेश आया। सब जितना भाग है, उसमें कुछ श्रद्धा-ज्ञान का एकदेश नहीं। आचरण का एकदेश। आचरण का एकदेश, वह सर्व देश का भाग है। दर्शन के कोई भाग नहीं हैं। मुनि को तो सर्वदेशी समकित है और श्रावक को एकदेशी एक अंश है, ऐसा है? आहाहा!

अब ७५ वीं गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्लोक कहते हैं—

भविनां भवसुखविमुखं त्यक्तं सर्वाभिषङ्गसम्बन्धात्।
मङ्क्षु विमङ्क्ष्व निजात्मनि वन्द्यं नस्तन्मनः साधोः ।।१०६।।

आहाहा! **भववाले जीवों के भवसुख से जो विमुख है...** देखो! भववाले जीवों के भवसुख, ऐसा। भव में रहे हुए अज्ञानी, उन्हें जो भवसुख की कल्पना है, इन्द्रियों में सुख है, इज्जत में सुख है, ऐसे भव में रहे हुए जीवों के... आहाहा! **भववाले जीवों के भवसुख से जो विमुख है...** पाँच इन्द्रिय के विषय में, राग में, पुण्य में भी कहीं सुख है नहीं। **भववाले जीवों के भवसुख से जो विमुख है और सर्व सङ्ग के सम्बन्ध से जो मुक्त है,...** साधु है न? सर्व संग छूट गया है। असंग भगवान आत्मा के संग में पड़े हैं, पर का संग जिन्हें छूट गया है। आहाहा!

मुमुक्षु : शास्त्र का-जिनवाणी का संग तो होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह नहीं। अन्तर में नहीं। वाँचन का विकल्प है, उससे छूटे हुए हैं। व्यवहार से विमुक्त हैं। चौथे गुणस्थान में व्यवहार से मुक्त हैं तो मुनि की क्या बात करना! आहाहा! सम्यग्दर्शन में ही विकल्प से मुक्तदशा है। अस्थिरता की अपेक्षा से विकल्प हो, परन्तु दृष्टि में उससे मुक्त है। दृष्टि का विषय नहीं और दृष्टि के परिणमन में एक भी राग आता नहीं। मुनि को यह शास्त्र पठन का विकल्प (आता है) परन्तु उससे छूटे हुए पड़े हैं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! सम्यग्दर्शन में भी शास्त्र पठन का जो विकल्प (आवे), उससे वे पृथक् हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग है, वस्तु ही ऐसी है। वीतराग रस से परिणमित भगवान, उसके—राग के रस से तो पृथक् पड़ गया है। आहाहा! यह बात पकड़ना जगत को कठिन है। इसलिए अन्तर की पकड़ बिना बाहर में पकड़कर चल निकले हैं। मार्ग ऐसा है, भाई! यह तो तेरे स्वभाव के लाभ की बात है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है।

सर्व सङ्ग के सम्बन्ध से जो मुक्त है,... कहो, जिनवाणी और देव-गुरु भी परसंग। वह संग भी जिन्हें अन्तर में छूट गया है। चौथे में कहा न? परसंग-राग से तो मुक्त है। देव-गुरु की श्रद्धा का विकल्प से मुक्त है। आहाहा! बापू! मोक्ष का मार्ग तो कोई अलौकिक है। वह अन्तर अवलोकन बिना बाहर से प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। ऐसे **सर्व सङ्ग के सम्बन्ध से जो मुक्त है,... 'सर्वाभिषङ्गसम्बन्धात् त्यक्तं'** ऐसा है न? कोई भी संग ही नहीं। आहाहा! चौथे गुणस्थान में विकल्प का संग नहीं, मुक्त है, परन्तु अस्थिरता की अपेक्षा से वहाँ राग है। उस अस्थिरता के राग से भी छूट गये हैं, ऐसा

कहते हैं। आहाहा! अकेली वीतराग धारा, वह साधुपना। आहाहा! बीच में पंच महाव्रतादि के विकल्प (आवें, वह) कर्मधारा है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वरूप में है ही नहीं। आहाहा! कहो।

ऐसा वह साधु का मन हमें वंद्य है। मुनि स्वयं कहते हैं। ऐसा उस साधु का चैतन्य परिणमन। मन अर्थात् वह। **भववाले जीवों के भवसुख से जो विमुख...** अर्थात् आत्मा के सुख के सन्मुख, ऐसा। **सर्व सङ्ग के सम्बन्ध से जो मुक्त है,...** असंग ऐसा भगवान, उसके संग में लीन। ऐसा जो उनका परिणमन, (वह) हमको वन्द्य है। कहो, मुनि, मुनि के लिए कहते हैं। आहाहा!

हे साधु! उस मन को शीघ्र निजात्मा में मग्न करो। आहाहा! उस शुद्ध परिणति को अन्दर में झुकाओ। उस परिणति को **शीघ्र निजात्मा में मग्न करो।** उग्ररूप से अन्दर स्थिर होओ, ऐसा कहते हैं। जहाँ भगवान पूर्णानन्दस्वरूप विराजता है, वह स्वयं प्रभु (है), उसमें लीन होओ। यह साधु का कर्तव्य और कार्य है। आहाहा! इस बात की तो गन्ध, सुनने को भी मिले नहीं और यह करो.. यह करो.. यह करो.. हो गया। १०६वाँ कलश।

अब यह व्यवहारचारित्र की अन्तिम गाथा है।

एरिसयभावणाए ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छय-णयस्स चरणं एत्तो उड्ढं पवक्खामि।।७६।।

इस भावना में जानिये चारित्र नय व्यवहार से।
निश्चय-चरण अब मैं कहूँ निश्चयनयात्मक द्वार से॥ ७६ ॥

टीका : यह, व्यवहारचारित्र-अधिकार का जो व्याख्यान, उसके उपसंहार का... यह पूरा किया जाता है, ऐसा कहते हैं। **और निश्चयचारित्र की सूचना का कथन है।** अब से निश्चयचारित्र की व्याख्या आयेगी।

ऐसी जो पूर्वोक्त पञ्च महाव्रत,... यह सब शुभभाव। **पञ्च समिति, निश्चय-व्यवहार त्रिगुप्ति...** में भी जो व्यवहार भाग वह। ऐसा लेना। **तथा पञ्च परमेष्ठी के**

ध्यान से संयुक्त, अतिप्रशस्त शुभभावना,... नहीं तो उस निश्चयगुप्ति में तो शुद्धता आती है, परन्तु निश्चय और व्यवहार में जो यह शुभभाव लेना। व्यवहार है न? **पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति, निश्चय-व्यवहार त्रिगुप्ति...** में शुभभावना और **पञ्च परमेष्ठी के ध्यान से संयुक्त,...** पंच परमेष्ठी का ध्यान भी शुभभाव है। उसमें शुद्धता नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रशस्त और अप्रशस्त।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभभाव है, शुभ।

शुभभावना, उसमें व्यवहारनय के अभिप्राय से परम चारित्र है;... व्यवहारनय से उसे चारित्र कहा जाता है। निश्चय से परमचारित्र यह तो उसे व्यवहार से परमचारित्र का आरोप दिया गया है। परम शब्द प्रयोग किया है न? शुभभाव। परन्तु समकित, दर्शन, ज्ञान, चारित्रसहित है, उसे। अज्ञानी की यहाँ बात नहीं है। **अतिप्रशस्त शुभभावना, उसमें व्यवहारनय के अभिप्राय से परम चारित्र है;...** निश्चयस्वरूप का अन्तर अनुभव, आनन्द की श्रद्धा, आनन्द का ज्ञान और आनन्द की रमणता में न्यूनता है। पूर्ण वीतरागता नहीं है; इसलिए बीच में ऐसा शुभभाव उसे होता है। यहाँ अज्ञानी की बात नहीं है। जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, उसे ऐसा शुभभाव होता है। उस शुभभाव को व्यवहारचारित्र कहा जाता है।

अब कहे जानेवाले पाँचवें अधिकार में,... लो, चार अधिकार हुए। **परम पञ्चम भाव में लीन,...** लो, यह निश्चयचारित्र। **परम पञ्चम भाव में लीन,...** त्रिकाली परमात्मस्वरूप अपना, उसमें जिसकी लीनता जमी है। **पञ्चम गति के हेतुभूत,...** देखो! व्यवहार में पंचम गति के हेतुभूत, ऐसा शब्द नहीं था। उसे ऐसे पाँचवें, ऐसा कहा कि व्यवहारनय के अभिप्राय से परम चारित्र है, बस इतना। यह तो पंचम गति के हेतुभूत मोक्ष का कारण। अन्दर ध्रुवस्वभाव में लीनता, वह निर्विकारी निर्विकल्पदशा / वीतरागी परिणति। पंचम भाव, वह ध्रुव है। लीन, वह वर्तमान वीतराग परिणति है। वह पंचम गति का कारण है। मोक्ष का कारण है। शुद्धनिश्चयनयस्वरूप परम चारित्र **द्रष्टव्य (देखनेयोग्य) है।** लो।

शुद्धनिश्चयनय... स्वरूप। शुद्धनिश्चयनय स्वरूप, वापस ऐसा। परम चारित्र, शुद्धनिश्चयनय का विषय या शुद्धनिश्चय, ऐसा नहीं। वह शुद्धनिश्चयनय स्वरूप ही परम चारित्र। परिणति को शुद्धनिश्चयस्वरूप कहा। **शुद्धनिश्चयनयात्मक परम चारित्र द्रष्टव्य (देखनेयोग्य) है।** अनुभव करनेयोग्य है, स्थिरता करनेयोग्य है। यह अधिकार पाँचवें में कहेंगे, ऐसा कहते हैं।

इसी प्रकार मार्गप्रकाश में (श्लोक द्वारा) कहा है कि —

कुसूलगर्भस्थितबीजसोदरं भवेद्विना येन सुदृष्टिबोधनम्।
तदेव देवासुरमानवस्तुतं नमामि जैनं चरणं पुनः पुनः॥

इसमें चारित्र की प्रधानता बतलाते हैं। आहाहा! स्वरूप की रमणता, चारित्र। **जिसके बिना (जिस चारित्र के बिना) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कोठार के भीतर पड़े हुए बीज (अनाज) समान हैं,..** बीज उगता नहीं, फटता नहीं। चारित्र भी ऐसा है। वहाँ बीज जैसा है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान **कोठार के भीतर पड़े हुए बीज (अनाज) समान हैं,..** उसमें चारित्र का परिणमन हो, तब मुक्ति होती है - ऐसा कहते हैं। अकेले सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान से मुक्ति नहीं होती, ऐसा सिद्ध करते हैं।

कोठार के भीतर पड़े हुए बीज (अनाज) समान हैं,.. परन्तु अनाज जैसे हैं न? फल नहीं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान में चारित्र की परिणति चाहिए। वह नहीं हो, तब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञान अनाज जैसे, बीज जैसे हैं। वैसा चारित्र, कि जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र बिना का, वह चारित्र, ऐसा। **देव-असुर-मानव से स्तवन किये गये...** स्वर्ग के देव, असुरदेव और मानवों (द्वारा) **स्तवन किये गये...** स्तवन किये गये। पशु और नारकी तो कुछ हैं नहीं। देव वैमानिक, असुर नीचे और मानव। उनसे स्तवन किये गये **जैन चरण...** अहो! जैन का चारित्र।

(ऐसा जो सुर-असुर मनुष्यों से स्तवन किया गया जिनोक्त चारित्र) परमेश्वर ने कहा हुआ, अन्तर आनन्द की रमणतारूप चारित्र, **(उसे) मैं पुनः-पुनः नमन करता हूँ।** आहाहा! स्वयं भी मुनि हैं और ऐसे चारित्र को बारम्बार उसमें मेरा स्तवन है, नमन है। आहाहा! परिणमन है और विशेष नमता हूँ। आहाहा! अरे! यह करने की वस्तु, उसे

ऐसा करना रह जाए और न करने का करे, और हो गया। गँवावे। आहाहा! अभी तो ऐसी वस्तु है, ऐसी श्रद्धा करने में इसे पसीना उतरता है। नहीं.. नहीं.. अभी तो व्यवहार ही होता है, शुद्ध नहीं होता। लो, ठीक। शुद्ध नहीं होवे तो उसे व्यवहार भी कहने में नहीं आता। शुद्ध आचरण, शुद्ध दर्शन-ज्ञान-चारित्र न हो तो उसे व्यवहार भी कहने में नहीं आता। निश्चय होवे तो व्यवहार कहने में आता है। आहाहा! क्या हो? स्वयं अपने को ठगता है और मानता है कि हम कुछ लाभ में हैं। आहाहा! क्या हो? ऐसे अनादि से जगत लुटता है। ऐसा जैन का चारित्र... ओहो! ऐसे **जैन चरण को...** भगवान कथित चारित्र को **मैं पुनः-पुनः नमन करता हूँ।** लो!

और (इस व्यवहारचारित्र अधिकार की अन्तिम गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक कहते हैं) — वह (इससे पूर्व) मार्गप्रकाश का था। मार्गप्रकाश, वे स्वयं भी चारित्र को नमन करते हैं, ऐसा कहते हैं।

शीलमपवर्गयोषिदनङ्गसुखस्यापि मूलमाचार्याः।
प्राहुर्व्यवहारात्मकवृत्तमपि तस्य परम्परा हेतुः ।।१०७।।

श्लोकार्थ : आचार्यों ने शील को (निश्चयचारित्र को)... आत्मा के आनन्द की रमणतारूप चारित्र को, **मुक्ति सुन्दरी के अनङ्ग (अशरीरी) सुख का मूल कहा है;...** परमानन्द की प्राप्ति—ऐसी मुक्ति, यह अनंग अर्थात् अंग रहित, आत्मा का **(अशरीरी) सुख का मूल कहा है;...** लो, इस चारित्र का फल यह है, ऐसा कहते हैं। स्वरूप का सम्यग्दर्शन, स्वरूप का ज्ञान, अनुभव, आनन्द तदुपरान्त अन्तर में लीनता, ऐसा जो चारित्र, (वह) मोक्षरूपी **(अशरीरी) सुख का मूल कहा है; व्यवहारात्मक चारित्र भी उसका परम्परा कारण है।** लो, परन्तु किसे? निश्चय है उसे। परम्परा अर्थात् व्यवहार। उसे छोड़कर होगा, तब होगा। ऐसा गजब है, भाई! पक्ष का व्यामोह, अपने पक्ष की पुष्टि दे, वैसे अर्थ करे। और कहे वापस हम बराबर भगवान प्रमाण करते हैं।

व्यवहारात्मक चारित्र भी उसका परम्परा कारण है। लो। किसका? मुक्ति सुन्दरी अनंग अशरीरी सुख का। परन्तु वह परम्परा, साक्षात् कारण तो यह। यह छूटकर फिर स्थिरता होगी, तब उसे पूर्णानन्द की प्राप्तिरूप मुक्ति प्राप्त होगी। **इसप्रकार,**

सुकविजनरूपी कमलों के लिए जो सूर्य समान हैं, और पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र जिन्हें परिग्रह था... यह टीकाकार। **ऐसे श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में (अर्थात् श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री नियमसार परमागम की निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव विरचित तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में) व्यवहारचारित्र अधिकार नाम का चौथा श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।** सबको एक-एक को श्रुतस्कन्ध कहा है। श्रुतस्कन्ध। चतुर्थ श्रुतस्कन्ध। सम्पूर्ण श्रुत का यह चौथा श्रुतस्कन्ध।

अब परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार लो। अब यह निश्चय आया। पहला व्यवहार समझाकर, फिर निश्चय की बात ली है; इसलिए व्यवहार पहले और निश्चय बाद में, ऐसा उसमें कुछ नहीं है। यह तो समझाने की पद्धति ऐसी है। इसीलिए व्यवहार पहले आवे और निश्चय बाद में आवे, ऐसा नहीं है। निश्चय के साथ ऐसा व्यवहार पहले समझाया है।

[अधिकार के प्रारम्भ में टीकाकार मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्री माधवसेन आचार्यदेव को श्लोक द्वारा नमस्कार करते हैं:] अपना। चन्द्रकीर्ति मुनि थे। इनके कोई बहुत ऊँचे मुनि होंगे, उन्हें वन्दन किया था न? वहाँ मुनि शब्द था। चन्द्रकीर्ति मुनि का निरूपण। यह उनके कोई आचार्य होंगे। उस समय तो सब सोने की खापड़ूं जैसे सब पके हुए। मुनि, आचार्य.. आहाहा! ९०० वर्ष पहले की बात है न? सब वीतरागबिम्ब। इन चन्द्रकीर्ति मुनि का... ऐसा कहा न? यहाँ आचार्य को वन्दन करते हैं। **नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये..** यह पर की खबर पड़ती है या नहीं? या केवलज्ञानी को खबर पड़ती है? भावलिंगी है या द्रव्यलिंगी, वह केवलज्ञानी को खबर पड़े। लो, यह भावलिंगी हैं, ऐसी यहाँ मुनि को खबर पड़ी है। अपने आचार्य की। पंचम काल के। दोनों पंचम काल के हैं न? आहाहा! छद्मस्थ को इतनी सब खबर पड़ गयी? कि मेरे गुरु ऐसे हैं, मुनि ऐसे हैं। ऐसी खबर पड़ गयी?

मुमुक्षु : छद्मस्थ को ज्ञान न होवे, ऐसा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : केवलज्ञानी जाने। छद्मस्थ न जाने। (ऐसा लोग कहते हैं)।

मुमुक्षु : तो क्या जाने?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जाने।

नमोऽस्तु ते संयमबोधमूर्तये
स्मरेभकुम्भस्थलभेदनाय वै।

आहाहा! देखो! यह सब मुनि को पहिचान हुई है या नहीं? पद्मप्रभमलधारिदेव को।

विनेयपङ्केजविकाश-भानवे
विराजते माधवसेनसूरये।

आहाहा! वीतरागी सन्त भी उस समय विराजते थे। आहाहा! **संयम और ज्ञान की मूर्ति,...** थी, कहते हैं। लो, किस प्रकार यह जानने में आया? परन्तु वह तो अरूपी मति-श्रुतज्ञान में ज्ञात हो गया? केवली जाने और मतिश्रुतज्ञानी जाने या नहीं? आहाहा! **संयम और ज्ञान की मूर्ति,...** थी। हमारे आचार्य, वे स्वरूप की रमणता और आत्मा का ज्ञान, इसकी तो मूर्ति थे। उनका स्वरूप ही यह था, कहते हैं।

कामरूपी हाथी के कुम्भस्थल को भेदनेवाले... कहते हैं कि वे कैसे थे? विषय-वासनारूपी हाथी के कुम्भस्थल को भेदनेवाले। ओहोहो! ऐसे निर्विकारी ब्रह्मानन्द परिणमन जिन्हें था, ऐसा कहते हैं। यह तो अभी ९०० वर्ष पहले की बात है। वे तो केवली भी नहीं थे। उस समय तो चार ज्ञान भी कहाँ थे? अवधिज्ञानी कहाँ थे? मति और श्रुतज्ञान में भी ऐसी निर्मलता से छद्मस्थ का छद्मस्थ जान लेता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! **कामरूपी हाथी के कुम्भस्थल...** क्या कहलाता है? ऊपर कुम्भ होता है न हाथी का? उसे कुम्भस्थल कहते हैं। यह सिर नहीं? ऊपर होता है ऊपर?

मुमुक्षु : कांध।

पूज्य गुरुदेवश्री : कांध, क्या कहलाता है कांध। भाषा दूसरी है, बड़ा कांध होता है न, वहाँ मारे। वहाँ आगे सब अन्तड़ियों का पिण्ड वहाँ होता है न? बड़ा कांध होता है? वहाँ वह सिंह थाप मारे वहाँ। सब अन्तड़ियाँ खिंच जाती है। कांध, कांध।

कामरूपी हाथी के कुम्भस्थल को... उसके कांध को भेदनेवाले। **शिष्यरूपी कमल को विकसित करने में सूर्यसमान—** लो! शिष्यरूपी कमल को विकसित करने में निमित्त। निमित्त सम्बन्धी व्याख्या है न? **ऐसे हे विराजमान (शोभायमान) माधवसेनसूरि!** माधवसेन, इनके गुरु, आचार्य **आपको नमस्कार हो।** यहाँ से शुरु करके, अब निश्चय अधिकार शुरु करना है न? ऐसे जो निश्चय संयम और ज्ञान की मूर्ति, कामदेव को तो तोड़कर अतीन्द्रिय आनन्द का प्रगट किया है, ऐसा कहते हैं। **हे विराजमान (शोभायमान) माधवसेनसूरि! आपको नमस्कार हो।**

विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

-:प्रकाशकः-
श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विले पार्ला, मुंबई
www.vitragvani.com